महामहोपाध्यायश्रीवरदराजाचार्यविरचिता

लघुसिद्धान्तकौमुदी

(पाणिनीयव्याकरणप्रवेशिका)

'सोमलेखाहिन्दीव्याख्यया सूत्रसूच्या च समलङ्कृता'

व्याख्याकार:

प. ईश्वरचन्द्र:

महामहोपाध्यायश्रीवरदराजाचार्यविरचिता

लघुसिद्धान्तकौमुदी

(पाणिनीयव्याकरणप्रवेशिका)

सोमलेखाहिन्दीव्याख्यया सूत्रसूच्या च समलङ्कृता

व्याख्याकार

प० ईश्वरचन्द्र

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय

भिवानी (हरियाणा)

संस्कृत ग्रन्थागार

दिल्ली

प्रकाशक

संस्कृत ग्रन्थागार

१०९, अग्रवाल प्लाजा, डी.डी.ए. कम्यूनिटी सेंटर

प्लाट नं.३, सेक्टर-१४, रोहिणी, दिल्ली-८५

वितरक

परिमल पब्लिकेशन्स

२७/२८, शक्ति नगर

दिल्ली-११०००७

पूर्णतः संशोधित

द्वितीय संस्करण, २००७

मूल्य १५० रु.

मुद्रक

हिमांशु प्रिन्टर्स

मेन यमुना विहार रोड़, मौजपुर

दिल्ली ११००९२

पुरोवाक्

मुखं व्याकरणं प्रोक्तम् वचन के अनुसार व्याकरण को विद्वानों का मुख कहा गया है। प्राचीन काल में संस्कृत व्याकरण के अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे परंतु पाणिनि रचित **अष्टाध्यायी** के प्रादुर्भाव ने उन सभी को तिरोहित कर दिया। वस्तुतः अष्टाध्यायी संस्कृत व्याकरण का चूडान्त निदर्शन है। यह त्रिमुनिव्याकरण के नाम से जाना जाता है। त्रिमुनि में पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि यथाक्रम से हुए हैं।

अष्टाध्यायी में आठ अध्याय, ३२ पाद तथा ३९५१ सूत्र हैं। अष्टाध्यायी पर महामुनि कात्यायन का विस्तृत वार्तिक संग्रह है जो पाणिनि व्याकरण का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। सूत्र तथा वार्तिक पाठ पर भगवान् पतञ्जलि का विशद विवरणात्मक ग्रन्थ महाभाष्य है। मूल ग्रन्थ अष्टाध्यायी पर अनेकों वृत्तिग्रन्थ लिखे गए। वर्तमान में उपलब्ध सर्वोत्तम वृत्तिग्रन्थ काशिका वृत्ति है।

प्राचीनकाल में व्याकरणशास्त्र का अध्ययन अष्टाध्यायी क्रम से होता था। इस क्रम में सर्वाधिक असुविधा यह थी कि समस्त अष्टाध्यायी को कण्ठस्थ करने के पश्चात् अध्ययन प्रारम्भ होता था तथा किसी एक प्रकरण का स्वतन्त्र अध्ययन भी दुष्कर था। कारण कि, अष्टाध्यायी के प्रकरण प्रक्रियाक्रम से नहीं हैं। सभी प्रकरण सम्पूर्ण ग्रन्थ में बिखरे पड़े हैं। अतः रूपसाधन में गौरव व कष्ट होता है। फलतः प्रक्रियाक्रम से पठन पाठन का विचार प्रारम्भ हुआ। पाणिनीय व्याकरण में प्रक्रिया प्रणाली का सुव्यवस्थित प्रथम ग्रन्थ आचार्य श्रीरामचन्द्र रचित प्रक्रियाकौमुदी है।

भट्टोजि दीक्षित रचित वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी प्रक्रियाक्रम का सर्वांगपूर्ण ग्रंथ है। यह ग्रन्थ पाणिनीय व्याकरण का प्रक्रियानुसारी सर्वोत्तम प्रयास है। भट्टोजि के प्रगल्भ शिष्य वरदराज ने इस के दो संस्करण प्रकाशित किए— मध्यम संस्करण को **मध्यसिद्धान्तकौमुदी** तथा लघु संस्करण को **लघुसिद्धान्तकौमुदी** कहा जाता है। पाणिनीय व्याकरण के प्रथम प्रवेशार्थी सुकुमार मति छात्रों के सुखबोध के लिए **वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी** का सरल व लघुकाय संस्करण **लघुसिद्धान्त कौमुदी** के रूप में प्राप्त है। **लघुसिद्धान्तकौमुदी** के द्वारा साधारण ज्ञान को प्राप्त छात्रों की ज्ञानवृद्धि के लिए वरदराज ने **मध्यसिद्धान्तकौमुदी** का सम्पादन किया। व्याकरण शास्त्र में प्रवेशिका के रूप में **लघुसिद्धान्तकौमुदी** सर्वाधिक लोकप्रिय आख्या है।

वरदराज अपने गुरु भट्टोजि दीक्षित से एक कदम आगे हैं। जहाँ दीक्षित जी ने अष्टाध्यायी के सूत्रों को अधिक अंशों में परिवर्तित करते हुए उन्हें प्रक्रिया के अनुसार व्यवस्थित किया है, वहाँ वरदराज ने सूत्र क्रम में अपेक्षाकृत कम हेरफेर की है। वरदराज ने वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी के प्रकरणविन्यास में भी न्यायोचित परिवर्तन करते हुए विलक्षण बुद्धि का परिचय दिया है। वाक्य में अर्थ ज्ञान के लिए सर्वप्रथम पदच्छेद अपेक्षित होता है। अतः वरदराज ने सर्वप्रथम सन्धि प्रकरण रखा है।

पदच्छेद के पश्चात् पद ज्ञान की आवश्यकता होती है। अतः लघुकौमुदी में सन्धि प्रकरण के शीघ्र पश्चात् पद प्रकरण (सुबन्त, अव्यय तथा तिङन्त) की योजना प्राप्त होती है। वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी में कारक व समास प्रकरणों के पश्चात् अव्यय प्रकरण की योजना का औचित्य प्रतीत नहीं होता है। चूँकि समास प्रक्रिया विभक्त्यर्थ ज्ञान के बिना सम्भव नहीं है। अतः वरदराज ने समास प्रकरण से पूर्व कारक प्रकरण को स्थान दिया है। इसी प्रकार स्त्री शब्दों से पूर्व तद्धित, कृदन्त व समास प्रकरणों का होना आश्यक है अन्यथा 'उगितश्च' जैसे सूत्रों का सम्यक् ज्ञान न हो सकेगा। फलतः वरदराज के द्वारा निर्धारित क्रम (कृदन्त, समास, तद्धित, स्त्रीप्रत्यय) स्वाभाविक तथा अत्यधिक युक्तियुक्त है।

आज लघुसिद्धान्तकौमुदी की अनेक उपयोगी टीकाएँ (हिन्दी, संस्कृत) उपलब्ध हैं जो अपनी-अपनी दृष्टि से उपादेय हैं। इस टीका की निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं—

१. प्रत्येक सूत्र का विस्तृत व सरल अर्थ दिखाया गया है।

२. सूत्रार्थ को प्रयोग पर पूर्णतः घटाया गया है।

३. प्रयोग की रूप सिद्धि में सभी चरणों को प्रदर्शित किया गया है।

४. सरल, सुबोध व प्रामाणिक हिन्दी व्याख्या है।

५. सूत्रार्थ को स्पष्ट करने के लिए प्रत्येक सूत्र में विभक्ति निर्देश किया गया है। अव्यय पद के लिए चन्द्र (˘) का प्रयोग किया गया है।

६. षड्लिंग व तिङन्त प्रकरण में प्रायः सम्पूर्ण रूपों को दर्शाया गया है।

७. क्लिष्ट स्थलों की विस्तृत व्याख्या दी गई है।

८. ग्रन्थ के अन्त में आवश्यक एवं उपयोगी परिशिष्ट संलग्न हैं।

इस संस्करण के सम्पादन में मुझे जिन-जिन सज्जनों से प्रत्यक्ष व परोक्ष रूपेण सहायता प्राप्त हुई है उनके प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ। इस परम्परा में अग्रज कल्प **श्री सुरेन्द्र कुमार मिश्रा** तथा परिमल प्रकाशन के प्रबन्धक **श्री कन्हैयालाल जोशी** के नाम सर्वोपरि हैं। आप दोनों के प्रति मैं कृतज्ञतावश नत हूँ। आप दोनों की सत्प्रेरणा व प्रेरक प्रोत्साहन के फलस्वरूप ही लघुसिद्धान्तकौमुदी का यह संस्करण पुनः प्रकाशित हो सका है।

अन्त में विद्वान् लोगों से विनम्र प्रार्थना है कि ग्रन्थ में व्याप्त दोषों के उल्लेखपूर्वक निर्देश तथा अपने सत्परामर्श के द्वारा मुझे उपकृत करेंगे।

दीपावली
वि० सं० २०६४

ईश्वरचन्द्र

सूत्रार्थ

सूत्र का अर्थ जानने के लिए सर्वप्रथम सूत्र का पदच्छेद करना चाहिए। पदच्छेद के पश्चात् पद के शिर पर अंकित विभक्ति का विचार करना चाहिए। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में प्राय: प्रथमा, पञ्चमी, षष्ठी व सप्तमी विभक्तियों का प्रयोग किया है जिनका निम्नलिखित प्रकार से अर्थ करना चाहिए—

प्रथमा— इसका प्रयोग आदेश, आगम या प्रत्यय के लिए किया गया है। प्रथमा विभक्ति से युक्त पद का अर्थ इस प्रकार होता है—

'सुप्तिङन्तं पदम्' इस सूत्र में दोनों पदों में प्रथमा का प्रयोग है। अत: सूत्रार्थ होगा— 'सुप्तिङन्त' (अर्थात्— सुप् व तिङ् है अन्त में है जिसके) को 'पद' कहते हैं। इसी प्रकार 'भूवादय: धातव:' का अर्थ होगा— भू आदि को 'धातु' कहते हैं।

'इको यणचि' में 'यण्' पद में प्रथमा है जो आदेश स्वरूप है। अत: सूत्रार्थ होगा— ('इक्' के स्थान पर) 'यण्' आदेश हो ('अच्' परे रहते)। इसी प्रकार 'एचोऽयवायाव:' में 'अयवायाव:' पद में प्रथमा है। इसका अर्थ होगा— ('एच्' के स्थान पर) 'अयावायाव' (अर्थात् अय्, अव्, आय्, आव्) हों।

'ड: सि धुट्' में 'धुट्' में प्रथमा है जो आगम है। तब सूत्रार्थ होगा— (डकार से पर सकार का) अवयव धुट् हो। इसी प्रकार 'ङ्णो: कुक् टुक् शरि' का अर्थ होगा।

पञ्चमी— इस का अर्थ होता है— 'से', 'के पश्चात्'। यथा 'अव्ययादाप्सुप:' में 'अव्ययात्' पद में पञ्चमी है। सूत्र का अर्थ होगा— अव्यय से पर (आप् व सुप् का लोप हो)।

षष्ठी— इसका अर्थ होता है— 'के स्थान पर'। यथा— 'विसर्जनीयस्य स:' यहाँ 'विसर्जनीयस्य' पद में षष्ठी है। अत: सूत्र का अर्थ होगा— विसर्जनीय के स्थान पर ('स' होता है)। इसी प्रकार 'इको यणचि' में 'इक:' पद में षष्ठी है जिसका अर्थ है— इक् के स्थान पर।

सप्तमी— इसका अर्थ होता है— 'के परे रहते'। यथा— 'वृद्धिरेचि' में 'एचि' पद में सप्तमी है। अत: इस पद का अर्थ होगा— 'एच्' परे रहते (वृद्धि आदेश हो)। इसी प्रकार 'इको यणचि' सूत्र में प्रयुक्त 'अचि' पद का अर्थ है— अच् परे रहते।

सूत्र के पदों में प्रयुक्त विभक्तियों के अनुसार पदों का अर्थ करने के पश्चात् अनुवृत्ति का विचार करना चाहिए। अनुवृत्ति के ज्ञान के लिए यदि छात्र अष्टाध्यायी का थोड़ा अभ्यास कर लें तो सोने पर सुहागा है। सूत्र में अनुवृत्त पद को जोड़ देने

पर सूत्र का पूर्ण अर्थ बन जाता है। यथा— 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र में 'खरि' पद अनुवृत्त है। अतः सूत्र का सम्पूर्ण अर्थ होगा— खर् परे रहते विसर्जनीय के स्थान पर 'स' हो। इसी प्रकार 'तोर्लि' सूत्र में 'परसवर्णः' पद की अनुवृत्ति है। अतः सूत्रार्थ होगा— लकार परे रहते तकार के स्थान पर परसवर्ण हो। छात्रों को इसी प्रकार सूत्रार्थ का अभ्यास करना चाहिए।

प्रयोग साधन

संस्कृत व्याकरण के छात्रों में रटन्त दोष प्रमुख रूपेण पाया जाता है। वे अन्धानुकरण के कारण शास्त्र मर्यादा का परित्याग कर प्रयोग सिद्धि पर बकवत् ध्याननिष्ठ रहते हैं। फलतः उन्हें सूत्रों के पौर्वापर्य तथा बाध्यबाधकभाव का भी ज्ञान नहीं रहता है। उदाहरण स्वरूप अष्टाध्यायी में केवल यणादेश विधायक सूत्रों की संख्या लगभग दश है परन्तु रटन्त के आधार पर छात्र शेष सभी सूत्रों का परित्याग कर सर्वत्र 'इको यणचि' से यणादेश करते हैं। इसी प्रकार के प्रमाद की ओर स्थान-स्थान पर छात्रों का ध्यान आकृष्ट किया गया है। शास्त्र मर्यादा का अतिक्रमण करके अन्यथा मार्ग से साधन प्रदर्शन अनुचित ही होगा। अतः अध्यापक बन्धुओं से अनुरोध है कि वे छात्रों को पौर्वापर्य व बाध्यबाधकभाव से सम्यक् रूपेण अवगत करायें।

प्रत्याहार विवरण

१. अण् = अ, इ, उ।

२. अक् = अ, इ, उ, ऋ, लृ।

३. अच् = अ, इ, उ, ऋ लृ, ए, ओ, ऐ, औ।

४. अट् = अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र।

५. अण् = अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल।

६. अम् = अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न

७. अश् = अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द।

८. अल् = अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह।

९. इक् = इ, उ, ऋ, लृ।

१०. इच् = इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ।

११. इण् = इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल।

१२. उक् = उ, ऋ, लृ।

१३. एङ् = ए, ओ।

१४. एच् = ए, ओ, ऐ, औ।

१५. ऐच् = ऐ, औ।

१६. हश् = ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द।

१७. हल् = ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष,स, ह।

१८. यण् = य, व, र, ल।

१९. यम् = य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न।

२०. यञ् = य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ।

२१. यय् = य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प।

२२. यर् = य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स।

२३. वश् = व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द।

२४. वल् = व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह।

२५. रल् = र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह।

२६. मय् = म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प।

२७. ङम् = ङ, ण, न।

२८. ञम् = ञ, म, ङ, ण, न।

२९. झश् = झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द।

३०. झय् = झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प।

३१. झर् = झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स।

३२. झल् = झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख,फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क,प, श, ष, स, ह।

३३. भष् = भ, घ, ढ, ध।

३४. जश् = ज, ब, ग, ड, द।

३५. बश् = ब, ग, ड, द।

३६. खय् = ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प।

३७. खर् = ख, फ. छ. ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स।

३८. छव् = छ, ठ, थ, च, ट, त।

३९. चय् = च, ट, त, क, प।

४०. चर् = च, ट, त, क, प, श, ष, स।

४१. शर् = श, ष, स।

४२. शल् = श, ष, स, ह।

स्वर भेद बोधक चक्रम्

अ इ उ ऋ लृ	अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ	अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ
ह्रस्व, उदात्त,अनुना०	दीर्घ, उदात्त, अनुना०	प्लुत, उदात्त, अनुना०
ह्रस्व, उदात्त, अननुना०	दीर्घ, उदात्त, अननुना०	प्लुत, उदात्त, अननुना०
ह्रस्व, अनुदात्त, अनुना०	दीर्घ, अनुदात्त, अनुना०	प्लुत, अनुदात्त, अनुना०
ह्रस्व, अनुदात्त, अननुना०	दीर्घ, अनुदात्त, अननुना०	प्लुत, अनुदात्त, अननुना०
ह्रस्व, स्वरित, अनुना०	दीर्घ, स्वरित, अनुना०	प्लुत, स्वरित, अनुना०
ह्रस्व, स्वरित, अननुना०	दीर्घ, स्वरित, अननुना०	प्लुत, स्वरित, अननुना०

वर्णोच्चारण स्थान बोधक चक्र

स्वर	व्यञ्जन	अयोगवाह	उ० स्थान
अ (१८ प्रकार का)	क, ख, ग, घ, ङ, ह	:	कण्ठ
इ (१८ प्रकार का)	च, छ, ज, झ, ञ, य, श		तालु
ऋ (१८ प्रकार का)	ट, ठ, ड, ढ, ण, र, ष		मूर्धा
लृ (१२ प्रकार का)	त, थ, द, ध, न, ल, स		दन्त
उ (१८ प्रकार का)	प, फ, ब, भ, म,	˘प (उपध्मानीय)	ओष्ठ
	ञ, म, ङ, ण, न		नासिका, स्व-स्व
ए, (१२ प्रकार) ऐ (१२ प्रकार)			कण्ठतालु
ओ (१२ प्रकार), औ (१२ प्रकार			कण्ठोष्ठ
	व		दन्तोष्ठ
		˘क (जिह्वा०)	जिह्वामूल
			नासिका

आभ्यन्तर प्रयत्न बोधक चक्र

प्रयत्न स्पृष्ट	ईषत् स्पृष्ट	ईषद् विवृत	विवृत	संवृत
संज्ञा स्पर्श	अन्त:स्थ	ऊष्म	स्वर (सभी भेद)	प्रयोग में ह्रस्व अ
क ख ग घ ङ-		ह	अ	
च छ ज झ ञ	य	श	इ ए, ऐ	
ट ठ ड ढ ण	र	ष	ऋ	
त थ द ध न	ल	स	लृ	
प फ ब भ म	व	-	उ, ओ, औ	

बाह्य प्रयत्न बोधक चक्र

विवार, श्वास,	संवार, नाद, उदात्त अनुदात्त	अल्पप्राण		महाप्राण
अघोष	घोष			स्वरित
क ख	ग घ ङ य	क ग ङ य	ख घ	
च छ श	ज झ ञ व	च ज ञ व	छ झ	अ ए
ट ठ	ड ढ ण र	ट ड ण र	ठ ढ	इ ओ
त थ स	द ध न ल	त द न ल	थ ध	उ ऐ
प फ	ब भ म ह	प ब म श	फ भ	ऋ औ

***

विषयानुक्रमणिका

श्रीमद्वरदराजाचार्य प्रणीता

लघुसिद्धान्तकौमुदी

[सोमलेखा-व्याख्यायुता]

(पूर्वार्द्धम्)

संज्ञा-प्रकरणम्

(मङ्गलाचरणम्)

नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम्।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम्॥

भारतीय परम्परा का अनुसरण करते हुए वरदाचार्य प्रस्तुत श्लोक (नत्वेति) के द्वारा ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति की इच्छा से देवी सरस्वती की वन्दना करते हैं तथा ग्रन्थरचना का उद्देश्य (पाणिनि के व्याकरण में प्रवेश करने हेतु) प्रदर्शित करते हैं—

नत्वेति— मैं (ग्रन्थकर्त्ता वरदाचार्य) शुद्ध स्वरूप वाली (अर्थात् दोष रहित), प्रशस्त गुणों वाली वाग्देवी सरस्वती की वन्दना करके पाणिनीय (पाणिनि विरचित) व्याकरण में प्रवेश करने के लिए लघु सिद्धान्त कौमुदी नामक (इस) ग्रन्थ की रचना करता हूँ।

अ इ उ ण् १। ऋ ऌ क् २। ए ओ ङ् ३। ऐ औ च् ४। ह य व र ट् ५। ल ण् ६। ञ म ङ ण न म् ७। झ भ ञ् ८। घ ढ ध ष् ९। ज ब ग ड द श् १०। ख फ छ ठ थ च ट त व् ११। क प य् १२। श ष स र् १३। ह ल् १४।

अ इ उ णिति— 'अ, इ, उ, ण्'— इन चौदह सूत्रों को 'माहेश्वर सूत्र' कहा जाता है। इन्हें ही 'अक्षर समाम्नाय' कहा जाता है। वस्तुतः ये पाणिनीय व्याकरण की आधारशिला हैं। भारतीय मान्यता के अनुसार ये १४ सूत्र पाणिनि को अपनी तपस्या के फल-स्वरूप भगवान् शङ्कर से प्राप्त हुए थे। वस्तुतः इन सूत्रों द्वारा अक्षर समाम्नाय का क्रम दिखलाया गया है।

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि। एषां अन्त्या इतः। हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः। लणमध्ये तु इत्संज्ञकः।

इतिति— ये माहेश्वर सूत्र 'अण्' आदि संज्ञाओं (प्रत्याहारों) के लिए हैं अर्थात् इनकी सहायता से 'अण्' आदि ४२ प्रत्याहार सूत्रों (पृ० १२) की सिद्धि होती है। प्रत्याहार सूत्रों की विधि का निर्देश आगे सू० ४ पर किया गया है।

एषामिति— इन चौदह सूत्रों के अन्तिम वर्ण (यथा— ण्, क्, ङ्, च्, ट्, ण्, म्, ञ्, ष्, श्, व्, य्, र्, ल्) इत् संज्ञा वाले हैं। इन्हें अनुबन्ध भी कहते हैं। व्याकरण शास्त्र में

प्रयोजनविशेष के लिए अनुबन्ध योजना की गई है जिसका फल यथास्थल पर दिखाया जाता रहा है।

शास्त्र में लाघव हेतु प्रत्याहारों की आवश्यकता होती है तथा प्रत्याहार के लिए पाणिनि ने दो कार्य किए हैं— अनुबन्धों की योजना तथा अ इ उ ण् आदि सूत्रों का पाठ। लौकिक वर्णमाला के रहते हुए भी पूर्वोक्त वर्ण समाम्नाय का उपदेश किया गया है। कारण कि प्रत्याहारों की सिद्धि के लिए वर्णों के प्रचलित क्रम में परिवर्तन करना आवश्यक था।

हकारेति— हकार आदि वर्णों में अकार उच्चारणार्थ है। पूर्वोक्त १४ सूत्रों में पठित सभी व्यञ्जन वर्णों में (ण् इत्यादि अनुबन्धों को छोड़कर) अकार भी जुड़ा हुआ है। उक्त अकार का मात्र इतना प्रयोजन है कि इन व्यञ्जनों का उच्चारण सुविधापूर्वक हो सके। क्योंकि व्यञ्जन स्वरों की सहायता से ही उच्चरित होते हैं। सभी इत् संज्ञक वर्णों का लोप हो जाता है (द्र० सूत्र ३) परन्तु माहेश्वर सूत्रों में पठित व्यञ्जनों में जो उच्चारणार्थ अकार है उसकी निवृत्ति इत् संज्ञा के बिना ही हो जाती है अर्थात् उसे इत् करना नहीं पड़ता। सार यह है कि उच्चारण के लिए प्रयुक्त अनुबन्ध (या वर्ण) की इत्संज्ञा करना अनिवार्य नहीं है। (द्र० सूत्र-दिव औत्)

लणिति— परन्तु 'लण्' सूत्र में लकारोत्तरवर्त्ती अकार इत्संज्ञक है (उच्चारण के लिए नहीं)। इस प्रकार लकार में स्थित अकार के दो प्रयोजन हैं— उच्चारण के लिए सहायता तथा इत्संज्ञक होना। इत्संज्ञक होने का फल प्रत्याहार सूत्र निर्माण होता है। वस्तुतः इस अकार को इत्संज्ञक करने का उद्देश्य है— र् प्रत्याहार का निर्माण जिसकी चर्चा आगे (सू० २९) की गई है।

१. '**हलन्त्यम्**' (१/३/३)

उपदेशेऽन्त्यं हलित्स्यात्। उपदेश आद्योच्चारणम्। सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र।

हलिति— उपदेश अवस्था में अन्त्य हल् की इत् संज्ञा होती है अर्थात् उपदेश अवस्था में जो हल् (वर्ण) अन्त में स्थित होगा उसकी इत् संज्ञा होगी।

'हल्' एक प्रत्याहार है (जिसका ज्ञान आगे सू० ४ पर कराया जायेगा) जिसके अन्तर्गत सभी व्यञ्जन आ जाते हैं। अतः प्रस्तुत सूत्र का भावार्थ होगा कि उपदेश अवस्था में अन्त्य (अन्त में स्थित) व्यञ्जन की इत् संज्ञा होगी।

उपदेश इति— आद्य उच्चारण को उपदेश कहते हैं। पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि के द्वारा किया गया जो प्रथम उच्चारण है वह आद्योच्चारण कहलाता है। इस प्रकार माहेश्वर सूत्र, सूत्रपाठ, धातुपाठ, वार्त्तिकपाठ, लिङ्गानुशासन, उणादिपाठ, गणपाठ, आगम, प्रत्यय तथा आदेश को उपदेश कहा गया है।

सूत्रेष्विति— सूत्र में जो पद दिखाई न दे उसे दूसरे सूत्रों से सर्वत्र लाना

(अध्याहार) चाहिए।

चूँकि अष्टाध्यायी की रचना सूत्र शैली में हुई है तथा सूत्र शैली में संक्षेप को महत्त्व दिया जाता है। प्रत्येक सूत्र में एक ही शब्द का बार बार आना सूत्र शैली के प्रयोजन को व्यर्थ कर देता है तथा अनावश्यक भार प्रतीत होता है। अत: इस प्रकार के शब्दों (जो सूत्र में दृष्टिगोचर न हों तथा जिनके बिना सूत्रार्थ अपूर्ण प्रतीत होता हो) का अध्याहार कर लेना चाहिए। इसे ही अनुवृत्ति कहा जाता है। पूर्व शास्त्र (यदा कदा पर शास्त्र से भी) से शब्दों का अनुवर्त्तन करके सूत्रार्थ को पूर्ण किया जाता है। 'हलन्त्यम्' सूत्र का अर्थ व उसमें अनुवृत्ति के ज्ञान के लिए निम्नलिखित सूत्रक्रम पर दृष्टि डालिए—

भूवादयो धातव: ।१।३।१ उपदेशेऽजनुनासिक इत् ।१।३।२।

हलन्त्यम् ।१।३।३।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववर्त्ती सूत्र (१।३।२) से 'उपदेशे' तथा 'इत्' इन दो पदों का अनुवर्त्तन कर लेने पर सूत्रार्थ पूर्ण हो जायेगा :

'उपदेशे हल् अन्त्यम् इत् (स्यात्)' अर्थात् उपदेश में अन्त्य हल् की संज्ञा होती है।

२. अदर्शनं लोप: (१/१/६०)

प्रसक्तस्याऽदर्शनं लोपसंज्ञं स्यात्।

अदर्शनमिति— प्रसक्त का दिखाई न पड़ना लोप कहलाता है।

प्रसक्त का अर्थ है प्राप्त या विद्यमान। इस प्रकार सूत्र का अर्थ होगा कि जो प्राप्त है उसका न सुना जाना या न दिखाई पड़ना लोप कहलाता है।

३. तस्य लोप: (१/३/९)

तस्येतो लोप: स्यात्। णादयोऽणाद्यर्था:।

तस्येति— उस इत् संज्ञक का लोप हो। इस प्रकार इत्संज्ञा का प्रयोजन लोप है।

णेति— माहेश्वर सूत्रों में सूत्र के अन्त में पठित 'ण्' इत्यादि इत्संज्ञक वर्ण प्रत्याहार सूत्रों (अण्, अच् इत्यादि) की सिद्धि के लिए हैं। चूँकि इत् संज्ञक वर्ण का लोप होता है परन्तु इन 'ण्' आदि वर्णों के लोप से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। इन्हें 'इत्' करने का प्रयोजन 'अच्' इत्यादि प्रत्याहारों का निर्माण करना है। यदि इन्हें इत् संज्ञक नहीं कहेंगे तो 'आदिरन्त्येन सहेता' सूत्र के द्वारा प्रत्याहार न बना सकेंगे। यदि इन्हें 'इत्' कर देंगे तथा साथ में लोप भी कर देंगे तो इत्संज्ञा निरर्थक है। अत: इनकी इत्संज्ञा किये जाने का फल लोप नहीं है अपितु 'अण्' इत्यादि प्रत्याहार निर्माण है।

४. आदिरन्त्येन सहेता (१/१/७१)

अन्त्येन इता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्। यथा– 'अण्' इति अ इ उवर्णानां संज्ञा। एवमक् अच् हल् अलित्यादय:।

आदिरिति— अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण से सहित आदि वर्ण अपनी तथा बीच के वर्णों की

संज्ञा (बोधक) होता है। इस सूत्र के द्वारा प्रत्याहारों की सिद्धि होती है। सूत्र का भावार्थ है कि अन्त्य इत् के साथ उच्चार्यमाण आदि वर्ण अपना तथा मध्यवर्त्ती वर्णों का बोधक होता है अर्थात् अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण के साथ आने वाला आदि वर्ण अपना तथा बीच में आने वाले अन्य सभी वर्णों का बोध करायेगा। यथा— 'अण्' प्रत्याहार का आदि वर्ण अ है जो 'अ इ उ ण्' माहेश्वर सूत्र का प्रथम वर्ण है तथा 'अण्' का अन्तिम अक्षर 'ण्' है जो इत्संज्ञक भी है। अतः इस इत्संज्ञक णकार से युक्त आदि वर्ण अकार हुआ जिससे 'अण्' इस प्रकार प्रत्याहार बना। इन दोनों वर्णों के मध्य में इ, उ (द्र० अ इ उ ण्) वर्ण भी हैं। तब यह 'अण्' प्रत्याहार अपना (अर्थात् अकार का) तथा मध्यवर्त्ती (इकार, उकार) का भी बोध कराता है। भावार्थ यह हुआ कि शास्त्र में जहाँ जहाँ 'अण्' ऐसे शब्द स्वरूप का व्यवहार होगा वहाँ वहाँ अ, इ, उ, ये तीन वर्ण स्वतः उपस्थित हो जायेंगे।

एवमिति— इस प्रकार 'अ इ उ ण्। ऋ ऌ क्॥' के आदि अ और अन्त्य इत्संज्ञक क् को लेकर अक् प्रत्याहार बना लेंगे जो पाँच वर्णों (अ, इ, उ, ऋ, ऌ) का बोध कराता है। ध्यान रहे कि यहाँ मध्यवर्त्ती णकार का 'तस्य लोपः' से लोप नहीं होता है। इसी प्रकार अच्, हल् तथा अल् आदि प्रत्याहारों का निर्माण कर लेंगे। पुस्तक में आने वाले सभी प्रत्याहार पृ० १ पर दिखाए गए हैं।

५. ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः (१/२/२७)

उश्च ऊश्च ऊ३श्च वः। वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद् ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात्। स प्रत्येकमुदात्तादि भेदेन त्रिधा।

ऊकालेति— ऊकाल वाला 'अच्' ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञक होता है। 'अच्' एक प्रत्याहार सूत्र है जिसमें सभी स्वर आ जाते हैं। 'ऊकाल' का अर्थ है— उ, ऊ तथा उ ३ काल वाले। भावार्थ यह है कि उकाल (अर्थात् एक मात्र काल वाला) वाले स्वर को ह्रस्व, ऊकाल (अर्थात् दो मात्रा काल वाला) वाले स्वर को दीर्घ तथा उ ३ काल (अर्थात् तीन मात्रा काल वाला) वाले स्वर को प्लुत कहेंगे।

कुक्कुट की ध्वनि में 'कु कू कू ३' ऐसा एकमात्रिक, द्विमात्रिक व त्रिमात्रिक आरोह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अतः उवर्ण को पाणिनि ने दृष्टान्तरूप में ग्रहण किया है, अकार आदि अन्य स्वर को नहीं।

सेति— वह अर्थात् अच् (= स्वर) उदात्त आदि भेद से तीन प्रकार का होता है।

इस प्रकार प्रत्येक स्वर नौ प्रकार का सिद्ध हुआ। यथा—

ह्रस्व	उदात्त	अकार	अ
ह्रस्व	अनुदात्त	अकार	अ
ह्रस्व	स्वरित	अकार	अ
दीर्घ	उदात्त	अकार	आ

दीर्घ	अनुदात्त	अकार	आ
दीर्घ	स्वरित	अकार	आ
प्लुत	उदात्त	अकार	अ ३
प्लुत	अनुदात्त	अकार	अ ३
प्लुत	स्वरित	अकार	अ ३

इसी प्रकार इकार, उकार व ऋकार के विषय में समझें।

६. उच्चैरुदात्त: (१/२/२९)

(ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञ: स्यात्।)

उच्चैरिति— कण्ठ, तालु आदि सखण्ड स्थानों के ऊपर वाले भाग में उच्चार्यमाण स्वर उदात्त संज्ञक होता है।

७. नीचैरनुदात्त: (१/२/३०)

(ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेष्वधोभागे निष्पन्नोऽजनुदात्तसंज्ञ: स्यात्।)

नीचैरिति— कण्ठ, तालु इत्यादि स्थानों के नीचे वाले भाग में उच्चार्यमाण स्वर अनुदात्त संज्ञक होता है।

८. समाहार: स्वरित: (१/२/३१)

(उदात्तानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञ: स्यात्।) स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा।

समाहार इति— उदात्त और अनुदात्त के एकीकरण वाला स्वर स्वरित संज्ञक होता है अर्थात् उदात्तत्व तथा अनुदात्तत्व दोनों धर्मों का मेल जिस वर्ण में हो उसकी स्वरित संज्ञा होती है।

मुख के भीतर कण्ठ, तालु आदि स्थान होते हैं। वर्णों के उच्चारण से प्रेरित वायु इन मुखस्थ स्थानों पर आघात करता है तब स्थानानुरूप वर्णों की उत्पत्ति होती है। मुख में स्थित सभी स्थान द्विधा विभक्त होते हैं। यथा— ऊपर का भाग व नीचे का भाग। जब कोई स्वर उच्चारण स्थान के ऊपरी भाग से उच्चरित होता है तो वह उदात्त संज्ञा वाला होता है। इसी प्रकार जो स्वर उच्चारण स्थान के निचले भाग से उच्चरित होता है उसे अनुदात्तसंज्ञक कहते हैं। जो स्वर दोनों (उदात्तत्व, अनुदात्तत्व) धर्मों से युक्त होता है वह स्वरित कहलाता है। उदात्तत्व आदि धर्मों की उपयोगिता वेद में दृष्टिगोचर होती है।

सेति— वह नौ प्रकार का प्रत्येक अच् (पुन:) अनुनासिक व अननुनासिक भेद से दो प्रकार का होता है।

९. मुखनासिकावचनोऽनुनासिक: (१/१/८)

मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञ: स्यात्। तदित्थम्- अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादशभेदा: लृवर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात्। एचामपि

द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्।

मुखेति— मुख व नासिका से उच्चार्यमाण वर्ण अनुनासिक संज्ञक हो।

ङ्, ञ्, ण्, न् तथा म् इन पाँच वर्णों का उच्चारण मुख व नासिका दोनों से होता है। अत: ये अनुनासिक संज्ञक हैं।

तादेति— इस प्रकार अ, इ, उ, ऋ वर्णों के प्रत्येक के अठारह भेद होते हैं। 'लृ' वर्ण का दीर्घरूप प्राप्त नहीं होता है अत: इसके केवल बारह भेद होते हैं। एच् वर्णों (ए, ओ, ऐ, औ) का ह्रस्व रूप नहीं होता है अत: इनके भी बारह भेद ही होते हैं।

प्रथम स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत ये तीन-तीन भेद कहे गये हैं। इनके उदात्त, अनुदात्त, स्वरित के आधार पर प्रत्येक के तीन-तीन भेद कहे हैं। इस प्रकार ३x३=९ नौ-नौ भेद सिद्ध होते हैं। अकार के नौ भेद सू० ५ पर दर्शाए जा चुके हैं। पुन: ये नवविध अकार अनुनासिक व निरनुनासिक भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार अकार अठारह प्रकार का होता है।

अकार की तरह ही इकार, उकार व ऋकार भी अठारह-अठारह प्रकार के होते हैं। चूँकि लृ के ह्रस्व व प्लुत दो ही भेद होते हैं। अत: उदात्तादि के आधार पर छह भेद हुए। पुन: अनुनासिकता के आधार पर दो दो भेद होते हैं। इस प्रकार लृकार बारह प्रकार का होता है। चूँकि एच् (ए, ओ, ऐ, औ) वर्णों का दीर्घ व प्लुत ही होता है। अत: प्रत्येक एच् वर्ण भी बारह बारह प्रकार का होता है।

१०. तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (१/१/९)

ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथ: सवर्णसंज्ञं स्यात्।

(ऋलृवर्णयोर्मिथ: सावर्ण्यं वाच्यम्)। अकुहविसर्जनीयानां कण्ठ:। इचुयशानां तालु। ऋटुरषाणां मूर्धा। लृतुलसानां दन्ता:। उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। ञमङणनानां नासिका च। एदैतो: कण्ठतालु। ओदौतो: कण्ठोष्ठम्। वकारस्य दन्तोष्ठम्। जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्। नासिकाऽनुस्वारस्य। यत्नो द्विधा- आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्य: पञ्चधा- स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृत-विवृत-संवृतभेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्त:स्थानाम्। ईषद्विवृतमूष्मणाम्। विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव। बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा विवार: संवार: श्वासो नादोऽघोषो घोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्त: स्वरितश्चेति। खरो विवारा: श्वासा अघोषाश्च। हश: संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथम-तृतीय-पञ्चमा यणश्चाल्पप्राणा:। वर्गाणां द्वितीय-चतुर्थौ शलश्च महाप्राणा:।

कादयो मावसाना: स्पर्शा:। यणोऽन्तस्था:। शल ऊष्माण:। अच: स्वरा:। अ ॅ क:, अ ॅ ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीय:। अ ॅ प:, अ ॅ फ:

इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः। अं, अः, इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ।

तुल्यास्येति— जिन जिन वर्णों के कण्ठ आदि उच्चारण स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न दोनों ही समान होते हैं, वे परस्पर सवर्ण संज्ञक होते हैं।

उदाहरण के लिए तकार व थकार दोनों का उच्चारण स्थान 'दन्त' है तथा दोनों का आभ्यन्तर प्रयत्न 'स्पृष्ट' है। अतः ये व्याकरण की भाषा में परस्पर सवर्ण संज्ञा वाले हैं।

इ तथा ए की सवर्ण संज्ञा नहीं होती है। कारण कि माहेश्वर सूत्रों में इनका पृथक्-पृथक् पाठ है। दूसरे इ तथा ए का उच्चारण स्थान भिन्न-भिन्न है।

ऋ लृ इति— ऋ और लृ वर्ण की परस्पर सवर्ण संज्ञा कहनी चाहिए। ऋ तथा लृ इन दोनों वर्णों का उच्चारण स्थान भिन्न-भिन्न है। अतः प्रस्तुत सूत्र के द्वारा इनकी सवर्ण संज्ञा नहीं सिद्ध होती है। फलतः वार्त्तिक के द्वारा दोनों वर्णों की सवर्ण संज्ञा कही गई है।

वर्णों का उच्चारण करते समय वायु मुख के जिस भाग से टकराती है अथवा जिह्वा मुख के जिस भाग को स्पर्श करती है, वह स्थान उस वर्ण का उच्चारण स्थान कहलाता है। वर्णों के उच्चारण स्थान इस प्रकार हैं:—

अकुहेति— अ, कवर्ग (क, ख, ग, घ, ङ), हकार तथा विसर्ग का उच्चारण स्थान कण्ठ है। इ, चवर्ग (च, छ, ज, झ, ञ), य तथा शकार का स्थान तालु है। ऋ, टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ, ण), र तथा षकार का स्थान मूर्धा है। लृ, तवर्ग (त, थ, द, ध, न), ल तथा सकार का स्थान दन्त है। उ, पवर्ग (प, फ, ब, भ, म) तथा उपध्मानीय का स्थान ओष्ठ है। ञ, म, ङ, ण तथा न का स्थान नासिका भी है। ए तथा ऐ का स्थान कण्ठतालु है। ओ तथा औ का कण्ठ व ओष्ठ है। व का स्थान दन्त व ओष्ठ है। जिह्वामूलीय का स्थान जिह्वामूल है। अनुस्वार का उच्चारण स्थान नासिका है।

वर्णों के उच्चारण करते समय भीतर से आने वाली वायु के साथ जिह्वा को मुख के भिन्न-भिन्न स्थानों पर कुछ चेष्टा करनी पड़ती है। इसे यत्न कहा जाता है। वर्णों के यत्न इस प्रकार हैं—

यत्न इति— यत्न दो प्रकार का होता है— आभ्यन्तर तथा बाह्य।

वर्ण के मुख से बाहर आने से पहले जो प्रयत्न किया जाता है उसे आभ्यन्तर यत्न कहते हैं। चूँकि आभ्यन्तर प्रयत्न के बिना बाह्य प्रयत्न व्यर्थ है। अतः आभ्यन्तर को प्रयत्न कहा गया है। बाह्य यत्न मुख से वर्ण के निकलते समय होता है।

आद्य इति— आद्य अर्थात् प्रथम (आभ्यन्तर) प्रयत्न पाँच प्रकार का होता है— १. स्पृष्ट, २. ईषत्स्पृष्ट, ३. ईषद् विवृत, ४. विवृत तथा ५. संवृत। स्पर्श (क से म तक) वर्णों का प्रयत्न स्पृष्ट है। अन्तःस्थ वर्णों (य, र, ल, व) का प्रयत्न ईषत् स्पृष्ट है। ऊष्म वर्णों (श, ष, स, ह) का प्रयत्न ईषद् विवृत है। स्वरों का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है। ह्रस्व अकार का प्रयोग काल में संवृत प्रयत्न होता है परन्तु प्रक्रिया दशा (अर्थात् साधन अवस्था) में इसका यत्न विवृत ही होता है।

स्पृष्ट प्रयत्न का अर्थ है कि वर्णों का उच्चारण करते समय जिह्वा का तत् तत् स्थानों का स्पर्श करना जिन जिन स्थानों से वे वर्ण उच्चारित होते हैं। ईषत् स्पृष्ट का अर्थ है जिह्वा का पूर्ण रूपेण उच्चारण स्थान को स्पर्श न करना। विवृत का अर्थ है कि जिह्वा तत् तत् स्थान को स्पर्श नहीं करती है तथा कण्ठ खुला रहता है। ईषद् विवृत का अर्थ है— कण्ठ कुछ खुला रहता है।

बाह्य इति— बाह्य यत्न ग्यारह प्रकार का है। यथा—

१. विवार, २. संवार, ३. श्वास, ४. नाद, ५. घोष, ६. अघोष, ७. अल्पप्राण, ८. महाप्राण, ९. उदात्त, १०. अनुदात्त तथा ११. स्वरित।

जिस वर्ण के उच्चारण करने के समय मुख खुलता है, उसका यत्न विवार होता है।जिस वर्ण के उच्चारण में मुख संकुचित रहता है, उस वर्ण का यत्न संवार कहलाता है। कुछ वर्णों के उच्चारण में श्वास चलता है, उनका प्रयत्न श्वास कहा गया है। जिस वर्ण के उच्चारण में नाद होती है, उसे नाद कहते हैं। जिस वर्ण के उच्चारण में गूँज होती है, उसे घोष कहते हैं। जिस वर्ण के उच्चारण में गूँज नहीं होती है, उसे अघोष कहते हैं। जिस वर्ण के उच्चारण में प्राणवायु का अल्प उपयोग होता है, उसका यत्न अल्पप्राण कहा गया है। प्राणवायु का अधिक उपयोग होने पर प्रयत्न महाप्राण कहलाता है।

उदात्तादि की चर्चा पीछे (सूत्र ६, ७, ८ पर) की जा चुकी है।

खर इति— खर् वर्णों का यत्न विवार, श्वास व अघोष होता है। हश् वर्णों का संवार, नाद और घोष यत्न है। वर्णों के प्रथम, तृतीय और पञ्चम वर्णों तथा यण् वर्णों का अल्पप्राण यत्न है। वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का तथा शल् वर्णों का महाप्राण यत्न है। क से लेकर म पर्यन्त वर्णों को स्पर्श कहते हैं। यण् वर्णों को अन्त:स्थ कहते हैं। शल् वर्णों को ऊष्म कहते हैं। अच् वर्णों को स्वर कहते हैं। ˘क ˘ख इस प्रकार 'क' व 'ख' से पूर्व आधे विसर्ग के समान ध्वनि को जिह्वामूलीय कहते हैं। 'प' व 'फ' से पूर्व आधे विसर्ग के समान ध्वनि को उपध्मानीय कहते हैं। अं, अ:-इन को अच् से पर क्रमशः अनुस्वार तथा विसर्ग कहते हैं।

११. अणुदित् सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः (१/१/६९)

प्रतीयते विधीयत इति प्रत्ययः। अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात्। अत्रैवाण् परेण णकारेण। कु चु टु तु पु एते उदितः। तदेवम्- 'अ' इत्यष्टादशानां संज्ञा। तथेकारोकारौ ऋकारस्त्रिंशतः। एवम् लृकारोऽपि। एचो द्वादशानाम्। अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा। तेनाऽननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा।

अणिति— अविधीयमान अण् तथा उदित् अपनी तथा अपने सवर्ण की संज्ञा होते हैं।

जिसका विधान किया जाता है उसे प्रत्यय कहते हैं। प्रत्यय, आगम, आदेश आदि का विधान किया जाता है। अतः प्रत्यय, आगम व आदेश विधीयमान हैं। इसलिए ये

केवल अपने स्वरूप का बोध करायेंगे तथा अपने सवर्ण का बोध नहीं करायेंगे। सूत्र में पठित 'अप्रत्ययः' पद केवल 'अण्' का ही विशेषण है, उदित् का नहीं। तब 'उदित्' के सम्बन्ध में विधान या अविधान से कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

चूँकि 'अण्' प्रत्याहार दो प्रकार से बनता है। यथा— 'अ इ उ ण्' का 'ण्' लेकर तथा 'लण्' का 'ण्' लेकर। प्रस्तुत सूत्र में पठित 'अण्' प्रत्याहार पर णकार (अर्थात् लण् वाले) से लिया जाता है तथा शेष सर्वत्र पूर्व (अ इ उ ण् वाले) से लिया जाता है। इसके लिए कारिका दी गई है:

'परेणैवेण् ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहाः मताः।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येतदेकं परेण तु॥'

अर्थात् 'इण्' प्रत्याहार सर्वत्र पर णकार से तथा 'अण्' प्रत्याहार पूर्व णकार से लेना चाहिए। केवल 'अणुदित्०' सूत्र में 'अण्' पर णकार से लिया जाता है।

कु, चु, टु, तु, पु इन का उत् (अर्थात् ह्रस्व उकार) इत् है। अतः इन्हें उदित् कहा जाता है। इस प्रकार सार यह है कि जिनका विधान न किया गया हो ऐसे अण् (अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ह् य् व् र् ल्) तथा उदित् (कु, चु, टु, तु, पु) अपना बोध कराते हैं तथा अपने सवर्ण का भी बोध कराते हैं। उदाहरण के लिए 'इको यणचि' सूत्र से 'इक्' के स्थान पर 'यण्' होता है। चूँकि इक् (इ, उ, ऋ, लृ) अविधीयमान है। अतः इक् के चारों वर्ण अपने सवर्णों का भी बोध करायेंगे अर्थात् अपने दीर्घ प्लुतादि सभी भेदों का बोध करायेंगे। इस प्रकार यण् आदेश न केवल ह्रस्व इकार के स्थान पर ही होगा अपितु दीर्घ ईकार के स्थान पर भी हो जायेगा। फलतः 'गौरी + अत्र'— यहाँ पर भी यणादेश होकर 'गौर्यत्र' रूप बन जायेगा।

तदेवमिति— इस प्रकार अकार अपने अठारह रूपों की संज्ञा होगा अर्थात् अकार कहने पर उसके १८ रूपों की उपस्थिति स्वतः हो जायेगी। इकार तथा उकार भी अपने अठारह-अठारह रूपों की संज्ञा होते हैं। ऋकार अपने तीस रूपों का ज्ञान करायेगा क्योंकि ऋकार व लृकार को वार्त्तिक (ऋलृकारयो मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्) के द्वारा सवर्ण कहा गया है। अतः अठारह रूप ऋकार के तथा बारह रूप लृकार के मिलकर कुल तीस रूप होते हैं। इसी प्रकार लृकार के तीस रूप समझना चाहिए। एच् वर्ण अपने बारह भेदों का ही बोध कराते हैं। अनुनासिक और अननुनासिक भेद से य, व, तथा ल दो दो प्रकार के हैं। अतः य, व तथा ल अपने दो दो भेदों का बोध कराते हैं।

१२. परः सन्निकर्षः संहिता (१/४/१०९)

वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात्।

पर इति— वर्णों की अत्यन्त समीपता की संहिता संज्ञा हो।

अत्यन्त समीपता का अर्थ है— व्यवधान रहित होना। यथा— 'इति अत्र'— यहाँ तकारोत्तरवर्त्ती इकार व 'अत्र' के अकार के मध्य कोई व्यवधान नहीं है। अतः यह

संहिता संज्ञक हुआ।

१३. हलोऽनन्तराः संयोगः (१/१/७)

अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञा स्युः।

हल इति— व्यवधान रहित हल् संयोग संज्ञक हों। 'हल्' एक प्रत्याहार है जिसमें सभी व्यञ्जन आते हैं। अतः जिन दो या अधिक व्यञ्जनों के मध्य व्यवधान न हो तो उनकी संयोग संज्ञा होती है। चूँकि व्यवधान सर्वदा विजातियों का होता है। अतः अच् वर्णों (अर्थात् स्वरों) का व्यवधान न रहने पर व्यञ्जनों की संयोग संज्ञा होती है। यथा— 'इन्द्र' शब्द में नकार, रेफ व दकार के मध्य किसी स्वर का व्यवधान नहीं है। अतः 'न्द्र्' की संयोग संज्ञा हो गई।

१४. सुप्तिङन्तं पदम् (१/४/१४)

सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात्।

॥इति संज्ञा प्रकरणम्॥

सुबिति— सुप् और तिङ् अन्त में है जिनके ऐसे शब्दों की पद संज्ञा हो।

'सुप्' एक प्रत्याहार है। 'स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्०' सूत्र के द्वारा विहित २१ प्रत्ययों को 'सुप्' कहा जाता है (द्र० सू० १२१)।

इसी प्रकार 'तिङ्' एक प्रत्याहार है। 'तिप्तस्झिसिप्०' सूत्र के द्वारा विहित १८ प्रत्ययों को 'तिङ्' कहा गया है। (द्र० सू० ३७५)। अतः सुप्-प्रत्ययान्त (रामः, देवैः इत्यादि) तथा तिङ् प्रत्ययान्त (पचति, सेवध्वम् इत्यादि) शब्द स्वरूप को 'पद' कहते हैं।

यह लघुसिद्धान्त कौमुदी की सोमलेखा टीका में संज्ञा प्रकरण समाप्त हुआ।

सन्धि-प्रकरणम्

अथाच्-संधिप्रकरणम्

१५. [६]इको[१] यणचि[७] (६/१/७४)

इकः स्थाने 'यण्' स्यादचि संहितायां विषये। 'सुधी उपास्यः' इति स्थिते।

इक इति-इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) के स्थान में 'यण्' (य्, व्, र्, ल्) आदेश हो, अच् (स्वर) परे रहते संहिता के विषय में।

संहिता के सम्बन्ध में कहा गया है—

'संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते।।

अर्थ यह है कि संहिता एक पद में, धातु और उपसर्ग के योग में और समास में नित्य है, पर वाक्य में वक्ता की इच्छा पर निर्भर होती है।

सूत्र में विभक्ति योजना— 'इकः' यहाँ षष्ठी है। 'यण्' प्रथमान्त पद है। 'अचि' परसप्तमी है। प्रकृत सूत्र में 'संहितायाम्' (पा० ६.१.७०) का अधिकार आता है। 'षष्ठी स्थानेयोगा' परिभाषा के अनुसार 'स्थाने' ऐसा अर्थ किया गया है। 'असति बाधके प्रथमाया विधेयविभक्तित्वम्' अर्थात् यदि कोई बाधक न हो तो विधेय प्रथमान्त होता है। अतः इस नियम के अनुसार प्रथमान्त 'यण्' विधेय हो गया।

'सुधी उपास्यः' ऐसा होने पर सन्देह होता है कि तीन इक् (उ, ई, उ) में से कौन से वर्ण के स्थान पर 'यण्' आदेश हो अर्थात् सकारोत्तरवर्त्ती उकार के स्थान पर आदेश हो या धकारोत्तरवर्त्ती ईकार के स्थान पर हो अथवा 'उपास्यः' के आदि में स्थित उकार के स्थान पर हो। इसके समाधान के लिए परिभाषा सूत्र दिया है।

१६. [७]तस्मिन्निति[७] निर्दिष्टे पूर्वस्य[६] (१/१/६५)

सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम्।

तस्मिन्निति— सप्तम्यन्त के उच्चारण के द्वारा विहित कार्य वर्णान्तर से व्यवधानरहित पूर्व वर्ण के स्थान पर होता है अर्थात् जिन दो वर्णों में कार्य हो उन के बीच में व्यवधान स्वरूप अन्य वर्ण न हो तथा वह कार्य पूर्व वर्ण को हो।

प्रकृत सूत्र में 'अचि' सप्तम्यन्त पद है तथा 'अच्' के परे रहते हुए कार्य का विधान है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा ऐसे वर्ण के स्थान पर कार्य होगा जो 'अच्' से पूर्व स्थित है तथा अन्य वर्ण के व्यवधान से रहित है। प्रस्तुत उदाहरण में 'यण्' आदेश न तो 'सु धी' के स्थान पर हो सकता है तथा न ही 'उ पास्यः' के स्थान पर हो सकता है। दोनों अवस्थाओं में क्रमशः 'ध्' तथा 'प्' वर्ण का व्यवधान है। अतः 'यण्' आदेश

'सुधी उपास्यः' के स्थान पर ही होगा। कारण कि धकारोत्तरवर्ती ईकार तथा उकार के बीच किसी अन्य वर्ण का व्यवधान नहीं है।

१७. [७]स्थानेऽन्तरतमः[१] (१/१/४९)

प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात्। 'सुध्य् उपास्यः' इति जाते-

स्थान इति— प्रसङ्ग उपस्थित होने पर जो सबसे अधिक सदृश होता है वह आदेश स्थानी के स्थान पर हो अर्थात् एक स्थानी के स्थान पर कई आदेशों की प्राप्ति होने पर उनमें जो स्थानी के सबसे अधिक सदृश हो, वह आदेश होता है।

शङ्का है कि स्थानी (इक्) भी चार वर्ण (इ, उ, ऋ, लृ) हैं तथा आदेश (यण्) भी चार वर्ण (य्, व्, र्, ल्) हैं। अतः आदेश किसे किया जाए?

सादृश्य चार प्रकार का होता है— १. स्थानकृत, २. अर्थकृत, ३. गुणकृत, ४. प्रमाण कृत। जहाँ अनेक प्रकार का सादृश्य हो, वहाँ स्थानकृत ही बलवान् होता है। द्रष्टव्यम्— यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः'।

'सुधी उपास्यः' उदाहरण में ईकार स्थानी है जिसके स्थान पर 'यण्' (य्, व्, र्, ल्) आदेश का विधान हैं। चूँकि (य्, व्, र्, ल्) इन चार वर्णों में से 'य्' ही 'ईकार' (स्थानी) का अधिक सदृश है। 'य्' तथा 'ई' दोनों का उच्चारण स्थान तालु है। अतः ईकार के स्थान पर 'य्' हो जाएगा अब 'सुध् य् उपास्यः' हो गया।

१८. [७]अनचि च॑ (८/४/४६)

अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो नत्वचि। (इति धकारस्य द्वित्वम्)

अनचीति— 'अच्' से परे 'यर्' को विकल्प से द्वित्व होता है, 'यर्' के आगे 'अच्' न होने की अवस्था में। इस प्रकार धकार को द्वित्व हो जायेगा। एक पक्ष में कार्य का होना तथा दूसरे पक्ष में न होना विकल्प कहलाता है। एक वर्ण या पद को दो करने को द्वित्व कहते हैं।

'सुध्य् उपास्यः' उदाहरण में 'अच्' (सकारोत्तरवर्ती उकार) से परे 'यर्' (धकार) है तथा आगे 'अच्' नहीं है (यकार है, जो व्यञ्जन है)। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा विहित द्वित्व कार्य (धकार को) हो जायेगा। अब 'सुध् ध् य् उपास्यः' हो गया।

१९. [६]झलां जश्[१] [७]झशि (८/४/५२)

स्पष्टम्। इति पूर्वधकारस्य दकारः।

झलामिति— 'झलों' के स्थान पर 'जश्' होता है, 'झश्' परे रहने पर।

प्रकृत सूत्र की वृत्ति में वरदराज लिखता है— 'स्पष्टम्' अर्थात् अर्थ स्पष्ट है। विधिसूत्र में स्थानी, आदेश तथा निमित्त की आवश्यकता होती है। प्रकृत सूत्र में स्थानी (झलाम्), विधेय अर्थात् आदेश (जश्) तथा निमित्त (झशि) तीनों हैं। अतः अर्थ स्पष्ट है। इस सूत्र के अनुसार पूर्व धकार के स्थान पर दकार हो गया।

'सुध् ध् य् उपास्य' यहाँ प्रथम धकार (झल्) के स्थान पर दकार (जश्) हो गया है, द्वितीय धकार (झश्) के परे रहते।

२०. [६]संयोगान्तस्य लोपः[१] (८/२/२३)

संयोगान्तं यत्पदं तस्य लोपः स्यात्।

संयोगेति— पद के अन्त में स्थित संयोग के अन्त्य वर्ण का लोप हो। प्रस्तुत सूत्र में 'पदस्य' इस सूत्र का अधिकार है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ होगा 'संयोगान्तस्य पदस्य लोपः स्यात्' अर्थात् जिस पद के अन्त में संयोग है, उस का लोप हो— ऐसा अर्थ करने पर 'सुद्ध् य् उपास्यः' में सम्पूर्ण पद (सुद्ध्य्)का लोप प्राप्त होता है।

२१. [६]अलोऽन्त्यस्य[६] (१/१/५१)

षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यस्यादेशः स्यात्। इति यलोपे प्राप्ते–

(वा०) यणः प्रतिषेधो वाच्यः।

सुद्ध्युपास्यः, सुध्युपास्यः मद्ध्वरिः, मध्वरिः। धात्त्रंशः, धात्रंशः। लाकृतिः।

अल इति— षष्ठ्यन्त के उच्चारण के द्वारा जहाँ आदेश (विधान) हो, वहाँ उसके द्वारा बोध्य पद के अन्तिम वर्ण को कार्य हो।

अर्थात् षष्ठ्यन्त का उच्चारण कर जहाँ विधान किया जाता है, वहाँ उस (षष्ठ्यन्त) पद के द्वारा जिसका बोध होता है, उसके अन्तिम वर्ण को वह कार्य हो। पूर्ववर्ती सूत्र के द्वारा 'सुद्ध्य्' इस समग्र पद का लोप प्राप्त था, परन्तु प्रकृत सूत्र के द्वारा उस पद के अन्त्य अक्षर (यकार) का लोप प्राप्त हो गया। अब स्थिति इस प्रकार है— 'सुद् ध् य् उपास्यः।'

यण इति— संयोगान्त पद के अन्तिम वर्ण स्वरूप 'यण्' का लोप नहीं होता। प्रस्तुत वार्तिक के द्वारा यकार का लोप (जो प्राप्त था) नहीं होगा। 'सुद्ध्युपास्यः' रूप सिद्ध हो गया है। यह रूप 'अनचि च' सूत्र के द्वित्व पक्ष में होता है। जहाँ द्वित्व नहीं होगा, वहाँ 'सुध्युपास्यः' एक धकार वाला रूप सिद्ध होगा।

'सुधीभिः उपास्यः'— इस विग्रह के अनुसार समास की अवस्था में सभी सुप् विभक्तियों (भिस्, सु) का लोप होकर 'सुधी उपास्य' ऐसी स्थिति होती है। तब समस्तपद में 'नित्या समासे' इस सिद्धान्त के अनुसार प्रथम सन्धि कार्य करना होगा। तत्पश्चात् 'सुद्ध्युपास्य' इस समस्त पद से 'सु' आदि की उत्पत्ति होती है। वरदराज ने 'सुधी उपास्यः' इस स्थिति में जो 'सु' की उपस्थिति दिखाई है वह छात्रों के स्तर को ध्यान में रखते हुए अनावश्यक जटिलता से बचाने के लिए दिखाई है।

'मधु अरिः' इस स्थिति में जहाँ द्वित्व होता है वहाँ 'मद्ध्वरिः' तथा द्वित्व न होने पर 'मध्वरिः' ऐसे दो रूप सिद्ध हुए। प्रथम प्रयोग में पूर्ववर्ती धकार के स्थान पर दकार (जश्) हो गया है। अन्त्य वकार का लोप प्राप्त होकर वार्तिक के द्वारा उस लोप कार्य का निषेध हो गया है। इस प्रकार 'मद्ध्वरिः' रूप सिद्ध हो गया।

धात्त्रंशः, धात्रंशः— 'धातृ अंशः' में ऋकार को 'र्' (यण्) आदेश, तकार (यर्) को विकल्प से द्वित्व तथा संयोगान्त तकार का लोप प्राप्त होता है। 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' के द्वारा लोप का निषेध होकर दो रूप 'धात्त्रंशः' तथा 'धात्रंशः' सिद्ध होते हैं।

लाकृतिः— 'लृ आकृतिः' इस दशा में 'यण्' आदेश होकर 'लाकृतिः' रूप सिद्ध होता है।

अन्य उदाहरण— इति आदि- इत्यादि। दधि अत्र-दध्यत्र। वारि आनय-वार्यानय। सु आगतम्- स्वागतम्। साधु अत्र- साध्वत्र। पितृ आज्ञा-पित्राज्ञा। लृ-आदेशः-लादेशः।

२२. [६]एचोऽयवायावः[१] (६/१/७५)

एचः क्रमाद् अय्, अव्, आय्, आव् एते स्युरचि।

एच इति— एच् (ए, ओ, ऐ, औ) के स्थान पर क्रमशः अय्, अव्, आय् तथा आव् आदेश हों, अच् के परे रहने पर।

२३. यथॉसंख्यमनुदेशः[१] समानाम्[६] (१/३/१०)

समसम्बन्धी विधिर्यथासंख्यं स्यात्। हरये। विष्णवे। नायकः। पावकः।

यथेति— सम सम्बन्धी विधि यथासंख्य होती है अर्थात् स्थानी और आदेश दोनों की संख्या समान होने पर आदेश क्रमशः ही होता है।

प्रकृत सूत्र में चार स्थानी (एच्-ए, ओ, ऐ, औ) हैं तथा चार ही आदेश (अय्, अव्, आय्, आव्) हैं। अतः चारों उद्देश्यों के स्थान पर चारों प्रतिनिर्देश्य यथासंख्य अर्थात् क्रमपूर्वक होंगे। इस प्रकार ए को अय्, ओ को अव्, ऐ को आय् तथा औ को आव् आदेश होगा। 'हरे ए' इस अवस्था में पूर्ववर्ती 'ए' के स्थान पर 'अय्' आदेश हो गया है अच् (परवर्ती एकार) के परे रहने पर। इस प्रकार 'हरये' रूप सिद्ध हो गया।

'विष्णो ए' इस अवस्था में ओकार के परे अच् (ए) रहने पर ओकार को यथासंख्य आदेश (अव्) होकर 'विष्णवे' रूप सिद्ध हुआ। 'नै अकः' तथा 'पौ अकः' रूपों में क्रमशः 'आय्' तथा 'आव्' आदेश होकर 'नायकः' तथा 'पावकः' रूप सिद्ध होते हैं।

अन्य उदाहरण— पो अनः-पवनः, ने अनम्-नयनम्। चे अनम्-चयनम्। गै अकः-गायकः। भो अनम्-भवनम्। लो अनः-लवणः। पो इत्रम्- पवित्रम्। भौ उकः-भावुकः।

२४. [१]वान्तो यि[७] प्रत्यये[७] (६/१/७६)

यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोरवावौ स्तः। गव्यम्। नाव्यम्।

(वा०) अध्वपरिमाणे च। गव्यूतिः।

वान्त इति— यकारादि प्रत्यय परे रहते ओ तथा औ को वान्त (अर्थात् अव्, आव्) आदेश होता है। 'यि' पद सप्तम्यन्त है। एक परिभाषा है— 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' अर्थात् जहाँ सप्तमी निर्देश से अल् मात्र (वर्णमात्र) का ग्रहण करके कार्य विधान किया

जाता है, वहाँ तदादि (वह वर्ण है आदि जिसका) वर्ण परे होने पर कार्य होता है। अतः प्रकृत सूत्र में 'यि' से 'यकारादि (अर्थात् यकार है आदि में जिसके) परे होने पर'— ऐसा अर्थ लिया जाता है। पूर्व सूत्र 'एचोऽयवा०' से अय्, अव्, आय् और आव्— इन चार आदेशों का विधान किया गया है। इनमें से अव् तथा आव्— ये दो ही वकारान्त आदेश हैं। अतः वान्त का अर्थ होगा— अव् तथा आव्।

गव्यम्— (गो का विकार अर्थात् दूध इत्यादि) 'गो य (यत्)' ऐसी स्थिति में ओकार के स्थान पर यकारादि प्रत्यय (यत्) परे रहते अव् आदेश हो गया। गव्यम्।

नाव्यम्— (नौका से तरने योग्य जल)— 'नौ य (यत्)' ऐसा होने पर यकारादि प्रत्यय (यम्) के परे रहते 'औ' के स्थान पर 'आव्' आदेश होता है। नाव् यम्- नाव्यम्— यह रूप सिद्ध हुआ। 'नाव्यमिदं जलम्' अर्थात् 'वह जल जिसे नौका से पार किया जा सके'।

अध्वेति— मार्ग के परिमाण अर्थ में भी 'गो' शब्द के आगे 'यूति' शब्द परे रहते 'ओ' के स्थान पर 'अव्' आदेश होता है। 'गो यूतिः'— इन अवस्था में चूँकि 'गव्यूति' दो कोस परिमाण अर्थ में होता है, अतः प्रकृत वार्तिक के द्वारा अभीष्ट कार्य सम्पन्न हो गया। गव्यूतिः।

२५. [१]अदेङ् गुणः[१] (१/१/२)

अत् एङ् च गुणसंज्ञः स्यात्।

अदिति— अत् (ह्रस्व अकार) तथा एङ् (ए, ओ) की गुण संज्ञा होती है।

२६. [१]तपरस्तत्कालस्य[६] (१/१/६९)

तः परो यस्मात्स च, तात्परश्चोच्चार्यमाणसमकालस्यैव संज्ञा स्यात्।

तपर इति— जिस (वर्ण) से परे तकार हो तथा जो तकार से परे है, ऐसा स्वर अपने समकाल की संज्ञा का बोधक होता है अर्थात् ह्रस्व अकार के पूर्व या पश्चात् तकार का न्यास हो तो वह अकार अपने १८ भेदों का बोध न करा कर केवल ह्रस्वगत ६भेदों का बोध करायेगा। यथा-'अदेङ् गुणः' सूत्र में तकार से पूर्व अकार है, अतः ह्रस्व अकार की गुण संज्ञा होती है, 'आ' तथा 'आ ३' की नहीं। इसका अभिप्राय है कि जहाँ भी गुण आदेश होगा वहाँ ह्रस्व अकार ही उपस्थित होगा।

सूत्र में पठित 'तपरः' पद का दो प्रकार विग्रह किया गया है। यथा—

१. 'तात्परः' अर्थात् 'त' से परे रहने वाला २. 'तः परः यस्मात्' अर्थात् 'त' परे है जिससे। प्रथम व्याख्या के अनुसार 'त' से पर 'एङ्' है। अतः द्विमात्रिक (ए, ओ) एङ् की गुण संज्ञा होती है तथा प्लुतसंज्ञक 'एङ्' (ए३, ओ३) की गुण संज्ञा नहीं होगी। प्रथम व्याख्या की सार्थकता 'रमा ऊर्ध्वम्' में देखी जाती है। यहाँ आकार (द्विमात्र) तथा ऊकार (द्विमात्र) दोनों के स्थान पर चतुर्मात्र ओकार (ओ४) होना

चाहिए परन्तु ओकार (द्विमात्र) गुण होता है। दोनों के स्थान पर प्रमाणकृत सादृश्य के आधार पर दो तथा दो मिलकर चतुर्मात्र ओकार नहीं होता है। अतः प्रथम प्रकार की व्याख्या का यही फल है।

२७. [५]आद् गुणः[१] (६/१/८४)

अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुणादेशः स्यात्। उपेन्द्रः। गङ्गोदकम्।

आदिति— अवर्ण से अच् परे होने पर पूर्व और पर दोनों के स्थान पर गुण एकादेश हो संहिता के विषय में।

'उप इन्द्रः' इस दशा में अकार तथा इकार दोनों के स्थान पर गुण एकादेश प्राप्त होता है। क्योंकि गुणसंज्ञा ह्रस्व अकार, एकार तथा ओकार इन तीन वर्णों की होती है। इसलिए शङ्का होती है कि इन तीनों में से कौन सा आदेश हो। चूँकि अकार कण्ठस्थानीय है तथा इकार तालुस्थानीय। अतः दोनों के स्थान पर स्थानकृत सादृश्य से कण्ठतालु स्थानीय गुणसंज्ञक 'ए' आदेश होकर 'उपेन्द्रः' रूप सिद्ध हुआ।

'गंगा उदकम्' इस दशा में आकार (दीर्घ अकार) से आगे अच् (उकार) होने पर दोनों के स्थान पर गुण आदेश होना चाहिए। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि आदेश रूप में कौन सा वर्ण हो। आकार कण्ठ स्थानीय है तथा उकार ओष्ठ स्थानीय है। अतः दोनों के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा के बल पर कण्ठोष्ठस्थानीय 'ओ' एकादेश होकर 'गङ्गोदकम्' रूप सिद्ध हो गया।

अन्य उदाहरण—नर ईशः—नरेशः। मुका ईशः—मुकेशः। नर इन्द्रः-नरेन्द्रः। महा-इन्द्रः-महेन्द्रः। सूर्य उदयः-सूर्योदयः। महा उदयः-महोदयः।

२८. [७]उपदेशेऽ[१]जनुनासिक[१] इत्[१] (१/३/२)

उपदेशेऽनुनासिकोऽज् इत्संज्ञः स्यात्। प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः। लण् सूत्रस्थाऽवर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञा।

उपदेश इति— उपदेश अवस्था में अनुनासिक 'अच्' की इत्संज्ञा होती है।

अनुमान है कि पाणिनि ने अपने शास्त्र में अनुनासिक स्वरों पर चन्द्र बिन्दु अङ्कित किया था परन्तु वह अनुनासिक पाठ लुप्त हो गया है। अब तो पाणिनि के द्वारा पठित वर्णों का अनुनासिकत्व केवल प्रतिज्ञा से ज्ञात होता है अर्थात् केवल प्रतिज्ञा से ज्ञात होता है कि अमुक 'अच्'अनुनासिक है तथा अमुक नहीं है। अतः गुरुपरम्परा से जो स्वर अनुनासिक माना जा रहा हो, उसे ही अनुनासिक मानना चाहिए। उदाहरणार्थ 'सु' का उकार अनुनासिक है परन्तु 'सुप्' का उकार नहीं है। प्रतिज्ञा का अर्थ है— यह ऐसा है। अतः प्रतिज्ञा के बल पर हम जान लेंगे कि 'सुप्' का उ अनुनासिक नहीं है तथा 'सु' का उ अनुनासिक है। स्पष्ट है कि 'बहुषु बहुवचनम्' सूत्र पाठ में 'सुप्' प्रत्यय का 'उ' प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ रहा। इससे सिद्ध होता है कि सुप् का उ अनुनासिक नहीं है, अन्यथा उ का लोप होकर 'बहुषु' के स्थान पर 'बहुः' ऐसा प्रथमान्त जैसा रूप बन

जाता। इसी प्रकार 'प्रत्ययः' 'परश्च' इत्यादि सूत्रपाठ से प्रतीत होता है कि प्रथमा एकवचन में 'सु' के उ की इत् संज्ञा, लोप, रुत्व तथा विसर्ग आदि हुए हैं। अतः 'सु' का उकार अनुनासिक है। यही पाणिनीय प्रतिज्ञा है। इसी प्रकार अन्यत्र भी अनुनासिकाननुनासिक का ज्ञान करना चाहिए। लण् सूत्र में स्थित इत्संज्ञक अकार के साथ उच्चार्यमाण रेफ रकार तथा लकार का बोध कराता है।

'लण्मध्ये त्वित्संज्ञकः' इस वचन के अनुसार 'लण्' प्रत्याहार के लकार में स्थित अकार का अनुनासिक पाठ है। अतः वह अकार इत् संज्ञक है। इस इत्संज्ञक अकार के साथ रेफ का उच्चारण करने से 'आदिरन्त्येन सहेता' सूत्र के द्वारा 'र' प्रत्याहार का निर्माण होता है, जो रेफ तथा लकार का बोधक है। 'हयवरट्। लँण्'— यहाँ 'हयवरट्' सूत्र के र से लेकर 'लण्' सूत्र के लकारोत्तरवर्त्ती इत्संज्ञक अकार तक र (र् अ = र ऐसा) प्रत्याहार बना। इस प्रकार **र** प्रत्याहार के अन्तर्गत **र** और **ल** ये दो वर्ण होते हैं। अन्त्य अकार का लोप होकर 'र' प्रत्याहार रेफ तथा लकार का बोधक है।

२९. [६]**उरण्**[१] **रपरः**[१] (१/१/५०)

ऋ इति त्रिंशतः संज्ञेत्युक्तम्। तत्स्थाने योऽण् सः रपरः सन्नेव प्रवर्तते। कृष्णर्द्धिः। तवल्कारः।

उरण् इति— उस 'ऋ' के स्थान में जो अण् आदेश हो, वह रपर हो। रपर का अर्थ है— जिसके पश्चात् 'र' हो। चूँकि 'र' एक प्रत्याहार है तथा यह र, ल दोनों का बोधक है। अतः 'ऋ' के स्थान पर रपर तथा लपर दोनों प्रकार के आदेश प्राप्त होंगे। ऋ के स्थान पर होने वाले 'अण्' आदेश (अ, इ, उ) के रूप क्रमशः अर्, इर् उर् होंगे।

'कृष्ण ऋद्धिः' ऐसी अवस्था में अकार से परे ऋ (अच्) है। 'आद्गुणः' से दोनों वर्णों के स्थान पर गुणादेश (अर्थात् अ, ए, ओ) प्राप्त होता है। एकार का स्थान कण्ठतालु है तथा ओकार का स्थान कण्ठोष्ठ है। अतः आन्तरतम्य के अभाव से ए, ओ नहीं होंगे। शेष अकार ही आदेश रूप में प्राप्त होता है। प्रकृत सूत्र के द्वारा इस अकार को रपरत्व प्राप्त हो गया। तब कृष्ण् अर् द्धिः- कृष्णर्द्धिः— ऐसा रूप सिद्ध हो गया।

'तव लृकारः' ऐसा होने पर गुणादेश के द्वारा 'अत्' की प्राप्ति होती है। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'अत्' का रपरत्व तथा लपरत्व दोनों प्राप्त होते हैं। जो अत्यन्त सदृश होने के कारण लपर होकर 'तवल्कारः' बन जाता है।

अन्य उदाहरण— सप्त ऋषिः-सप्तर्षिः। महा ऋषिः-महर्षिः। ग्रीष्म ऋतुः-ग्रीष्मर्तुः। वर्षा ऋतुः-वर्षर्तुः। मम लृकारः-ममल्कारः।

३०. [१]**लोपः शाकल्यस्य**[६] (८/३/१९)

अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोपो वाऽशि परे।

लोप इति— अकार पूर्वक पदान्त यकार और वकार का लोप विकल्प से हो अश् परे रहते, अर्थात् अकार है पूर्व में जिसके ऐसे पदान्त यकार और वकार का विकल्प से लोप होता है यदि उससे परे अश् भी हो।

'हरे इह' तथा 'विष्णो इह'— यहाँ पर 'एचोऽयवायावः' के द्वारा क्रमशः 'अय्' तथा 'अव्' आदेश हुए हैं। 'हरय् इह' तथा 'विष्णव् इह' ऐसी अवस्था में पदान्त (य् तथा व्) का अश् (इकार) परे रहते विकल्प से लोप प्राप्त होता है। तब—

लोप होने पर	**लोप न होने पर**
हर इह	हरयिह
विष्ण इह	विष्णविह

अन्य उदाहरण— इमे ऋध्यन्ति-इम ऋध्यन्ति, इमयृध्यन्ति। उभौ अपि-उभा अपि, उभावपि। आसने आस्ते-आसन आस्ते, आसनयास्ते।

३१. **पूर्वत्राऽसिद्धम्**[१] **(८/२/१)**

सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परशास्त्रमसिद्धम्। हर इह, हरयिह। विष्ण इह, विष्णविह।

पूर्वत्रेति— सवा सात अध्याय के प्रति त्रिपादी (शेष भाग) असिद्ध (न के बराबर) है तथा त्रिपादी में भी पूर्व के प्रति परशास्त्र असिद्ध है।

आचार्य पाणिनि प्रणीत अष्टाध्यायी में आठ अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय चार पादों में विभक्त है। प्रस्तुत सूत्र आठवें अध्याय के द्वितीय पाद का प्रथम सूत्र है। इस से पूर्ववर्ती शास्त्र को सपाद सप्ताध्यायी कहा जायेगा तथा शेष ग्रन्थ (तीन पादों) को त्रिपादी कहा जायेगा। यह सूत्र असिद्धभाव करता है। असिद्ध का अर्थ है— किसी सूत्र के द्वारा विहित कार्य को न होने के समान मानें। यह अधिकार सूत्र है तथा आगे के प्रत्येक सूत्र में इसका अधिकार चलता है। ये सभी सूत्र (अर्थात् आठवें अध्याय के द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ के सूत्र) अपने पूर्ववर्त्ती सूत्रों की दृष्टि में 'पर' हैं। इन सूत्रों में भी पूर्व सूत्र के प्रति परसूत्र असिद्ध होता है। भावार्थ यह है कि प्रस्तुत सूत्र से लेकर अष्टाध्यायी के अन्त तक जितने सूत्र आए हैं, वे सभी सूत्र अपने पूर्ववर्त्ती सूत्रों के प्रति असिद्ध हैं और उन सूत्रों में भी पूर्ववर्त्ती (उस उससे पहले आने वाले) सूत्र के प्रति परवर्त्ती (बाद में आने वाला) सूत्र असिद्ध होता है अर्थात् पूर्ववर्ती सूत्र की दृष्टि में परवर्ती सूत्र का कार्य न होने के समान होता है। सूत्रों के आगे कोष्ठक में दिए हुए अङ्कों से सर्वत्र सपादसप्दाध्यायी तथा त्रिपादी को जाना जा सकता है। इन्हीं अङ्कों से सूत्रों के पूर्वत्व तथा परत्व का ज्ञान होता है।

'हर इह' यहाँ 'लोपः शाकल्यस्य' (पा० ८.३.१९) से 'य्' का लोप हो गया है। अब क्योंकि अकार तथा इकार के मध्य कोई व्यवधान नहीं है अतः दोनों के स्थान पर 'आद्गुणः' (पा० ६.१.८४) से गुण प्राप्त है परन्तु 'आद्गुणः' छठे अध्याय (सपाद

सप्ताध्यायी) का सूत्र है तथा 'लोपः शाकल्यस्य' (पा० ८.३.१९) सूत्र त्रिपादी का है। अतः गुणादेश की दृष्टि में उपर्युक्त लोप कार्य असिद्ध है। असिद्ध होने से गुणादेश की प्राप्ति नहीं होती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'आद्गुणः' की दृष्टि में लोप कार्य हुआ नहीं है तथा 'हर य् इह' ऐसी स्थिति है। अतः 'य्' का व्यवधान होने पर 'आद् गुणः' की प्रवृत्ति यहाँ नहीं हो सकती। इसी प्रकार 'विष्ण इह' को समझें।

३२. [१]वृद्धिरादैच्[१] (१/१/१)

आदैच्च वृद्धिसंज्ञः स्यात्।

वृद्धिरिति— आकार और ऐच् (ऐ, औ) की वृद्धि संज्ञा होती है। सूत्र में पठित **आत्** पद के द्वारा तपर परिभाषा के बल पर केवल दीर्घ आकार का तथा तपर होने के कारण ऐच् पद के द्वारा केवल दीर्घ **ऐ** व **औ** का ग्रहण होता है। छात्रों के लिए ध्यातव्य है कि ऋकार व लृकार के स्थान पर जब आकार वृद्धि एकादेश होगा तो 'उरण् रपरः' के बल से रपर तथा लपर होकर क्रमशः आर् तथा आल् के रूप में ही होगा।

३३. [१]**वृद्धिरेचि**[७] (६/१/८५)

आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। गुणाऽपवादः। कृष्णैकत्वम्। गङ्गौघः। देवैश्वर्यम्। कृष्णौत्कण्ठ्यम्।

वृद्धिरिति— अवर्ण से एच् (ए, ओ, ऐ, औ) परे हो तो पूर्व एवं पर दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो। ग्रहणक शास्त्र के बल पर अकार से दीर्घ आकार का भी ग्रहण होता है। अतः अकार वा आकार से परे एच् रहने पर दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है। यह सूत्र गुण सन्धि का अपवाद है। जिस विधि (अर्थात् गुण आदि कार्य) को कहीं अवकाश नहीं मिलता है, वह अपवाद कहलाती है। (द्र०— निरवकाशो विधिरपवादो भवति)। सार यह है कि जिस सूत्र को कहीं अवसर प्राप्त नहीं होता है वह अपवाद बन जाता है और अपने में बाधा पहुँचाने वाले (अर्थात् उत्सर्ग) सूत्र के काम को रोक देता है। यथा— जहाँ-जहाँ 'वृद्धिरेचि' सूत्र की प्राप्ति होती है वहाँ-वहाँ 'आद्गुणः' की भी प्राप्ति होती है क्योंकि 'अच्' परे रहते गुण होता है और 'अच्' के अन्तर्गत 'एच्' भी आते हैं। यदि सर्वत्र गुण ही होगा तो वृद्धि कहीं भी न हो सकेगी। अतः 'वृद्धिरेचि' सूत्र एच् परे रहने पर गुण को रोक देता है।

'कृष्ण एकत्वम्' यहाँ अकार से परे एकार है। इन दोनों के स्थान पर वृद्धि (आ, ऐ, औ) एकादेश प्राप्त होता है। अकार कण्ठस्थानीय है तथा एकार कण्ठतालुस्थानीय है। अब अत्यधिक सदृश होने के कारण दोनों के स्थान पर ऐकार एकादेश हो गया। कृष्णैकत्वम्। 'गङ्गा ओघः' यहाँ आकार तथा ओकार् के स्थान पर 'औ' एकादेश होकर 'गङ्गौघः' रूप सिद्ध हो गया। 'देव ऐश्वर्यम्' यहाँ पर अकार तथा ऐकार के स्थान पर ऐकार वृद्धि एकादेश होकर 'देवैश्वर्यम्' रूप निष्पन्न होता है।

'कृष्ण औत्कण्ठ्यम्' में अकार तथा औकार दोनों के स्थान पर 'औ' वृद्धि एकादेश

होकर 'कृष्णौत्कण्ठ्यम्' रूप सिद्ध होता है।

'आद्गुणः' उत्सर्ग (अर्थात् सामान्यशास्त्र) सूत्र है तथा 'वृद्धिरेचि' अपवादशास्त्र है। उत्सर्ग से अपवाद बलवान् होता है। अतः यहाँ 'आद् गुणः' की प्राप्ति होने पर 'वृद्धिरेचि' के द्वारा विहित वृद्धिकार्य ही होता है।

अन्य उदाहरण— महता ऐश्वर्येण-महतैश्वर्येण। नाम औषधम्-नामौषधम्। पञ्च एते-पञ्चैते। महा एनः-महैनः। मा एवम्-मैवम्।

३४. [७]**एत्येधत्यूठ्सु (६/१/८६)**

अवर्णाद् एजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। (पररूपगुणापवादः) **उपैति। उपैधते। प्रष्ठौहः। एजाद्योः किम्-उपेतः, मा भवान् प्रेदिधत्।**

(वा०) अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्। अक्षौहिणी सेना।

(वा०) प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु। प्रौहः। प्रौढः। प्रौढिः। प्रैषः। प्रैष्यः।

(वा०) ऋते च तृतीयासमासे।

सुखेन ऋतः सुखार्तः। तृतीयेति किम्-परमर्तः।

(वा०) प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे।

प्रार्णम्। वत्सतरार्णमित्यादि।

एतीति— अवर्ण से एजादि इण् और एध् धातु तथा ऊठ् परे हो तो पूर्व तथा पर दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो। अवर्ण का अर्थ है— अकार तथा आकार। पूर्व सूत्र से अनुवृत्त 'एचि' पद 'एति' तथा 'एधति' का विशेषण है। अतः अकार या आकार से एजादि 'इण्' व 'एध्' धातु (जिस 'इण्' और 'एध्' धातु के आदि में एच् अर्थात् ए, ओ, ऐ, औ हों) तथा 'ऊठ्' परे रहते पूर्व व पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश होता है। यह सूत्र पररूप तथा गुण का अपवाद है। 'एङि पररूपम्' के द्वारा पररूप तथा 'आद्गुणः' से गुण विहित है।

'उप एति' यहाँ 'एङि पररूपम्' सूत्र के द्वारा पररूप प्राप्त था जिसे बाध कर प्रकृत सूत्र के द्वारा वृद्धि एकादेश होता है। इस प्रकार 'उपैति' रूप सिद्ध होता है। 'एति' इण्-गतौ धातु का रूप है। 'उप एधते' यहाँ पर भी अकार तथा 'एध्' धातु के एकार के स्थान पर वृद्धि आदेश हो जाता है। पूर्व तथा पर के स्थान पर 'ऐ' होकर 'उपैधते' सिद्ध हुआ। 'प्रष्ठ ऊहः'— यहाँ 'ऊहः' 'वाह्' के स्थान पर किए गए सम्प्रसारण (ऊठ्) का ही रूप है। प्रथम 'आद्गुणः' से गुण प्राप्त हुआ। इसे बाधकर प्रस्तुत सूत्र के द्वारा वृद्धि एकादेश होकर 'प्रष्ठौहः' रूप बन गया।

एजिति— इण् तथा एध् धातु एजादि होने पर ही प्रकृत सूत्र कार्य करता है। ऐसा क्यों कहा? समाधान— यदि प्रकृत सूत्र में 'इण्' तथा 'एध्' धातुओं के विशेषण के रूप में 'एजादि' शब्द का पाठ न किया होता तथा मात्र इण् ऐसा कहा होता तो प्रकृत सूत्र के द्वारा 'उप इतः' यहाँ पर भी वृद्धि एकादेश प्राप्त था, परन्तु 'एजादि' कहने से यहाँ प्रकृत

सूत्र की प्रवृत्ति न होकर 'आद्गुणः' से गुण होकर 'उपेतः' ऐसा बन जायेगा। क्योंकि 'इतः' 'इण्' का रूप तो है परन्तु एजादि नहीं है। इसी प्रकार 'प्र इदिधत्' में भी वृद्धि न होकर पूर्ववत् गुण कार्य ही होगा। प्रेदिधत्। यहाँ पर भी 'इदिधत्' रूप 'एध्' से निष्पन्न तो है परन्तु एजादि नहीं है।

अन्य उदा— अव एमि-अवैमि। प्र एधते-प्रैधते। प्र एति-प्रैति। प्र एधन्ताम्-प्रैधन्ताम्।

अक्षादिति- 'अक्ष' शब्द के अवर्ण से 'ऊहिनी' शब्द परे रहते पूर्व तथा पर दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो।

'अक्ष ऊहिनी'— यहाँ 'आद्गुणः' से गुण प्राप्त है। उसे बाधकर प्रकृत वार्त्तिक के द्वारा वृद्धि आदेश कहा है। वृद्धि आदेश होकर 'अक्षौहिनी' प्राप्त हुआ। अब 'पूर्वपदात् संज्ञायाम् अगः' से नकार को णकार हो गया। 'अक्षौहिणी' रूप सिद्ध हो गया।

प्रादिति— प्र उपसर्ग के अवर्ण से ऊह, ऊढ, ऊढि, एष तथा एष्य परे हों तो दोनों (अर्थात् पूर्व और पर) के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो।

'प्र ऊहः' तथा 'प्र ऊढः' तथा 'प्र ऊढिः'—इन उदाहरणों में गुण आदेश प्राप्त था, प्रकृत वार्तिक के द्वारा उसका बाध होकर वृद्धि एकादेश होकर 'प्रौहः', 'प्रौढः' तथा 'प्रौढिः' रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार 'प्र एषः' तथा 'प्र एष्यः' में 'एङि पररूपम्' के द्वारा प्राप्त पररूप को बाधकर प्रकृत वार्तिक के द्वारा वृद्धि आदेश हो गया है। अतः 'प्रैषः' तथा 'प्रैष्यः' रूप निष्पन्न होते हैं।

ऋत इति— अवर्ण से ऋत शब्द परे रहते पूर्व एवं पर दोनों के स्थान पर वृद्धि आदेश हो तृतीयासमास के सम्बन्ध में। यह वृद्धि एकादेश रपर होकर आर् के रूप में होगा।

'सुखेन ऋतः' यहाँ तृतीया तत्पुरुष समास है। 'सुख ऋतः' यहाँ पर 'आद्गुणः' से गुण प्राप्त था जिसे बाधकर प्रकृत वार्तिक के द्वारा वृद्धि आदेश होकर 'सुखार्त्तः' रूप सिद्ध हुआ। प्रकृत वार्तिक का कार्य तृतीया समास के सम्बन्ध में ही होता है। तृतीया से भिन्न में नहीं होता है। यथा-'परमश्चासौ ऋतः' यहाँ तृतीया समास न होकर कर्मधारय समास है। अतः 'परम ऋतः' यहाँ प्रकृत वार्तिक की प्राप्ति न होकर सामान्य गुणादेश होकर 'परमर्त्तः' रूप सिद्ध होता है।

प्र इति— प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण और दश— इनके अन्त्य अवर्ण से परे ऋण शब्द हो तो वृद्धि एकादेश हो। यहाँ सर्वत्र गुणादेश प्राप्त था जिसे बाधकर वृद्धि एकादेश होता है।

प्र ऋणम्— प्रार् णम्— प्रार्णम्। वत्सतर ऋणम्— वत्सतरार्णम्-वत्सतरार्णम्।

कम्बल ऋणम्-कम्बलार् णम्-कम्बलार्णम्। वसन ऋणम्-वसनार् णम्-वसनार्णम्।

ऋण ऋणम्-ऋणार् णम्-ऋणार्णम्। दश ऋणम्-दशार् णम्- दशार्णम्।

३५. **[१]उपसर्गाः क्रियायोगे[७] (१/४/५९)**

प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः स्युः। प्र परा अप सम् अनु अव निस् निर् दुस् दुर् वि आङ् नि अधि अपि अति सु उत् अभि प्रति परि उप-एते प्रादयः।

उपसर्गा इति— क्रिया के साथ 'प्र' आदि की उपसर्ग संज्ञा होती है। ये संख्या में २२ हैं। मूल वृत्ति में वरदराज ने उत् उपसर्ग का उल्लेख किया है। वस्तुतः पाणिनि के अनुसार यह उद् उपसर्ग है। देखिए— 'उदश्चरः सकर्मकात्' (१.३.५३) तथा 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' (८.४.६०)

३६. **[१]भूवादयो धातवः[१] (१/३/१)**

क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसंज्ञाः स्युः।

भू इति— क्रियावाचक 'भू' आदि की धातु संज्ञा होती है। 'भू' आदि का पाठ धातुपाठ के अन्तर्गत किया गया है। धातुपाठ में 'भू' प्रथम स्थान पर पठित है, अतः सूत्र में 'भू' आदि कहा गया है। चूँकि 'भू' आदि (पृथ्वीवाचक) शब्द क्रियावाचक नहीं हैं, अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा उनका ग्रहण नहीं हो सकेगा।

३७. **[५]उपसर्गादृति[७] धातौ[७] (६/१/८८)**

अवर्णान्तादुपसर्गाद् ऋकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। प्रार्च्छति।

उपसर्गादिति— अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि धातु के परे रहते दोनों के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो।

'प्र ऋच्छति' यहाँ 'उपसर्गाः क्रियायोगे' के द्वारा 'प्र' की उपसर्गसंज्ञा होती है। 'आद्गुणः' से गुण प्राप्त होता है, परन्तु 'प्र' उपसर्ग के अन्त्य अवर्ण से परे ऋकारादि धातु है, प्रकृत सूत्र के द्वारा वृद्धि आदेश होता है। तब 'प्रार्च्छति' रूप सिद्ध होता है।

अन्य उदाहरण— उप ऋच्छति-उपार्च्छति। प्र ऋचन्ति-प्रार्चन्ति। प्र ऋणोति-प्रार्णोति।

३८. **[७]एङि पररूपम्[१] (६/१/९१)**

आदुपसर्गाद् एङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यात्। प्रेजते उपोषति।

एङीति— अवर्णान्त उपसर्ग से परे एङादि धातु हो तो पूर्व तथा पर दोनों के स्थान पर पररूप आदेश हो। पररूप का अर्थ है दोनों वर्णों के स्थान पर उत्तरवर्ती वर्ण का हो जाना।

'प्र एजते' यहाँ पर 'वृद्धिरेचि' सूत्र के द्वारा वृद्धि आदेश की प्राप्ति होती है, परन्तु इसे बाधकर प्रकृत सूत्र के द्वारा पररूप आदेश होगा क्योंकि अवर्णान्त उपसर्ग (प्र) से एङादि धातु (एजते) परे है। इस प्रकार 'प्रेजते' रूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार 'उप ओषति' में प्रकृत सूत्र के द्वारा पररूप होकर 'उपोषति' रूप सिद्ध होता है।

अन्य उदाहरण— प्र एषणीयम्-प्रेषणीयम्। प्र ओषति-प्रोषति। अव एजते-अवेजते।

३९. [६]अचोऽन्त्यादि[१] टि[१] (१/१/६३)

अचां मध्ये योऽन्त्यः, स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात्।

(वा०) शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यं, तच्च टेः।

शकन्धुः। कर्कन्धुः। मनीषा। आकृतिगणोऽयम्। मार्तण्डः।

अच इति— अचों में जो अन्तिम है, वह जिसके आदि में है, उस समग्र समुदाय की टि संज्ञा होती है।

'मनस्' में मकारोत्तरवर्ती अकार प्रथम अच् है तथा नकारोत्तरवर्ती अकार अन्तिम अच् है जो 'अस्' वर्ण समुदाय के आदि में हैं। अतः 'मनस्' शब्द के 'अस्' वर्ण समूह की टि संज्ञा हो गई। 'राम' शब्द में अन्तिम अच् मकारोत्तरवर्ती अकार है। चूँकि यह किसी समुदाय के आदि में नहीं है, अतः केवल अकार की 'टि' संज्ञा होती है।

शकन्ध्विति— शकन्धु आदि शब्दों के विषय में पूर्व तथा पर के स्थान पर पररूप एकादेश होता है तथा वह टि के स्थान पर होता है।

तच्चेति— और वह (पूर्वोक्त) पररूप एकादेश 'टि' के स्थान पर हो।

'शक अन्धुः' तथा 'कर्क अन्धुः' इन स्थितियों में पूर्व व पर वर्ण (अकार तथा अकार) के स्थान पर पररूप एकादेश (अकार) होकर 'शकन्धुः' व 'कर्कन्धुः' रूपों की सिद्धि हो जाती परन्तु 'मनस् ईषा' व 'पतत् अञ्जलिः' स्थितियों में पूर्वोक्त अर्थ के अनुसार इष्ट सिद्धि नहीं हो पाती है। अतः आचार्यों ने कहा है— 'तच्च टेः' अर्थात् 'शकन्धु' आदि के विषय में जो पररूप एकादेश कहा गया है वह टि संज्ञक अंश व पर वर्ण इन दोनों के स्थान पर हो। इस प्रकार उपर्युक्त स्थितियों में क्रमशः 'अस्' व 'अत्' के स्थान पर ईकार व अकार पररूप एकादेश होकर 'मनीषा' व 'पतञ्जलिः' रूप सिद्ध होते हैं। 'शक अन्धुः' यहाँ 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ प्राप्त था, परन्तु प्रकृत वार्तिक के द्वारा 'शक' शब्द की 'टि' (अ) तथा 'अन्धुः' के आदि में स्थित अ— इन दोनों के स्थान पर पररूप (अकार) होकर 'शकन्धुः' रूप सिद्ध होता है। 'मनस् ईषा' में 'मनस्' शब्द के टि संज्ञक 'अस्' वर्ण समूह तथा 'ईषा' के ईकार के स्थान पर पररूप (ईकार) होकर 'मनीषा' रूप सिद्ध होता है।

यह आकृतिगण है। इस प्रकार के जो जो शब्द प्राप्त हों, उनकी सिद्धि इसी प्रकार कर लेनी चाहिए। गण का अर्थ है— समूह। जब बहुत से शब्दों में एक ही कार्य करना होता है तो उन सभी शब्दों को सूत्र में न रखकर लाघवार्थ उनमें से प्रथम शब्द के नाम पर एक गण बना लिया जाता है। एक ही गण में पठित शब्दों में वही कार्य होगा जो उस गण में पठित प्रथम शब्द को होगा। आकृतिगण का अर्थ है कि ऐसे शब्द जिनका परिगणन उस गण विशेष में नहीं किया गया है पर उनकी सिद्धि में वही कार्य होता है जो उस गण में पठित शब्दों में होता है। अतः समान स्वरूप अथवा कार्य को देखकर अन्य अनेक शब्दों को भी उस गण में समझ लेना चाहिए।

अन्य उदाहरण— हल ईषा-हलीषा। लाङ्गल ईषा-लाङ्गलीषा। सीम अन्तः-सीमन्तः। सार अङ्गः-सारङ्गः। कुल अटा-कुलटा। पतत् अञ्जलिः-पतञ्जलिः। मृत अण्डः-मृतण्डः (इससे अण् प्रत्यय करने पर) मृतण्ड अण्-मार्तण्डः।

४०. [७]**ओमाङोश्च (६/१/९२)**

ओमि आङि चात् परे पररूपमेकादेशः स्यात्। शिवायों नमः। शिव एहि– इति स्थिते–

ओमिति— अवर्ण से 'ओम्' तथा 'आङ्' के परे रहते पररूप एकादेश हो।

'शिवाय ओम्'— यहाँ अकार तथा 'ओ' दोनों के स्थान पर पररूप होकर 'शिवायोम्' रूप सिद्ध होता है। 'शिव आ इहि' ऐसा होने पर शङ्का होती है कि प्रथम अ आ मिलकर दीर्घादेश हो या प्रथम आ इ मिलकर गुणादेश हो। 'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्' अर्थात् धातु और उपसर्ग का कार्य अन्तरङ्ग होता है। अतः इस परिभाषा के अनुसार अन्तरङ्ग कार्य होने से प्रथम 'आ इहि' में गुणादेश अपेक्षित है। शिव एहि— ऐसी स्थिति में पररूप होकर 'शिवेहि' सिद्ध होगा।

४१. **अन्तादिवच्च (६/१/८२)**

योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत् परस्यादिवत्। शिवेहि।

अन्तादीति— पूर्व तथा पर के स्थान में जो एकादेश का विधान किया है, वह पूर्व के अन्त की तरह तथा पर के आदि की तरह होता है। तात्पर्य यह है कि एकादेश करने से पहले पूर्व या पर में जो धातुत्व, उपसर्गत्व या सुप्त्व आदि व्यवहार होते थे वे एकादेश होने पर भी होते हैं।

एकादेश करने से पहले पूर्व या पर में जो कार्य होते हैं, वे एकादेशयुक्त में भी होते हैं। 'शिव आ इहि'— यहाँ इस स्थिति में गुण होकर 'शिव एहि' ऐसी स्थिति हुई। अब चूँकि वकारोत्तरवर्त्ती अकार से परे 'आङ्' नहीं है। अतः 'ओमाङोश्च' से पररूप न हो सकेगा। तब इसका समाधान है कि गुण आदेश करने के पूर्व 'आ' (पूर्व समुदाय) में 'आङ्त्व' का व्यवहार होता है। वह 'आङ्त्व' का कार्य एकादेश निष्पन्न 'ए' में भी होगा। अतः 'शिव एहि' उदाहरण में 'ओमाङोश्च' से पररूप हो सकेगा।

अन्य उदाहरण— कृष्ण आ इहि-कृष्णेहि। राम आ इहि-रामेहि।

४२. [५]**अकः सवर्णे**[७] **दीर्घः**[१] **(६/१/९७)**

अकः सवर्णे अचि परे पूर्वपरयोर्दीर्घ एकादेशः स्यात्। दैत्यारिः। श्रीशः। विष्णूदयः। होतॄकारः।

अक इति— अक् से सवर्ण अच् परे होने पर पूर्व पर दोनों के स्थान पर दीर्घ एकादेश हो।

'दैत्य अरिः' में अकार को आकार आदेश होकर 'दैत्यारिः' रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'श्री ईशः', 'विष्णु उदयः' 'होतृ ऋकारः' उदाहरणों में दीर्घ आदेश होकर क्रमशः 'श्रीशः', 'विष्णूदयः','होतॄकारः' रूप सिद्ध होते हैं।

अन्य उदाहरण— राम अत्र-रामात्र। विद्या आलयः-विद्यालयः। कवि इन्द्रः-कवीन्द्रः। मुनि ईशः-मुनीशः। भानु उदयः-भानूदयः। वधू उत्सवः- वधूत्सवः। होतृ ऋद्धिः-होतॄद्धिः।

४३. [५]एङः [५]पदान्तादति[७] (६/१/१०५)

पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। हरेऽव। विष्णोऽव।

एङ इति— पदान्त एङ् से अत् (ह्रस्व अकार) परे रहते पूर्व तथा पर दोनों को पूर्वरूप एकादेश हो।

'सुप्तिङन्तं पदम्' के अनुसार सुबन्त व तिङन्त को पद कहते हैं। सुबन्त होने के कारण 'हरे' तथा 'विष्णो' पद हैं। 'हरे अव' तथा 'विष्णो अव' उदाहरणों में पदान्त एङ् (क्रमशः ए तथा ओ) है। इससे परे ह्रस्व अकार है। अतः दोनों के स्थान पर पूर्वरूप (पूर्व वर्ण जैसा स्वरूप) हो जाएगा। इस प्रकार 'हरेऽव' तथा 'विष्णोऽव' रूप सिद्ध होंगे। पूर्वरूप को (ऽ) इस चिह्न के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

अन्य उदाहरण— विष्णो अत्र-विष्णोऽत्र। रामो अस्ति-रामोऽस्ति। वने अस्ति-वनेऽस्ति। को अपि-कोऽपि।

४४. सर्वत्र विभाषा[१] गोः[६] (६/१/११८)

लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः पदान्ते। गो अग्रम्, गोऽग्रम्। एङन्तस्य किम्-चित्रग्वग्रम्। पदान्ते किम्-गोः।

सर्वत्रेति— सर्वत्र (लोक तथा वेद में) पदान्त में एङन्त 'गो' शब्द को अत् (ह्रस्व अकार) परे रहते विकल्प से प्रकृतिभाव हो।

प्रयोग का ज्यों का त्यों रह जाना प्रकृतिभाव कहलाता है। वहाँ सन्धि नहीं होती है। संस्कृत के दो रूप है— लौकिक तथा वैदिक। वेदों में प्रयुक्त भाषा को वैदिक तथा लोक में प्रयुक्त भाषा को लौकिक कहते हैं। यहाँ 'सर्वत्र' शब्द से अभिप्राय संस्कृत के दोनों रूपों से है।

'गो अग्रम्' यहाँ 'गो' शब्द पद भी है तथा एङन्त भी है। अतः ह्रस्व अकार परे रहते प्रकृत सूत्र के द्वारा प्रकृतिभाव होगा— 'गोअग्रम्'। प्रकृतिभाव अभाव पक्ष में पूर्वरूप हो 'गोऽग्रम्' रूप सिद्ध होगा।

१. 'गोः अग्रम्— गो ङस् अग्रम्'— इस स्थिति में 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' सूत्र के द्वारा ङस् (विभक्ति) का लोप हो गया। इस लुप्त विभक्ति को अन्तर्वर्तिनी विभक्ति कहते हैं। इसी के द्वारा शब्द को पद माना गया है।

४५. [१]अनेकाल्शित् सर्वस्य[६] (१/१/५४)

इति प्राप्ते–

अनेकेति– अनेकाल् (जिसमें अनेक अल् हों) तथा शित् (जिसका शकार इत् हो) ऐसा आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है।

'अस्तेर्भूः' यहाँ आदेश 'भूः' अनेकाल् है। 'अष्टाभ्य औश्' यहाँ आदेश 'औश्' शित् है। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा दोनों आदेश अपने अपने सम्पूर्ण स्थानी (क्रमशः 'अस्' तथा 'जस्-शस्') के स्थान पर होंगे। अतः 'भू' अस् के स्थान पर तथा 'औश्' 'जस्-शस्' के स्थान पर होता है।

४६. [१]**ङिच्च (१/१/५२)**

ङिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात्।

ङिदिति– ङित् (जिसका 'ङ्' इत् है) तथा अनेकाल् (आदेश) स्थानी के अन्त्य वर्ण के स्थान पर ही हो। यह "अनेकाल् शित् सर्वस्य" का अपवाद है। अतः ङित् चाहे अनेकाल् हो तो भी अन्त्य अल् के स्थान पर ही होता है।

४७. [१]**अवङ् स्फोटायनस्य**[६] **(६/१/११९)**

पदान्ते एङन्तस्य गोरवङ् वाऽचि। गवाग्रम्, गोऽग्रम्। पदान्ते किम्-गवि।

अवङिति– पदान्त में एङन्त 'गो' शब्द को 'अवङ्' आदेश 'अच्' परे रहते विकल्प से हो।

'अवङ्' आदेश है। 'हलन्त्यम्' के द्वारा 'ङ्' की इत् संज्ञा है। अतः यह आदेश 'ङित्' है तथा अनेकाल् भी है। पूर्व सूत्र 'अनेकाल्०' के द्वारा 'अवङ्' आदेश सम्पूर्ण 'गो' शब्द के स्थान पर प्राप्त होता है। परन्तु 'ङित्' होने से प्रकृत सूत्र के द्वारा केवल अन्त्य वर्ण (ओकार) के स्थान पर होगा। स्फोटायन एक वैयाकरण हुए हैं। 'स्फोटायनस्य' का अर्थ है कि उक्त कार्य स्फोटायन मुनि के मत से होता है।

'गो अग्रम्'– यहाँ 'गो' शब्द पद भी है तथा एङन्त भी है। इससे परे 'अच्' है। अतः 'अवङ् स्फोटायनस्य' के द्वारा 'अवङ्' आदेश विहित है। 'अवङ्' ङित् होने के कारण स्थानी (गो) के अन्त्य वर्ण (ओ) के स्थान पर होकर– 'ग् अव अग्रम्' होता है। अकः सवर्णे दीर्घः से दीर्घ आदेश होकर गवाग्रम् बनता है तथा अवङ् के अभाव पक्ष में 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप होकर 'गोऽग्रम्' रूप होगा।

पदान्त इति– 'पदान्त में हो' ऐसा क्यों कहा गया?

'गो इ'– इस दशा में 'गो' शब्द एङन्त है तथा आगे 'इ' (अच्) भी है, परन्तु 'गो' शब्द पदान्त नहीं है। यदि प्रकृत सूत्र में 'पदान्त' शब्द का न्यास नहीं होता तो यहाँ 'अवङ्' आदेश प्राप्त हो जाता। अतः यहाँ 'अवङ्' न हो, एतदर्थ 'पदान्त' ऐसा कहा है। ए चोऽयवायावः से अव् आदेश होकर – गव् इ।

अन्य उदाहरण– गो उद्धः– गवोद्धः। गो अक्षः-गवाक्षः

एङन्तस्येति– सूत्र में 'एङन्त के स्थान पर हो' ऐसा क्यों कहा गया? ऐसा न

कहने से 'चित्रगु अग्रम्' में भी विकल्प से प्रकृतिभाव होने लगेगा। यहाँ 'गो' शब्द तो है, परन्तु एङन्त नहीं है। अतः प्रकृतिभाव न होकर 'यण्' आदेश हो जायेगा। यथा— चित्रग्वग्रम्।

४८. [७]इन्द्रे चँ (६/१/१२०)

गोरवङ् स्यादिन्द्रे। गवेन्द्रः।

इन्द्र इति— इन्द्र शब्द परे रहते गो शब्द को 'अवङ्' आदेश हो।

'गो इन्द्रः' यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा अन्त्य वर्ण (ओ) के स्थान पर अवङ् आदेश आद् गुणः से गुण एकादेश होकर 'गवेन्द्रः' रूप सिद्ध हुआ।

४९. [५]दूराद्धूते[७] चँ (८/२/८४)

दूरात् संबोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा।

दूरादिति— दूर से पुकारने में वाक्य की टि को विकल्प से प्लुत हो।

५०. [१]प्लुतप्रगृह्या अचि[७] नित्यम्[२] (६/१/१२१)

एतेऽचि प्रकृत्या स्युः। आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति।

प्लुतेति— अच् परे रहते प्लुत और प्रगृह्यसंज्ञक को प्रकृतिभाव होता है।

'आगच्छ कृष्ण' यह सम्बोधन का वाक्य है। अतः 'दूराद्धूते च' के द्वारा इसकी टि (णकारोत्तरवर्त्ती अकार) को प्लुत हो गया। आगच्छ कृष्ण३/ अब 'प्लुतप्रगृह्या०' सूत्र के द्वारा प्रकृतिभाव हो गया— आगच्छ कृष्ण३अत्र गौश्चरति।

अन्य उदाहरण— आगच्छ रमे३ अत्र विहरेम। आगच्छ शिव३ इह देवः अस्ति।

५१. [१]ईदूदेद् द्विवचनं[१] प्रगृह्यम्[१] (१/१/११)

ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यसंज्ञं स्यात्। हरी एतौ। विष्णू इमौ। गंगे अमू।

ईदिति— ईकारान्त, ऊकारान्त तथा एकारान्त द्विवचन की प्रगृह्यसंज्ञा हो। प्रगृह्यसंज्ञा का फल प्रकृतिभाव करना है।

'हरी एतौ'— यहाँ 'हरी' शब्द द्विवचनान्त तथा ईकारान्त है। अतः ई इसकी प्रगृह्य संज्ञा हो गई। तब 'प्लुतप्रगृह्या०' सूत्र के द्वारा प्रकृतिभाव होकर 'हरीएतौ' रूप सिद्ध हुआ। 'विष्णू इमौ' तथा 'गंगे अमू' में पूर्ववत् प्रकृतिभाव होता है।

अन्य उदाहरण— शेवहे आवाम्। अनादी उभौ। एते अप्रतीतौ। बाले अधीयाते।

५२. [६]अदसो मात्[५] (१/१/१२)

अस्मात् परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः। अमी ईशाः। रामकृष्णावमू आसाते। मात्किम्- अमुकेऽत्र।

अदस इति— 'अदस्' शब्द के अवयव स्वरूप मकार से परे ईकारान्त तथा ऊकारान्त की प्रगृह्य संज्ञा हो।

'अमी ईशाः'— यहाँ 'अमी' शब्द 'अदस्' से निष्पन्न है। ईकार की प्रगृह्य संज्ञा हो

गई। अतः सवर्ण दीर्घ को बाध कर 'प्लुतप्रगृह्याचि०' से प्रकृतिभाव ही हुआ। 'अमू आसाते'— यहाँ 'अमू' शब्द 'अदस्' से निष्पन्न है तथा ऊकारान्त है। अतः इसकी प्रगृह्य संज्ञा हो गई। यहाँ 'इको यणचि' के द्वारा यण् आदेश प्राप्त था, जिसे बाध कर 'प्लुतप्रगृह्या०' सूत्र के द्वारा नित्य प्रकृतिभाव होकर रूप सिद्ध हुआ।

मादिति— 'म' से परे ऐसा क्यों कहा? यदि 'मकार से परे' ऐसा नहीं कहा जाता तो प्रकृत सूत्र के द्वारा अन्यत्र (अमुकेऽत्र) स्थलों पर भी प्रकृतिभाव हो जायेगा। अतः पूर्व सूत्र 'ईदूदेद्०' (पा० १.१.११) से अनुवृत्त 'एकार' पद को बाधने के लिए 'मात्' का पाठ किया गया है। वस्तुतः यदि सूत्र में 'मात्' पद का ग्रहण न होता तो 'ईदूदेद्०' सूत्र से यहाँ ईकारान्त व ऊकारान्त के साथ एकारान्त की भी अनुवृत्ति हो जाती। परन्तु 'मात्' पदग्रहण करने से 'एकारान्त' पद की अनुवृत्ति नहीं होती है क्योंकि 'अदस्' शब्द के मकार से पर एकार का मिलना असम्भव है।

५३. [१]**चादयोऽसत्त्वे**[७] (१/४/५७)

अद्रव्यार्थाश्चादयो निपाताः स्युः।

चादय इति— द्रव्य भिन्न अर्थ में 'च' आदि निपात संज्ञक हों।

'लिङ्गसंख्यान्वयित्वं द्रव्यत्वम्' अर्थात् जिन शब्दों में लिङ्ग तथा संख्या का अन्वय होता है, उन्हें 'द्रव्य' कहते हैं।

५४. [१]**प्रादयः** (१/४/५८)

एतेऽपि तथा।

प्रादय इति— 'प्र' आदि की भी निपात संज्ञा होती है।

५५. [१]**निपात एका**[१]**जनाङ्**[१] (१/१/१४)

एकोऽज् निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यात्। इ इन्द्रः। उ उमेशः। वाक्यस्मरणयोरङित्- आ एवं नु मन्यसे, आ एवं किल तत्। अन्यत्र ङित्- ईषदुष्णम्-ओष्णम्।

निपात इति— 'आङ्' को छोड़कर एक अच् रूप निपात की प्रगृह्य संज्ञा होती है।

'इ इन्द्रः'— यहाँ 'चादयोऽसत्त्वे' के द्वारा 'इ' की निपात संज्ञा होती है। प्रकृत सूत्र से इसकी प्रगृह्य संज्ञा होती है। अब 'प्लुतप्रगृह्या०' सूत्र के द्वारा प्रकृति भाव होकर 'इ इन्द्रः' रूप सिद्ध हुआ। अकः सवर्णे दीर्घः का बाध हुआ। इसी प्रकार 'उ उमेशः' में सवर्णदीर्घ के स्थान पर पूर्ववत् प्रकृतिभाव होता है।

वाक्येति-वाक्य अर्थ में तथा स्मरण अर्थ में 'आङ्' न होकर 'आ' होता है, जो 'ङित्' नहीं है।

'आ एवं नु मन्यसे' (तुम ऐसा मानते हो) इस वाक्य में प्रयुक्त 'आ' वाक्य अर्थ में आया है। यह 'आङ्' नहीं है अपितु पृथक् निपात है। 'आङ्' न होने से प्रकृत सूत्र के

द्वारा इसकी प्रगृह्य संज्ञा होकर प्रकृतिभाव प्राप्त हुआ। 'आ एवं किल तत्' (हाँ, यह ऐसा ही था) इस वाक्य में 'आ' स्मरण अर्थ में निपात है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् जानें।

वाक्य और स्मरण से भिन्न अर्थ में 'आ' उपसर्ग 'ङित्' (अर्थात् आङ्) होता है जिसकी प्रगृह्य संज्ञा का निषेध प्रकृत सूत्र के द्वारा किया गया है। 'आ उष्णम्' — यहाँ 'आ' उपसर्ग न तो वाक्य अर्थ में है तथा न ही स्मरण अर्थ में है। अत: यह 'ङित्' अर्थात् 'आङ्' है। तब 'निपात एकाज०' से प्रगृह्य संज्ञा का निषेध हो गया। प्रगृह्य संज्ञा न होने से प्रकृतिभाव भी नहीं होगा तथा 'आद्गुण:' से गुणादेश होकर 'ओष्णम्' रूप सिद्ध हुआ। 'आङ्' के सम्बन्ध में निम्नलिखित व्यवस्था द्रष्टव्य है—

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च य:।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित्॥

अर्थात्— अल्प अर्थ में, क्रिया के योग में, मर्यादा और अभिविधि अर्थ में जो आकार होगा, उसे ङित् (आङ्) समझना चाहिए तथा वाक्य में और स्मरण अर्थ में अङित् (आ)।

५६. [१]**ओत् (१/१/१५)**

ओदन्तो निपात: प्रगृह्य:। अहो ईशा:!

ओदिति— ओदन्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होती है। ओदन्त का अर्थ है— ओकारान्त। निपातों में ओ, आहो, उताहो, हो, अहो तथा अथो— ये छह ही ओकारान्त हैं। इनमें से 'ओ' की प्रगृह्य संज्ञा 'निपात एकाज०' सूत्र से होती है। शेष पाँच की प्रगृह्य संज्ञा प्रस्तुत सूत्र से होती है।

'अहो ईशा:'— यहाँ 'एचोऽयवायाव:' के द्वारा अवादेश प्राप्त हुआ जिसे बाध कर प्रकृतसूत्र के द्वारा निपात संज्ञा करके 'प्लुतप्रगृह्या०' सूत्र के द्वारा प्रकृतिभाव हुआ।

अन्य उदा— उताहो अनिष्टम्। आहो असत्य:। मिथो आगच्छत:। मिथो अपि।

५७. [७]**सम्बुद्धौ** [६]**शाकल्यस्येता**[७] **वनार्षे**[७] **(१/१/१६)**

सम्बुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिके इतौ परे। विष्णो इति, विष्ण इति, विष्णविति।

सम्बुद्धाविति— सम्बुद्धि के ओकार की विकल्प से प्रगृह्य संज्ञा हो 'इति' शब्द परे रहते तथा जो 'इति' वेद का विषय न हो।

'एकवचनं सम्बुद्धि:' सूत्र के अनुसार सम्बोधन में एकवचन को सम्बुद्धि कहते हैं।

'विष्णो इति'— यहाँ णकारोत्तरवर्ती ओकार सम्बुद्धि निमित्तक है तथा इससे परे 'इति' शब्द है। अत: इसकी विकल्प से प्रगृह्य संज्ञा होती है। प्रगृह्य पक्ष में प्रकृतिभाव होकर 'विष्णोइति' रूप सिद्ध हुआ। प्रगृह्य संज्ञा न होने के पक्ष में 'एचोऽयवायाव:' के द्वारा अवादेश होकर 'विष्णविति' रूप सिद्ध हुआ। 'लोप: शाकल्यस्य' के द्वारा विकल्प

से वकारलोप होकर 'विष्ण इति' रूप सिद्ध हुआ।

५८. [५]**मय उञो[६] वो[१] वाँ (८/३/३३)**

मयः परस्य उञो वो वा अचि। किम्वुक्तम्, किमु उक्तम्।

मय इति— मय् से परे उञ् के उकार को विकल्प से **व्** होता है अच् परे रहते।

'उञ्' एक निपात है। 'मय्' एक प्रत्याहार है। एकाच् होने से 'ओत्' से इसकी नित्य प्रगृह्य संज्ञा प्राप्त थी। प्रकृत सूत्र के द्वारा उक्त संज्ञा विकल्प से होती है।

'किम् उ उक्तम्'— यहाँ 'मय्' (किम् का मकार) से परे 'उ' है। इसे विकल्प से वकार आदेश हो गया, अच् ('उक्तम्' का उकार) परे रहते। वकार आदेश पक्ष में 'किम्व् उक्तम्' (किम्वुक्तम्) रूप सिद्ध होगा। वकार आदेश न होने के पक्ष में सवर्णदीर्घ प्राप्त है जिसे बाध कर 'निपात एकाजनाङ्' के द्वारा प्रगृह्य संज्ञा तथा 'प्लुतप्रगृह्या०' के द्वारा प्रकृतिभाव होकर 'किमुउक्तम्' रूप सिद्ध हो गया।

५९. [६]**इकोऽसवर्णे[७] शाकल्यस्य[६] ह्रस्वश्च (६/१/१२३)**

पदान्ता इको ह्रस्वा वा स्युरसवर्णेऽचि। ह्रस्वविधानसामर्थ्यान्न स्वरसन्धिः। चक्रि अत्र, चक्र्यत्र। पदान्ता इति किम्-गौर्यौ।

इक इति— असवर्ण अच् परे रहते पदान्त इक् को विकल्प से ह्रस्व हो।

'चक्री अत्र'— यहाँ ईकार पदान्त में है तथा अच् (अकार) परे है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा ईकार को ह्रस्व आदेश (इकार) होकर 'चक्रि अत्र' रूप सिद्ध हुआ। अब 'इको यणचि' यणादेश प्राप्त है, परन्तु वह नहीं होगा अन्यथा ह्रस्व करना व्यर्थ हो जायेगा। ह्रस्व अभाव पक्ष में यणादेश होकर 'चक्र्यत्र' रूप सिद्ध होता है। ह्रस्वविधान सामर्थ्य से 'चक्रि अत्र' में यणादि स्वरसन्धि नहीं होगी, अन्यथा ह्रस्व विधान व्यर्थ हो जायेगा। स्वर सन्धि तो ह्रस्व विधान के बिना भी हो सकती थी।

'पदान्त में हो' ऐसा कहने का उद्देश्य है कि उक्त कार्य 'गौरी औ' में न होवे। 'गौरी' पद नहीं है। अतः उक्त सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी अन्यथा 'गौरि औ' ऐसा अपरूप सिद्ध हो जायेगा।

अन्य उदाहरण— नदी अवतरति-नद्यवतरति, नदि अवतरति। गौरी आह-गौर्याह, गौरि आह। नदी एधते- नद्येधते, नदि एधते।

६०. [५]**अचो रहाभ्यां[५] द्वे[१] (८/४/४५)**

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः। गौर्य्यौ।

(वा०) न समासे। वाप्यश्वः।

अच इति— अच् से पर रेफ तथा हकार हों तथा उन से पर यर् हो तो उस यर् को विकल्प से द्वित्व होता है।

'गौरी औ' यहाँ 'इको यणचि' से यणादेश होने पर 'गौर् य् औ' इस दशा में अच्

(औ) से परे रेफ है तथा उससे पर यर् (यकार) है, अतः प्रस्तुत सूत्र से विकल्प से द्वित्व होगा। द्वित्व पक्ष में 'गौर् य् य् औ' (गौर्य्यौ) तथा द्वित्व अभाव पक्ष में 'गौर्यौ' रूप सिद्ध होगा।

अन्य उदाहरण— धर्म्मः; धर्मः। शर्म्मा, शर्मा। कार्य्यम्, कार्यम्। कर्म्म, कर्म।

न इति— असवर्ण अच् परे रहते समास में पदान्त इक् को ह्रस्व नहीं होता है।

'वापी अश्वः'— यहाँ समास है। पदान्त ईकार है। असवर्ण अच् (अकार) परे है। अतः प्रकृत वार्तिक के द्वारा ह्रस्व आदेश नहीं होगा। तब सामान्य यणादेश होकर 'वाप्यश्वः' रूप सिद्ध हुआ।

६१. [७]**ऋत्यकः**[६] (६/१/१२४)

ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वद् वा। ब्रह्मऋषिः, ब्रह्मर्षिः। पदान्ताः किम्- आर्च्छत्।

इत्यच्सन्धिः

ऋतीति— ऋत् (ह्रस्व ऋकार) परे रहते पदान्त अक् को ह्रस्व विकल्प से होता है।

'ब्रह्मा ऋषिः'— यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा ह्रस्व होकर 'ब्रह्म ऋषिः' ऐसा रूप सिद्ध हुआ। अब विधान सामर्थ्य के कारण गुणादेश की प्रवृत्ति नहीं होगी अर्थात् 'आद् गुणः' के द्वारा गुणादेश कर दिया जाये तो आचार्य द्वारा प्रकृत सूत्र का पाठ व्यर्थ हो जायेगा। ह्रस्व के अभाव पक्ष में गुणादेश होकर 'ब्रह्मर्षिः' रूप सिद्ध होगा।

प्रकृत सूत्र में 'पदान्त' कहने का अभिप्राय है कि उक्त कार्य पदान्त से अन्यत्र न होवे। यथा— 'आ ऋच्छत्'— यहाँ 'आ' अक् है, परन्तु यह पद के अन्त में नहीं है। प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी और 'आटश्च' के द्वारा वृद्धि होकर 'आर्च्छत्' रूप बना।

अथ हल्सन्धिः

६२. [६]**स्तोः श्चुना**[३] **श्चुः**[१] (८/४/३९)

सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः। रामश्शेते। रामश्चिनोति। सच्चित्। शार्ङ्गिञ्जयः।

स्तोरिति— सकार तथा तवर्ग का शकार और चवर्ग (च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) के साथ योग होने पर सकार तथा तवर्ग (त्, थ्, द्, ध्, न्) के स्थान पर शकार तथा चवर्ग हों।

यहाँ पूर्व में छह वर्ण (स्, त्, थ्, द्, ध्, न्) कहे हैं तथा पर में भी छह वर्ण (श्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) कहे गये हैं। इसी प्रकार आदेश भी छह (श्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्) ही हैं। अतः समान होने के कारण 'यथासंख्यमनु०' परिभाषा के द्वारा ये आदेश क्रमशः होते हैं अर्थात् स् के स्थान पर श्, त् के स्थान पर च्, थ् के स्थान पर छ्, द् के स्थान पर ज्, ध् के स्थान पर झ् तथा न् के स्थान पर ञ् होता है।

ध्यान रहे, आदेश के सम्बन्ध में यथासंख्य नियम कार्य करता है परन्तु योग के सम्बन्ध में यथासंख्य नियम कार्य नहीं करता है अर्थात् आवश्यक नहीं है कि स् व श् का, त् व च् का, थ् व छ्— इसी प्रकार स्थानी व निमित्त का योग हो। यहाँ स्थानी व निमित्त का योग किसी भी प्रकार हो सकता है अर्थात् स् का योग श्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्— इन छह वर्णों में से किसी एक के साथ होने पर 'श्चुत्व' होगा ही।

दूसरी बात ध्यान देने की है कि यह भी आवश्यक नहीं है कि स्थानी (स्, त्, थ्, द्, ध्, न्) पूर्व स्थान में हों तथा निमित्त (श, च,छ, ज, झ, ञ) पर स्थान में हो तभी श्चुत्व होगा। तात्पर्य है कि शकारादि चाहे सकरादि के आगे आवें चाहे पीछे आवें— दोनों ही अवस्थाओं में सकारादि के स्थान पर 'श्चुत्व' होगा ही। इसी प्रकार योग में यथासंख्य नियम की भी अपेक्षा नहीं है। किसी भी वर्ण के साथ किसी भी वर्ण का योग हो सकता है। इसमें प्रमाण अग्रिम सूत्र 'शात्' है। 'शात्' के अनुसार शकार से पर तवर्ग हो तो श्चुत्व नहीं होगा। यदि 'स्तोः श्चुना श्चुः' सूत्र के द्वारा सकारादि से पर शकारादि होने पर ही श्चुत्व होता तो शकार से पर तवर्ग को श्चुत्व प्राप्त ही न होता। तब 'शात्' सूत्र के द्वारा किसका निषेध होता अर्थात् 'शात्' सूत्र व्यर्थ हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि 'स्तोः०' सूत्र के अनुसार जो योग कहा गया है वहाँ स्थानी व निमित्त में पूर्वापर स्थिति नियत नहीं है।

'शात्' के द्वारा शकार से पर तवर्ग को श्चुत्व का जो निषेध किया गया है वह प्रमाण है कि 'स्तोः श्चुना०' सूत्र के द्वारा विहित योग में यथासंख्य नियम अपेक्षित नहीं है। यदि यहाँ यथासंख्य नियम कार्य करता तो शकार के साथ सकार का ही योग होने पर श्चुत्व होता तथा शकार से पर तवर्ग होने पर (यथासंख्य के अभाव में) श्चुत्व ही नहीं होता। तब 'शात्' के द्वारा किसका निषेध किया जाता अर्थात् 'शात्' सूत्र व्यर्थ हो जाता। इससे सिद्ध होता है कि 'स्तोः श्चुना०' सूत्र के द्वारा जो योग कहा गया है वहाँ यथासंख्य नियम की अपेक्षा नहीं है।

राम सु— स सजुषो रुः। राम रु-खरवसानयोर्०। रामः। वा शरि। विसर्ग अभाव पक्ष में सकार हुआ। 'रामस् शेते'— यहाँ सकार तथा शकार का योग होने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा सकार के स्थान पर यथासंख्यक शकार आदेश ही होता है। 'रामश्शेते' 'रामस् चिनोति'— यहाँ सकार तथा चकार का योग होने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा सकार के स्थान में यथासंख्य प्राप्त शकार होकर 'रामश्चिनोति' 'सत् चित्'— यहाँ पूर्व तकार के स्थान पर प्रस्तुत सूत्र के द्वारा चकार आदेश होकर 'सच्चित्'। विशेष— यहाँ 'स्तोः श्चुना श्चुः' पा० ८.४.३९.) से श्चुत्व; झलां जशोऽन्ते (पा० ८.२.३९) से जश्त्व तथा 'खरि च' (पा० ८..४.५४) से चर्त्व प्राप्त होते हैं। श्चुत्व जश्त्व की दृष्टि में असिद्ध है। प्रथम जश्त्व हुआ। सद् चित्। श्चुत्व की दृष्टि में चर्त्व असिद्ध है; अतः प्रथम श्चुत्व हुआ। सज् चित्। चर्त्व। 'शार्ङ्गिन् जयः'— इस दशा में नकार तथा जकार का योग होने पर नकार के स्थान पर यथासंख्य (ञ्) आदेश होकर 'शार्ङ्गिञ्जयः' रूप सिद्ध हुआ।

६३. [५]**शात् (८/४/४३)**

शात् परस्य तवर्गस्य श्चुत्वं न स्यात्। विश्नः। प्रश्नः।

शादिति— शकार से परे तवर्ग के स्थान में श्चुत्व न हो।

'विश् नः'— यहाँ शकार का नकार के साथ योग है। अतः 'स्तोः श्चुना श्चुः' सूत्र के द्वारा श्चुत्व प्राप्त होता है जिसका प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध हो जाता है। विश्नः।

'प्रश् नः' इस अवस्था में श्चुत्व का निषेध । 'प्रश्नः' रूप सिद्ध होता है।

६४. [३]**ष्टुना ष्टुः**[१] **(८/४/४०)**

स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात्। रामष्षष्ठः। रामष्टीकते। पेष्टा। तट्टीका। चक्रिण्ढौकसे।

ष्टुनेति— सकार और तवर्ग तथा षकार और टवर्ग के योग में सकार तथा तवर्ग के स्थान पर षकार और टवर्ग होता है।

यहाँ पर भी योग होने पर यथासंख्य कार्य नहीं होता है। केवल आदेश के सम्बन्ध में यथासंख्य अपेक्षित है। यहाँ 'तोः षि' सूत्र प्रमाण है।

'रामस् षष्ठः'— सकार और षकार के योग में षकार आदेश होकर 'रामष्षष्ठः' रूप सिद्ध हुआ। 'रामस् टीकते' यहाँ पूर्ववत् समझें। 'रामष्टीकते'। 'पेष् ता'— यहाँ षकार तथा तकार का योग है। स्थानी तकार के स्थान पर यथासंख्य आदेश टकार ही होता है। 'पेष्टा'।

'तद् टीका'— ष्टुत्व (पा० ८.४.४०) की दृष्टि में चर्त्व (पा० ८.४.५४) असिद्ध है। प्रथम ष्टुना ष्टुः से ष्टुत्व। तड् टीका—चर्त्व होकर डकार के स्थान पर टकार हुआ 'तट्टीका'। 'चक्रिन् ढौकसे'— यहाँ नकार (तवर्ग) और टकार (टवर्ग) का योग है। स्थानी नकार के स्थान पर टवर्गीय यथासंख्य आदेश (ण्) होकर 'चक्रिण्ढौकसे' रूप सिद्ध हुआ।

६५. **नँ** [५]**पदान्ताट्टोः**[५] **रनाम्**[६] **(८/४/४२)**

पदान्ताट्टवर्गात्परस्याऽनामः स्तोः ष्टुर्न स्यात्। षट् सन्तः। षट् ते। पदान्तात् किम्- ईट्टे। टोः किम्-सर्पिष्टमम्।

(वा०) अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्। षण्णाम्। षण्णवतिः। षण्णगर्यः।

नेति— पदान्त टवर्ग से पर 'नाम्' भिन्न शब्द के सकार और तवर्ग के स्थान पर ष्टुत्व' न हो।

अनामिति— नाम्, नवति, और नगरी को छोड़कर ष्टुत्व का निषेध हो अर्थात् 'न पदान्ताट्टोरनाम्' सूत्र के सम्बन्ध में होने वाला ष्टुत्व का निषेध नाम्, नवति तथा नगरी शब्दों के विषय में न हो। यहाँ पर नित्य ष्टुत्व हो।

'षड् सन्तः' यहाँ पर 'ष्टुना ष्टुः' के द्वारा ष्टुत्व प्राप्त है जिसका बाध प्रकृत सूत्र के द्वारा हो जाता है। 'षड्' पद है तथा पदान्त 'ड्' से पर सकार है जिसके स्थान पर प्राप्त

षत्व का निषेध तथा 'खरि च' से चर्त्व होकर 'षट् सन्तः' रूप हुआ। 'षट् ते' यहाँ पर भी पूर्ववत् क्रिया होकर 'ष्टुत्व' का निषेध हो गया।

प्रकृत सूत्र में ष्टुत्व का निषेध पदान्त टकार से परे रहते ही हो। अतः सूत्र में 'पदान्तात्' ऐसा पाठ है, अन्यथा 'ईट्ते' में भी ष्टुत्व का निषेध हो जायेगा और इष्टसिद्धि (ष्टुत्व) नहीं हो सकेगी। ध्यान रहे, 'ईट्' पद नहीं है। तिङन्त होने के कारण 'ईट् ते' इस समस्त वर्ण समूह की पद संज्ञा होती है।

'सर्पिष् तमम्'— यहाँ 'सर्पिष्' पद है तथा पदान्त षकार से परे तकार है। अतः 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व होकर 'सर्पिष्टमम्' रूप सिद्ध होगा। यहाँ पर ष्टुत्व का निषेध न हो, एतदर्थ सूत्र में 'टोः' (टवर्ग से परे) ऐसा कहा है। यहाँ पदान्त में षकार है, टवर्ग नहीं।

'षड् नाम्'— यहाँ 'षड्' शब्द 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने०' के द्वारा पदसंज्ञक है। अतः तवर्ग (नकार) के स्थान पर 'न पदान्तात्०' के द्वारा ष्टुत्व का निषेध होता है। प्रकृत वार्तिक के द्वारा ष्टुत्व की प्राप्ति 'ष्टुना ष्टुः' से (णकार) होकर 'षड् णाम्' ऐसा हुआ। अब डकार के स्थान पर 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' के द्वारा णकार होकर 'षण्णाम्' सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'षड् नवतिः' में 'ष्टुना ष्टुः' से प्राप्त ष्टुत्व का 'न पदान्तात्०' के द्वारा निषेध हुआ जिसका बाध प्रकृत वार्तिक के द्वारा होकर 'षड् णवतिः' ऐसा हुआ। अब 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' के द्वारा णत्व विकल्प से होकर 'षण्णवतिः' तथा 'षड्णवतिः' दो रूप सिद्ध हुए। इसी प्रकार 'षड् नगर्यः' के स्थान पर 'षड्णगर्यः' तथा 'षण्णगर्यः' इस प्रकार दो रूप सिद्ध हुए।

६६. [६]**तोः षि**[७] **(८/४/४२)**

(तवर्गस्य षकारे परे) न ष्टुत्वम्। सन्षष्ठः।

तोरिति-तवर्ग के स्थान पर ष्टुत्व न हो, षकार परे रहते।

'सन् षष्ठः'— यहाँ षकार के परे रहते नकार (तवर्ग) के स्थान पर 'ष्टुना ष्टुः' से प्राप्त ष्टुत्व का निषेध हो गया। यथा— सन्षष्ठः।

६७. [६]**झलां** [१]**जशोऽन्ते**[७] **(८/२/३९)**

पदान्ते झलां जशः स्युः। वागीशः।

झलामिति— पदान्त में झल् के स्थान पर जश् हो।

'वाक् ईशः'— यहाँ अन्तर्वर्त्तिनी विभक्तियों का लुक् हो जाने से प्रत्यय लक्षण से वाच् शब्द पद है। चोः कुः से कुत्व हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा ककार (झल्) के स्थान में 'स्थानेऽन्तरतमः' से स्थान साम्य के कारण गकार (जश्) होकर 'वागीशः' रूप सिद्ध हुआ।

अन्य उदाहरण— दिक् गजः— दिग्गजः। जगत् ईश- जगदीशः। चित् आनन्दः— चिदानन्दः। मधुलिट् अस्ति— मधुलिडस्ति। षट् एते— षडेते। क्षुत् भिः— क्षुद्भिः।

६८. [६]यरोऽनुनासिकेऽ[७]नुनासिको[१] वा (८/४/४४)

यरः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात्। एतन्मुरारिः, एतद्मुरारिः।

(वा०) प्रत्यये भाषायां नित्यम्। तन्मात्रम्। चिन्मयम्।

यर इति— पदान्त में यर् के स्थान पर विकल्प से अनुनासिक हो, अनुनासिक परे रहते।

प्रत्यय इति— अनुनासिक से प्रारम्भ होने वाले प्रत्यय के परे रहते पदान्त 'यर्' के स्थान पर नित्य अनुनासिक हो।

'एतद् मुरारिः' यहाँ 'एतद्' एक पद है। दकार पदान्त में है। इससे परे मकार (अनुनासिक) है। अतः दकार के स्थान पर प्रस्तुत सूत्र से विकल्प से अनुनासिक होगा। 'एतन्मुरारिः' तथा पक्ष में 'एतद्मुरारिः' रूप सिद्ध होगा।

अन्य उदाहरण— जगत् नाथः— जगद्नाथः, जगन्नाथः। षट् मासाः— षड्मासाः, षण्मासाः। क्षुत् मे— क्षुद्मे, क्षुन्मे। अप् मूलम्— अब्मूलम्, अम्मूलम्। सत् मार्गः— सद्मार्गः, सन्मार्गः।

'तद् मात्रम्' यहाँ 'यरोऽनु०' सूत्र के द्वारा दकार को विकल्प से अनुनासिक प्राप्त होता है जिसे बाध कर प्रकृत वार्तिक के द्वारा नित्य अनुनासिकत्व होता है— 'तन्मात्रम्'। इसी प्रकार 'चित् मयम्-चिन्मयम्' सिद्ध होता है। वाक् मयम्— वाङ्मयम्। वाक् मात्रम्— वाङ्मात्रम्। मृट् मयम्— मृण्मयम्।

६९. [६]तोर्लि[७] (८/४/५९)

तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः। तल्लयः। विद्वाँल्लिखति। नस्यानुनासिको लँः।

तोरिति— लकार परे रहते तवर्ग के स्थान पर परसवर्ण हो।

'तद् लयः'— दकार से लकार परे है। अतः दकार के स्थान पर परसवर्ण हुआ— तल्लयः।

'विद्वान् लिखति'— यहाँ नकार के स्थान पर परसवर्ण लकार होगा। 'विद्वाँल् लिखति'। अब चूँकि स्थानी अनुनासिक है। अतः परसवर्ण आदेश भी अनुनासिक (लँ) होकर 'विद्वाँल्लिखति' रूप बना।

अन्य उदाहरण— तद् लयः— तल्लयः। तद् लीनः— तल्लीनः। तद् लीला— तल्लीला। श्रीमान् लिखति— श्रीमाँल्लिखति। जगत् लीयते— जगल्लीयते।

७०. [५]उदः स्थास्तम्भोः[६] पूर्वस्य[६] (८/४/६०)

उदः परयोःस्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः।

उद इति— उद् उपसर्ग पूर्वक 'स्था' व 'स्तम्भ्' धातुओं को पूर्वसवर्ण हो।

७१. [५]तस्मादित्युत्तरस्य[६] (१/१/६६)

पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम्।

तस्मादिति— पञ्चमी विभक्ति के द्वारा जिस कार्य का विधान किया गया हो, वह कार्य पञ्चम्यन्त पद के द्वारा बोध्य वर्ण से व्यवधान रहित पर वर्ण के स्थान पर हो।

७२. [६]**आदेः परस्य**[६] (१/१/५३)

परस्य यद् विहितं तत् तस्यादेर्बोध्यम्। इति सस्य थः–

आदेरिति— पर पद के स्थान में विहित कार्य (सदा) पर पद के आदि वर्ण को हो।

'उद् स्थानम्'— ऐसा होने पर 'उदः स्थास्तम्भोः०' सूत्र के द्वारा पूर्व सवर्ण प्राप्त हुआ। अब शङ्का है कि यह पूर्वसवर्ण पूर्व (अर्थात् 'उद्') के स्थान पर हो अथवा पर (अर्थात् स्थानम्) को हो। 'तस्मादित्यु०' सूत्र की सहायता से यह कार्य 'उद्' से पर अव्यवहित 'स्था' धातु के ही स्थान पर होता है। इस प्रकार 'स्था' धातु को पूर्वसवर्ण प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र में 'उद्' में पंचमी है।अतः पूर्वसवर्ण कार्य अव्यवहित (अर्थात् व्यवधान रहित) पर वर्ण के स्थान पर होगा। पूर्ववर्ण 'उद्' का 'द्' है। पर में 'स्थानम्' है। निमित्त तथा स्थानी के बीच कोई व्यवधान (वर्ण) भी नहीं है। अतः 'स्थानम्' के स्थान पर पूर्वसवर्ण प्राप्त हुआ। यह 'अलोऽन्त्यस्य' के अनुसार अन्त्य वर्ण को होना चाहिए परन्तु 'आदेः परस्य' के द्वारा पर के आदि वर्ण (स्) को विधेय कार्य होगा। 'स्थानेऽन्तरतमः' इस परिभाषा के बल पर 'स्थानम्' के 'स्' (विवार, श्वास, अघोष और महाप्राण यत्न वाले) के स्थान पर उसी प्रकार का पूर्वसवर्ण थकार होकर 'उद् थ् थानम्' ऐसी स्थिति बनी। सकार तथा (थकार) दोनों विवार, श्वास, अघोष तथा महाप्राण यत्न वाले हैं।

७३. [६]**झरो झरि**[७] **सवर्णे**[७] (८/४/६४)

हलः परस्य झरो वा लोपः सवर्णे झरि।

झर इति— हल् से पर झर् का विकल्प से लोप हो सवर्ण झर् परे रहते। यहाँ निमित्त और स्थानियों का यथासंख्य नहीं होता है।

'उद् थ् थानम्' में हल् (दकार) से पर झर् (थकार) है। इससे परे सवर्ण झर् (द्वितीय थकार) है। अतः पूर्व थकार का विकल्प से लोप होकर दो रूप बने— उद्थानम्, उद् थ् थानम्।

७४. [७]**खरि चं** (८/४/५४)

खरि झलां चरः स्युः इत्युदो दस्य तः– उत्थानम्, उत्तम्भनम्।

खरीति— खर् के परे रहते झल् के स्थान पर चर् हो।

इस प्रकार दोनों रूपों में खर् (थकार) परे रहते झल् (दकार) के स्थान पर अत्यन्त सादृश्य के आधार पर चर् (त्) होकर 'उत्थानम्' व 'उत्थ्थानम्' रूप बने। इसी प्रकार 'उद् स्तम्भनम्' इस स्थिति में सकार को थकार, वैकल्पिक लोप तथा चर्त्व होकर

दो रूप बनेंगे- 'उत्तम्भनम्', 'उत्थ्तम्भनम्'।

अन्य उदाहरण— उद् स्थापयति— उत्थापयति, उत्त्थापयति।

७५. [६]झयो [६]होऽन्यतरस्याम् (८/४/६१)

झयः परस्य हस्य वा पूर्वसवर्णः। नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य (हस्य) तादृशो वर्गचतुर्थः- वाग्घरिः, वाग्हरिः।

झय इति— 'झय्' से पर हकार को विकल्प से पूर्वसवर्ण हो।

हकार का नाद, घोष, संवार तथा महाप्राण यत्न हैं। वर्गों के चतुर्थ वर्णों का नाद, घोष, संवार तथा महाप्राण यत्न हैं। अतः आन्तरतम्य (अत्यन्त सादृश्य) के कारण हकार के स्थान पर वर्गों के चतुर्थ वर्ण आदेश ही होंगे।

'वाक् हरिः'— यहाँ जश्त्व तथा पूर्वसवर्ण (घ) होकर 'वाग्घरिः' रूप बनता है। ध्यान रहे कि जश्त्व विधायक सूत्र 'झला०' (पा० ८.२.३९) की दृष्टि में पूर्वसवर्ण सूत्र 'झयो हो०' (पा० ८.४.६२) असिद्ध है। अतः प्रथम जश्त्व (वाग् हरिः) होकर तत्पश्चात् पूर्वसवर्ण होता है। 'वाग् हरिः' इस स्थिति में झय् (गकार) से परे हकार है। अतः हकार के स्थान पर अत्यन्त सादृश्य के बल पर घकार 'वाग्घरिः' हुआ पक्ष में 'वाग्हरिः' हुआ।

अन्य उदाहरण—अच् हीनम्— अज्झीनम्, अज्हीनम्। वाक् हन्ति— वाग्घन्ति, वाग्हन्ति। रत्नमुट् हरति— रत्नमुड्ढरति, रत्नमुड्हरति। जगत् हरति— जगद्धरति, जगद्हरति। ककुप् हस्ती— ककुब्भस्ती, ककुब्हस्ती।

७६. [६]शश्छोऽटि[७] (८/४/६२)

(पदान्ताज्) झयः परस्य शस्य छो वाऽटि। तद् शिव इत्यत्र दस्य श्चुत्वेन जकारे कृते खरि चेति जकारस्य चकारः। तच् शिवः, तच्छिवः।

(वा०) छत्वममीति वाच्यम्। तच्छ्लोकेन।

झय् से पर शकार के स्थान पर विकल्प से छकार हो अट् परे रहते।

छत्व विधान के लिए निम्नलिखित तीन शर्तें हैं:—

१. शकार से पर कोई स्वर या अन्तःस्थ वर्ण होना चाहिए। २. शकार से पूर्व झय् (अर्थात् वर्ग का प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ वर्ण) होना चाहिए। ३. 'झय्' पदान्त में होना चाहिए।

छत्वमिति— अम् परे रहते पदान्त झय् से पर शकार के स्थान पर विकल्प से छकार हो।

वार्तिक के द्वारा होने वाले कार्य की शर्तें:—

१. शकार से पूर्व 'झय्' हो। २. 'झय्' पदान्त में हो। ३. शकार से पर अम् (अर्थात् स्वर, अन्तःस्थ तथा पंचम वर्ण) हो।

'तद् शिवः'— यहाँ 'स्तोः श्चुना श्चुः' के द्वारा दकार के स्थान पर जकार तथा 'खरि च' से जकार को चकार होकर 'तच् शिवः' बन गया। अब झय् (चकार) से पर शकार है तथा अट् (इ) परे रहते शकार को छकार होकर 'तच्छिवः' रूप सिद्ध हुआ तथा पक्ष में— 'तच्शिवः'।

अन्य उदाहरण— शश्वत् शान्तिम्— शश्वच्छान्तिम्, शश्वच्शान्तिम्। तद् श्रुत्वा— तच्छुत्वा, तच्श्रुत्वा। वाच् शूरः— वाच्छूरः, वाच्शूरः। मत् श्वशुरः— मच्छ्वशुरः, मच् श्वशुरः।

विशेष ध्यातव्य है कि 'शश्छोऽटि' (पा० ८/४/६२) सूत्र 'स्तोः श्चुना श्चुः' (पा० ८.४.३९) तथा 'खरि च' (पा० ८.४.५४) दोनों की दृष्टि में असिद्ध है। अपि च, 'स्तोः श्चुना०' की दृष्टि में 'खरि च' असिद्ध है। अतः सर्व प्रथम श्चुत्व, फिर चर्त्व तथा अन्त में छत्व होगा।

७७. [६]**मोऽनुस्वारः**[१] (८/३/२३)

मान्तस्य पदस्यानुस्वारो हलि। हरिं वन्दे।

म इति— हल् परे होने पर मकारान्त पद के स्थान पर अनुस्वार हो।

'हरिम् वन्दे'— यहाँ सम्पूर्ण पद के स्थान पर आदेश प्राप्त होने पर 'अलोऽन्त्यस्य' के अनुसार अन्त्य मकार को अनुस्वार होकर 'हरिं वन्दे' रूप सिद्ध हुआ।

अन्य उदाहरण— ग्रामम् गच्छति-ग्रामं गच्छति। गुरुम् नमामि-गुरुं नमामि। शिवम् भजामि— शिवं भजामि।

७८. [६]**नश्चापदान्तस्य**[६] **झलि**[७] (८/३/२४)

नस्य मस्य चाऽपदान्तस्य झल्यनुस्वारः। यशांसि, आक्रंस्यते। झलि किम्-मन्यसे।

न इति— अपदान्त नकार तथा मकार से झल् के परे रहते उनके स्थान पर अनुस्वार हो।

'यशान् सि'— यहाँ 'यशान्' अपद है। अतः नकार पदान्त में नहीं है। अब नकार के स्थान पर झल् (स्) परे रहते अनुस्वार होकर 'यशांसि' रूप सिद्ध हुआ।

'आक्रम् स्यते'— यहाँ पूर्ववत् अपद होने से 'म्' के स्थान पर अनुस्वार होकर 'आक्रंस्यते' रूप बना। 'मन् यसे'— यहाँ 'मन्' पद नहीं है। अतः 'न्' अपदान्त है, परन्तु इससे परे यकार है, जो 'झल्' नहीं है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा अनुस्वार नहीं होगा। सूत्र में 'झलि' ऐसा कहने का फल यही है, ताकि 'मन्यसे' में अनुस्वार न हो।

अन्य उदाहरण— स्रोतान् सि— स्रोतांसि। मनान् सि— मनांसि। संगम् स्यते— संगंस्यते।

७९. [६]**अनुस्वारस्य ययि**[७] **परसवर्णः**[१] (८/४/५७)

स्पष्टम्। शान्तः।

अनुस्वारस्येति— 'यय्' परे रहते अनुस्वार के स्थान पर परसवर्ण हो।

अनुस्वार स्थानी है तथा परसवर्ण आदेश है। अतः नासिका स्थान साम्य होने के कारण आदेश के रूप में वर्गों के पञ्चम वर्ण होंगे। 'शाम् तः'— यहाँ 'नश्चापदा०'— के द्वारा अनुस्वार तथा अनुस्वार को प्रकृत सूत्र के द्वारा तकार का परसवर्ण (नकार) हो गया। शाम् तः— शांतः— शान्तः।

अन्य उदाहरण— शम् का— शङ्का। अम् कितः— अङ्कितः। कुम् ठितः— कुण्ठितः। गुम् फितः— गुम्फितः। उम्-छितः— उञ्छितः। नम् दितः — नन्दितः। गम् गा— गङ्गा।

८०. **वॉ पदान्तस्य**[६] **(८/४/५८)**

त्वङ्करोषि, त्वं करोषि।

वेति-पदान्त अनुस्वार के स्थान पर विकल्प से परसवर्ण हो 'यय्' परे रहते।

'त्वम् करोषि'— यहाँ 'त्वम्' पद है तथा मकार पदान्त में है। मोऽनुस्वारः से पदान्त मकार को अनुस्वार हुआ। इस पदान्त में स्थित अनुस्वार के स्थान पर प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प से अनुनासिक होगा। त्वम् करोषि-त्वं करोषि— त्वङ्करोषि तथा पक्ष में 'त्वं करोषि'।

८१. [६]**मो राजि**[७] **समः**[६] **क्वौ**[७] **(८/३/२५)**

क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात्। सम्राट्।

म इति— 'क्विप्' प्रत्ययान्त राज् धातु परे रहते 'सम्' के मकार के स्थान पर 'म्' हो तथा अनुस्वार न हो। 'सम् राट्'— यहाँ 'राट्' क्विप् प्रत्ययान्त शब्द है। उसके परे रहते मकार के स्थान पर 'मोऽनुस्वारः' से प्राप्त होने वाले अनुस्वार का प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध हो गया। अब 'सम्राट्' रूप बना।

८२. [७]**हे मपरे**[७] **वॉ (८/३/२६)**

मपरे हकारे परे मस्य मो वा। किम्ह्मलयति, किं ह्मलयति।

(वा०) यवलपरे यवला वा। कियँ ह्यः, किं ह्यः। किवँ ह्वलयति, किं ह्वलयति। किलँ ह्लादयति, किं ह्लादयति।

ह इति— मकार है परे जिसके ऐसे हकार के परे रहते मकार के स्थान पर विकल्प से मकार हो।

यहाँ तीन शर्तें हैं —

१. म् के स्थान पर अनुस्वार हो। २. स्थानी म् से पर ह् हो। ३. इस ह् से परे पुनः म् हो। अतः वर्णों की स्थिति इस प्रकार होगी— म् (स्थानी) + ह् (निमित्त) + म् = म् आदेश।

यवलेति— यकार, वकार, लकार परे है जिसके ऐसे हकार के परे रहते मकार के स्थान पर विकल्प से य्, व्, ल् आदेश होंगे। चूँकि स्थानी अनुनासिक है, अत: आदेश भी अनुनासिक (यँ, वँ, लँ) ही होंगे। 'किम् ह्मलयति'— यहाँ 'किम्' का मकार स्थानी है। इससे परे हकार है जिससे परे पुन: मकार है। अत: प्रकृत सूत्र के द्वारा पूर्व 'म्' के स्थान पर 'म्' ही रह गया। किम् ह्मलयति। पक्ष में 'मोऽनुस्वार:' के द्वारा अनुस्वार होकर 'किं ह्मलयति' होगा। किम् ह्य:'— ऐसी स्थिति में प्रकृत वार्तिक के द्वारा मकार के स्थान पर अनुनासिक आदेश हो गया। कि यँ ह्य:। पक्ष में अनुस्वार होकर 'किं ह्य:' बना

'किम् ह्वलयति'— यहाँ पूर्ववत् प्रक्रिया होकर 'किवँ ह्वलयति' बना तथा पक्ष में 'किं ह्वलयति' हुआ। इसी प्रकार 'किम् ह्लादयति'— किलँ ह्लादयति तथा 'किं ह्लादयति' हुआ।

८३. [७]नपरे न:[१] (८/३/२७)

नपरे हकारे मस्य नो वा। किन् ह्नुते। किं ह्नुते।

नपर इति— 'न्' है परे जिसके ऐसे हकार के परे रहते मकार के स्थान पर विकल्प से नकार हो।

'किम् ह्नुते'— यहाँ मकार से परे 'ह्' है जिसके परे 'न्' है। अत: मकार को नकार आदेश हुआ। 'किन् ह्नुते'। पक्ष में मोऽनुस्वार: से अनुस्वार 'किं ह्नुते' रूप।

८४. [५]ड: [७]सि धुट्[१] (८/३/२९)

डात्परस्य सस्य धुड् वा।

ड इति— डकार से पर सकार को 'धुट्' आगम विकल्प से हो। 'धुट्' का 'उट्' इत्संज्ञक है। अत: यह टित् है। 'ड:' इस पद में पंचमी है। अत: 'तस्मादित्यु०' परिभाषा के बल पर उक्त कार्य (धुट् आगम) पर को होना चाहिए। परन्तु 'सि' पद में सप्तमी है। अत: 'तस्मिन्नि०' परिभाषा के बल पर सूत्रोक्त कार्य पूर्व को होना चाहिए। अत: शङ्का होती है कि कार्य पूर्व को हो या पर को। एक परिभाषा है कि दो प्रकार की विभक्तियों का निर्देश होने पर पंचमी विभक्ति बलवान् होती है। (द्र० उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्।) अत: यहाँ पञ्चमी को प्रधान मान कर उससे पर को सूत्रोक्त कार्य होगा।

८५. [१]आद्यन्तौ टकितौ[१] (१/१/४५)

टित्कितौ यस्योक्तौ, तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्त:। षट्त् सन्त:, षट् सन्त:।

आद्येति— टित् तथा कित् आगम क्रमश: स्थानी के आदि तथा अन्त में अवयव स्वरूप हों।

'षड् सन्त:'— यहाँ डकार से परे सकार को 'धुट्' हो गया। 'टित्' होने से (सकार का) आदि अवयव होगा। षड् धुट् (>ध्) सन्त:'। 'खरि च' के द्वारा धकार

को तकार तथा डकार को टकार होकर 'षट्त् सन्तः' बन गया। पक्ष में धुट् आगम का अभाव होकर चर्त्व होकर 'षट् सन्तः' बन गया।

८६. [६]ङ्णोः कुक्[१] टुक्[१] शरि[७] (८/३/२८)

वा स्तः। प्राङ्षष्ठः, प्राङ्क्ष्ठः।

(वा०) चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्। प्राङ्ख्षष्ठः, प्राङ्क्षष्ठः, प्राङ्षष्ठः। सुगण्ठ्षष्ठः, सुगण्ट्षष्ठः, सुगण्षष्ठः।

ङ्ण इति— शर् परे रहते ङ्कार तथा णकार को क्रमशः कुक् तथा टुक् आगम विकल्प से हों।

कुक् तथा टुक् के ककार की 'हलन्त्यम्' के द्वारा तथा उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' के द्वारा इत् संज्ञा होकर उनका लोप हो जाता है। अन्त में 'क्' तथा 'ट्' शेष रहता है। 'शत्रुवदादेशः मित्रवदागमः' के अनुसार आदेश स्थानी को हटाकर होता है, अतः उसे शत्रु की तरह कहा गया है तथा आगम स्थानी को कोई हानि न पहुँचाकर वहाँ स्थित होता है, अतः उसे मित्र की तरह कहा गया है।

'प्राङ् षष्ठः'— यहाँ 'ङ्णोः कुक् टुक् शरि' के द्वारा 'कुक्' आगम प्राप्त हुआ। चूँकि 'कुक्' आगम 'कित्' है, अतः यह स्थानी (ङकार) के अन्त में स्थित होकर 'प्राङ् कुक् (>क्) षष्ठः'। पक्ष में यह आगम नहीं होगा। अब 'प्राङ् क् षष्ठः' में क् ष् के संयोग से 'क्ष्' बनकर 'प्राङ्क्षष्ठः' रूप बना। जहाँ आगम नहीं होगा, वहाँ 'प्राङ्षष्ठः' ऐसा रूप होगा।

अन्य उदाहरण— प्राङ् शेते-प्राङ् क् शेते, प्राङ्शेते। सुगण् सरति-सुगण् ट् सरति, सुगण् सरति।

चय इति— 'चय्' के स्थान पर द्वितीय वर्ण हों, शर् परे रहते 'पौष्करसादि' आचार्य के मत में। यह कार्य वैकल्पिक होगा। अतः 'प्राङ् क् षष्ठः'- यहाँ विकल्प से ककार के स्थान पर खकार होगा। प्राङ्क्षष्ठः (कुक् आगम, द्वितीयवर्ण अभाव पक्ष), प्राङ्ख्षष्ठः (कुक् आगम, द्वितीय वर्ण पक्ष), प्राङ्षष्ठः(कुक् अभाव पक्ष) रूप सिद्ध होंगे।

इसी प्रकार 'सुगण्सरति' 'सुगण् ट् सरति' तथा 'सुगण्ठ् सरति' रूप बनेंगे।

८७. [५]नश्च (८/३/३०)

नान्तात् परस्य सस्य धुड् वा। सन् त् सः, सन् सः।

न इति— नकारान्त पद से पर सकार को धुट् आगम विकल्प से हो।

'सन् सः'— यहाँ नकार से परे सकार को धुट् (>ध्) आगम हुआ। 'आद्यन्तौ०' से आदि अवयव हो गया। 'सन् ध् सः'। 'खरि च' के द्वारा धकार को तकार 'सन् त् सः'। पक्ष में 'सन् सः' हुआ।

अन्य उदाहरण— भवान् सदसि- भवान् सदसि भवान् त्सदसि। विद्वान् सहते- विद्वान् सहते- विद्वान्त्सहते।

८८. [७]शि तुक्[१] (८/३/३१)

पदान्तस्य नस्य शे परे तुग् वा। सञ्शम्भुः, सञ्छम्भुः, सञ्च्शम्भुः, सञ्च्छम्भुः।

शीति— शकार परे रहते पदान्त नकार को 'तुक्' आगम विकल्प से हो।

'सन् शम्भुः'— यहाँ 'सन्' पद है। नकार पदान्त में है। शकार परे है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा 'तुक्' आगम हो गया। आगम कित् होने से नकार का अन्त्यावयव हो गया। 'सन्त् शम्भुः' पहले 'स्तोः श्चुना०' के द्वारा तकार के स्थान पर चकार तथा पुनः नकार को श्चुत्व होकर 'सन् त् शम्भुः' -सन् च् शम्भुः-सञ् च् शम्भुः बन गया। अब 'शश्छोऽटि' से झय् (चकार) से उत्तरवर्ती अट् परक शकार को विकल्प से छकार होकर 'सञ् च् छम्भुः' तथा 'सञ्च् शम्भुः' रूप बनेगें। पूर्व पक्ष में 'झरो झरि सवर्णे' के द्वारा चकार का लोप होकर 'सञ्छम्भुः' बन गया। जहाँ तुक् आगम नहीं होगा, वहाँ 'स्तोः श्चुना०' के द्वारा श्चुत्व होकर 'सञ्शम्भुः' रूप बना।

चार रूप इस प्रकार बनेंगे— १. सञ् शम्भुः (तुक् आगम अभाव) २. सञ्छम्भुः (तुक् आगम, छत्व, पक्ष, झर् लोप पक्ष) ३. सञ्च् शम्भुः (तुक् आगम, छत्व अभाव, झर्लोप अभाव) ४. सञ्च् छम्भुः (तुक् आगम, छत्व पक्ष, झर् लोप अभाव पक्ष)

अन्य उदाहरण— भवान् शयितः-भवाञ् शयितः, भवाञ्च् शयितः, भवाञ् छयितः, भवाञ्च् छयितः। पुत्रान् शाययति- पुत्राञ्शाययति, पुत्राञ्च्शाययति, पुत्राञ्छाययति, पुत्राञ्च् छाययति।

८९. [५]ङमो [५]ह्रस्वादचि[७] ङमुण्[१] नित्यम् (८/३/३२)

ह्रस्वात्परो यो ङम्, तदन्तं यत्पदम्, तस्मात् परस्याचो ङमुट्। प्रत्यङ्ङात्मा। सुगण्णीशः। सन्नच्युतः।

ङम इति— ह्रस्व स्वर से पर ङम् (ङ्, ण्, न्), हो तथा वह ङम् हैं जिसके अन्त में ऐसा पद, उस पद से परे अच् को 'ङमुट्' आगम नित्य हो।

'ङमुट्' का 'ट्' तथा 'उकार' इत्संज्ञक हैं। 'ङमुट्' का ङम्' भी प्रत्याहार है। ङ्, ण्, न् को ङ्, ण्, न् यथासंख्य होते हैं। अतः 'ङुट्', 'णुट्' तथा 'नुट्' ये आगम क्रमशः होंगे। 'प्रत्यङ् आत्मा'— यहाँ ह्रस्व स्वर (अकार) से पर 'ङ्' है, उससे परे अच् (आकार) भी है। अतः 'ङुट्' (ङ्) आगम आदि अवयव बनकर 'प्रत्यङ्ङात्मा' रूप हुआ। इसी प्रकार 'सुगण् ईशः' -यहाँ पर 'णुट्' (ण्) आगम आदि अवयव बन कर 'सुगण्णीशः' रूप सिद्ध हुआ। सन् अच्युतः। नुट् आगम। सन् न् अच्युतः।

९०. [६]समः [७]सुटि (८/३/५)

समो रुः सुटि।

सम इति— सम् के मकार को 'रु' आदेश हो 'सुट्' परे रहते। 'रु' का उकार इत् है।

'सम् स्कर्ता' यहाँ 'स्कर्ता' पद में 'सुट्' है। अतः 'सम्' के मकार को 'रु'

होकर 'सरु स्कर्त्ता' बन गया।

९१. ॲत्रानुनासिकः[१] पूर्वस्य[६] तुँ वॉ (८/३/२)

अत्र रुप्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा।

अत्रेति— 'रु' के प्रकरण में 'रु' से पूर्व वर्ण को विकल्प से अनुनासिक हो।

'रु के प्रकरण में' का यह अभिप्राय है कि 'रु' के दो प्रकार हैं। एक 'ससजुषो रुः ८/२/६६' सूत्रवाला और दूसरा 'मतुवसो रुः सम्बुद्धौ' ८/३/१ सूत्र से 'कानाम्रेडिते ८/३/९२' सूत्र तक है। इस दूसरे प्रकरण के सूत्रों से ही विहित 'रु' से पूर्व वर्ण को अनुनासिक होगा। 'स रु स्कर्त्ता' ऐसा होने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा 'रु' से पूर्ववर्ती अकार को अनुनासिक करने पर 'सँ रु स्कर्त्ता पक्ष में 'सरु स्कर्त्ता'।

९२. [५]अनुनासिकात्परो[१]ऽनुस्वारः[१] (८/३/४)

अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात्परोऽनुस्वारागमः।

अनुनासिकादिति— अनुनासिक वाले पक्ष को छोड़कर 'रु' से पूर्व वर्ण को अनुस्वार आगम हो।

९३. [७]खरवसानयोर्विसर्जनीयः[१] (८/३/१५)

खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः।

(वा०) संपुङ्कानां सो वक्तव्यः। सँस्स्कर्ता, संस्स्कर्ता।

खरिति-खर् परे रहते और अवसान में पदान्त रकार को विसर्ग हो। उपर्युक्त दोनों स्थलों में रेफ से खर् (सकार) परे है, अतः रेफ को विसर्ग हो गया।

समिति-सम्, पुम् और कान् शब्दों के विसर्ग के स्थान पर सकार हो।

'सरु स्कर्त्ता'— यहाँ 'रु' से पूर्ववर्ती अकार को क्रमशः अनुनासिक और अनुस्वार करने पर 'सँरुस्कर्त्ता', तथा 'संर् स्कर्त्ता'। 'सँः स्कर्त्ता', 'संः स्कर्त्ता'। इन दोनों स्थितियों में 'विसर्जनीयस्य सः' से प्राप्त विसर्ग को बाध कर 'वा शरि' से विकल्प से विसर्ग हुआ। तब प्रस्तुत वार्तिक से नित्य सकारादेश होगा। 'सँःस्कर्त्ता' तथा 'संः स्कर्त्ता'-इन दोनों स्थलों पर वार्तिक के द्वारा विसर्ग के स्थान पर सकार होकर 'सँस्स्कर्त्ता' तथा 'संस्स्कर्त्ता' रूप सिद्ध होंगे।

इसी प्रकार 'सम् स्कृतम्' से 'सँस्स्कृतम्' तथा 'संस्स्कृतम्' रूप बनेंगे।

९४. [६]पुमः[७] खय्यम्परे[७] (८/३/६)

अम्परे खयि पुमो रुः। पुँस्कोकिलः पुंस्कोकिलः

पुम इति-अम्परक खय् परे रहते पुम् के स्थान में 'रु' हो। 'अलोऽन्त्यस्य' के अनुसार 'पुम्' के अन्त्य वर्ण (म्) को कार्य हो।

'पुम् कोकिलः' में 'पुम्' के पश्चात् 'खय्' (ककार) है और उससे परे 'अम्' (ओकार) है। यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा 'रु' होकर 'पु रु कोकिलः' बन गया। अब 'रु'

से पूर्ववर्ती स्वर को 'अत्रानुनासिक०' से अनुनासिक तथा पक्ष में 'अनुनासिकात्०' से अनुस्वार होकर 'पुँरु कोकिलः' तथा 'पुं रु कोकिलः' बनेंगे। अब 'र्' के स्थान पर 'खरवसान०' से विसर्ग तथा विसर्ग को 'सम्पुङ्काना०' वार्तिक से सकार होकर 'पुँस्कोकिलः' तथा 'पुंस्कोकिलः' रूप बनेंगे।

इसी प्रकार 'पुम् चरित्रम्'–यहाँ 'पुँश्चरित्रम् तथा 'पुंश्चरित्रम्' रूप होंगे।

९५. [६]**नश्छव्यप्रशान् (८/३/७)**

अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुः। न तु प्रशान् शब्दस्य।

न इति–अम्परक छव् परे रहते नान्त पद के स्थान पर 'रु' होता है, 'प्रशान्' शब्द को नहीं होता।

९६. [६]**विसर्जनीयस्य सः**[१] **(८/३/३४)**

खरि। चक्रिँस्त्रायस्व, चक्रिंस्त्रायस्व। अप्रशान् किम्- प्रशान्तनोति। पदान्तस्येति किम्-हन्ति।

विसर्जनीयस्येति–खर् परे रहते विसर्ग को सकार आदेश हो।

'चक्रिन् त्रायस्व'– में पदान्त नकार के परे छव् (तकार) है तथा उसके पश्चात् अम् (रकार) भी है। अतः यहाँ नकार को 'रु' होकर 'चक्रि रु त्रायस्व' बन गया। अब अनुनासिक तथा पक्ष में अनुस्वार होकर –'चक्रिँ रु त्रायस्व' 'चक्रिं रु त्रायस्व' बनेंगे। अब 'रु' के स्थान पर विसर्ग तथा विसर्ग के स्थान पर सकार होकर 'चक्रिँस्त्रायस्व' तथा 'चक्रिंस्त्रायस्व' बनेंगे।

पूर्व सूत्र में विहित कार्य 'प्रशान्' के विषय में निषेध न किया होता तो 'प्रशान् तनोति' में 'प्रशांस्तनोति' होता, जो अभीष्ट नहीं है। अतः सूत्र में 'अप्रशान्' का पाठ किया गया। सूत्रकार्य पदान्त में ही हो अन्यथा उक्त कार्य 'हन् ति' यहाँ होकर 'हंस्ति' होगा। अतः पूर्व सूत्र में 'पदान्त' ऐसा कहा गया, क्योंकि 'हन्' पद नहीं है।

९७. [६]**नॄन् पे**[७] **(८/३/१०)**

नॄन् इत्यस्य रुर्वा पे।

नॄनिति– 'नॄन्' को विकल्प से 'रु' हो पकार परे रहते। 'नॄन् पाहि' –यहाँ रुत्व तथा अत्रानुनासिकः पूर्वस्य से अनुनासिक व अनुनासिकात्परो० से अनुस्वार और दोनों पक्षों में खरवसानयोर् विस० से विसर्ग होकर 'नॄँः पाहि' तथा 'नॄंः पाहि' बनेंगे। अब 'विसर्जनीयस्य सः' इसके द्वारा सकार प्राप्त हुआ।

९८. [७]**कुप्वोः ᳲ क ᳲ पौ**[१] **च (८/३/३७)**

कवर्गे पवर्गे च विसर्गस्य ᳲ क ᳲ पौ स्तः। चाद्विसर्गः। नॄँ ᳲ पाहि, नॄं ᳲ पाहि, नॄँः पाहि, नॄंः पाहि, नॄन्पाहि।

कुप्वोरिति-'कु' तथा 'पु' परे रहते विसर्ग को क्रमशः जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय हो। सूत्र में 'च' का पाठ सिद्ध करता है कि पक्ष में विसर्ग भी हो। प्रकृत सूत्र के द्वारा उपध्मानीय तथा पक्ष में विसर्ग होकर चार रूप बनेंगे—

नॄँ पाहि, नॄं पाहि, नॄँःपाहि, नॄंःपाहि। रुत्व के अभाव पक्ष में 'नॄन् पाहि' बनेगा।

९९. [६]**तस्य** [१]**परमाम्रेडितम्**[१] **(८/१/२)**

द्विरुक्तस्य परमाम्रेडितं स्यात्।

तस्येति- जो दो बार कहा गया है, उसके पर भाग की आम्रेडित संज्ञा हो।

१००. [६]**कानाम्रेडिते**[६] **(८/३/१२)**

कान्नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते। काँस्कान्। कांस्कान्।

कानिति- आम्रेडित परे रहते 'कान्' शब्द के नकार को 'रु' हो।

'कान् कान्'-यहाँ 'कान्' शब्द दो बार आया है। अतः उत्तरवर्ती 'कान्' शब्द की 'तस्य परमाम्रेडितम्' सूत्र के द्वारा आम्रेडित संज्ञा हो गई। इस आम्रेडित के परे रहते पूर्ववर्ती कान् के नकार को प्रकृत सूत्र के द्वारा 'रु' आदेश हो गया। तब अनुनासिक व अनुस्वार होकर 'काँस्कान्' तथा 'कांस्कान्' ये दो रूप बने।

अन्य उदाहरण-कस्मिन् चित्-कस्मिँश्चित्, कस्मिंश्चित्।

१०१. [७]**छे च** **(६/१/७२)**

ह्रस्वस्य छे तुगागमः। शिवच्छाया।

छे चेति- छकार परे रहते ह्रस्व वर्ण को तुक् आगम हो।

तुक् कित् है, अतः अन्त्यावयव होगा। 'शिव छाया' -यहाँ छकार परे है। अकार को तुगागम हो गया। 'शिव त् छाया'। 'स्तोः श्चुना०' के द्वारा श्चुत्व होकर 'शिवच्छाया'।

१०२. [५]**पदान्ताद्वा** **(६/१/५६)**

दीर्घात्पदान्ताच्छे तुग् वा। लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मीछाया।

इति हल्सन्धिः।

पदान्तादिति-छकार परे रहते पदान्त दीर्घ को तुगागम विकल्प से हो।

'लक्ष्मी छाया'-यहाँ छकार परे है। ईकार को विकल्प से तुगागम होगा। आगम पक्ष में 'लक्ष्मी त् छाया-लक्ष्मीच्छाया' (श्चुत्व होकर)। आगम अभाव पक्ष में- 'लक्ष्मीछाया' होगा।

।। हल् सन्धि समाप्त ।।

अथ विसर्गसन्धिः

१०३. [६]**विसर्जनीयस्य सः**[१] (८/३/३३)

खरि। विष्णुस्त्राता।

विसर्जनीयस्येति- खर् परे रहते विसर्जनीय के स्थान पर सकार आदेश हो।

'विष्णुः त्राता'-यहाँ विसर्ग से परे खर् (त्) है। अतः सकार होकर 'विष्णुस्त्राता' हो गया।

अन्य उदाहरण— रामः तिष्ठति-रामस्तिष्ठति। देवः तत्र-देवस्तत्र। छात्रः चलति-छात्रस् चलति- छात्रश्चलति (श्चुत्व होकर)।

१०४. **वॉ शरि**[७] (८/३/३६)

शरि विसर्गस्य विसर्गो वा। हरिः शेते, हरिश्शेते।

वेति-शर् परे रहते विसर्ग के स्थान पर विकल्प से विसर्ग हो।

'हरिः शेते'- यहाँ विसर्ग से परे शकार शर् है। अतः विकल्प से विसर्ग होगा। हरिःशेते। विसर्ग अभाव पक्ष में खर् परे रहते 'विसर्जनीयस्य सः'— इससे सकार तथा 'स्तोः श्चुना श्चुः' के द्वारा श्चुत्व होकर 'हरिस्शेते-हरिश्शेते' रूप बन गया।

अन्य उदाहरण— बालः शेते-बालः शेते, बालश्शेते।

१०५. [६]**ससजुषो** [१]**रुः** (८/२/६६)

पदान्तस्य सस्य सजुषश्च रुः स्यात्।

१०५. सेति– पदान्त सकार और सजुष् के सकार के स्थान पर 'रु' हो।

१०६. [५]**अतो** [६]**रो** [१]**रप्लु** [५]**तादप्लुते**[७] (६/१/१०९)

अप्लुतादतः परस्य रोरुः स्यादप्लुतेऽति। शिवोऽर्च्यः।

अत इति-अप्लुत अकार परे रहते अप्लुत अकार से परे 'रु' को 'उ' आदेश हो।

'शिवस् अर्च्यः'- यहाँ 'ससजुषोः रुः' के द्वारा सकार के स्थान पर 'रु' तथा 'अतोरुरप्लु०' के द्वारा 'रु' को 'उ' आदेश हुआ। शिव रु अर्च्यः- शिव उ अर्च्यः। अब 'आद्गुणः' के द्वारा गुण तथा 'एङः पदान्तादति' के द्वारा पूर्वरूप हो गया। शिवो अर्च्यः-शिवोऽर्च्यः।

'अतोरोरप्लु०' (पा० ६.१.११३) की दृष्टि में 'ससजुषो रुः' (पा० ८.२.६६) सूत्र असिद्ध है। अतः 'शिव रु अर्च्यः' इस स्थिति 'अतो रो०' की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसका समाधान है कि वचनसामर्थ्य से रुत्वविधान असिद्ध नहीं होता है। (द्र० काशिका— रुत्वमस्याश्रयत्वात् पूर्वत्रासिद्धमित्यसिद्धं न भवति)

अन्य उदाहरण— बालः अयम्-बालोऽयम्। देवः अस्ति- देवोऽस्ति।

१०७. [७]**हशि चॅ** (६/१/११०)

तथा। शिवो वन्द्यः।

हशीति-हश् परे रहते अप्लुत अकार से पर 'रुः' को 'उ' आदेश हो।

'शिवस् वन्द्यः'- 'ससजुषो रुः' के द्वारा सकार को 'रु' तथा 'हशि च' के द्वारा 'रु' को 'उ' आदेश हो गया। शिवस्-शिवरु-शिव उ। अब 'आद्गुण': के द्वारा गुण होकर 'शिवो वन्द्यः' बन गया।

अन्य उदाहरण— बालः हसति- बालो हसति। रामः धावति- रामो धावति। देवः वदति- देवो वदति।

१०८. **भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य**[६] [१]**योऽशि**[७] (८/३/१७)

एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशोऽशि। देवा इह, देवायिह। भोस् भगोस् अघोस् इति सान्ता निपाताः। तेषां रोर्यत्वे कृते-

भो इति-भोस्, भगोस्, अघोस् तथा अवर्ण पूर्व 'रु' को यकार आदेश हो अश् परे रहते।

'देवास् इह'-यहाँ 'ससजुषो रुः' के द्वारा 'रु' हुआ। तब अश् इकार परे रहते 'रु' से पूर्व अवर्ण आकार है। अतः 'भोस् भगोस्०' के द्वारा 'रु' को यकारादेश हो गया। देवा रु इह- 'देवाय् इह' 'लोपः शाकल्यस्य' के द्वारा यकार का विकल्प से अश् परे रहते लोप हुआ। देवा इह, देवायिह।

यथा-छात्राः आगताः-छात्रा आगताः, छात्रायागताः। बालः एति-बाल एति, बालयेति।

भोस्, भगोस् तथा अघोस् ये सकारान्त निपात हैं।

१०९. [७]**हलि सर्वेषाम्**[६] (८/३/२२)

भो भगो अघो अपूर्वस्य यस्य लोपः स्याद्धलि। भो देवाः। भगो नमस्ते। अघो याहि।

हलीति-भोस्, भगोस्, अघोस्, अवर्ण पूव वाले यकार का लोप हो हल् परे रहते।

'भोस् देवाः'-यहाँ रुत्व होकर 'भोभगो०' सूत्र के द्वारा यकार आदेश हो गया। भो रु देवाः- भो य् देवाः। 'हलि सर्वेषाम्' के द्वारा नित्य लोप होकर 'भो देवाः' बन गया।

'भगोस् नमस्ते'- यहाँ 'ससजुषो रुः' के द्वारा 'रु' तथा 'भोभगो०' के द्वारा 'रु' को यकार होकर 'हलि सर्वेषाम्' के द्वारा नित्य लोप हो गया। भगो रु नमस्ते- भगो य् नमस्ते- भगो नमस्ते। 'अघोस् याहि'- यहाँ पूर्ववत् प्रक्रिया होकर 'अघो याहि' बन गया। भोस् का अर्थ साधारण बुलाने में, भगोस् का आदरपूर्वक बुलाने में तथा अघोस् का अनादर के लिए प्रयोग होता है। अघोस्= अरे (दुष्ट)।

११०. [६]**रोऽसुपि**[७] (८/२/६९)

अह्नो रेफादेशो न तु सुपि। अहरहः। अहर्गणः।

र इति- अहन् शब्द के नकार को रेफ हो, परन्तु सुप् परे रहते न हो।

'अहन् अहन्'- यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा रेफ होकर 'अहरहर्' रूप सिद्ध हुआ। तब 'खरवसान०' से अन्त्य रेफ होकर। अहरहः।

'अहन् गणः'-यहाँ नकार के स्थान पर रेफ होकर 'अहर् गणः' हो गया। चूँकि 'हशि च' के द्वारा उकार इत्संज्ञक 'रु' को ही उकार आदेश होता है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा विधीयमान रेफ को उकार नहीं होता। 'प्रातर् अत्र' यहाँ रेफ स्वतन्त्र है तथा 'रु' निमित्तक नहीं है। अतः उकार आदेश नहीं होगा। 'प्रातरत्र' होगा।

१११. [६]रो रि[७] (८/३/१४)

रेफस्य रेफे परे लोपः।

र इति-रेफ परे रहते रेफ का लोप हो।

'पुनर् रमते'-यहाँ 'रो रि' सूत्र के द्वारा रेफ परे रहते पूर्ववर्ती रेफ का लोप हो गया। 'पुन रमते'।

११२. [७]ढ्रलोपे पूर्वस्य[६] [१]दीर्घोऽणः[६] (६/३/११०)

ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याणो दीर्घः। पुना रमते। हरी रम्यः। शम्भू राजते। अणः किम्-तृढः, वृढः। 'मनस् रथः' इत्यत्र रुत्वे कृते 'हशि च' इत्युत्वे 'रोरि' इति लोपे च प्राप्ते-

ढ्रेति-लोप निमित्तक ढकार तथा रेफ परे रहते पूर्व अण् वर्ण को दीर्घ होता है।

पूर्वोक्त 'पुन रमते' रूप में पूर्व रेफ का लोप निमित्तक रेफ (रमते) आगे है, अतः पूर्ववर्ती अण् अकार को दीर्घ (आकार) होकर 'पुना रमते' सिद्ध हुआ। 'हरिस् रम्यः'- यहाँ रुत्व होकर 'रो रि' से पूर्ववर्ती रेफ का लोप हो गया। अब 'ढ्रलोपे०' के द्वारा पूर्ववर्ती अण् को दीर्घ हो गया। 'हरि रु रम्यः' - 'हरि रम्यः' -'हरी रम्यः'।

इसी प्रकार 'शम्भुस् राजते' में पूर्ववत् प्रक्रिया होकर 'शम्भू राजते' सिद्ध हो गया।

प्रकृत सूत्र में विहित दीर्घ आदेश 'अण्' के स्थान पर ही हो— ऐसा तृढ्ढः-तृढः तथा वृढ्ढः-वृढः की सिद्धि के लिए कहा गया। यदि सूत्र में 'अणः' (अर्थात् अण् के स्थान पर ही हो) नहीं कहा जाता तो 'वृढः' के स्थान पर 'वॄढः' तथा 'तृढः' के स्थान पर 'तॄढः' रूप सिद्ध होते हैं।

अपि च, प्रकृत सूत्र में 'अण्' के विषय में पूर्ववर्ती 'अइउण्' वाला अनुबन्ध ग्रहण किया जाना चाहिए, यदि यहाँ पर पाणिनि को पर णकार ('लण्' वाला) अभिप्रेत होता तो प्रकृत सूत्र में अण् का पाठ व्यर्थ हो जाता। उस अवस्था में 'तॄढः' ऐसा अनिष्ट रूप स्वतः बन जाता। कहा भी है -

परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे, पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः।

ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु।। इति।

अर्थात् इण् प्रत्याहार सर्वत्र पर णकार से और सब सूत्रों में 'अण्' प्रत्याहार पूर्व णकार से लेना चाहिये। केवल 'अणुदित्०' सूत्र में पर णकार से 'अण्' प्रत्याहार लिया

जाता है। यहाँ परणकार से अण् प्रत्याहार लेने में 'तृढः, वृढः' में भी दीर्घ होकर अनिष्ट रूप बन जाता।

अन्य उदाहरण- चक्षुस् रागः- चक्षू रागः। पितुः रागः- पितू रागः। नृपतिर् रक्षति- नृपती रक्षति।

'मनस् रथः'- यहाँ 'ससजुषो रुः' (८.२.६६) के द्वारा 'रु' करने पर 'मन र् रथः' हो गया। अब 'हशि च' (६.१.११०) के द्वारा 'र्' के स्थान पर उकार तथा 'रोरि' (८.३.१४) के द्वारा रेफ का लोप एक साथ प्राप्त होते हैं।

११३. [७]विप्रतिषेधे [१]परं [१]कार्यम् (१/४/२)

तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात्- इति लोपे प्राप्ते 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति 'रो रि' इत्यस्यासिद्धत्वादुत्वमेव। मनोरथः।

३. विप्रतिषेध इति-तुल्य बल वाले सूत्रों की एक साथ प्रवृत्ति होने पर परकार्य हो।

सूत्रों के पूर्व पर सम्बन्धी भाव के लिए अष्टाध्यायी-क्रम लिया जाता है।

'मनर् रथः' यहाँ उकार आदेश तथा रेफ लोप कार्य एक साथ प्रवृत्त होते हैं। अब प्रकृत सूत्र के बल पर परकार्य अर्थात् रेफलोप (रो रि ८.३.१४) हुआ। 'मन रथः' हो गया चूँकि 'रो रि '(८.३.१४) का लोप कार्य 'हशि च' (पा० ६.१.११४) के प्रति असिद्ध है। अतः 'हशि च' के द्वारा अब 'रु' (वास्तव में जिसका लोप हो चुका है) के स्थान पर उकार को 'आद् गुणः' से गुण होकर मन उ रथः- मनोरथः सिद्ध हुआ।

११४. [६]एतत्तदोः [१]सुलोपोऽको[६]रनञ्[७] समासे हलि[७] (६/१/१२८)

अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपो हलि, न तु नञ् समासे। एष विष्णुः। स शम्भुः। अकोः किम्-एषको रुद्रः। अनञ् समासे किम्- असः शिवः। हलि किम्- एषोऽत्र।

४. एतदिति-ककार रहित एतद् और तद् शब्द का जो सु (प्रथमा एक वचन का प्रत्यय) उसका लोप होता है, हल् परे रहते। नञ् समास में यह (लोप) न हो।

'एषः विष्णुः' अर्थात् 'एष सु विष्णुः' ऐसी स्थिति में प्रकृत सूत्र के द्वारा सुलोप होकर 'एष विष्णुः' हो गया। 'स सु शम्भुः'-यहाँ पूर्ववत् सुलोप होकर 'स शम्भुः' हो गया।

'अकोः' अर्थात् ककार रहित के स्थान पर हो-ऐसा क्यों कहा? 'एषक सु रुद्रः'- यहाँ 'एषक' एतद् का रूप है, परन्तु ककार युक्त है। अतः प्रकृत सूत्र में 'अकोः' ऐसा नहीं कहा जाता तो यहाँ पर सुलोप होकर 'एषक रुद्रः' ऐसा अनिष्ट रूप हो जाता। 'अकोः' कहने से यहाँ सुलोप न होकर रुत्व, उकारादेश तथा गुण होकर 'एषको रुद्रः' सिद्ध हुआ।

'अनञ् समासे' अर्थात् 'नञ् समास को छोड़कर'-ऐसा क्यों कहा? 'अससु शिवः'-यहाँ 'अस' पद नञ् समास का रूप है। यदि प्रकृत सूत्र में 'अनञ् समासे' न कहा जाता तो यहाँ सुलोप होकर 'अस शिवः' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है जिसकी

निवृत्ति के लिए कहा गया है कि उक्त लोप कार्य नञ् समास से अतिरिक्त में हो। तब 'असः शिवः तथा' असश्शिवः रूप सिद्ध होंगे।

'हलि' अर्थात् 'हल् परे रहते'- ऐसा क्यों कहा? यदि ऐसा न कहा जाता तो स्वर परे रहते भी सुलोप प्राप्त होकर 'एष सु अत्र- एष अत्र' ऐसा अनिष्ट रूप प्राप्त हो जायेगा। 'हलि' ऐसा कहने से 'एष सु अत्र'-यहाँ सुलोप नहीं होगा। रुत्व, उकारादेश, गुणादेश तथा पूर्वरूप होकर 'एषोऽत्र' सिद्ध हुआ।

११५. [१]सोऽचि[७] लोपे[७] चेत्पादपूरणम्[१] (६/१/१३०)

स इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि, पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत। सेममामविड्ढि प्रभृतिम्। सैष दाशरथी रामः।

।।इति विसर्गसन्धिः।।

।।इति पञ्चसन्धिप्रकरणम्।।

५. स इति- पाद पूर्ति के आग्रह से, 'सः' पद के 'सु' का लोप हो अच् परे रहते।

'स सु इमाम्' यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा सु का लोप, 'आद्गुणः' के द्वारा गुण होकर 'सेमाम्' बन गया। यहाँ पादपूर्ति ही मुख्य उद्देश्य है जो सुलोप होने पर सिद्ध हो जाती है।

'स सु एषः'- यहाँ पूर्ववत् सुलोप तथा 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि होकर 'सैषः' बन गया। 'सैष दाशरथी रामः'- यह लौकिक अनुष्टुप् छन्द का पाद है। इसके प्रत्येक पाद में आठ अक्षर होते हैं। यहाँ सुलोप होने से वृद्धि एकादेश होकर आठ अक्षर होते हैं जिससे पाद की पूर्ति हो जाती है।

।।पञ्चसन्धिप्रकरण समाप्त।।

अथ सुबन्ताः

अथ अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम्

११६. [१]अर्थवदधातुर[१] प्रत्ययः[१] प्रातिपदिकम्[१] (१/२/४५)

धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तं च वर्जयित्वा अर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात्।

अर्थवदिति-जो धातु न हो, प्रत्यय न हो तथा प्रत्ययान्त न हो ऐसे अर्थवान् (सार्थक) शब्द प्रातिपदिक संज्ञक हो।

'अधातुः' अर्थात् जो धातु न हो। इस प्रकार 'अपठन्' की प्रातिपदिक संज्ञा न हुई, अन्यथा प्रातिपादिक संज्ञा होकर नकार का लोप प्राप्त हो जायेगा। 'अप्रत्ययः' अर्थात् प्रत्यय को छोड़कर हो अन्यथा 'रामेषु' पद में 'सुप्' की प्रातिपदिक संज्ञा हो जायेगी।

'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' अर्थात् प्रत्यय ग्रहण के सम्बन्ध में तदन्त का ग्रहण किया जाता है। अतः 'प्रत्ययान्त की उक्त संज्ञा न हो'-ऐसा कहा गया। ऐसा न कहने से 'नदीभिः' (प्रत्ययान्त) सम्पूर्ण शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा हो जायेगी और 'सुपो धातुप्रतिपदिकयोः' के द्वारा सुप् विभक्ति का लोप हो जायेगा।

'अर्थवद्' अर्थात् 'सार्थक हो'-ऐसा कहा गया है। यदि अर्थहीन शब्द की उक्त संज्ञा हो जायेगी तो अनर्थ हो जायेगा। तब 'धन' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा के साथ-साथ इसके अवयव स्वरूप ध्, अ, न्, अ इन निरर्थक वर्णों की भी प्रातिपदिक संज्ञा हो जायेगी। उन वर्णों की उक्त संज्ञा न हो इसलिए 'अर्थवद्' ऐसा कहा गया।

११७. [१]कृत्तद्धितसमासाश्च (१/२/४६)

कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च तथा स्युः।

कृदिति- कृत् प्रत्ययान्त, तद्धित प्रत्ययान्त तथा समास भी प्रातिपदिक संज्ञक हों।

पूर्व सूत्र में प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा वर्जित की गयी है। अतः प्रकृत सूत्र में कृत् प्रत्ययान्त तथा तद्धित प्रत्ययान्त का ग्रहण किया गया है।

कृदन्त-कर्त्ता, गायक, कारक आदि कृदन्त होने के कारण इनकी प्रातिपदिक संज्ञा हो गई। तद्धितान्त शब्द का अर्थ है- तद्धित प्रत्यय से युक्त। यहाँ ध्यान रहे कि कुछ प्रत्यय (अकच्) टि के स्थान पर तो कुछ प्रत्यय (नहच) पूर्व में भी होते हैं। औपगवः तथा नाहायनः तद्धितान्त शब्द है। समास। यथा - राजपुरुषः।

११८. [१]प्रत्ययः (३/१/१)

प्रत्यय इति- 'सु' आदि की प्रत्यय संज्ञा हो। पूर्व सूत्र तथा प्रकृत सूत्र अधिकार सूत्र हैं।

११९. [1]**परश्च (३/१/२)**

इत्यधिकृत्य। ङ्यन्ताद् आबन्तात् प्रातिपदिकात् च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः।

पर इति- यह अधिकार सूत्र है। ङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिक से परे 'सु' आदि प्रत्यय हों।

अधिकार सूत्र की परिभाषा इस प्रकार है-

'स्वदेशे वाक्यार्थबोधशून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थबोधकत्वमधिकारत्वम्'-अर्थात् अपने स्थान पर जिन सूत्रों का अपना अपना अर्थ बोध नहीं होता परन्तु दूसरे स्थान (सूत्रों) में जाकर उनके साथ मिलकर अपना अर्थबोध कराते हैं, उन्हें अधिकार सूत्र कहते हैं।

ङ्यन्त के द्वारा ङीप्, ङीष्, ङीन् तथा आबन्त के द्वारा टाप्, चाप् लिङ्ग विधायक प्रत्ययों का ग्रहण होता है। ये न कृत् है तथा न ही तद्धित हैं। अतः इनकी (कृत्तद्धित० से) प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो सकती। इनसे 'सु' की प्राप्ति प्रकृत सूत्र द्वारा कही है। 'प्रत्यय ग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्'- इस परिभाषा के बल पर सभी स्त्रीप्रत्ययों का ग्रहण होता है।

१२०. [5]**ङ्याप्प्रातिपदिकात् (४/१/१)**

ङीति- ङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिक से (प्रत्यय) होते हैं।

१२१. **स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप्**[1] **(४/१/२)**

'सु औ जस्' इति प्रथमा। 'अम् औट् शस्' इति द्वितीया। 'टा भ्याम् भिस् इति तृतीया। 'ङे भ्याम् भ्यस्' इति चतुर्थी। 'ङसि भ्याम् भ्यस्' इति पञ्चमी। 'ङस् ओस् आम्' इति षष्ठी। 'ङि ओस् सुप्' इति सप्तमी।

स्वौजसिति-सु आदि २१ प्रत्यय हैं। इन्हें सुप् प्रत्याहार के नाम से जाना जाता है।

विभक्तियाँ सात होती हैं तथा प्रत्येक के तीन-तीन वचन होते हैं। प्रत्येक विभक्ति के तीनों वचनों के निम्नलिखित प्रकार से प्रत्यय होंगे।

प्रथमा में-सु औ जस्। द्वितीया में-अम् औट् शस्। तृतीया में-टा भ्याम् भिस्। चतुर्थी में - ङे भ्याम् भ्यस्। पंचमी में- ङसि भ्याम् भ्यस्। षष्ठी में-ङस् ओस् आम्। सप्तमी में- ङि ओस् सुप्। इन प्रत्ययों में सु का उ, जस् का जकार, औट् का टकार, शस् का शकार, टा का टकार, ङे ङसि ङस् और ङि का ङकार तथा सुप् का पकार इत्संज्ञक है। इन अनुबन्धसंज्ञक वर्णों का लोप हो जाता है।

इस प्रकार राम, पत्र, लता आदि की प्रातिपदिक संज्ञा हुई।[1]

---

१. वरदराज द्वारा प्रदर्शित सूत्र नं० ११८ से १२१ तक का क्रम उचित प्रतीत नहीं होता। अतः यहाँ सि० कौ० में भट्टोजि दीक्षित द्वारा प्रदर्शित क्रम को अपनाया गया है।

१२२. [६]**सुपः (१/४/१०२)**

सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचन-द्विवचन-बहुवचन-संज्ञानि स्युः।

सुप इति- सुप् प्रत्याहार के तीन-२ के सात विभाग हों। जिन्हें विभक्ति कहा जाता है।

सातों विभक्तियों के वचनों की क्रमशः एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन संज्ञा होती है।

१२३. [६]**द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने**[१] **(१/४/२२)**

द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः।

द्व्येकयोरिति- एक और दो की विवक्षा में क्रमशः एकवचन तथा द्विवचन होता है।

'अपदं न प्रयुञ्जीत' अर्थात् भाषा में निर्विभक्तिक (सु आदि विभक्ति रहित) शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसलिए प्रत्येक शब्द के साथ कोई न कोई विभक्ति अवश्य लगेगी। शब्द को प्रयोग के लिए साधु बनाने के उद्देश्य से सामान्यतः प्रथमा एकवचन (सु) का निर्देश कर दिया जाता है। कहा भी है - 'एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते'। अतः 'सु' का प्रयोग एकत्व संख्या के उद्देश्य के बिना केवल शब्द की साधुता प्रदर्शन के उद्देश्य से भी होता है।

१२४. [७]**बहुषु बहुवचनम्**[१] **(१/४/२१)**

बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात्।

बहुष्विति- बहुत की विवक्षा में बहुवचन हो।

१२५. [१]**विरामोऽवसानम्**[१] **(१/४/१०९)**

वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात्। रुत्वविसर्गौ-रामः।

विराम इति- वर्णों के अभाव की अवसान संज्ञा हो।

'राम' शब्द की 'अर्थवद् अधातु०' सूत्र के द्वारा प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'ङ्याप्प्राति०'- 'प्रत्ययः' तथा 'परश्च'-इन तीनों सूत्रों के अधिकार बल से 'स्वौजस्०' से सु आदि प्रत्ययो की प्राप्ति हुई। अब प्रथमा एकवचन की विवक्षा में 'द्व्येकयो०' के द्वारा 'सु' प्रत्यय हुआ। 'राम सु'। 'उपदेशेऽजनु०' के द्वारा 'सु' के उकार की इत्संज्ञा तथा 'तस्य लोपः' से उकार का लोप हुआ। राम स्। 'ससजुषो रुः' के द्वारा 'रु' तथा उकार की पूर्ववत् इत् संज्ञा व लोप हो गया। राम र्। 'विरामोऽवसानम्' के द्वारा रेफ की अवसान संज्ञा तथा 'खरवसानयोः०' के द्वारा विसर्ग हुआ। रामः।

इस सुबन्त प्रकरण में 'रामः' शब्द की सिद्धि में 'सु' की उत्पत्ति पर्यन्त जो प्रक्रिया दिखलाई गई है, उसकी पुनरावृत्ति सर्वत्र होगी। प्रक्रिया के चरण इस प्रकार होंगे—

१. अर्थवदधा०—कृत्तद्धि० से प्रातिपदिक संज्ञा। २. प्रत्ययः— अधिकार ३. परश्च— अधिकार ४. ङ्याप्प्राति०— अधिकार ५. स्वौजसम्०— सु आदि की उत्पत्ति। ६. सुपः—

त्रिक विभाग।

छात्रों को प्रत्येक सुबन्त शब्द की सिद्धि में इस प्रक्रिया को दोहराना चाहिए।

१२६. [६]**सरूपाणामेकशेष**[१] **एकविभक्तौ**[७] (१/२/६४)

एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि, तेषामेक एव शिष्यते।

सरूपाणामिति-एक विभक्ति के विषय में जो समान रूप हों, उनमें एक ही शेष रहता है। प्रत्येक शब्द के बोध के लिए शब्द के उच्चारण की आवश्यकता होती है। जब दो या तीन अर्थों का बोध इष्ट हो तो तद्वाचक शब्द का दो या तीन बार उच्चारण किया जाना चाहिए। प्रकृत सूत्र का अर्थ है कि दो या अधिक का बोध कराने में उच्चारण एक बार ही होना चाहिए।

जैसे अधिक रामों की विवक्षा होने पर 'राम' शब्द का अधिक बार उच्चारण प्राप्त होता है। इस सूत्र के बल पर 'राम' शब्द का अनेक बार उच्चारण न करके केवल एक बार उच्चारण करना चाहिए। इस प्रकार शेष रहने वाले एकाकी 'राम' शब्द के द्वारा ही अनेक राम शब्दों का बोध हो जायेगा।

राम शब्द की प्रथमा विभक्ति में प्रकृत सूत्र के द्वारा एक ही 'राम' शब्द अवशेष रह गया तथा द्विवचन का बोध कराने के लिए 'द्व्येकयो०' से 'औ' प्रत्यय की प्राप्ति हुई। 'राम औ'- यहाँ 'वृद्धिरेचि 'के द्वारा वृद्धि प्राप्त हुई।

१२७. [६]**प्रथमयोः पूर्वसवर्णः**[१] (६/१/९८)

अकः प्रथमाद्वितीययोरचि पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्याद् इति प्राप्ते-

प्रथमयोरिति-अक् से प्रथमा तथा द्वितीया का अच् परे रहते पूर्व सवर्ण दीर्घ आदेश होता है।

सूत्र में पठित 'प्रथमयोः' पद में द्विवचन होने से प्रथमा तथा द्वितीया का ग्रहण होता है। 'राम औ' यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा पूर्व सवर्ण दीर्घ आदेश 'आकार' प्राप्त है। इसके अनुसार अकार तथा औकार मिलकर दोनों के स्थान दीर्घ एकादेश (आकार) होना चाहिए।

१२८. **नाॅऽऽ**[५]**दिचि**[७] (६/१/१००)

आदिचि न पूर्वसवर्णदीर्घः। वृद्धिरेचि-रामौ।

नेति- अवर्ण से इच् परे रहते पूर्व सवर्णदीर्घ एकादेश न हो।

'राम औ'- यहाँ प्राप्त दीर्घ आदेश का बाध प्रकृत सूत्र के द्वारा हो जाता है। अब 'वृद्धिरेचि' के द्वारा वृद्धि होकर 'रामौ' बन गया।

१२९. [१]**चुटू** (१/३/७)

प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्तः।

चुट्विति-प्रत्यय के आदि में स्थित चवर्ग और टवर्ग इत्संज्ञक हों।

इस प्रकार 'जस्' के जकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। राम अस्। 'अस्' के सकार की 'हलन्त्यम्' के द्वारा इत्संज्ञा प्राप्त है।

१३०. [१]**विभक्तिश्च (१/४/१०३)**

सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः।

विभक्तिरिति- सुप् और तिङ् विभक्ति संज्ञक हों।

सुप् एक प्रत्याहार है जिसमें सु से लेकर सुप् तक २१ प्रत्ययों का परिगणन किया गया है। तिङ् १८ प्रत्यय हैं जो लकार के स्थान पर होते हैं।

१३१. **नॅ [७]विभक्तौ [१]तुस्माः (१/३/४)**

विभक्तिस्थास् तवर्गसमा नेतः। इति सस्य नेत्त्वम्। रामाः।

नेति- विभक्ति में स्थित तवर्ग, सकार तथा मकार की इत्संज्ञा नहीं होती।

बहुत की विवक्षा में राम शब्द से प्रथमा में 'जस्' की उत्पत्ति हुई (प्रत्यय की उत्पत्ति करने के लिए पृ० १२५ पर दिखाई गई प्रक्रिया की पुनरावृत्ति आवश्यक है)।

'जस्' के सकार की 'हलन्त्यम्' से प्राप्त इत्संज्ञा का प्रस्तुत सूत्र से निषेध हो गया। राम अस्। 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' के द्वारा पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश हो गया। रामास्। 'ससजुषो रुः' के द्वारा 'रु' तथा 'विरामोऽ०' से अवसान संज्ञा, 'खरवसान०' से विसर्ग होकर रूप बन गया। रामाः।

शङ्का है कि 'राम अस्' इस अवस्था में 'अकः सवर्णे दीर्घः' के द्वारा सवर्ण दीर्घ हो सकता था। तब 'प्रथमयोः०' से पूर्व सवर्ण की क्या आवश्यकता थी? समाधान है कि 'अतो गुणे' (पा० ६.१.९४) से प्राप्त पररूप के बाध के लिए 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (६.१.९८) के द्वारा पूर्वसवर्ण दीर्घ किया गया अर्थात् 'राम अस्' इस दशा में 'अकः सवर्णे०' (पा० ६.१.९७) से दीर्घ की प्राप्ति होने पर 'अतो गुणे' (पा० ६.१.९४) से उसका बाध होकर पररूप की प्राप्ति होती है। उसके बाध के लिए पूर्वसवर्ण दीर्घ किया गया है। देखिये— 'पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' अर्थात् प्रथम आये हुए अपवाद अपने निकटवर्ती विधि के ही बाधक होते है दूरवर्ती विधि के नहीं होते। अतः इस परिभाषा के बल पर (६.१.९४ से प्राप्त) पररूप (पा० ६.१.९७) से प्राप्त सवर्णदीर्घ का बाधक तो हो सकता है, परन्तु (पा० ६.१.९८ से प्राप्त) पूर्वसवर्ण दीर्घ का बाधक नहीं हो सकता।

१३२. **[१]एकवचनं सम्बुद्धिः[१] (२.३.४९)**

सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसंज्ञं स्यात्।

एकवचनमिति-सम्बोधन में प्रथमा के एकवचन की सम्बुद्धि संज्ञा हो।

१३३. **[५]यस्मात्प्रत्ययविधि[१]स्तदादि[१] [७]प्रत्ययेऽङ्गम्[१] (१/४/१३)**

यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते, तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन्नङ्गं स्यात्।

यस्मादिति- जो प्रत्यय जिस (शब्द) से किया जाता है, वह है आदि में जिस समुदाय के, वह शब्द उस प्रत्यय के परे रहते अङ्ग संज्ञक हो।

जैसे—'भू अ मि' में 'भू' धातु से 'मि' किया गया है। वह 'भू अ' इस समुदाय के आदि में है। 'भू अ' की 'मि' प्रत्यय परे रहते 'अङ्ग' संज्ञा हुई।

१३४. [५]**एङ् ह्रस्वात्** [६]**सम्बुद्धेः** (६/१/६७)

एङन्तात् ह्रस्वान्ताच्चाङ्गात् हल् लुप्यते, सम्बुद्धेश्चेत्। हे राम, हे रामौ, हे रामाः।

एङिति-एङन्त और ह्रस्वान्त अंग से परे हल् का लोप हो, सम्बुद्धि की अवस्था में।

हे राम सु। व्यपदेशिवद् भाव से राम शब्द की अङ्ग संज्ञा हो गई। राम ह्रस्वान्त है। इससे परे 'स्' (हल्) है। जो सम्बुद्धि का है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा सकार का लोप होकर 'हे राम' रूप सिद्ध हुआ। द्विवचन तथा बहुवचन में क्रमशः 'हे रामौ' तथा 'हे रामाः' पूर्ववत् हो जायेंगे।

१३५. [७]**अमि पूर्वः**[१] (६/१/१०३)

अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। रामम्। रामौ।

अमीति-अक् से अम् (द्वितीया विभक्ति के एकवचन) का अच् परे रहते पूर्वरूप एकादेश हो।

'राम अम्'- द्वितीया विभक्ति का एकवचन का 'अम्' प्रत्यय है। 'अकः सवर्णे दीर्घः' से प्राप्त दीर्घ को बाधकर 'अतो गुणे' से पररूप की प्राप्ति हुई। 'प्रथमयोः पूर्व०' के द्वारा पूर्व सवर्ण दीर्घ की प्राप्ति हुई। अब प्रकृत सूत्र के द्वारा पूर्वसवर्ण दीर्घ का बाध हो गया तथा पूर्वरूप एकादेश हो गया। रामम्। द्वितीया विभक्ति द्विवचन में 'राम औट्' ऐसी स्थिति हुई। अब प्रथमा विभक्ति द्विवचन में सिद्ध 'रामौ' रूप की तरह समग्र प्रक्रिया होकर 'रामौ' बन गया।

१३६. [१]**लशक्वतद्धिते**[७] (१/३/८)

तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या लशकवर्गा इतः स्युः।

लशक्विति-तद्धितभिन्न प्रत्यय के आदि स्वरूप ल्, श्, कवर्ग की इत् संज्ञा हो।

१३७. [५]**तस्माच्छसो**[६] **नः**[१] **पुंसि**[७] (६/१/९९)

पूर्वसवर्णदीर्घात्परो यः शसः सस्तस्य नः स्यात् पुंसि।

तस्मादिति-पूर्वसवर्ण दीर्घ से परे स्थित 'शस्' के सकार के स्थान में नकार होता है, पुँल्लिंङ्ग के विषय में।

राम शस् (द्वितीया बहुवचन)-यहाँ 'शस्' का शकार प्रत्यय के आदि में विद्यमान है तथा तद्धित का विषय भी नहीं है, अतः शकार की 'लशक्वतद्धिते' के द्वारा इत्संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' के द्वारा लोप हो गया। 'राम अस्'। अब 'रामाः' की प्रक्रिया की तरह पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर 'रामास्' रूप बन गया। प्रकृत सूत्र के द्वारा सकार को नकार

होकर 'रामान्' रूप सिद्ध हो गया।

१३८. [७]**अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (८/४/२)**

अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् एतैर्व्यस्तैः समस्तैर्यथासंभवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः समानपदे। इति प्राप्ते।

अटिति-अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् तथा नुम्-इनका पृथक्-पृथक्, सबका एक साथ या यथा सम्भव मिलकर (दो या तीन या चार) व्यवधान होने पर भी रकार तथा षकार से परवर्ती नकार को णकार हो समान पद के विषय में। समानपद से अभिप्राय अखण्ड पद से है अर्थात् जिसके अन्य खण्ड न हों। 'रामान्' यह अखण्ड पद भी है तथा रेफ से परवर्ती नकार के मध्य में अट् (आकार), पवर्ग (मकार) का व्यवधान भी है, अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा नकार को णकार होना चाहिए।

१३९. [६]**पदान्तस्य (८/४/३६)**

नस्य णो न। रामान्।

पदान्तस्येति— पदान्त में स्थित नकार को णकार न हो।

'रामान्' एक पद है क्योंकि इसके अन्त में सुप् विभक्ति है। 'सुप्तिङन्तं पदम्' के अनुसार इसकी पद संज्ञा हो गई। यहाँ नकार को जो णत्व प्राप्त था, उसका 'पदान्तस्य' सूत्र के द्वारा निषेध हो गया। अब 'रामान्' रूप सिद्ध हो गया।

१४०. [६]**टाङसिङसामिनात्स्याः**[१] **(७/१/१२)**

अदन्तात् टादीनामिनादयः स्युः। णत्वम्-रामेण।

टेति-अदन्त अङ्ग से परवर्ती 'टा', 'ङसि' तथा 'ङस्' के स्थान पर इन, आत् तथा स्य आदेश हों।

स्थानी तीन हैं तथा आदेश भी तीन हैं, अतः यथासंख्य आदेश होंगे। यथा टा > इन; ङसि > आत्; ङस् > स्य। अब तृतीया विभक्ति एकवचन में पृ० ५४ पर दिखाए अनुसार 'टा' प्रत्यय की उत्पत्ति होकर 'राम टा' ऐसी स्थिति हो गई। प्रकृत सूत्र से तथा अनेकाल् शित् सर्वस्य से सम्पूर्ण स्थानी (टा) को इन आदेश हुआ। 'आद्गुणः' के द्वारा गुण एकादेश होकर 'राम इन-रामेन' रूप बना। 'अट्कुप्वाङ्०' के द्वारा रेफ से परवर्ती व्यवहित नकार को णत्व होकर 'रामेण' रूप सिद्ध हुआ।

१४१. [७]**सुपि च (७/३/१०२)**

यञादौ सुपि अतोऽङ्गस्य दीर्घः। रामाभ्याम्।

सुपीति-यञ् है आदि में जिसके, ऐसे सुप् प्रत्यय के परे रहते अदन्त अङ्ग को दीर्घ आदेश हो।

'राम भ्याम्' ऐसा होने पर। 'भ्याम्' प्रत्यय यञ् (भकार) से प्रारम्भ होता है तथा राम अदन्त अङ्ग है। अतः 'राम' अङ्ग को दीर्घ होकर 'रामाभ्याम्' बन गया।

१४२. [५]अतो भिस[६] ऐस्[१] (६/१/९)

अदन्तात् अङ्गात् परस्य भिस ऐस् स्यात्। अनेकाल् शित् सर्वस्य। रामैः।

अत इति-अदन्त अङ्ग से परवर्ती भिस् को ऐस् आदेश हो।

चूँकि 'ऐस्' आदेश में अनेक अल् हैं, अतः 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' के द्वारा यह आदेश 'भिस्' इस समग्र शब्द के स्थान पर होगा। 'राम भिस्-ऐसा होने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा 'भिस्' के स्थान पर 'ऐस्' आदेश हो गया। 'राम ऐस्'। अब 'वृद्धिरेचि' के द्वारा वृद्धि आदेश होकर 'रामैस्' तथा सकार को रुत्व व विसर्ग आदेश होकर 'रामैः' बन गया।

१४३. [६]ङेर्यः[१] (७/१/१३)।

अतोऽङ्गात् परस्य ङेर्यादेशः।

ङेरिति-अदन्त अङ्ग से परवर्ती ङे (चतुर्थी एकवचन) के स्थान पर 'य' आदेश हो।

'राम ङे' ऐसा होने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा 'ङे' के स्थान पर 'य' आदेश हो गया।

१४४. स्थानिवॅदादे[१]शोऽनल्[७]विधौ (१/१/५५)

आदेशः स्थानिवत् स्यात्, न तु स्थान्यलाश्रयविधौ। इति स्थानिवत्त्वात् 'सुपि च [७]/३/१०२/' इति दीर्घः- रामाय, रामाभ्याम्।

स्थानिवदिति-अल् विधि को छोड़कर अन्यत्र आदेश स्थानी के तुल्य हो अर्थात् स्थानी और आदेश समान गुण धर्म वाले हों। 'अनल्विधौ' का अर्थ है कि अलाश्रय विधि में आदेश व स्थानी समान धर्मा न हों। अल् अर्थात् वर्ण (एक) को आश्रय करके होने वाली विधि में आदेश समान धर्मा न हो। जिसके स्थान पर विधान किया जाता है वह स्थानी कहलाता है। जिसका विधान किया जाता है, वह आदेश कहलाता है। प्रस्तुत सूत्र में 'ङे' स्थानी है तथा 'य' आदेश है। स्थानिवत् का अर्थ है कि जो धर्म स्थानी में हो वही धर्म आदेश में भी हो। 'राम ङे' इस स्थिति में 'ङे' के स्थान पर 'य' आदेश होता है। प्रस्तुत सूत्र के द्वारा 'य' स्थानिवत् हो गया अर्थात् 'ङे' सुप् विभक्ति है। अतः उसके स्थान पर होने वाले आदेश (य) को भी सुप् विभक्ति मान लिया गया। तब 'सुपि च' से दीर्घ होता है।

सूत्र में प्रयुक्त 'अनल्विधौ' पद का अर्थ है कि अलाश्रय विधि में आदेश स्थानिवत् न हो। अल्विधि में चार प्रकार का समास है—

१. अला विधिः अल्विधिः (तृ० तत्पु०)— स्थानी अल् के द्वारा कोई कार्य करना हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता है। यथा— 'व्यूढोरस्केन' में विसर्ग के स्थान पर सोऽपदादौ से स् हुआ है। विसर्ग 'अट्' है यदि स् को भी स्थानिवद् भाव से अट् मान लें तो 'अट्कुप्वा०' से णत्व की प्राप्ति होती है। चूँकि यहा अल् (विसर्ग) के द्वारा णत्वविधि करनी है। अतः आदेश (स्) स्थानिवत् अर्थात् अट् धर्म युक्त न हुआ।

२. अलः (परस्य) विधिः अल्विधिः (पं० तत्पु०)— स्थानी अल् से पर कोई कार्य

हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता। 'दिव् सु'— यहाँ 'दिव औत्' से औकार हो गया। दि औ स्। 'यण्' हो गया। द्यौस्। अब यदि स्थानी वकार हल् था तथा आदेश 'औ' को भी स्थानिवद्भाव से हल् मान लें तो 'हल्ङ्याब्०' के द्वारा स् का लोप प्राप्त होता है।

३. अलः (स्थाने) विधिः अल्विधिः (ष० तत्पु०)— स्थानी (अल्) के स्थान पर कार्य हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता है। 'द्युकामः' में 'दिव् उत्' से वकार के स्थान पर उकार हुआ है। वकार वल् है। यदि यहाँ स्थानिवद्भाव मान लिया जाए तो आदेश उकार भी वल् हो जायेगा और 'लोपो व्योर्वलि' से उसका लोप प्राप्त होता है।

४. अलि (परे) विधिः अल्विधिः (स० तत्पु०)— स्थानी (अल्) के परे रहते यदि कोई कार्य हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता है। 'कर् इष्टः' यहाँ इष्ट का इकार यकार के स्थान पर हुआ है। यदि इसे स्थानिवत् मान लें तो इ को हश् प्रत्याहार में मानना पड़ेगा तब 'हशि च' से उत्व प्राप्त होता है।

अब 'राम य' ऐसी स्थिति में शङ्का है कि 'य' सुप् विभक्ति नहीं है। तब 'सुपि च' से दीर्घ न हो सकेगा। इसका समाधान यह है कि 'य' आदेश है जो 'ङे' स्थानी के स्थान पर हुआ है। 'ङे' एक सुप् विभक्ति है। प्रस्तुत सूत्र से स्थानिवद् भाव हो गया अर्थात् जो सुप्त्व धर्म 'ङे' में था वह आदेश 'य' में भी हो गया तब 'सुपि च' के द्वारा दीर्घ आदेश होकर 'रामाय' रूप सिद्ध हो गया। द्विवचन में 'राम भ्याम्' ऐसी स्थिति में पूर्ववत् प्रक्रिया होकर 'रामाभ्याम्' बन गया।

१४५. [७]बहुवचने [७]झल्येत्[१] (७/३/१०३)

झलादौ बहुवचने सुपि अतोऽङ्गस्यैकारः। रामेभ्यः। सुपि किम्-पचध्वम्।

बहुवचन इति- झलादि बहुवचन सुप् परे रहते अदन्त अङ्ग के स्थान पर एकार आदेश हो। अलोऽन्त्यस्य परिभाषा के द्वारा अन्त्य अल् के स्थान पर आदेश हो गया।

'राम भ्यस्' यहाँ राम की अङ्ग संज्ञा हो गई। 'राम' से परे 'भ्यस्' है जो झलादि और सुप् भी है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा राम के मकारोत्तरवर्ती अकार को एकार आदेश तथा सकार को रुत्व व विसर्ग होकर 'रामेभ्यः' बन गया।

प्रकृत सूत्र का कार्य झलादि सुप् के परे रहते होगा, अन्य प्रकार के झलादि प्रत्यय के परे रहते नहीं होगा। यदि 'सुपि' ऐसा न कहा जाता तो 'पचध्वम्' यहाँ 'पचेध्वम्' रूप बन जाता। चूँकि 'ध्वम्' प्रत्यय झलादि तो है परन्तु सुप् नहीं है। अतः यहाँ एकारादेश नहीं होगा। 'राम ङसि' (पञ्चमी एकवचन) यहाँ 'टाङसिङसाम्०' सूत्र के द्वारा ङसि के स्थान पर 'आत्' आदेश हो गया। तब 'अकः सवर्णे दीर्घः' के द्वारा सवर्ण दीर्घ होकर 'राम ङसि > आत्-रामात्' बन गया। अब 'झलां जशोऽन्ते' के द्वारा तकार के स्थान पर दकार हुआ। रामाद्।

१४६. वाऽवसाने[७] (८/४/५५)

अवसाने झलां चरो वा स्युः। रामात् रामाद्, रामाभ्याम्, रामेभ्यः। रामस्य।

वेति–अवसान में झर् के स्थान पर विकल्प से चर् हो।

'रामाद्' के दकार को विकल्प से चर् हुआ। रामात्। पक्ष में रामाद्। पञ्चमी के द्विवचन तथा बहुवचन में चतुर्थी विभक्ति के 'रामाभ्याम्' तथा 'रामेभ्यः' की तरह प्रक्रिया होगी। 'राम ङस्' -यहाँ 'टाङसिङसाम्०' सूत्र के द्वारा 'ङस्' के स्थान पर 'स्य' आदेश हो गया। स्य की विभक्ति सञ्ज्ञा है। यह झलादि भी है परन्तु बहुवचन का नही है। अतः बहुवचन झल्येत् प्रवृत्त न हुआ। रामस्य।

१४७. [७]**ओसि चॅ (७/३/१०४)**

अतोऽङ्गस्यैकारः। रामयोः।

ओसीति–अदन्त अङ्ग के स्थान में एकार आदेश हो 'ओस्' परे रहते।

'राम ओस्' (षष्ठी द्विवचन) में 'ओस्' परे रहते 'राम' की अङ्ग सञ्ज्ञा। प्रकृत सूत्र तथा अलोऽन्त्यस्य के द्वारा 'राम' शब्द के अकार को एकार आदेश होकर 'रामे ओस्' बन गया। 'एचोऽयवायावः' के द्वारा अयादेश होकर 'रामयोः' रूप सिद्ध हुआ।

१४८. [५]**ह्रस्वनद्यापो [१]नुट् (७/१/५४)**

ह्रस्वान्तान् नद्यन्ताद् आबन्ताच्चाङ्गात् परस्यामो नुडागमः।

ह्रस्वेति–ह्रस्वान्त, नद्यन्त तथा आबन्त अङ्ग से परवर्त्ती 'आम्' प्रत्यय को 'नुट्' आगम हो।

'नुट्' का टकार व उकार इत्संज्ञक है। टित् होने से 'आद्यन्तौ०' सूत्र के द्वारा आदि अवयव होगा। राम आम् (षष्ठी बहुवचन)। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'नुट्' आगम होकर 'राम न् आम्' हुआ।

१४९. [७]**नामि (६/४/३)**

अजन्ताङ्गस्य दीर्घः (नामि)। रामाणाम्। रामे। रामयोः। एत्वे कृते-

नामीति– 'नाम्' परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ हो। 'अलोऽन्त्यस्य' के बल पर राम शब्द के अन्त्य वर्ण को ही होगा। 'राम नाम्' यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा दीर्घ होकर तथा 'अट्कुप्वाङ्नुम्०' के द्वारा नकार को णकार होकर 'रामाणाम्' हो गया।

'राम ङि' सप्तमी एक वचन में 'ङि' के ङकार का लशक्वतद्धिते के द्वारा इत् सञ्ज्ञा होकर 'राम इ' हो गया। 'आद्गुणः' से गुण होकर 'रामे' रूप सिद्ध हुआ। 'रामयोः' की रूप सिद्धि षष्ठी विभक्ति के द्विवचन की भाँति होगी। 'राम सुप्' सप्तमी बहुव० में 'हलन्त्यम्' के द्वारा पकार की इत्संज्ञा तथा 'बहुवचने झल्येत्' के द्वारा 'राम' के अन्त्य अकार को एकारादेश होकर 'रामे सु' हो गया।

१५०. [६]**आदेशप्रत्यययोः (८/३/५९)**

इण्कुभ्यां परस्यापदान्तस्य आदेशः प्रत्ययावयवश्च यः सकारस्तस्य मूर्धन्यादेशः

स्यात्। ईषद्विवृतस्य सस्य तादृश एव ष। रामेषु। एवं कृष्णादयोऽप्यदन्ताः।

आदेशेति-इण् और कवर्ग से परवर्ती सकार को मूर्धन्य आदेश हो यदि सकार अपदान्त, आदेश स्वरूप या प्रत्यय का अवयव हो।

'रामे सु' यहाँ सकार 'इण्' से परे है, अपदान्त भी है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा उसे मूर्धन्य आदेश होगा। सकार ईषद्विवृत है, अतः इसके स्थान पर ईषद् विवृत षकार ही होगा। रामेषु।

राम शब्द के आठों विभक्तियों के रूप

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्र०	रामः	रामौ	रामाः
सं०	हे राम	हे रामौ	हे रामाः
द्वि०	रामम्	रामौ	रामान्
तृ०	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः
च०	रामाय	रामाभ्याम्	रामेभ्यः
पं०	रामात्-द्	रामाभ्याम्	रामेभ्यः
ष०	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्
स०	रामे	रामयोः	रामेषु

१५१. [1]**सर्वादीनि सर्वनामानि**[1] **(१/१/२६)**

सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसञ्ज्ञानि स्युः। सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम, सम, सिम।

(ग. सू) पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तराऽपराधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्।

(ग.सू) स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्।

(ग.सू) अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः।

त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम्।

सर्वादीनीति-सर्व आदि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा होती है। सर्वादि एक गण है। ये शब्द जब सभी के अर्थ में प्रयुक्त हों तभी इनकी सर्वनाम संज्ञा होती है, अन्यत्र नहीं। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति का नाम सर्व है तो उस व्यक्ति के बोधक सर्व शब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी। कहा गया है- 'संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः' अर्थात् संज्ञा या गौण होने की अवस्था में सर्वादिशब्दों की उक्त संज्ञा न हो। यह अन्वर्थक अर्थात् अर्थानुसार संज्ञा है। इसीलिए आचार्य ने 'सर्वनाम' ऐसी बड़ी संज्ञा कहा है, अन्यथा 'टि', 'घु' की तरह इसे भी छोटा नाम दे देते।

सर्व इति-यह सर्वादियों का परिगणन है। ये चौदह हैं।

सर्व= सब, विश्व = सब, उभ= दो, उभय= दो का समुदाय, अन्य= दूसरा,

अन्यतर= दो में से एक, इतर= अन्य, त्वत् त्व= अन्य, नेम= आधा, सम= सब, सिम= सब। इन सर्वादियों में डतर और डतम इन दो प्रत्ययों का भी परिगणन है। इनके सम्बन्ध में मूल में ही आगे विशेष विचार किया गया है।

पूर्वपरेति-पूर्व आदि सात शब्द व्यवस्था में और असंज्ञा में सर्वादि हैं। पूर्वादि सात ये हैं-पूर्व = पहला, पर= दूसरा, अवर= पश्चिम, दक्षिण= दक्षिण दिशा, उत्तर= उत्तर दिशा, अपर= पश्चिम, अधर= नीचा।

व्यवस्था का अर्थ है 'स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था-अर्थात् जहाँ 'यह किससे पूर्व है? किससे पर है?' इत्यादि अवधि के नियम की आकांक्षा हो, वहाँ पर प्रयुक्त पूर्वादि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा होती है।

असञ्ज्ञायाम् अर्थात् संज्ञा के विषय में न हो। जब 'पूर्व' किसी का नाम (संज्ञा) होगा तो इसकी सर्वनाम संज्ञा न होगी।

स्वमिति-ज्ञाति (सम्बन्धी) और धन अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ में 'स्व' शब्द सर्वादि है।

'स्व' शब्द चार अर्थों में व्यवहृत होता है-

१. आत्मीय, २. आत्मा, ३. ज्ञाति, ४. धन।

अन्तरमिति-बहिर्योग (बाहर का) तथा उपसंव्यान (अधोवस्त्र) अर्थ में 'अन्तर' की सर्वनाम संज्ञा हो।

त्यदिति-त्यद् (वह), तद् (वह), यद् (जो), एतद् (वह), इदम् (यह), अदस् (वह), एक (एक), द्वि, (दो), युष्मद् (तू), अस्मद् (मैं), भवत् (आप), किम् (कौन) ये १२ त्यद् आदि भी सर्वादि हैं अर्थात् इनकी भी सर्वनाम संज्ञा होती है।

अब सर्व शब्द के रूप सिद्ध किए जाते हैं। प्रथमा के एकवचन तथा द्विवचन में राम शब्द की तरह 'सर्वः', 'सर्वौ' होंगे।

१५२. [६]**जसः** [१]**शी (७/१/१७)**

अदन्तात् सर्वनाम्नो जसः शी स्यात्। अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः। सर्वे।

जश इति— अदन्त सर्वनाम से परवर्त्ती 'जस्' के स्थान पर 'शी' आदेश हो। अदन्त के द्वारा सर्व आदि अदन्त शब्दों का ग्रहण होता है तथा उन सर्वनाम शब्दों का भी ग्रहण होता जो प्रकिया दशा में अदन्त बन जाते हैं। यथा-'इदम्' शब्द मकारान्त है, परन्तु बाद में 'त्यदादी०' सूत्र के द्वारा अकारान्त हो जाता है। अतः यहाँ इस का भी ग्रहण किया जाए। 'सर्व जस्' यहाँ शी के अनेकाल् होने से 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' के बल पर शी आदेश समग्र जस् के स्थान पर होगा। सर्व शी। 'स्थानिवद् आदेशो०' के द्वारा 'शी' आदेश में 'जस्' का प्रत्ययत्व धर्म (सुप्त्व इत्यादि) प्राप्त हो गए। अब 'लशक्वतद्धिते' के द्वारा 'शी' के शकार की इत्संज्ञा हो गई। 'तस्य लोपः' के द्वारा इत्सञ्ज्ञंक 'श्' का लोप हो गया। सर्व ई। 'आद्गुणः' के द्वारा गुण होकर। सर्वे।

आगे के रूप राम शब्द की तरह-सर्वम्, सर्वान्, सर्वेण, सर्वाभ्याम्, सर्वैः।

१५३. [५]**सर्वनाम्नः स्मै**[१] (७/१/१४)

अतः सर्वनाम्नो ङेः स्मै। सर्वस्मै।

सर्वनाम्न इति-अदन्त सर्वनाम से परवर्त्ती 'ङे' के स्थान पर 'स्मै' हो।

'सर्व ङे'-यहाँ प्रकत सूत्र के द्वारा 'ङे' के स्थान में 'स्मै' होकर 'सर्वस्मै' रूप बना। यह सूत्र ङेर्यः का अपवाद है।

१५४. [६]**ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ**[१] (७/१/१५)

अतः सर्वनाम्न एतयोरेतौ स्तः। सर्वस्मात्।

ङसीति- अदन्त सर्वनाम से परवर्त्ती 'ङसि' और 'ङि' के स्थान पर क्रमशः 'स्मात्' तथा 'स्मिन्' आदेश हों। स्मात् के त् की तथा स्मिन् के न् की हलन्त्यम् से इत्सञ्ज्ञा प्राप्त है। न विभक्तौ तुस्माः से निषेध हो गया। दो स्थानी (ङसि, ङि) हैं तथा दो ही आदेश (स्मात्, स्मिन्) हैं। यथा संख्यमनुदेशः समानाम् से ङसि के स्थान पर स्मात् और ङि के स्थान पर स्मिन् होता है।

सर्वाभ्याम्। सर्वेभ्यः। 'सर्व ङसि'-यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा 'स्मात्' आदेश होकर 'सर्वस्मात्' रूप सिद्ध हुआ। आगे सर्वाभ्याम्, सर्वेभ्यः, सर्वस्य, सर्वयोः रूप राम की तरह होते हैं।

१५५. [७]**आमि** [५]**सर्वनाम्नः सुट्**[१] (७/१/५२)

अवर्णान्तात्परस्य सर्वनाम्नो विहितस्याऽऽमः सुडागमः स्यात्। एत्वषत्वे-सर्वेषाम्। सर्वस्मिन्। शेषं रामवत्। एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः। उभशब्दो (नित्यं) द्विवचनान्तः। उभौ २, उभाभ्याम् ३, उभयोः २/ तस्येह पाठोऽकजर्थः। उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति। डतरडतमौ प्रत्ययौ। 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' इति तदन्ता ग्राह्याः। नेम इत्यर्धे। समः सर्वपर्यायः, तुल्यपर्यायस्तु न, 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' इति निर्देशात्।

आमीति- अवर्णान्त से पर और सर्वनाम से विहित आम् को सुट् आगम हो।

'सुट्' का टकार इत्संज्ञक है तथा उकार उच्चारणार्थ है। यह टित् होने से आदि अवयव बनेगा। सर्व आम्। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'सुट्' आगम होकर— सर्व स् आम्। यह साम् सुप् माना जायेगा। कहा है 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' अर्थात् आगम स्थानी का अवयव बन जाता है और स्थानी के ग्रहण से उसका भी ग्रहण हो जाता है। अब साम् के सुप् होने से 'बहुवचने झल्येत्' के द्वारा वकारोत्तरवर्त्ती अकार के स्थान पर एकार हो जायेगा 'सर्वेसाम्'। 'आदेशप्रत्यययोः' के द्वारा एकार से परवर्त्ती सकार को षकार (मूर्धन्य आदेश) होकर 'सर्वेषाम्' रूप सिद्ध हुआ।

'सर्व ङि'-यहाँ 'ङसिङ्योः०' के द्वारा 'ङि' के स्थान पर 'स्मिन्' आदेश होकर 'सर्वस्मिन्' रूप सिद्ध हुआ। शेष रूप राम की तरह होंगे। इसी प्रकार 'विश्व' आदि अकारान्त सर्वनाम शब्दों के भी रूप होंगे।

उभ इति– उभ शब्द सदा द्विवचनान्त होता है। इसका एकवचन तथा बहुवचन में प्रयोग नहीं होता है। उभौ-यह प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के द्विवचन का रूप है। 'रामौ' की तरह इस की सिद्धि होती है। उभाभ्याम्-यह तृतीया, चतुर्थी तथा पञ्चमी का द्विवचन का रूप है। उभयो:– यह षष्ठी तथा सप्तमी का द्विवचन है। तस्येति-सर्वादिगण में उभ शब्द का पाठ अकच् प्रत्यय के लिए है। 'अव्ययसर्वनाम्नाकच् प्राक् टे:' से अकच् प्रत्यय टि को होता है।

उभय शब्द का द्विवचनान्त रूप नहीं होता है। डतर और डतम प्रत्यय हैं। 'प्रत्यय के ग्रहण से तदन्त का ग्रहण हो' इस परिभाषा के द्वारा डतर और डतम प्रत्ययान्त कतर और कतम आदि शब्दों का ग्रहण किया जाता है। ये शब्द इस प्रकार हैं– यतर, यतम, कतर, कतम, एकतर, एकतम, ततर, ततम। 'नेम' शब्द 'अर्ध' अर्थ में ही सर्वादि है। 'अन्य' अर्थ के वाचक स्वरूप नेम की सर्वनाम संज्ञा न हो।

सर्वपर्याय– सब अर्थ का वाचक 'सम' शब्द को सर्वादि समझें। तुल्य पर्याय अर्थात् समान अर्थ के वाचक को सर्वादि न समझें।। आचार्य पाणिनि ने 'यथासंख्यमनुदेश: समानाम्' सूत्र में 'समानाम्' शब्द का प्रयोग किया है। प्रकृत सूत्र में 'सम' शब्द तुल्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अत: उसकी सर्वनाम संज्ञा न होकर 'सुट्' आदि कार्य प्राप्त नहीं हुए।

१५६. **[१]पूर्वपराऽवरदक्षिणोत्तराऽपराऽधराणि [७]व्यवस्था[७]यामसंज्ञायाम्** (१/१/३३)

एतेषां व्यवस्थायामसंज्ञायां सर्वनामसंज्ञा गणसूत्रात् सर्वत्र या प्राप्ता, सा जसि वा स्यात्। पूर्वे, पूर्वा:। असंज्ञायां किम्-उत्तरा: कुरव:। स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था। व्यवस्थायां किम्-दक्षिणा गाथका:, कुशला इत्यर्थ:।

पूर्वे इति– पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर तथा अधर-इन सात शब्दों की व्यवस्था और असंज्ञा में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा जस् परे रहते हो। गणसूत्र के द्वारा यह संज्ञा सर्वत्र प्राप्त थी।

'पूर्व जस्' यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा 'जस्' परे रहते पूर्व शब्द की विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। सर्वनाम संज्ञा पक्ष में 'जस: शी'के द्वारा पूर्वरूप होगा 'पूर्वे' तथा पक्ष में 'रामा:' की तरह 'पूर्वा:' ही होगा। अन्य शब्दों के भी जस् विभक्ति में पूर्ववत् दो दो रूप बनेंगे।

'असंज्ञायाम्'-संज्ञा के विषय में न हो- ऐसा कहा गया है। 'उत्तरा:' यहाँ उत्तर शब्द 'कुरुक्षेत्र' की संज्ञा है। अत: सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई और 'रामा:' की तरह 'उत्तरा:' ऐसा रूप सिद्ध हुआ।

स्वभिधेयेति– यह व्यवस्था शब्द का लक्षण है, जो पृष्ठ ६३ सू० १५१ पर दिया जा चुका है।

'व्यवस्था में हो'-ऐसा क्यों कहा गया? 'दक्षिणा गाथका:'-यहाँ दक्षिण शब्द व्यवस्था अर्थ में नहीं है। फलत: इसकी सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी और 'रामा:' की तरह रूप बन जायेगा।

१५७. [१]**स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् (१/१/३४)**

ज्ञातिधनान्यवाचिन: स्वशब्दस्य या प्राप्ता संज्ञा सा जसि वा। स्वे, स्वा:, आत्मीया आत्मान इति वा। ज्ञातिधनवाचिनस्तु-स्वा:= ज्ञातय: अर्था वा।

स्वमिति-ज्ञाति (बान्धव) और धन अर्थ को छोड़कर 'स्व' शब्द की जस् परे रहते विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है।

'स्वे'-यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा सर्वनाम संज्ञा होकर 'स्व जस् > शी' होकर 'स्वे' रूप बना। पक्ष में 'रामा:' की तरह 'स्वा:' रूप बनेगा। ज्ञाति तथा धन अर्थ में प्रयुक्त 'स्व' शब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं होगी। अत: 'स्वा:' रूप बनेगा।

१५८. [१]**अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयो:**[७] **(१/१/३५)**

बह्ये परिधानीये चाऽर्थेऽन्तरशब्दस्य प्राप्ता संज्ञा सा जसि वा। अन्तरे, अन्तरा वा गृहा:-बाह्या इत्यर्थ:। अन्तरे अन्तरा वा शाटका:- परिधानीया इत्यर्थ:। पूर्वस्मिन्। पूर्वे। एवं परादीनामपि। शेषं सर्ववत्।

अन्तरमिति- बाहर का परिधानीय (अधोवस्त्र) अर्थ में अन्तर शब्द की प्राप्त (सर्वनाम) संज्ञा 'जस्' परे रहते विकल्प से हो।

'अन्तरे'-प्रकृत सूत्र के द्वारा सर्वनाम संज्ञा होकर रूप बना है। सर्वनाम संज्ञा न होने पर 'अन्तरा:' यह रूप हुआ। प्रकृत दोनों प्रयोग 'गृह' शब्द के विशेषण हैं। अधोवस्त्र के अर्थ में भी 'अन्तरे' तथा 'अन्तरा:' रूप बनेंगे। शेष अर्थों में सर्वानाम संज्ञा न होने से 'रामा:' की तरह रूप होगा। यथा- अन्तरा: (=आत्मीया:)।

१५९. [५]**पूर्वादिभ्यो नवभ्यो**[५] **वॉ (७/१/१६)**

एभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्त:। पूर्वस्मात्, पूर्वात्। पूर्वस्मिन्, पूर्वे। एवं परादीनाम्। शेषं सर्ववत्।

पूर्वेति-पूर्व आदि नौ शब्दों से पर 'ङसि' तथा 'ङि' के स्थान में विकल्प से 'स्मात्' व 'स्मिन्' आदेश हों।

पूर्वादि नौ ये हैं-पूर्व, पर, अवर, अधर, उत्तर, दक्षिण, अपर, स्व और अन्तर। ये नौ पूर्वोक्त तीन सूत्रों में कहे गये हैं। पूर्व शब्द से पर 'ङसि' के स्थान में 'स्मात्' आदेश होने पर 'पूर्वस्मात्' रूप बन गया तथा पक्ष में 'रामात्' की तरह 'पूर्वात्' बन गया।

पूर्वस्मिन्-पूर्व शब्द से 'ङि' प्रत्यय करने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प से 'स्मिन्' होकर 'पूर्वस्मिन्' तथा अभाव पक्ष में 'पूर्वे' होगा। इसी प्रकार 'पर' आदि अन्य शब्दों से समझें। शेष स्थलों में सर्व की तरह होंगे।

१६०. [१]प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च (१/१/३२)

एते जसि उक्तसंज्ञाः वा स्युः। प्रथमे, प्रथमाः। तयः प्रत्ययः-द्वितये, द्वितयाः। शेषं रामवत्। नेमे, नेमाः। शेषं सर्ववत्।

(वा०) तीयस्य ङित्सु वा। द्वितीयस्मै, द्वितीयायेत्यादि। एवं तृतीयः। निर्जरः।

प्रथमेति-प्रथम, चरम, तय प्रत्ययान्त शब्द (द्वितय, द्वय, त्रय आदि), अल्प, अर्ध, कतिपय और नेम शब्द जस् में विकल्प से सर्वनाम संज्ञक हों।

प्रथमे-प्रथम शब्द की जस् में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा हुई। सर्वनाम संज्ञा पक्ष में 'जस्' के स्थान में 'शी' आदेश होकर 'प्रथमे' रूप बना। जसः शी पक्ष में 'प्रथमाः' बना। तय प्रत्यय है। अतः 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं'—परिभाषा के बल से तदन्त का ग्रहण किया जायगा। तयप्रत्ययान्त शब्द ये हैं-द्वितय, द्वय, त्रितय, त्रय, चतुष्टय और पञ्चतय। इन सबकी 'जस्' में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होगी। द्वितय शब्द की सर्वनाम संज्ञा होकर 'जस्' में 'द्वितये रूप बना। पक्ष में 'द्वितयाः' ही बनेगा।

शेषमिति-प्रथम और तयप्रत्ययान्त द्वितय आदि शब्दों के शेष रूप 'राम' शब्द के समान बनेंगे। ये सर्वनाम हैं ही नहीं। प्रकृत सूत्र से केवल जस् में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। नेम शब्द की सर्वनाम संज्ञा 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इस सामान्य सूत्र से प्राप्त है, जस् में प्रकृत सूत्र से विकल्प होकर दो दो रूप बन जाते हैं। सर्वनाम संज्ञापक्ष में जस् में 'नेमे' और अभाव पक्ष में राम के समान 'नेमाः' रूप होगा।

शेषमिति-नेम शब्द के शेष रूप 'सर्व' के समान बनेंगे, क्योंकि यह सर्वादिगण का शब्द है। चरम, अल्प, अर्ध और कतिपय शब्दों की इस सूत्र से वैकल्पिक सर्वनाम संज्ञा होने से जस् में दो दो रूप बनेंगे-'चरमे-चरमाः' अल्पे-अल्पाः, अर्धे-अर्धाः, कतिपये-कतिपयाः। शेष रूप राम शब्द के समान होंगे।

(वा०) ङित् प्रत्यय परे रहते 'तीय' प्रत्ययान्त शब्दों की विकल्प से सर्वनाम संज्ञा हो। ङित्-जिनका 'ङ्' इत् है।

द्वितीय शब्द तीयप्रत्ययान्त है। 'ङे' विभक्ति परे रहते प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है। सर्वनाम संज्ञा पक्ष में 'द्वितीयस्मै' तथा अभाव पक्ष में 'द्वितीयाय' रूप होगा। शेष ङित् (ङसि, ङस्, ङि) प्रत्ययों में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा प्राप्त होकर दो दो रूप बनेंगे। यथा-द्वितीयस्मात्, द्वितीयात्; द्वितीयस्मिन्, द्वितीये।

इसी प्रकार तृतीय शब्द के रूप समझें।

१६१. [६]जराया [१]जरस्-अन्यतरस्याम्[७] (७/२/१०१)

अजादौ विभक्तौ।

(प) पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च।

(प) निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति।

(प०) एकदेशविकृतमनन्यवत्।

इति जरशब्दस्य जरस्-निर्जरसौ, निर्जरसः इत्यादि। पक्षे हलादौ च रामवत्। विश्वपाः।

जराया इति-जरा शब्द को अजादि विभक्ति परे रहते विकल्प से 'जरस्' आदेश हो।

औ, जस् (अस्), अम्, औ (ट्), शस् (अस्), टा (आ), ङे (ए), ङसि (अस्), ङस् ओस्, आम्, ङि (इ) तथा ओस्-ये तेरह अजादि विभक्तियाँ हैं। 'अन्यतरस्याम्' का अर्थ है— विकल्प।

(प) पदाङ्गेति-'पद' और 'अङ्ग' के अधिकार में आदेश का विधान जिसको किया गया है उसके अपने और जिस के अन्त में वह हो, उस समुदाय के भी स्थान में आदेश होता है।

यह आदेश 'जरा' शब्द के स्थान में कहा गया है। वह अकेले जरा शब्द को भी होगा और जरा शब्द जिसके अन्त में होगा, ऐसे 'निर्जर' आदि शब्द के स्थान में भी होगा। अङ्गाधिकार छठे अध्याय के चतुर्थ पाद से प्रारम्भ होकर सप्तमाध्याय की समाप्ति पर्यन्त है। पदाधिकार का प्रकरण आठवें अध्याय के प्रथम पाद के 'पदस्य' इस सूत्र से प्रारम्भ होकर (पा० ८.३.५५) तक है। इस परिभाषा के अनुसार जराशब्दान्त सम्पूर्ण 'निर्जर' शब्द के स्थान में 'जरस्' आदेश प्राप्त होता है।

निर्दिश्य०- आदेश निर्दिश्यमान के ही स्थान पर होते हैं। निर्दिश्यमान का अर्थ है- 'षष्ठी प्रकृतिजन्य प्राथमिकोपस्थितिविषय'- अर्थात् आदेश विधायक शास्त्र में स्थानी का बोध कराने वाला जो षष्ठयन्त पद है, उसमें जिससे षष्ठी विभक्ति हुई है, उसके द्वारा जिसकी सबसे पहले उपस्थिति होती है, वह निर्दिश्यमान होता है।

प्रकृतसूत्र में 'जरायाः' पद षष्ठ्यन्त है। षष्ठी विभक्ति की प्रकृति जरा शब्द है, उसके द्वारा सबसे पहले केवल 'जरा'शब्द की उपस्थिति होती है। इसलिये 'निर्जर' शब्द में 'जरा' शब्द को ही आदेश होता है। तदन्त का ज्ञान तदन्तग्रहण परिभाषा के द्वारा होता है, इसलिए जराशब्दान्त 'निर्जर' शब्द के स्थान पर आदेश नहीं होता। अब शङ्का होती है कि 'निर्जर' के अन्तर्गत 'जर' शब्द है, जरा नहीं और आदेश स्थान में आदेश कैसे हो सकता है? इस आपत्ति के निवारणार्थ अगली परिभाषा कही गई है।

एकदेशेति- अवयव के विकृत हो जाने पर भी वस्तु अन्य के समान नहीं होती। लोक में भी कुत्ते की पूँछ कट जाने पर उसे गधा इत्यादि नहीं समझा जाता है। अतः लोकरीति के अनुसार यहाँ पर भी यदि किसी शब्द के किसी अवयव में विकार हो जाय तो वह अन्य नहीं होगा। यहाँ 'निर्जर' शब्द में जो 'जर' शब्द है, वह 'जरा' शब्द के आकार को ह्रस्वादेश होकर प्राप्त हुआ है। अतः उसके अवयव (आकार) में विकार होने से वह अन्य नहीं होगा। इसलिए 'जर'शब्द को 'जरस्' आदेश हो गया। 'निर्जरस् औ' होकर 'निर्जरसौ' रूप बना। इसी प्रकार अन्य अजादि विभक्तियों में 'जरस्' आदेश होकर

रूप बनेंगे।

पक्ष इति– आदेश अभाव पक्ष में तथा हलादि विभक्तियों में 'निर्जर' शब्द के रूप राम' की तरह होंगे।

निर्जर शब्द के रूप

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	निर्जरः	निर्जरसौ	निर्जरसः
		निर्जरौ	निर्जराः
सं०	हे निर्जर	हे निर्जरसौ	हे निर्जरसः
		हे निर्जरौ	हे निर्जराः
द्वि०	निर्जरसम्	निर्जरसौ	निर्जरसः
	निर्जरम्	निर्जरौ	निर्जरान्
तृ०	निर्जरसा	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः
	निर्जरेण		
च०	निर्जरसे	निर्जराभ्याम्	निर्जरेभ्यः
	निर्जराय		
पं०	निर्जरसः	निर्जराभ्याम्	निर्जरेभ्यः
	निर्जरात्		
ष०	निर्जरसः	निर्जरसोः	निर्जरसाम्
	निर्जरस्य	निर्जरयोः	निर्जराणाम्
स०	निर्जरसि	निर्जरसोः	निर्जरेषु
	निर्जरे	निर्जरयोः	

१६२. [५]दीर्घाद् (ज्) जसि[७] चॅ (६/१/१०१)

दीर्घाज्जसि इचि च परे न पूर्वसवर्णदीर्घः। वृद्धिः-विश्वपौ। विश्वपाः। हे विश्वपाः। विश्वपाम्। विश्वपौ।

दीर्घादिति–दीर्घ से जस् और इच् परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता।

'विश्वपा सु'– यहाँ रुत्व तथा विसर्ग होकर 'विश्वपाः' बन गया।

'विश्वपा औ'–यहाँ सर्वप्रथम 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि आदेश प्राप्त था जिसे बाधकर पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त हुआ। इसका निषेध प्रस्तुत सूत्र के द्वारा हो गया। अब 'वृद्धिरेचि' के द्वारा पुनः वृद्धि आदेश होकर 'विश्वपौ' हो गया। 'विश्वपा जस् > अस्– यहाँ 'प्रथमयोः० 'के द्वारा प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का प्रकृत सूत्र से निषेध हो अकः सवर्णे दीर्घः से सवर्ण दीर्घ होकर 'विश्वपाः' सिद्ध हुआ। 'हे विश्वपा सु'– यहाँ 'विश्वपा' न तो एङन्त है और न ही ह्रस्वान्त है। अतः 'एङ् ह्रस्वात्०' के द्वारा होने वाला 'सु' का लोप

नहीं होगा और रुत्व आदि कार्य होकर 'हे विश्वपाः' पूर्ववत् होगा। 'विश्वपा अम्' -यहाँ 'अमि पूर्वः' के द्वारा पूर्व रूप होकर 'विश्वपाम्' हो गया।

१६३. [१]**सुडनपुंसकस्य**[६] (१/१/४२)

स्वादिपञ्च वचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि स्युरक्लीबस्य।

सुडिति- सु, औ, जस्, अम् और औट्- इन पाँच वचनों की सर्व-नामस्थान संज्ञा हो, नपुंसकलिङ्ग को छोड़कर।

१६४. [७]**स्वादिष्वसर्वनामस्थाने**[७] (१/४/१७)

कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं पदं स्यात्!

स्वादिष्विति—सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्ययों को छोड़कर 'सु' से लेकर 'कप्' पर्यन्त प्रत्ययों के परे रहते पूर्व की पदसंज्ञा हो।

'सु से लेकर कप् प्रत्यय तक' ऐसा कहने से चतुर्थ और पञ्चम अध्याय के सारे प्रत्यय संगृहीत होते हैं। सु प्रत्यय 'स्वौजस्० (पा० ४.१.२.)' सूत्र से होता है। कप् प्रत्यय 'उरः प्रभृतिभ्यः कप् (पा० ५.४.१५१.)' सूत्र से होता है। इसके आगे के सूत्र भी 'कप्' प्रत्यय विधान करते हैं। उनका भी इससे संग्रह हो जाता है।

१६५. [७]**यचि** [१]**भम्** (१/४/१८)

यादिषु अजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं भसंज्ञं स्यात्।

यचीति-सर्वनाम स्थान संज्ञक प्रत्ययों को छोड़कर 'सु' से लेकर 'कप्' तक यकारादि और अजादि प्रत्यय् परे रहते पूर्व शब्द की 'भ' संज्ञा हो।

'विश्वपा शस् > अस्' (द्वितीया बहुवचन) में शस् प्रत्यय सर्वनाम स्थान से भिन्न है तथा कप् प्रत्यय पर्यन्त प्रत्ययों में परिगणित है। अतः इससे पूर्व 'विश्वपा' शब्द की पद तथा 'भ'संज्ञा हुई।

१६६. [५]**आ कडारादेका**[१] **संज्ञा**[१] (१/४/१)

इत ऊर्ध्वं 'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्रागेकस्यैकैव संज्ञा ज्ञेया। या पराऽनवकाशा च।

आकडारादिति-यहाँ से लेकर 'कडाराः कर्मधारये' सूत्र पर्यन्त एक शब्द की एक ही संज्ञा हो।

'यहाँ से लेकर' का अर्थ है- (पा० १/४/१) तथा 'कडाराः कर्मधधारये' का तात्पर्य है पा० २.२.३८ पर्यन्त। अब प्रश्न उठता है कि 'विश्वपा' की भ संज्ञा हो या 'पद' संज्ञा। काशिका में कहा गया है 'या पराऽनवकाशा च' अर्थात् जो संज्ञा पर हो तथा निरवकाश हो। निरवकाश का अर्थ है-जिसे चरितार्थ होने के लिए सामान्य सूत्र से प्राप्त स्थल के अतिरिक्त स्थल न हो। प्रकृत में भसंज्ञा पर भी है तथा निरवकाश भी है। निष्कर्ष यह है कि 'यकारादि और अजादि प्रत्यय परे रहते भसंज्ञा होती है तथा शेष हलादि प्रत्यय परे रहते पदसंज्ञा। 'विश्वपा अस्' यहाँ अजादि प्रत्यय 'शस्' परे होने से

पूर्व 'विश्वपा' शब्द की भसंज्ञा हुई।

१६७. [६]आतो धातो:[६] (६/४/१४०)

आकारान्तो यो धातु:, तदन्तस्य भसंज्ञकाङ्गस्य लोप:। अलोऽन्त्यस्य। विश्वप:। विश्वपा, विश्वपाभ्यामित्यादि। एवं शंखध्मादय:। धातो: किम्-हाहान्। हाहै। हाहा:। हाहौ:। हाहाम्। हाहे। इत्यादन्ता:। हरि:। हरी।

आत इति- जो धातु आकारान्त है तदन्त (अर्थात् वह है अन्त में जिसके) भसंज्ञक अङ्ग का लोप हो। अलोऽन्त्यस्येति-अलोऽन्त्यपरिभाषा से भसंज्ञक अंग के अन्त्य अल् का लोप होगा।

'विश्वपा-अस्' इस दशा में आकारान्त धातु 'पा' है तदन्त भसंज्ञक अंग के अन्त्य वर्ण आकार का लोप होकर 'विश्वप् अस्' इस स्थिति में सकार को रुत्व तथा विसर्ग हुए। विश्वप:। 'विश्वपा आ' इस दशा में अन्त्य आकार का लोप हुआ। विश्वपा। अजादि विभक्तियों में इसी प्रकार भसंज्ञक अङ्ग के अन्त्य वर्ण आकार का लोप होगा, हलादि विभक्तियों में कोई विशेष कार्य नहीं होता।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	विश्वपा:	विश्वपौ	विश्वपा:
सं०	हे विश्वपा:	हे विश्वपौ	हे विश्वपा:
द्वि०	विश्वपाम्	विश्वपौ	विश्वप:
तृ०	विश्वपा	विश्वपाभ्याम्	विश्विपाभि:
च०	विश्वपे	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्य:
पं०	विश्वप:	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्य:
ष०	विश्वप:	विश्वपो:	विश्वपाम्
स०	विश्वपि	विश्वपो:	विश्वपासु

एवमिति-इसी प्रकार 'शङ्खं धमति' इति शंखध्मा (शंख बजाने वाला) आदि शब्दों के भी रूप बनेंगे।

धातो: किमिति-धातु के आकार का लोप होता है यह क्यों कहा? 'हाहा' शब्द किसी धातु से निष्पन्न नहीं है। अत: 'धातो:' ऐसा कहने से 'हाहा' शब्द के आकार का लोप नहीं होगा। यही इसका फल है। 'हा हा शस् > अस्' यहाँ पर पूर्वसवर्ण दीर्घ तथा सकार को नकार होकर रूप सिद्ध हो गया। हाहान्। तस्माच्छसो न: पुंसि। 'हाहा टा > आ'- यहाँ 'अक: सवर्णे दीर्घ:' से दीर्घ होकर 'हाहा' बन गया। 'हाहा ङे > ए'- 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश होकर 'हाहै' हो गया। 'हाहा ङसि तथा ङस्'-हाहा अस्। सवर्ण दीर्घ होकर 'हाहा:' बन गया। 'हाहा ओस्'- 'वृद्धिरेचि' के द्वारा वृद्धि, विसर्ग इत्यादि होकर 'हाहौ:' रूप सिद्ध हुआ। 'हाहा आम्'-यहाँ सवर्ण दीर्घ होकर 'हाहाम्' बन गया। 'हाहा ङि > इ'- यहाँ 'आद्गुण:' से गुण होकर 'हाहे' बन गया।

हाहा शब्द के रूप

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	हाहा:	हाहौ	हाहा:
सम्बो०	हे हाहा:	हे हाहौ	हे हाहा:
द्वि०	हाहाम्	हाहौ	हाहान्
तृ०	हाहा	हाहाभ्याम्	हाहाभि:
च०	हाहे	हाहाभ्याम्	हाहाभ्य:
पं०	हाहा:	हाहाभ्याम्	हाहाभ्य:
ष०	हाहा:	हाहौ:	हाहाम्
स०	हाहे	हाहौ:	हाहासु

आकारान्त धातु से निष्पन्न आकारान्त शब्दों के रूप 'विश्वपा' की तरह होंगे तथा धातु से निष्पन्न न होने वाले शब्दों के रूप 'हाहा' की तरह होंगे।

ह्रस्व इकारान्त शब्द–हरि (विष्णु)

प्रथमा के एकवचन में 'हरि स्' इस दशा में सकार को रु और रेफ को विसर्ग होकर 'हरि: ' रूप बना। द्विवचन में 'हरि औ' इस स्थिति में 'इको यणचि' से 'यण्' प्राप्त हुआ। 'यण्' को बाधकर 'प्रथमयो:०' सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश होकर 'हरी' रूप सिद्ध हुआ।

१६८. [७]**जसि च**[१]। (७/३/१०९)

ह्रस्वान्तस्याऽङ्गस्य गुण:। हरय:।

जसीति—ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण हो जस् परे रहते।

गुणविधान अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य वर्ण को होता है। बहुवचन में 'हरि अस्' यहाँ ह्रस्वान्त अंग 'हरि' है उससे परे 'जस्' भी है। अत: उसके अन्त्य इकार के स्थान में एकार गुण हो गया। 'हरे अस्'-यहाँ 'एचोऽयवायाव:' के द्वारा अयादेश होकर 'हरयस्' तथा 'ससजषो रु:' के द्वारा 'रु' आदेश तथा 'खरवसानयोर्विसर्जनीय:' के द्वारा विसर्ग होकर 'हरय: ' रूप सिद्ध हुआ।

१६९. [६]**ह्रस्वस्य** [१]**गुण:** (७/३/१०८)

सम्बुद्धौ। हे हरे। हरिम्, हरी, हरीन्।

ह्रस्वस्येति—ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण हो सम्बुद्धि परे रहते। सम्बोधन के एकवचन को सम्बुद्धि कहते हैं।

सम्बोधन के एकवचन में 'हे हरि स्' इस दशा में 'हरि' के अन्त्य इकार को सम्बुद्धि परे होने से गुण एकार हुआ। तब अंग के हल् सकार का एङ् ह्रस्वात् सम्बुद्धे: से लोप होकर 'हे हरे' रूप सिद्ध हुआ। सम्बोधन के द्विव० और बहुव० में प्रथमा के समान 'हे हरी, हे हरय: ' रूप बनते हैं। द्वितीया के एकवचन में 'हरि अम्' इस दशा में

'अमि पूर्वः' से पूर्व रूप आदेश होकर रूप सिद्ध होता है। हरिम्। प्रथमा के द्विवचन के समान सिद्ध होता है। हरी। द्वितीया बहुवचन में 'हरि अस्' इस दशा में 'प्रथमयोः०' सूत्र से पूर्व इकार का सवर्ण दीर्घ (अर्थात् ईकार) एकादेश होकर 'हरी स्' बन गया। अब 'तस्माच्छसो न पुंसि' के द्वारा सकार को नकार होकर 'हरीन्' सिद्ध हुआ।

१७०. [१]**शेषो** [१]**घ्यसखि**[१] **(१/४/७)**

(शेष इति स्पष्टार्थम्)। अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्जं घिसंज्ञम्।

शेष इति- नदी संज्ञक को छोड़कर ह्रस्व इकारान्त और उकारान्त शब्द की घि संज्ञा हो, सखि शब्द की न हो। नदी संज्ञा दो अवस्थाओं में नहीं होती है:

१. पुँल्लिङ्ग में ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द नदीसंज्ञक नहीं होते हैं। यथा— कवि, साधु आदि। २. स्त्रीलिङ्ग में ङित् विभक्तियों के परे होने पर 'ङिति ह्रस्वश्च' के द्वारा जिस पक्ष में नदी संज्ञा नहीं होती है।

चूँकि 'घि' संज्ञा उन्हीं शब्दों की होगी, जिनकी 'नदी' संज्ञा नहीं है। अतः 'शेषः शब्द का पाठ व्यर्थ है। वस्तुतः 'शेषः' शब्द का पाठ स्पष्टार्थ के लिए हैं।

'हरि' शब्द की 'घि' संज्ञा होने पर—

१७१. [६]**आङो**[१] **नास्त्रियाम्**[७] **(७/३/११९)**

घेः परस्याङो ना स्यादस्त्रियाम्। आङ् इति टा संज्ञा (प्राचाम्)। हरिणा, हरिभ्याम्, हरिभिः।

आङ इति-घि संज्ञक शब्द से परवर्त्ती 'आङ्' को 'ना' आदेश हो तथा स्त्रीलिङ्ग में न हों।

प्राचीन आचार्यों की परम्परा के अनुसार 'आङ्' टा की संज्ञा है। अतः उसी परम्परा के अनुसार आचार्य ने 'टा' ऐसा न कहकर 'आङ्' ऐसा कहा है। 'हरि टा' इस दशा में 'शेषो घ्यसखि' के द्वारा घिसंज्ञक होने के कारण हरि शब्द से पर 'टा' के स्थान में 'ना' आदेश हुआ। तब 'हरिना' इस स्थति में 'अट्कुप्वाङ्०' सूत्र से नकार को णकार आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ। हरिणा। द्विवचन में-'हरिभ्याम्', बहुवचन में-'हरिभिः' रूप सिद्ध होते हैं।

१७२. [६]**घेर्ङिति**[७] **(७/३/१११)**

घिसंज्ञस्य ङिति सुपि गुणः। हरये।

घेरिति-घिसंज्ञक अङ्ग को ङित् (ङे, ङसि, ङस् और ङि) सुप् प्रत्यय परे रहते गुण हो।

चतुर्थी के एकवचन में 'हरि ए' इस दशा में घिसंज्ञक अङ्ग के अन्त्य वर्ण को ङित् सुप् परे होने से 'घेर्ङिति' से गुण (एकार) आदेश हुआ। तब 'हरे ए' इस स्थिति में एकार को 'एचोऽयवा०' से 'अय्' आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ। हरये। द्विवचन में 'हरिभ्याम्,' और बहुवचन में 'हरिभ्यः' रूप बनते हैं।

१७३. [७]ङसिङसोश्च (६/१/१०६)

एङो ङसिङसोरति पूर्वरूपमेकादेशः। हरेः२। हर्योः। हरीणाम्।

ङसीति-एङ् से ङसि और ङस् का अकार परे रहते पूर्वरूप एकादेश हो। ए तथा ओ को एङ् कहते हैं।

पञ्चमी के एकवचन में 'हरि अस्' इस दशा में पहले 'घेर्ङिति' सूत्र से इकार को गुण हुआ। तब 'हरे अस्' ऐसी स्थिति होने पर 'ङसि०' के द्वारा 'ङसि' के अकार के परे होने से पूर्वरूप एकादेश हुआ। एकार दोनों के स्थान में हुआ। सकार को रुत्व विसर्ग करने पर 'हरेः' रूप सिद्ध हुआ। द्विवचन में-हरिभ्याम्, बहुवचन में-हरिभ्यः-चतुर्थी के समान। षष्ठी के एकवचन में 'हरेः' पञ्चमी के समान ही रूप बनता है। षष्ठी के द्विवचन में 'हरि ओस्' इस स्थिति में इकार के स्थान में 'इको यणचि' सूत्र से 'यण्' और सकार को रुत्व तथा विसर्ग हुए। हर्योः। षष्ठी बहुवचन में 'हरि आम्' इस अवस्था में ह्रस्वान्त अङ्ग होने से 'आम्' को 'ह्रस्वनद्यापो०' 'नुट्' आगम और 'नामि' से दीर्घ हुआ। 'अट्कुप्वाङ्०' सूत्र से 'न' को 'ण' हो गया। हरीणाम्।

१७४. [१]अच्च घेः[६] (७/३/११८)

इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत्, घेरत्। हरौ, हर्योः, हरिषु। एवं कव्यादयः।

अच्चेति-ह्रस्व इकार और उकार से पर 'ङि' को 'औत्' और घिसंज्ञक अङ्ग को अकार आदेश हो। यह अकार आदेश 'अलोऽन्त्य०' परिभाषा से अङ्ग के अन्त्य वर्ण को होगा।

'हरि ङि'-हरि की घिसंज्ञा हो गई। 'घेर्ङिति' के द्वारा 'हरि' को गुण प्राप्त हुआ। उसे प्रकृत सूत्र ने बाध दिया। 'ङि' को 'औत्' तथा हरि को अकार अन्तादेश हो गया। अब 'वृद्धिरेचि' के द्वारा वृद्धि एकादेश हो गया। हरि ङि-हर औ- हरौ। 'हर्योः'-सप्तमी विभक्ति के द्विवचन का रूप है। षष्ठी विभक्ति द्विवचन के समान प्रक्रिया क्रम है। 'हरि सुप् > सु'-'आदेशप्रत्यययोः' के द्वारा मूर्द्धन्य आदेश होकर 'हरिषु' बन गया।

इसी प्रकार कवि (पुँल्लिङ्ग इकारान्त) आदि शब्दों के रूप होगे।

१७५. [१]अनङ् सौ [७] (७/१/९३)

सख्युरङ्गस्यानङ् आदेशोऽसम्बुद्धौ सौ।

अनङिति-सम्बुद्धि भिन्न सु के परे रहते 'सखि' अङ्ग को 'अनङ्' आदेश हो।

'अनङ्' के ङकार तथा अकार की क्रमशः 'हलन्त्यम्' तथा 'उपदेशेऽजनु०' के द्वारा इत्संज्ञा होती है। यह ङित् है। अतः 'ङिच्च' सूत्र के द्वारा अन्त्य अल् को होगा।

'सखि सु'-प्रकृत सूत्र के द्वारा सखि अङ्ग को 'अनङ्' (अन्) आदेश हुआ। 'सख् अन् स्'।

१७६. [५]अलोऽन्त्यात्[५] पूर्व[१] [१]उपधा (१/१/६४)

अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः।

अल इति–अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण की उपधा संज्ञा हो। 'सखन् स्' यहाँ अन्त्य अल् नकार है, उस से पूर्व वर्ण अकार है, उसकी उपधा संज्ञा हुई।

१७७. **[७]सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ[७] (६/४/८)**

नान्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने।

सर्वनामस्थाने इति–सम्बुद्धि भिन्न सर्वनाम स्थान परे होने पर नकारान्त अङ्ग की उपधा के स्थान पर दीर्घादेश हो। नकारान्त अङ्ग है 'सखन्'। सर्वनामस्थान पर है 'स्'। वह सम्बुद्धिभिन्न भी है। अतः उपधा अकार को दीर्घ हुआ। तब 'सखान् स्' यह स्थिति बनी।

१७८. **[१]अपृक्त [१]एकाल् [१]प्रत्ययः (१/२/४१)**

एकाल् प्रत्ययो यः, सोऽपृक्तसंज्ञः स्यात्।

अपृक्त इति–एक अल् रूप जो प्रत्यय, उसकी अपृक्त संज्ञा हो।

'सखान् स्' यहाँ 'स्' यह प्रत्यय है और एक अल् रूप है, अतः इसकी अपृक्त संज्ञा हुई।

१७९. **[५]हल्-ङ्याब्भ्यो दीर्घात्[५] सुतिस्य[१]पृक्तं [१]हल् (६/१/६८)**

हलन्तात् परम्, दीर्घौ यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परम्, सु ति सि इत्येतद् अपृक्तं हल् लुप्यते।

हलिति–हल्, दीर्घ (ङी, आप्) से परवर्ती सु, ति, सि के अपृक्त हल् का लोप हो।

तात्पर्य है कि हलन्त से तथा ङी और आप् तदन्त से पर 'सु' 'ति' तथा 'सि' के अपृक्त 'हल्' का लोप होता है। 'सु' सुप् है, प्रथमा विभक्ति का एकवचन है। 'ति' और 'सि' तिङ् हैं। क्रम से प्रथम और मध्यम पुरुष के एकवचन हैं।

'सु' के उकार की 'उपदेशेऽजनु०' के द्वारा इत्संज्ञा होती है। 'ति' और 'सि' के 'इकार' की इतश्च के द्वारा इत्संज्ञा होती है। 'ङी' से ङीप् ङीष् और ङीन् का ग्रहण होता है। आप् से टाप्, डाप् तथा चाप् का ग्रहण होता है। 'सखान् स्' यहाँ 'अपृक्त एकाल्०' से 'स्' की अपृक्तसंज्ञा होकर प्रकृत सूत्र के द्वारा 'स्' का लोप हो गया।

१८०. **[६]न लोपः[१] प्रातिपदिकान्तस्य[६] (८/२/७)**

प्रातिपदिकसंज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः। सखा।

न लोप इति–प्रातिपदिक सञ्ज्ञक जो पद, उस के अन्त्य नकार का लोप हो।

तात्पर्य यह है कि नकार प्रातिपादिक का अवयव हो और साथ ही पद के अन्त में भी हो।

'सखान्' यहाँ सुबन्त होने से यह पद है, उसके अन्त में नकार है और वह प्रातिपदिक का अवयव भी है। लोप होकर 'सखा' रूप सिद्ध हुआ।

१८१. [६]सख्युरसम्बुद्धौ[७] (७/१/९२)

सख्युरङ्गात्परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णिद्वत् स्यात्।

सख्युरिति- सखि रूप अङ्ग से पर सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान प्रत्यय णिद्वत् (णित् के समान) हो अर्थात् णित् परे रहते जो कार्य होते हैं, उसके परे रहते भी वे कार्य हों।

'सखि औ' यहाँ अङ्ग से परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान 'औ' है। यह णिद्वत् हुआ।

१८२. [६]अचो ञ्णिति[७] (७/२/११५)

अजन्ताङ्गस्य वृद्धिः ञिति णिति च परे। सखायौ, सखायः। हे सखे। सखायम्, सखायौ, सखीन्। सख्या। सख्ये।

अच इति-अजन्त अङ्ग को वृद्धि हो, ञित् तथा णित् प्रत्यय परे रहते।

'सखि औ' इस दशा में पूर्व सूत्र से 'औ' णिद्वत् हुआ। अतः अजन्त अङ्ग 'सखि' के अन्त्य अच् इकार को प्रकृत सूत्र से वृद्धि आदेश हुआ। तब 'सखै औ' इस स्थिति में 'एचोऽयवायावः' सूत्र से ऐकार को 'आय्' आदेश होकर 'सखायौ' रूप बनता है।

'सखि जस् > अस्'- यहाँ 'सख्युरस०' के द्वारा णित्वत् होकर 'अचो ञ्णिति' के द्वारा वृद्धि 'एचोऽयवायावः' के द्वारा 'आय्' आदेश होकर 'सखायः' सिद्ध हो गया।

'सखि सु (सम्बोधन)'-यहाँ पर 'ह्रस्वस्य गुणः' से गुण होकर 'एङ् ह्रस्वात्०' के द्वारा सकार का लोप होकर। सखि स्-सखे स्।। सखे। 'हे सखायौ' तथा 'हे सखायः' प्रथमा के समान होंगे। 'सखि अम्'-यहाँ सभी कार्य 'सखायौ' की तरह होकर 'सखायम्' बनेगा। 'सखि शस् > अस्'-यहाँ पूर्वसवर्ण दीर्घ करके 'तस्माच्छसो नः०' के द्वारा सकार के स्थान पर नकार हो गया। सखि अस्। सखी स्। सखीन्। 'सखि टा > आ' 'इको यणचि' के द्वारा यणादेश होकर 'सख्या' बन गया। 'सखि भ्याम्'—सखिभ्याम् तथा 'सखि भिस्' में रुत्व इत्यादि होकर 'सखिभिः' बन गया। 'सखि ङे > ए'- यहाँ 'इको यणचि' के द्वारा 'यण्' होकर 'सख्ये' बन गया। चतुर्थी द्विवचन में तृतीया की तरह रूपसिद्धि होती है। बहुव० में 'सखि भ्यस्'-रुत्व तथा विसर्ग होकर 'सखिभ्यः' रूप सिद्ध हुआ।

१८३. [५]ख्यत्यात् परस्य[६] (६/१/१०८)

'खि' 'ति' शब्दाभ्यां 'खी' 'ती' शब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिङसोरत उः। सख्युः।

खीति-जिन्हें यणादेश किया गया है, उन ह्रस्वान्त 'खि' तथा 'ति' शब्द तथा दीर्घान्त 'खी' व 'ती' शब्द से परवर्त्ती 'ङसि' और 'ङस्' के अकार को उकार आदेश हो।

पञ्चमी के एकवचन में 'सखि अस्' इस स्थिति में इकार को 'यण्' आदेश होकर 'सख्य् अस्' ऐसी अवस्था में प्रकृत सूत्र से 'ख्य्' रूप 'खि' शब्द से पर ङसि के अकार को उकार आदेश हो गया। तब सकार को रुत्व तथा विसर्ग होकर रूप बना। सख्युः।

द्विवचन में-सखिभ्याम्, बहुवचन में-सखिभ्यः, चतुर्थी के समान। षष्ठी में 'सख्युः' पञ्चमी के समान। 'सख्योः' में 'यण्' आदेश, 'सखीनाम्' में 'नुट्' और दीर्घ होते हैं। ह्रस्वनद्यापो नुट्। नामि।

१८४. [१]औत् (७/३/११८)

इदुतः परस्य ङेरौत्। सख्यौ। शेषं हरिवत्।

औदिति-ह्रस्व इकार और उकार से पर 'ङि' को 'औत्' आदेश हो। अनेकाल् होने से यह सम्पूर्ण 'ङि' के स्थान में होता है। औत् का तकार इत्संज्ञक है।

सख्यौ-सप्तमी के एकवचन में 'सखि ङि' इस दशा में 'ङि' को औकार आदेश होने पर 'यण्' आदेश हुआ। द्विवचन-सख्योः, इकोयणचि। बहुवचन-सखिषु।

शेषं इति-सखि शब्द के शेष रूप 'हरि' शब्द के समान बनेंगे।

१८५. [१]पतिः समास[७] एंव (१/४/८)

घिसंज्ञः। पत्या। पत्ये। पत्युः। पत्यौ। शेषं हरिवत्। समासे तु-भूपतये। कतिशब्दो (नित्यं) बहुवचनान्तः।

पतिरिति-पति शब्द समास में ही घिसंज्ञक हो,। अकेले 'पति' शब्द की घिसंज्ञा न हो।

चूँकि पति शब्द की समस्तपद के रूप में ही 'घि' संज्ञा होती है, अतः 'पति टा - पति आ' यणादेश होकर- 'पत्या'। 'पति ङे > ए'- यहाँ यणादेश होकर 'पत्ये'। ङसि और ङस् परे रहते 'ख्यत्यात् परस्य' के द्वारा उकार आदेश होकर 'पत्युः' रूप सिद्ध हुआ। 'पति ङि > औ'—'औत्' सूत्र के द्वारा 'औ' तथा यणादेश होकर 'पत्यौ' सिद्ध हुआ। पति शब्द के शेष रूप हरि के समान होंगे।

समासे- 'भूपति ङे'- यहाँ प्रकृतसूत्र के द्वारा घिसंज्ञा होकर 'घेर्ङिति' से गुण हो जायेगा। तत्पश्चात् अयादेश होकर— भूपति ए-भूपते ए-भूपतय् ए-भूपतये बन गया।

इसी प्रकार— सभापति, नृपति तथा गणपति आदि के रूप समझें।

कति शब्द नित्य बहुवचनान्त है।

१८६. [१]बहुगणवतुडति [१]संख्या (१/१/२२)

(बहुगणशब्दौ वतुडत्यन्ताश्च संख्यासंज्ञकाः स्युः।)

बहु इति-बहु (बहुत), गण (समूह) शब्द तथा वतु प्रत्ययान्त और डति प्रत्ययान्त की संख्यासंज्ञा हो।

संख्यावाचक न होने के कारण बहु आदि इन शब्दों की संख्यासंज्ञा नहीं थी, अतः विधान की गई है। कतिशब्द की डतिप्रत्ययान्त होने के कारण संख्यासंज्ञा हुई।

१८७. [७]डति चॅ (१/१/२४)

डत्यन्ता संख्या षट्संज्ञा स्यात्।

डतीति-डतिप्रत्ययान्त संख्या (भी) षट्संज्ञक हो।

कतिशब्द डतिप्रत्ययान्त संख्या है, अतः इस की षट्संज्ञा हुई।

१८८. [५]षड्भ्यो लुक्[१] (७/१/२२)

जश्शसोः।

षड्भ्य इति-षट्संज्ञक शब्दों से पर जस् और शस् का लुक् हो।

कति शब्द षट्संज्ञक है। उससे पर जस् और शस् का लोप हो। अतः दोनों जगह केवल 'कति' शेष रहा।

१८९. [६]**प्रत्ययस्य** [१]**लुक्श्लुलुपः** (१/१/६०)

लुक्-श्लुलुप्शब्दैः कृतं प्रत्ययाऽदर्शनं क्रमात् तत्तत्संज्ञं स्यात्।

प्रत्ययस्येति-लुक्, श्लु और लुप् शब्दों का उच्चारण करके किया हुआ प्रत्यय का अदर्शन क्रम से उसी संज्ञा वाला हो। 'कति जस्' यहाँ प्रत्यय 'जस्' का लोप 'षड्भ्यो लुक्' सूत्र से 'लुक्' शब्द के द्वारा हुआ है। अतः इसकी 'लुक्' संज्ञा हो गई।

१९०. [७]**प्रत्ययलोपे** [१]**प्रत्ययलक्षणम्** (१/१/६२)

प्रत्यये लुप्तेऽपि तदाश्रितं कार्यं स्यात् इति 'जसि च' इति गुणे प्राप्ते।

प्रत्ययेति-प्रत्यय के लोप हो जाने पर (भी) तदाश्रित कार्य हो।

अर्थात् किसी शब्द से परवर्ती प्रत्यय का लोप होने पर भी उस शब्द से वे सभी कार्य होंगे, जो उस प्रत्यय के निमित्त होने चाहिए थे। 'कति जस्'- यहाँ जस् का लुक् हो जाने पर भी 'जसि च' से तन्निमित्तक गुण कार्य होगा।

१९१. नँ[३]लुमताऽङ्गस्य[६] (१/१/६२)

लुमताशब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात्। कति २। कतिभिः। कतिभ्यः २। कतीनाम्। कतिषु। अस्मद्युष्मत्षट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः। त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः! त्रयः। त्रीन्। त्रिभिः। त्रिभ्यः २।

नेति-'लु' वाले शब्दों से यदि प्रत्यय का लोप हुआ हो तो तन्निमित्तक कार्य न हो।

'लु' के द्वारा लुक्, श्लु, लुप् का ग्रहण होता है। इन तीनों में 'लु' है। अतः इन्हें 'लुमत्' कहा गया है। अब 'कति' इस अवस्था में प्रत्ययलक्षण के द्वारा जो गुणकार्य प्राप्त था, उसका प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध हो गया। इस प्रकार 'कति' रूप सिद्ध हुआ।

'कति शस्'-यहाँ पूर्ववत् कार्य होकर 'कति' रूप बनेगा। तृतीया बहुवचन में 'कतिभिः' तथा चतुर्थी बहुवचन में 'कतिभ्यः'। 'कति आम्' 'ह्रस्व०' से नुट्, 'नामि' से दीर्घ होकर 'कतीनाम्' बन गया। 'कति सुप्' में मूर्धन्य आदेश होकर 'कतिषु' बनता है। आदेश-प्रत्यययोः।

युष्मदस्मदिति-'युष्मद्', 'अस्मद्' और षट्संज्ञक 'कति' शब्दों के तीनों लिङ्गों में समान रूप होते है। जैस-कति पुरुषाः। कति फलानि।

युष्मद् (तू) और अस्मद् (मैं) इन शब्दों के रूप हलन्त पुँल्लिङ्ग में हैं। ये शब्द पुरुष वाचक सर्वनाम हैं। त्रिशब्द इति—'त्रि' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। 'त्रि जस्' इस दशा में 'जसि च' से गुण, 'एचोऽयवा०' के द्वारा अयादेश और सकार को रुत्व विसर्ग होकर रूप बना। त्रयः। शस् में पूर्वसवर्ण दीर्घ और सकार को नकार हुआ। त्रीन्। प्रथमयोः पूर्व० भिस् में सकार को रु और विसर्ग हुए। त्रिभिः। 'त्रिभ्यः'— चतुर्थी और पञ्चमी में 'भ्यस्' के सकार को रुत्व, विसर्ग हुए।

१९२. [६]त्रेस्त्रयः[१] (७/१/५३)

त्रिशब्दस्य 'त्रय' आदेशः स्यादामि। त्रयाणाम्। त्रिषु। गौणत्वेऽपि-प्रियत्रयाणाम्।

त्रेरिति—'त्रि' शब्द को 'त्रय' आदेश हो आम् परे रहते। 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' 'त्रि आम्' इस दशा में 'आम्' पर होने से 'त्रय' आदेश हुआ। तब 'त्रय आम्' ऐसी स्थिति बन जाने पर 'ह्रस्वनद्याप:०' सूत्र से 'नुट्' आगम और 'नामि' सूत्र से यकारोत्तरवर्त्ती अकार को दीर्घ हो गया। अब 'अट्कुप्वाङ्नुम्०' के द्वारा रेफ से उत्तरवर्त्ती नकार को णकार होकर रूप बना। त्रि आम्- त्रय आम्- त्रय 'नुट्' (न्) आम्- त्रयानाम्-त्रयाणाम्। 'त्रि सुप्' (सप्तमी बहुवचन) में 'आदेश प्रत्यययोः' के द्वारा मूर्द्धन्य आदेश होकर 'त्रिषु' हो गया। 'त्रि' शब्द के गौण होने पर भी त्रय आदेश होता है।

'प्रियाः त्रयः यस्य सः' इस विग्रह के अनुसार बहुव्रीहि समास हो गया। यहाँ यद्यपि 'त्रि' शब्द गौण है, तथापि 'प्रियत्रयाणाम्' में 'त्रय' आदेश हो गया है।

१९३. [६]त्यदादीनामः[१] (७/२/१०२)

एषामकारो विभक्तौ। द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः। द्वौ २। द्वाभ्याम् ३। द्वयोः २। पाति लोकमिति पपीः सूर्यः।

दीर्घाज्जसि चँ (६/१/१०१)

पप्यौ २। पप्यः। हे पपीः। पपीम्। पपीन्। पप्या। पपीभ्याम् ३। पपीभिः। पप्ये। पपीभ्यः२। पप्यः२। पप्योः। दीर्घत्वान्न नुट्-पप्याम्। ङौ तु सवर्णः दीर्घः-पपी। पप्योः। पपीषु। एवं वातप्रम्यादयः। बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी।

त्यदिति-त्यदादि (अङ्ग) को अकार आदेश हो विभक्ति परे रहते।

'अलोऽन्त्यस्य' के अनुसार अकार आदेश अन्त्य वर्ण को होता है। यहाँ 'त्यदादि' के द्वारा 'द्वि' शब्द पर्यन्त शब्दों का ग्रहण होता है। इसके अनुसार त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक और द्वि-इन शब्दों को ही उक्त कार्य होता है।

प्रथमा और द्वितीया में 'द्वि औ' इस स्थिति में पहले अकार अन्तादेश हुआ। तब 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि आदेश की प्राप्ति हुई। इसे 'प्रथमयोः पूर्व०' ने बाध दिया। पूर्वसवर्ण दीर्घ की प्राप्ति हुई। 'नादिचि' ने इसका निषेध किया। तब वृद्धि आदेश होकर रूप बनता है। द्वौ। तृतीया, चतुर्थी और पञ्चमी में 'द्वि भ्याम्' इस दशा में पहले अकार अन्तादेश हुआ। तब 'सुपि च' से दीर्घ। द्वाभ्याम्। षष्ठी और सप्तमी में 'द्वि ओस्' यहाँ अकार

अन्तादेश हुआ। तब 'ओसि च' से अकार को एकार और उसे अय् आदेश होकर रूप बना। 'द्वयोः'।

द्वि शब्द नित्य द्विवचनान्त है, एक वचन और बहुवचन में इसका प्रयोग नहीं होता।

दीर्घ ईकारान्त शब्द पपी-(सूर्य) शब्द। पातीति—(पाति) रक्षा करता है। 'पपी सु' इस दशा में सकार के स्थान में रु और रकार के स्थान में विसर्ग होने पर प्रथमा के एकवचन में रूप सिद्ध हुआ। पपीः। प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में 'इको यणचि' से प्राप्त यणादेश का बाध हो गया। तब 'प्रथमयोः०' सूत्र से प्राप्त पूर्वसवर्णदीर्घ का 'दीर्घाद्०' सूत्र से निषेध होने से 'इको यणचि' सूत्र से ईकार को 'यण्' होकर 'पप्यौ' रूप हुआ। प्रथमा के बहुवचन में 'यण्' और रुत्व व विसर्ग होने से 'पप्यः' रूप बना।

'हे पपी सु'- यहाँ रुत्व व विसर्ग होकर 'हे पपीः' रूप सिद्ध हुआ। 'पपी अम्' में 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप एकादेश। पपीम्। 'पपी अस्'—यहाँ 'प्रथमयोः०' के द्वारा पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर 'पपीस्' बन गया। तब 'तस्माच्छसोः न०' से नकार। पपीन्।

तृतीया एकव० में यण् होकर 'पप्या' बन गया। पपीभ्याम्, पपीभिः। 'पपी ङे > ए'- यहाँ 'यण्' होकर 'पप्ये' रूप सिद्ध हुआ। पपीभ्याम्। पपीभ्यः। पूर्ववत्। 'पपी ङसि (अथवा ङस्)' की अवस्था में 'यण्' होकर 'पप्यः' बन गया। 'पपी ओस्'-यण् होकर 'पप्योस्' तथा रुत्व व विसर्ग होकर 'पप्योः' बन गया। 'पपी आम्'—यहाँ दीर्घ होने से 'नुट्' की प्रवृत्ति नहीं हुई। 'यण्' होकर 'पप्याम्' हुआ। 'पपी ङि > इ' यहाँ 'अकः सवर्णे दीर्घः' के द्वारा 'पपी' बन गया। पप्योः। पूर्ववत्। पपी सुप् > सु। मूर्धन्य आदेश होकर 'पपीषु' रूप सिद्ध हुआ।

पपी शब्द के रूप

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	पपीः	पप्यौ	पप्यः
सं०	हे पपीः	हे पप्यौ	हे पप्यः
द्वि०	पपीम्	पप्यौ	पपीन्
तृ०	पप्या	पपीभ्याम्	पपीभिः
च०	पप्ये	पपीभ्याम्	पपीभ्यः
पं०	पप्यः	पपीभ्याम्	पपीभ्यः
ष०	पप्यः	पप्योः	पप्याम्
स०	पपी	पप्योः	पपीषु

इसी प्रकार वातप्रमी (मृग) के रूप होंगे।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	वातप्रमीः	वातप्रम्यौ	वातप्रम्यः

सं०	हे वातप्रमीः	हे वातप्रम्यौ	हे वातप्रम्यः
द्वि०	वातप्रमीम्	वातप्रम्यौ	वातप्रमीन्
तृ०	वातप्रम्या	वातप्रमीभ्याम्	वातप्रमीभिः
च०	वातप्रम्ये	वातप्रमीभ्याम्	वातप्रमीभ्यः
पं०	वानप्रम्यः	वातप्रमीभ्याम्	वातप्रमीभ्यः
ष०	वातप्रम्यः	वातप्रम्योः	वातप्रम्याम्
स०	वातप्रमी	वातप्रम्योः	वातप्रमीषु

बह्व्य इति—बहुत कल्याणवाली स्त्रियाँ है जिसकी, वह 'बहुश्रेयसी' होता है।

१९४. [1]यू स्त्र्याख्यौ[1] नदी[1] (१/४/३)

ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसंज्ञौ स्तः।

(वा०) प्रथमलिङ्गग्रहणं च।

पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः।

यू इति-दीर्घ ईकारान्त और ऊकारान्त नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द नदीसंज्ञक हों अर्थात् इनकी नदीसंज्ञा हो। जिन शब्दों का केवल स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग होता है तथा अन्य लिङ्ग में नहीं उन्हें नित्य स्त्रीलिङ्ग कहते हैं।

प्रथमेति-नदी संज्ञा के विषय में प्रथम लिङ्ग का भी ग्रहण होता है। इस वार्तिक का आशय यह है कि जो शब्द पहले नित्य स्त्रीलिङ्ग हों और बाद में समास हो जाने से गौण हो जाय, उसकी भी (अब भिन्न लिङ्ग होने पर भी) समास से पूर्ववर्ती लिङ्ग के द्वारा नदी संज्ञा होती है।

पूर्वम् इति-जो शब्द पहले अर्थात् असमस्त अवस्था में स्त्रीलिङ्ग रहा हो; समस्त पद की अवस्था में उसके गौण बन जाने पर उसकी नदी संज्ञा कर देनी चाहिए।

'बहुश्रेयसी' शब्द में 'श्रेयसी' शब्द समास से पहले नित्य स्त्रीलिङ्ग है। बाद में बहु शब्द के साथ समास करने पर इस समय स्त्रीलिङ्ग न होने पर भी प्रथमलिङ्ग को लेकर इसकी नदी संज्ञा हो जाती है।

नदी संज्ञा के ये फल हैं-

१. 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' के द्वारा सम्बुद्धि में ह्रस्व होता है। २. 'आण् नद्याः' के द्वारा ङित् विभक्ति में आट् आगम होता है। ३. 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' के द्वारा आम् को 'नुट्' आगम होता है। ४. 'ङेराम्नद्याम्नी०' के द्वारा ङि को आम् आदेश होता है।

'बहुश्रेयसी सु' इस दशा में 'हल्-ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' इस सूत्र से 'सु' के अपृक्त सकार का लोप होने पर रूप सिद्ध हुआ। बहुश्रेयसी। बहुश्रेयस्यौ—औ में तथा बहुश्रेयस्यः-जस् में रूप बनते हैं। इनमें ईकार को साधारण रूप से 'यण्' आदेश होता है। प्रक्रिया इस प्रकार है—पहले यण्, उसको बाधकर पूर्वसवर्ण दीर्घ और उसका 'दीर्घाद् जसि च' से निषेध होता है। तब पुनः 'यण्' आदेश होता है।

१९५. [६]**अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः**[१] **(७/३/१०७)**

सम्बुद्धौ। हे बहुश्रेयसि।

अम्बेति—सम्बुद्धि परे रहते अम्बा अर्थक शब्द तथा नदी संज्ञक अङ्ग को ह्रस्व हो। अलोऽन्त्यस्य से अन्त्य अल् के स्थान पर ह्रस्व आदेश होता है।

सम्बोधन में 'बहुश्रेयसी सु' इस दशा में नदीसंज्ञक होने के कारण ह्रस्व हुआ। तब 'एङ्ह्रस्व०' के द्वारा 'सु' लोप होकर 'हे बहुश्रेयसि' बना।

१९६. [१]**आ(ट्)ण्नद्याः**[६] **(७/३/११२)**

नद्यन्तात् परेषां ङितामाडागमः।

आडिति— नदी संज्ञक शब्दों से पर ङित् प्रत्ययों को आट् आगम हो।

ङे, ङसि, ङस् तथा ङि–ये ङित् हैं। 'बहुश्रेयसी ङे'-इस दशा में प्रकृत सूत्र के द्वारा आट् आगम हुआ। बहुश्रेयसी आट् ङे। 'आट्' के टकार का 'हलन्त्यम्' तथा तस्य लोपः के द्वारा लोप हो जाता है। आद्यन्तौ टकितौ।

१९७. [६]**आटश्च (६/१/८७)**

आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः। बहुश्रेयस्यै। बहुश्रेयस्याः। (नद्यन्तत्वाद नुट्) बहुश्रेयसीनाम्।

आट इति—अच् परे रहते आट् को वृद्धि एकादेश हो।

'बहुश्रेयसी आ ङे'-इस दशा में एकादेश हुआ। बहुश्रेयसी ऐ। तब 'यण्' हो गया। बहुश्रेयस्यै। ङसि तथा ङस् में 'बहुश्रेयस्याः' रूप बनेगा। 'आम्' में 'नुट्' होकर रूप 'बहुश्रेयसीनाम्' बन गया। ह्रस्वनद्यापो नुट्।

१९८. [६]**ङेराम्**[१] **नद्याम्नीभ्यः**[५] **(७/३/११६)**

नद्यन्ताद् आबन्ताद् 'नी' शब्दात् परस्य ङेराम्। बहुश्रेयस्याम्। शेषं पपीवत्।

अङ्यन्तत्वाद् न सुलोपः-अतिलक्ष्मीः। शेषं बहुश्रेयसीवत्। प्रधीः।

ङेरिति-नद्यन्त, आबन्त और 'नी' शब्द से परवर्त्ती ङि को आम् आदेश हो।

'बहुश्रेयसी ङि'- यहाँ सर्वप्रथम 'आम्' आदेश हुआ। स्थानिवदादेशोऽनल्० से स्थानिवद्भाव। अब आण्नद्याः से आट् और हस्वनद्यापो नुट् से नुट् की युगपत् प्राप्ति हुई। विप्रतिषेध परं कार्यम् से 'आम्' को 'आट्' आगम होकर पुनः नुट् आगम प्राप्त हुआ। विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव से नुट् की निवृत्ति। अब 'आटश्च' से वृद्धि हुई। तब 'यण्' होकर रूप बना। बहुश्रेयस्याम्। 'बहुश्रेयसी' शब्द के शेष रूप पपी शब्द के समान बनेंगे।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	बहुश्रेयसी	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयस्यः
सं०	हे बहुश्रेयसि	हे बहुश्रेयस्यौ	हे बहुश्रेयस्यः

द्वि०	बहुश्रेयसीम्	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयसीन्
तृ०	बहुश्रेयस्या	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभिः
च०	बहुश्रेयस्यै	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभ्यः
पं०	बहुश्रेयस्याः	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभ्यः
ष०	बहुश्रेयस्याः	बहुश्रेयस्योः	बहुश्रेयसीनाम्
स०	बहुश्रेयस्याम्	बहुश्रेयस्योः	बहुश्रेयसीषु

विशेष वक्तव्यः-'बहुश्रेयसी आम्' इस दशा में 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से 'नुट्' की प्राप्ति होती है और सप्तमी के एकवचन में 'ङि' के स्थान में 'आम्' आदेश होने पर 'आण् नद्याः' (पा० ७.३.११२) से आट् भी प्राप्त होता है। पर होने के कारण 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' परिभाषा से पहले आट् हुआ। आट् होने पर फिर 'नुट्' प्राप्त है। परिभाषा है 'सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव' अर्थात् विप्रतिषेध स्थल में जिस शास्त्र का एक बार बाध हो जाता है, उसकी पुनः प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः 'नुट्' नहीं हुआ।

अङ्यन्तत्वादि- 'अतिलक्ष्मी' शब्द ङ्यन्त नहीं है। अतः 'अतिलक्ष्मी स्' में 'हल्ङ्याब्०' के द्वारा सकार का लोप नहीं होगा। सकार का रुत्व आदि होकर 'अतिलक्ष्मीः' रूप सिद्ध हुआ।

अतिलक्ष्मी शब्द के शेष रूप बहुश्रेयसी के समान होंगे।

प्र ध्यै-चिन्तायाम् क्विप् (ध्यायतेः सम्प्रसारणं च-वार्तिक) होकर 'प्रधी' शब्द बनता है। यह शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग नहीं है। अतः नदीसंज्ञा नहीं होगी। इसका दूसरा विग्रह भी हो सकता है- 'प्रकृष्टा धीः यस्य सः'। इस प्रकार 'प्रधी' शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग होगा और इसके रूप 'अतिलक्ष्मी' की तरह होंगे। 'प्रधी सु'- रुत्व तथा विसर्ग होकर 'प्रधीः' बन गया।

१९९. [७]**अचि श्नुधातुभ्रुवां [६]य्वोरियङुवङौ[१]** (६/४/७७)

श्नुप्रत्ययान्तस्य, इवर्णोवर्णान्तस्य धातोः भ्रू इत्यस्य च अङ्गस्य इयङुवङौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे। इति प्राप्ते-

अचि इति—श्नुप्रत्ययान्त, इवर्णान्त और उवर्णान्त धातु रूप तथा भ्रूरूप अङ्ग को इयङ् और उवङ् आदेश होते हैं अजादि प्रत्यय परे रहते। इन आदेशों में अकार तथा ङकार इत् हैं। ङित् होने से ये आदेश अङ्ग के अन्त के ही स्थान में होते हैं।

पूर्वप्रदर्शित रीति से 'ध्यै' धातु से सिद्ध 'प्रधी' शब्द है। 'प्रधी औ' इस स्थिति में इकोयणचि से प्राप्त यण् आदेश, का प्रथमयोः पूर्व सवर्णः से बाध होकर पूर्वस वर्ण दीर्घ प्राप्त हुआ। दीर्घाज्जसि च से निषेध। इको यणचि से प्राप्त यण् आदेश का प्रकृत से बाध होकर इवर्णान्त धातु रूप अङ्ग से अजादि विभक्ति परे होने से अङ्ग के अन्त्य 'ईकार' के स्थान में 'इयङ्' प्राप्त हुआ।

२००. [६]एरनेका[६]चोऽसंयोगपूर्वस्य[६] (६/४/८२)

धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णः तदन्तो यो धातुः, तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य 'यण्' स्याद् अजादौ प्रत्यये। प्रध्यौ। प्रध्यम्। प्रध्यः। प्रध्यि। शेषं पपीवत्। एवं ग्रामणीः। ङौ तु-ग्रामण्याम्। अनेकाचः किम्-नीः, नियौ, नियः। अमि शसि च परत्वादियङ्-नियम्, (नियः)। ङेराम्-नियाम्। असंयोगपूर्वस्य किम्-सुश्रियौ, यवक्रियौ।

एरनेकाच इति- धातु का अवयव जो संयोग वह पूर्व में नहीं है जिस इवर्ण के, वह इवर्ण है अन्त में जिस धातु के, वह धातु है अन्त में जिसके ऐसा जो अनेकाच् अङ्ग उसे अजादि प्रत्यय परे रहते 'यण्' हो।

प्रधी अम्- 'इको यणचि' से 'यण्' प्राप्त हुआ, इसे बाधकर 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' के द्वारा पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त हुआ। 'अमि पूर्वः' से उसका बाध होकर पूर्वरूप प्राप्त हुआ। अब परत्व के कारण 'अचिश्नु०' के द्वारा 'इयङ्' प्राप्त होता है। प्रकृत सूत्र के द्वारा उस का बाध होकर 'यण्' होता है। प्रध्यम्। 'प्रधी अस्' (जस्, शस्, टा, ङसि, ङस् प्रत्येक में) 'एरनेकाचो०' से 'यण्' होकर 'प्रध्यः' हो गया। शेष रूप 'पपी' शब्द के समान होंगे। यहाँ 'धी' इवर्णान्त धातु है। इसके इवर्ण से पूर्व धातु का अवयव 'ध्' है। संयोग सञ्ज्ञा नहीं है। ध्यान रहे सयोग सञ्ज्ञक 'प्र' धातु का अवयव नहीं है। 'धी' प्रधी के अन्त में है। प्रधी अनेकाच् अङ्ग है। इससे परे 'औ' अजादि है। धकारस्थ 'ई' के स्थान पर प्राप्त इयङ् को बाध कर प्रकृत से यण् आदेश हुआ।

प्रधी जस्— चुटू। इकोयणचि से प्राप्त यण् का बाध। प्रथमयोः पर्वसवर्णः से पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त। दीर्घाज्जसि च से निषेध। इको यणचि से यण् प्राप्त। अचि श्नुधातु० से इयङ् प्राप्त। प्रकृत से यण्, रुत्व, विसर्ग। प्रधी आम् नदी सञ्ज्ञा अप्राप्त। ह्रस्वनद्यापो नुट् की प्रकृत से यण्। प्रधी ङि— लशक्वतद्धिते। अकः सवर्णे दीर्घः, अचि श्नुधातु०, एरनेकाचोऽसं०।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	प्रधीः	प्रध्यौ	प्रध्यः
सं०	हे प्रधीः	हे प्रध्यौ	हे प्रध्यः
द्वि०	प्रध्यम्	प्रध्यौ	प्रध्यः
तृ०	प्रध्या	प्रधीभ्याम्	प्रधीभिः
च०	प्रध्ये	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः
पं०	प्रध्यः	प्रधीभ्याम्	प्रधीभ्यः
ष०	प्रध्यः	प्रध्योः	प्रध्याम्
सं०	प्रध्यि	प्रध्योः	प्रधीषु

'ग्रामं नयतीति ग्रामणीः'- इस विग्रह के अनुसार 'अग्रग्रामाभ्यां नयतेः' वा० के

द्वारा णत्व होकर 'ग्रामणी' बन जाता है।

एवमिति—इसी प्रकार 'ग्रामणी सु' इस दशा में प्रधी के समान ङ्यन्त न होने से सकार का लोप नहीं हुआ। ग्रामणीः।

ङौ तु– 'ङि' में 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' सूत्र से 'ङि' को 'आम्' आदेश होने से 'ग्रामण्याम्' रूप बनता है। क्योंकि 'ग्रामणी' शब्द में 'नी' शब्द है, उससे परे 'ङि' को 'आम्' विहित है।

प्रकृत सूत्र में होने वाला 'यण्' अनेकाच् (अनेक अच् वाले) अङ्ग को ही हो—ऐसा कहा गया है। यदि ऐसा न कहा जाता तो 'नी' शब्द को अजादि प्रत्यय परे रहते 'यण्' आदेश होकर अनिष्ट रूप की प्राप्ति हो जाती। अतः 'अनेकाच्' ऐसा पाठ किया गया ताकि 'नी' (जो एकाच् है) को 'यण्' आदेश न हो।

नीः— प्रथमा के एकवचन में ङ्यन्त न होने से 'हल्ङ्०' से लोप न होगा, अतः सु को रुत्व, विसर्ग होंगे। तब सविसर्ग रूप होगा। नियौ— 'नी औ' इस दशा में पहले 'इको यणचि' से 'यण्' उसको बाध कर पूर्वसवर्णदीर्घ, उसका 'दीर्घाज्जसि च' से निषेध, पुनः 'यण्' प्राप्त होता है, उसको बाधकर 'इयङ्' आदेश हो जाता है। नियः- जस् और शस् में 'प्रथमयोः पूर्व०-' के द्वारा पूर्वसवर्ण प्राप्त है परन्तु पूर्ववत् 'इयङ्' आदेश होकर रूप बनता है। 'नी अम्' -यहाँ 'इको यणचि' से 'यण्' प्राप्त है जिसका प्रथमयोः पूर्वसव० 'अमि पूर्वः' से बाध होकर पूर्वरूप प्राप्त होता है, परन्तु पर होने के कारण इसका 'इयङ्' के द्वारा बाध हो जाता है। 'नियम्' बन गया। 'नी ङि > इ'- यहाँ 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' के द्वारा 'आम्' आदेश तथा 'इयङ्' आदेश होकर 'नियाम्' रूप बना। नी ङि > आम्- निय् आम्-नियाम्।

प्र०-नीः, नियौ, नियः। सं०—हे नीः, हे नियौ, हे नियः। द्वि०— नियम्, नियौ, नियः। तृ०— निया, नीभ्याम्, नीभिः। च०— निये, नीभ्याम्, नीभ्यः। पं०— नियः, नीभ्याम्, नीभ्यः। ष०— नियः, नियोः, नियाम्। स०— नियाम्, नियोः, नीषु।

प्रकृत सूत्र के द्वारा विहित यणादेश 'असंयोग पूर्वस्य०' (अर्थात् संयोग नहीं है पूर्व में जिसके ऐसा) को ही हो-ऐसा क्यों कहा गया? यदि ऐसा न्यास प्रकृत सूत्र में नहीं किया जाता तो 'सुश्री औ'- यहाँ यणादेश होकर 'सुश्र्यौ' ऐसा अनिष्ट रूप सिद्ध होता। चूँकि 'सुश्री' के ईकार से पूर्व संयोग है, अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा 'यण्' कार्य नहीं होगा। इसलिए सूत्र में 'असंयोगपूर्वस्य' का पाठ करना पड़ा।

सुश्री (अच्छी तरह से आश्रय लेने वाला)

'सुश्री' शब्द की दो प्रकार से व्युत्पत्ति की जाती है। १. 'सुष्ठु श्रयतीति सुश्रीः'- इस विग्रह के अनुसार नदीसंज्ञा न हो सकेगी। तब 'इयङ्' आदेश होगा। २. 'शोभना श्रीः' इस प्रकार नित्य स्त्रीलिङ्ग होकर नदी संज्ञा हो जायेगी तथा 'बहुश्रेयसी' की तरह रूप होंगे। 'सुश्री औ' इस स्थिति में ईकार से पूर्व संयोग है अतः 'यण्' न होगा। सुश्रियौ इसी प्रकार 'यवक्री औ' में 'यवक्रियौ' बनेगा।

२०१. [१]गतिश्च (१/४/५९)

प्रादयः क्रियायोगे गतिसंज्ञाः स्युः।

(वा०) गतिकारकेतरपूर्वपदस्य 'यण्' नेष्यते-शुद्धधियौ।

गतिश्चेति—'प्र' आदि क्रिया के योग में गतिसंज्ञक (भी) हों। 'प्रधी' शब्द में 'प्र' का 'धी' क्रिया के साथ योग है, अतः इसकी गतिसंज्ञा होगी। यहाँ गति और उपसर्ग दोनों संज्ञाओं की प्रवृत्ति होती है अर्थात् 'प्रधी' शब्द में 'प्र' गतिसंज्ञक भी है तथा उपसर्गसंज्ञक भी है। गति इति-गति और कारक से भिन्न यदि पूर्वपद हो तो 'यण्' इष्ट नहीं है।

'शुद्धा धीः यस्य सः' के अनुसार निष्पन्न 'शुद्धधी' शब्द में कोई 'प्र' आदि नहीं है, अतः इसकी गतिसंज्ञा न होगी। 'शुद्धधी औ'- यहाँ पूर्वपद 'शुद्ध' गतिसंज्ञक नहीं हैं। अतः एरनेकाचः० से यणादेश नहीं होगा। अब इयङ् आदेश होकर 'शुद्धधियौ' रूप बना। शेष रूप 'सुश्री' की तरह होंगे।

सुधी (अच्छा चिन्तन करने वाला) से 'सु' प्रत्यय करने पर-सुधी सु > स्। रुत्व और विसर्ग होकर 'सुधीः' बन गया।

२०२. नॅ भूसुधियोः[६] (६/४/८५)

एतयोरचि सुपि 'यण्' न। सुधियौ, सुधिय इत्यादि। सुखमिच्छतीति सुखीः, (सुतमिच्छतीति) सुतीः। सुख्यौ, सुत्यौ। सुख्युः, सुत्युः। शेषं प्रधीवत्। शम्भुर्हरिवत्। एवं भान्वादयः।

नेति-भू और सुधी शब्द को अजादि सुप् परे रहते 'यण्' नहीं होता है।

'सुधी औ'-सर्वप्रथम 'इको यणचि' के द्वारा 'यण्' प्राप्त हुआ। 'प्रथमयोः पूर्व सवर्णः' के द्वारा इसका बाध होकर पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त हुआ। 'दीर्घाज्जसि च' के द्वारा इसका निषेध हो गया। पुनः 'इको यणचि' के द्वारा 'यण्' की प्राप्ति हुई। 'अचिश्नु०' सूत्र के द्वारा यणादेश का बाध होकर 'इयङ्' की प्राप्ति हुई। 'एरनेकाचः०' के द्वारा उवङ् का बाध होकर पुनः 'यण्' आदेश की प्राप्ति हुई। जिसका प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध हो गया। तब पुनः 'इयङ्' आदेश होकर 'सुधियौ' रूप बना।

सुधी शब्द के रूप 'सुश्री' की तरह होंगे।

सुखम् इच्छति इति सुखीः। सुतममिच्छतीति सुतीः। ये दोनों ईकारान्त हैं परन्तु ङ्यन्त नहीं हैं। अतः रुत्व, विसर्ग होकर रूप सिद्ध हुआ। 'सुखी औ'- यहाँ 'एरनेकाचः०' सूत्र के द्वारा यणादेश होकर 'सुख्यौ' बन गया। सुख्युः- 'सुखी अस्' इस दशा में 'एरनेकाचः०' से 'यण्' होकर 'सुख्य् अस्' ऐसी स्थिति बन जाने पर 'ख्यत्यात्परस्य' सूत्र से कृतयणादेश दीर्घ खी शब्द से पर 'ङसि' और 'ङस्' के अकार को उकार होकर सकार को रुत्व, विसर्ग करने से रूप सिद्ध होता है।

'सुत्युः' भी 'सुख्युः' के समान ही सिद्ध होता है।

शेषमिति— सुखी और सुती शब्द के शेष रूप 'प्रधी' के समान बनते है। केवल 'ङसि' और 'ङस्' में 'ख्यत्यात्परस्य' सूत्र से उकार आदेश रूप कार्य अधिक होता है।

शम्भुः— 'शम्भु सु' इस दशा में रु और उसके रकार को विसर्ग होने से रूप सिद्ध हुआ। शम्भु शब्द के रूप 'हरि' शब्द के समान ही बनेंगे। शम्भु शब्द के ह्रस्व उकारान्त होने से 'हरि' के समान 'शेषो घ्यसखि' सूत्र से घिसंज्ञा होती है, अतः घिसंज्ञा निमित्तक कार्य 'हरि' शब्द के समान ही होंगे।

प्र०— शम्भुः, शम्भू, शम्भवः। सं०— हे शम्भो, हे शम्भू, हे शम्भवः।
द्वि०— शम्भुम्, शम्भू, शम्भून्। तृ०— शम्भुना, शम्भुभ्याम्, शम्भुभिः। च०— शम्भवे, शम्भुभ्याम्, शम्भुभ्यः। पं०— शम्भोः, शम्भुभ्याम्, शम्भुभ्यः।
ष०— शम्भोः, शम्भ्वोः, शम्भूनाम्। स०— शम्भौ, शम्भ्वोः, शम्भुषु।

एवमिति—इसी प्रकार 'भानु' आदि ह्रस्व उकारान्त सभी शब्दों के रूप बनेंगे।

क्रोष्टु-(गीदड़) शब्द के रूपों में अन्तर पड़ता है, वह आगे बताया जाता है।

२०३. **तृज्वत्[६] क्रोष्टुः (७/१/९५)**

असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने 'क्रोष्टृ' शब्दः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः।

तृज्वदिति—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे रहते क्रोष्टु (गीदड़) शब्द को तृज्वद्भाव होता है। इस सूत्र से 'स्थानेऽन्तरतमः' परिभाषा से अर्थकृत आन्तर्य द्वारा 'क्रोष्टु' के स्थान पर तृजन्त 'क्रोष्टृ' शब्द आदेश हो गया। तब इसके रूप ऋकारान्त शब्द की तरह होंगे। इसे तृज्वत् करने का यही फल है।

२०४. [६] **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः[७] (७/३/११०)**

ऋतोऽङ्गस्य गुणो ङौ सर्वनामस्थाने च इति प्राप्ते-

ऋत इति- ङि और सर्वनाम स्थान प्रत्यय परे रहते ऋदन्त अङ्ग को गुण हो।

'क्रोष्टु सु'- यहाँ पूर्वसूत्र के द्वारा 'क्रोष्टु' शब्द तृज्वत् होकर 'क्रोष्टृ स्' बन गया। अब 'सु' सर्वनाम स्थानिक प्रत्यय के परे रहते प्रकृत सूत्र के द्वारा ऋकार को गुण प्राप्त हुआ। अग्रिम सूत्र से इसका बाध होता है।

२०५. [६] **ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां चॅ (७/१/९४)**

ऋदन्तानामुशनसादीनां चानङ् स्याद् असम्बुद्धौ (सौ)।

ऋदिति- ऋदन्त, उशनस् (शुक्राचार्य), पुरुदंसस् (मार्जार) तथा अनेहस् (समय) शब्दों को सम्बुद्धि से अतिरिक्त 'सु' परे रहते अनङ् आदेश हो। अनङ् का 'ङ्' इत्संज्ञक तथा अकार उच्चारणार्थ है। अनङ् ङित् होने से अन्त्य वर्ण के स्थान पर होगा।

'क्रोष्टृ' शब्द ऋकारान्त है, प्रथमा के एकवचन में सम्बुद्धिभिन्न 'सु' परे होने के कारण अन्त्य ऋकार के स्थान में 'अनङ्' आदेश हो जाता है, तब 'क्रोष्ट् अन् स्' ऐसी स्थिति बनी।

२०६. अप्-तृन्-तृच्-स्वसृ-नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्तृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्तॄणाम्[६] (६/४/११)

अबादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः, क्रोष्टारम्, क्रोष्टून्।

अबिति—अप् (जल), तृन्प्रत्ययान्त, तृच्प्रत्ययान्त, स्वसृ (बहिन), नप्तृ (दोहता,) नेष्टृ (दान देने वाला), त्वष्टृ (एक असुर), क्षत्तृ (सारथि), होतृ (हवन करने वाला), पोतृ (पवित्र करने वाला), और प्रशास्तृ (शासन करनेवाला) शब्दों की उपधा को दीर्घ हो सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान प्रत्यय परे रहते।

'क्रोष्टन्' से परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान सु के होने से उपधा अकार को दीर्घ हुआ। तब 'क्रोष्टान् स्' इस स्थिति में पहले हल्ङ्यादि (अपृक्त सकार का) लोप और फिर 'न लोपः०' सूत्र से नकार का लोप होकर 'क्रोष्टा' रूप सिद्ध हुआ। 'क्रोष्टन् स्' यहाँ 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (पा० ६.४.८) के द्वारा दीर्घ हो सकता था, परन्तु 'अप्तृन्तृच्०' (पा० ६.४.११) सूत्र पर होने से इसकी प्रवृत्ति होती है। क्रोष्टु औ- क्रोष्टृ औ' यहाँ पर 'ऋतो ङि०' के द्वारा गुण हो गया। क्रोष्टर् औ। 'अप्तृन् तृच्०' के द्वारा उपधादीर्घ होकर 'क्रोष्टार् औ' -'क्रोष्टारौ' हो गया। 'क्रोष्टारः' रूप की सिद्धि 'क्रोष्टारौ' की तरह है। 'हे क्रोष्टु सु'-यहाँ तृज्वत् नहीं होगा। अब गुण होकर 'हे क्रोष्टो' बन गया।

शेष स्थलों में प्रथमा के समान 'हे क्रोष्टारौ' 'हे क्रोष्टारः' रूप बनते हैं। क्रोष्टारम्—'क्रोष्टृ अम्' इस अवस्था में सर्वनामस्थानिक गुण और तृजन्तोपधा दीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ। क्रोष्टून्—शस् में तृज्वद्भाव नहीं हुआ। अतः पूर्वसवर्णदीर्घ और 'तस्माच्छसो०' से सकार को नकार होकर रूप बना।

२०७. विभाषा[७] तृतीयादिष्वचि[७] (७/१/९७)

अजादिषु तृतीयादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत्। क्रोष्ट्रा। क्रोष्ट्रे।

विभाषेति- अजादि तृतीयादि विभक्ति परे रहते 'क्रोष्टु' शब्द को विकल्प से तृज्वत् हो। तृतीयादि अजादि विभक्तियाँ ये हैं— टा > आ, ङे > ए, ङसि > अस्, ङस् > अस्, ओस्, आम्, ङि > इ। क्रोष्टु टा- यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प से तृज्वद्भाव प्राप्त होता है। तृज्वत् पक्ष में 'क्रोष्टृ आ' को इको यणचि यणादेश होकर 'क्रोष्ट्रा' बन गया तथा अभाव पक्ष में 'क्रोष्टु आ' में शम्भु की तरह प्रक्रिया होकर 'आङो नाऽस्त्रियाम्' से 'क्रोष्टुना' सिद्ध होगा। 'क्रोष्टु ङे' इस दशा में पूर्ववत् 'यण्' होकर रूप बना। क्रोष्ट्रे। पक्ष में 'क्रोष्टवे' घेर्ङिति।

२०८. [६]ऋत उत्[१] (६/१/१०७)

ऋतो ङसिङसोरति 'उत्' एकादेशः। रपरः।

ऋत इति— ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग से ङसि और ङस् का अकार परे रहते पूर्व पर के

स्थान में 'उत्' एकादेश हो। उत् में तकार इत्संज्ञक है। रपर इति— उकार आदेश ऋकार के स्थान में विधीयमान होने से 'उरण् रपरः' सूत्र से रपर अर्थात् 'उर्' रूप में होता है।

'क्रोष्टु ङसि > अस्' में अजादि विभक्ति परे रहने पर विकल्प से तृज्वद्भाव होता है। तृज्वद्भाव पक्ष में 'क्रोष्टृ अस्' हुआ। अब प्रकृत सूत्र के द्वारा ऋकार तथा अकार को रपर उत् एक आदेश होकर 'क्रोष्टुर् स्' ऐसा बन गया।

२०९. [५]रात् सस्य[६] (८/२/२४)

रेफात् संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नाऽन्यस्य। रस्य विसर्गः– क्रोष्टुः। क्रोष्ट्रोः।

(वा०) नुम्-अचि-रतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन। क्रोष्टूनाम्।

क्रोष्टरि। पक्षे हलादौ च-शम्भुवत्। हूहूः, हूह्वौ हूह्वः। हूहूम् इत्यादि। अतिचमू शब्दे तु नदीकार्यं विशेषः। हे अतिचमु। अतिचम्वै। अतिचम्वाः। अतिचमूनाम्। (अतिचम्वाम्)। खलपूः।

रादिति- रेफ से परे यदि संयोगान्त लोप इष्ट हो तो वह सकारका ही हो, अन्य का नहीं।

'क्रोष्टुर्स्'- यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा संयोगान्त सकार का लोप हो गया। अब रेफ को 'खरवसानयोः०' के द्वारा विसर्ग होकर 'क्रोष्टुः' रूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार 'क्रोष्टु ङस्' में पूर्ववत् प्रक्रिया होकर 'क्रोष्टुः' रूप बना। तृज्वत् अभाव पक्ष में घेर्ङिति से गुण। क्रोष्टो अस्। ङसिङसोश्च से पूर्वरूप। क्रोष्टोः। 'क्रोष्टु ओस्'— सर्वप्रथम विकल्प से तृज्वद्भाव हुआ। क्रोष्टृ ओस्। अब 'इको यणचि' के द्वारा 'यण्' होकर सकार को रुत्वादि कार्य होकर 'क्रोष्ट्र् ओस्- क्रोष्ट्रोस्-क्रोष्ट्रोः' रूप सिद्ध हुआ। अभाव पक्ष में यण् आदेश होकर 'क्रोष्ट्वोः' बनता है। नुमिति-नुम् (इकोऽचि विभक्तौ ७.१.७३), अच् परे रहते रेफ आदेश (अचि र ऋतः ७.२.१००) और तृज्वद्भाव (तृज्वत् क्रोष्टुः ७.१.९५) विभाषा तृतीयादिष्वचि-(७.१.९७) इनकी अपेक्षा पूर्व विप्रतिषेध से 'नुट्' (ह्रस्वनद्यापो नुट् ७.१.५४) ही होता है। अर्थात् इनमें से यदि सभी आदेश एक साथ ही प्रवृत्त होंगे तो उनमें से 'नुट्' ही होगा। विप्रतिषेध तुल्यबल विरोध को कहते हैं। जब 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र से परशास्त्र की प्रबलता मानी जाती है, तब उसे परविप्रतिषेध कहते हैं और जब पूर्वशास्त्र को बलवान् माना जाता है तब पूर्वविप्रतिषेध कहा जाता है। यहाँ 'नुट्' शास्त्र नुमादिशास्त्र की अपेक्षा पूर्व है और इस वचन से उसे प्रबल कहा है, अतः पूर्वविप्रतिषेध हुआ। क्रोष्टूनाम्- 'क्रोष्टु आम्' इस स्थिति में 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' (७-१-९७) सूत्र से तृज्वद्भाव और 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से 'नुट्' प्राप्त है। तृज्वद्भाव आम् से भिन्न अजादि विभक्तियों में चरितार्थ है और 'नुट्' क्रोष्टु शब्द से भिन्न शब्दों में। यहाँ दोनों की प्राप्ति है, अतः तुल्यबलविरोध है। विप्रतिषेध सूत्र से पर होने के कारण तृज्वद्भाव प्राप्त होता है। प्रकृत वार्तिक ने पूर्वप्रतिषेध की प्रबलता दिखाई है। अतः

'नुट्' आगम होकर 'क्रोष्टु नुट् आम्' बन गया। अब 'नामि' सूत्र के द्वारा दीर्घ होकर 'क्रोष्टूनाम्' हो गया। नुट् होने पर पुनः तृज्वद्भाव की प्राप्ति नहीं होगी क्योंकि 'नाम्' यह अजादि विभक्ति नहीं है। 'क्रोष्टु ङि' में तृज्वद्भाव होकर 'ऋतो ङि' के द्वारा गुण होकर 'क्रोष्टृ- कोष्टर् इ- क्रोष्टरि।' ऋतो ङि सर्व०। पक्ष में अच्च घेः पक्ष में जहाँ-२ तृज्वद्भाव नहीं होता है, वहाँ वहाँ शम्भु की तरह रूपप्रक्रिया समझें।

प्र०— क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः। सं०— हे क्रोष्टो, हे क्रोष्टारौ, हे क्रोष्टारः। द्वि०— क्रोष्टारम्, क्रोष्टारौ, क्रोष्टून्। तृ०— क्रोष्ट्रा-क्रोष्टुना, क्रोष्टुभ्याम् ,क्रोष्टुभिः। च०— क्रोष्ट्रे- क्रोष्टवे, क्रोष्टुभ्याम्, क्रोष्टुभ्यः। पं०— क्रोष्टुः- क्रोष्टोः, क्रोष्टुभ्याम् , क्रोष्टुभ्यः। ष०— क्रोष्टुः- क्रोष्टोः, क्रोष्ट्वोः क्रोष्टूनाम्। स०— क्रोष्टरि- क्रोष्टौ, क्रोष्ट्वोः क्रोष्टुषु।

दीर्घ ऊकारान्त शब्द

हूहू— शब्द से सु में रुत्व, विसर्ग होकर 'हूहूः' रूप बना। हूह्वौ- 'हूहू औ' इस दशा में प्रथमयोः पूर्वसवर्णः से प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ दीर्घाज् जसि च से निषेध होकर 'इको यणचि' से ऊकार को 'यण्' होकर सिद्ध हुआ। हूहू जस्>अस्। 'इको यणचि' से 'यण्' प्राप्त हुआ। उसे बाध कर 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' के द्वारा पूर्वसवर्ण दीर्घ हो गया। इसका 'दीर्घाज्जसि च' के द्वारा निषेघ हो गया। पुनः 'इको यणचि' के द्वारा 'यण्' होकर 'हूह्वः' हो गया। 'हूहू अम्' यहाँ 'अमि पूर्वः' के द्वारा पूर्वरूप एकादेश होकर 'हूहूम्' बन गया। 'हूहू शस्>अस्'-यहाँ 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का 'दीर्घाज्ञसि च' से निषेध होकर 'हूहूस्' हो गया। 'तस्माच्छसो नः पुंसि' के द्वारा नकार होकर 'हूहून्' बन गया।

तृतीयादि विभक्ति के सम्बन्ध में हल् विभक्ति परे रहते 'हूहू' शब्द में कोई परिवर्त्तन नहीं होता है तथा अजादि विभक्ति परे रहते 'यण्' आदेश करके रूप सिद्धि कर लेनी चाहिए।

अतिचमू शब्दे-अतिचमू (सेना का अतिक्रमण करनेवाला) शब्द को 'हूहू' शब्द की अपेक्षा नदीसंज्ञा का कार्य अधिक होता है। चमू शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग है यद्यपि 'अतिचमू' शब्द में गौण होकर वह पुँलिङ्ग हो गया है, तथापि 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' इस वचन के अनुसार यहाँ नदीसंज्ञा हो जाती है। नदीकार्य सूत्र १९४ पर बताये जा चुके हैं। मूल वृत्ति में केवल नदीकार्य से सिद्ध रूप दिखाए गए हैं। 'हे अतिचमू सु' अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः- यहाँ ह्रस्व होकर एङ् ह्रस्वात् सम्बु० 'स्' का लोप होकर 'हे अतिचमु' सिद्ध हुआ। 'अतिचमू ङे'- नदीसंज्ञक होने से आट् आगम, वृद्धि तथा 'यण्' होकर 'अतिचम्वै' हो गया। इसी प्रकार 'ङसि' में प्रक्रिया समझें। आण्नद्याः आटश्च 'अतिचमू आम्' में 'नुट्' होकर 'अतिचमूनाम्' सिद्ध हुआ। 'अतिचमू ङि' में 'ङि' को आम् आदेश होकर आट् आगम, वृद्धि तथा यण् हो गए। अतिचमू आम्-अतिचमू आट्

(आ) आम्-अतिचमू आम्-अतिचम्वाम्।

खलपू 'खलं पुनाति-मार्जयति' यह विग्रह है। खलिहान (जहाँ गेहूँ आदि अनाज की बालों से दाने अलग किए जाते हैं) को साफ करनेवाला।

खलपूः - प्रथमा के एवकचन 'सु' में सकार को रु और रेफ को विसर्ग हुए।

२१०. [६]ओः सुपि[७] (६/४/८३)

धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णः, तदन्तो यो धातुः, तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य 'यण्' स्याद् अचि सुपि। खलप्वौ। खलप्वः। एवं सुल्वादयः। स्वभूः, स्वभुवौ, स्वभुवः। वर्षाभूः।

ओ इति-जिसके पूर्व में धातु का अवयव संयोग नहीं है, ऐसे जो उकार तद् अन्त वाली धातु, वह धातु जिसके अन्त में हो, ऐसे अनेकाच् अङ्ग को यण् हो। अजादि सुप् परे रहते।

'खलपू औ' यहाँ उवर्ण से पूर्व संयोग नहीं, तदन्त धातु 'पू' है और तदन्त अनेका अङ्ग 'खलपू' है, अजादि सुप् परे है; इसलिये 'यण्' होकर 'खलप्वौ' बना। 'खलपू जस्>अस्' में 'यण्' होकर 'खलप्वस्' तथा रुत्व, विसर्ग होकर 'खलप्वः' रूप सिद्ध हुआ। शस्, ङसि तथा ङस् में इसी प्रकार प्रक्रिया होकर 'खलप्वः' रूप सिद्ध हुआ। अजादि विभक्तियों में सर्वत्र 'यण्' होगा, परन्तु प्रधी शब्द की रूपसिद्धि में दिखाए गए बाध्यबाधकभाव (सू० २००) को अवश्य स्मरण रखना चाहिए।

एवमिति-इसी प्रकार सुलू (सु शोभनं लुनाति- अच्छा काटनेवाला) आदि शब्दों के रूप बनेंगे। स्वभू (स्वयं उत्पन्न होनेवाला) स्वभूः— 'स्वभू सु' इस स्थिति में सु को रुत्व और विसर्ग होने पर रूप सिद्ध हुआ। स्वभुवौ— 'स्वभू औ' इस दशा में पहले 'इको यणचि' से 'यण्' प्राप्त हुआ। उसको बाधकर पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त हुआ। उसका 'दीर्घाज्जसि च' से निषेध हो गया, पुनः 'इको यणचि' से 'यण्' प्राप्ति, उसको बाधकर 'अचि श्नु०' से उवङ् आदेश की प्राप्ति, उसको बाधकर 'एरनेकाचः०' से 'यण्' की प्राप्ति होती है। 'नभूसुधियोः' सूत्र के द्वारा इस 'यण्' का निषेध होता है। अब पुनः उवङ् आदेश होकर रूप सिद्ध होता है। 'स्वयभू जस् >अस्' —यहाँ पूर्ववत् कार्य होकर 'स्वभुवः' सिद्ध होता है।

प्र० स्वभूः स्वभुवौ स्वभुवः	स० हे स्वभूः हे स्वभुवौ हे स्वभुवः
द्वि० स्वभुवम् स्वभुवौ स्वभुवः	तृ० स्वभुवा स्वभूभ्याम् स्वभूभिः
च० स्वभुवे स्वभूभ्याम् स्वभूभ्यः	पं० स्वभुवः स्वभूभ्याम् स्वभूभ्यः
ष० स्वभुवः स्वभुवोः स्वभुवाम्	स० स्वभुवि स्वभुवोः स्वभूषु

वर्षाभू अर्थात् मेंढक जो वर्षा से उत्पन्न होता है।

'वर्षाभू सु'- में रुत्व तथा विसर्ग होकर 'वर्षाभूः' सिद्ध होता हैं।

२११. [६]वर्षाभ्वश्च (६/४/८४)

अस्य 'यण्' स्याद् अचि सुपि। वर्षाभ्वौ इत्यादि। दृन्भूः।

(वा०) दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः। दृन्भ्वौ। एवं करभूः। धाता। हे धातः। धातारौ। धातारः।

(वा०) ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्। धातॄणाम्। एवं नप्त्रादयः। नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्। तेनेह न। पिता। पितरौ। पितरः। पितरम्। शेषं धातृवत् एवं जामात्रादयः। ना। नरौ।

वर्षाभ्व इति- अजादि सुप् परे रहते वर्षाभू को 'यण्' आदेश हो। 'अलोऽन्त्यस्य' के बल पर अन्त्य वर्ण को यणादेश होगा। 'वर्षाभू औ' में सम्पूर्ण प्रक्रिया स्वभू औ के समान समझें। 'यण्' निषेध के बाद पुनः 'वर्षाभ्वश्च' के द्वारा 'यण्' की प्राप्ति होकर 'वर्षाभ्वौ' सिद्ध होता है। सभी अजादि विभक्तियों में इसी प्रकार समझें। हलादि विभक्तियों में कोई विशेष कार्य नहीं होता है। (वा०)— दृन्, कर, पुनर् शब्द पूर्वक 'भू' शब्द को अजादि सुप् परे रहते 'यण्' हो। 'दृन्भू औ' में 'यण्' की प्राप्ति नहीं हो रही थी। अतः प्रकृत वार्तिक के द्वारा यण् का विधान करना पड़ा। 'यण्' होकर 'दृन्भ्वौ' बन गया। इसी प्रकार करभू (नख) तथा पुनर्भू (ओषधि विशेष) के रूप होंगे।

ऋकारान्त शब्द

धातृ—यह शब्द 'धा' धातु से कर्त्ता अर्थ में तृच् प्रत्यय होने पर बनता है। 'धातृ सु' ऋकारान्त होने से 'ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च' सूत्र से अनङ् आदेश, 'अप्तृन्०' से उपधा अकार को दीर्घ, हल्ङ्यादि (अपृक्त सकार का) लोप और 'नलोपः०' से नकार का लोप होकर 'धाता' रूप सिद्ध हुआ। 'हे धातः' सम्बुद्धि में 'ऋतो ङि०' से गुण सुलोप और रेफ को विसर्ग हो गया। 'अप्तृन्०' से उपधा अकार को दीर्घ नहीं हुआ। 'धातृ औ'- में 'ऋतो ङि' के द्वारा 'अर्' गुण होकर 'अप्तृन्०' के द्वारा उपधाभूत अकार को दीर्घ हो गया। धातृ औ-धातर् औ- धातार् औ-धातारौ। इसी प्रकार 'धातारः' हो गया। धातु शस्— ऋतो ङिसर्व० की अप्राप्ति। इको यणचि से प्राप्त यण् को बाधकर प्रथमयोः पूर्वसवर्णः। धातॄ स्। तस्माच्छसो नः पुंसि, ऋवर्णान्नस्य णत्वं व्याच्यम्, पदान्तस्य। धातृ टा— इको यणचि धात्रा। धातृ े— धात्रे, यण्। धातृ ङसि/ङस् — ऋत उत्— एकादेश उकार। उरण् रपरः। रात् सस्य। खखसान० धातृ आम्— ह्रस्वनद्यापो नुट्, नामि, ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्। धातृ ङि— ऋतो ङि सर्वनाम०।

ऋवर्णादिति- ऋवर्ण से परवर्ती नकार को णकार हो।

'धातृ आम्' में 'नुट्' तथा दीर्घ आदि कार्य होकर 'धातृ नुट् आम्-धातॄनाम् हो गया। प्रकृत वार्तिक के द्वारा नकार को णकार होकर 'धातॄणाम्' हो गया।

प्र०	धाता	धातारौ	धातारः।	सं०	हे धातः	हे धातारौ	हे धातारः।
द्वि०	धातारम्	धातारौ	धातॄन्।	तृ०	धात्रा	धातृभ्याम्	धातृभिः।

च० धात्रे धातृभ्याम् धातृभ्य:। पं० धातु: धातृभ्याम् धातृभ्य: ।
ष० धातु: धात्रो: धातृणाम्। स० धातरि धात्रो: धातृषु ।

इसी प्रकार नप्तृ शब्द तथा तृन् व तृच् प्रत्ययान्त (कर्तृ, हर्तृ, भर्तृ आदि) शब्दों के रूप जानें।

'नप्तृ' आदि का ग्रहण व्युत्पत्ति पक्ष में नियमार्थ है। अत: दीर्घ नहीं होगा। यथा- पितरौ। 'अप्तृन्तृच्०' सूत्र में स्वसृ आदि शब्दों का पाठ है। ये उणादि प्रत्ययों से निष्पन्न हैं। ये दो प्रकार के हैं- १. व्युत्पन्न २. अव्युत्पन्न। प्रथम पक्ष में ये तृन् प्रत्ययान्त हैं। अत: इनका पाठ व्यर्थ हो जायेगा।

'सिद्धे सत्यारभ्यमाणो विधिर्नियमाय कल्पते' अर्थात् उपायान्तर से सिद्ध होते हुए कार्य के लिये जो पुन: विधान किया जाता है, वह नियम के लिये होता है। इस के अनुसार स्वस्रादिग्रहण नियम करता है कि उणादि तृन् और तृच् प्रत्ययान्तों को यदि दीर्घ होता है, तो इन्हीं नप्तृ आदि को होता है, अन्यों को नहीं। 'पितृ' शब्द स्वस्रादियों में नहीं आया। अत: इसको दीर्घ नहीं होता। अव्युत्पत्ति पक्ष में-स्वस्रादि तृन्-तृजन्त नहीं हैं। इस पक्ष में जिनका सूत्र में पाठ है उन्हीं को दीर्घ होगा, अन्यों को नहीं। पितृ आदि शब्दों का सूत्र से ग्रहण न होने से दीर्घ नहीं होता।

पितृ (पिता) शब्द

पितृ शब्द को व्युत्पत्तिपक्ष में पूर्वोक्त नियम से और अव्युत्पत्तिपक्ष में सूत्र में ग्रहण न होने से सर्वनामस्थान प्रत्यय परे रहते 'अप्तृन्०' सूत्र से दीर्घ नहीं होता।

'पितृ सु>स्' में 'ऋदुशनस्०' के द्वारा अनङ् आदेश तथा 'सर्वनामस्थाने चास०' के द्वारा नान्त उपधा को दीर्घ हो गया। पित् अन् स्-पितान् स्। 'हल्ङ्याब्भ्यो०' के द्वारा सकार का लोप तथा 'नलोप: प्रातिपदि०' के द्वारा नकार का लोप हो गया। पितान् स्- पितान्-पिता। 'पितृ औ' में 'ऋतो ङि सर्व०' के द्वारा गुण हो गया। पितर् औ। पितरौ।

इसी प्रकार पितृ- जस्-पितर:। 'हे पितृ सु' यहाँ 'ऋतो ङि सर्व०' के द्वारा गुण होकर 'हल्ङ्याब्भ्यो०' के द्वारा सकार का लोप हो गया। रुत्व और विसर्ग होकर- पितर् स्-पितर्-पित र्- पित:। शेष रूप 'धातृ' शब्द के समान होंगे। जामातृ (जंवाई) तथा भ्रातृ (भाई) आदि के रूप इसी प्रकार होंगे।

नृ (मनुष्य) शब्द। ना--प्रथमा के एकवचन में 'ऋदुशनस्०' सूत्र से अनङ् 'सर्वनामस्थाने०' सूत्र से उपधा अकार को दीर्घ, हल्ङ्यादि (अपृक्त सकार का) लोप और 'नलोप०' से नकार का लोप होने से 'ना' रूप सिद्ध हुआ। नरौ- द्विवचन में 'ऋतो ङि०' सूत्र से गुण होने से बना।

२१२. [६]नृ च (६/४/६)

अस्य नामि वा दीर्घ:। नृणाम्, नृणाम्।

नृ चेति—नृशब्द को नाम् परे रहते विकल्प से दीर्घ हो।

नृणाम्- 'नृ आम्' इस दशा में आम् को 'ह्रस्वनद्यापः' से 'नुट्' आगम, प्रकृत सूत्र से वैकल्पिक दीर्घ और 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' वार्तिक से नकार को णकार हुआ।। पक्ष में—नृणाम्।

प्र०	ना	नरौ	नरः	सं०	हे नः	हे नरौ	हे नरः
द्वि०	नरम्	नरौ	नॄन्	तृ०	न्रा	नृभ्याम्	नृभिः
च०	न्रे	नृभ्याम्	नृभ्यः	पं०	नुः	नृभ्याम्	नृभ्यः
ष०	नुः	न्रोः	नृणाम्-नॄणाम्	स०	नरि	न्रोः	नृषु

ओकारान्त गो (बैल) शब्द

२१३. [५]**गोतोणित्**[१] **(७/१/९०)**

ओकाराद् विहितं सर्वनामस्थानं णिद्वत्। गौः, गावौ, गावः।

गो इति—ओकारान्त शब्द से विहित सर्वनामस्थान प्रत्यय णिद्वत् हो।

गो शब्द के प्रथमा के एकवचन में 'गो स्' इस दशा में प्रकृत सूत्र से सर्वनामस्थान प्रत्यय 'सु' णिद्वत् हुआ, णिद्वत् होने पर 'अचो ञ्णिति' सूत्र से अङ्ग गो के अन्त्य ओकार को वृद्धि (औकार) होने से 'गौः' रूप बना।

'गो औ'- में 'गोतो णित्' के द्वारा 'औ' प्रत्यय णिद्वत् हो गया। अब 'अचो ञ्णिति' के द्वारा वृद्धि (औकार) होकर 'एचोऽयवायावः' के द्वारा 'आव्' आदेश हो गया। गो औ-गौ औ-गावौ। 'गो जस्' यहाँ पूर्ववत् क्रिया होकर 'गावः' रूप बन गया।

२१४. [६]**औतो**[५]**ऽम्शसोः**[७] **(६/१/९०)**

ओकारादम्शसोरचि आकार एकादेशः। गाम्, गावौ, गाः। गवा। गवे। गोः। इत्यादि।

औत इति- ओकारान्त शब्द से अम् और शस् का अच् परे रहते आकार एकादेश हो।

'गो अम्' में 'गोतो णित्' के द्वारा णिद्वद्भाव प्राप्त है। प्रकृत सूत्र के द्वारा अम् का अच् परे रहते आकार एकादेश हो गया। ग् आ म् गाम्। गो औट्- गावौ (पूर्ववत्) गोतो णित्। 'गो शस् >अस्' - णिद्वद्भाव करने से पहले प्रकृत सूत्र के द्वारा आकार एकादेश होकर 'गास्' बन गया। तब विसर्ग आदि होकर 'गाः' बन गया। 'तस्माच्छसो नः पुंसि' सूत्र से सकार को नकार नहीं हुआ। क्योंकि यहाँ अकार 'औतोऽम्शसोः' सूत्र से हुआ है और तस्माच्छसो०' सूत्र वहीं लगता है जहाँ पूर्वसवर्ण दीर्घ हुआ हो। गवा- तृतीया के एकवचन में 'गो आ' यहाँ 'एचोऽयवायावः' सूत्र से ओकार को 'अव्' आदेश हुआ। गवे— चतुर्थी के एकवचन में 'गो ए' यहाँ भी केवल अव् आदेश होकर रूप सिद्ध हो गया। गोः- पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'गो अस्' यहाँ पर ङसिङसोश्च' सूत्र से अकार का पूर्वरूप होकर 'गोः' रूप सिद्ध हुआ। चूंकि ओकार पदान्त नहीं है अतः

'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप नहीं हो सकता।

प्र० गौः	गावौ	गावः	सं० हे गौ	हे गावौ	हे गावः
द्वि० गाम्	गावौ,	गाः	तृ० गवा,	गोभ्याम्	गोभिः
च० गवे	गोभ्याम्	गोभ्यः	पं० गोः	गोभ्याम्	गोभ्यः
ष० गोः	गवोः	गवाम्	स० गवि	गवोः	गोषु

ऐकारान्त रै (धन) शब्द–

२१५. [६]रायो [७]हलि (७/२/८५)

अस्याऽऽकारादेशो हलि विभक्तौ। राः, रायौ, रायः, राभ्याम्। ग्लौः। ग्लावौ। ग्लावः। ग्लौभ्याम् इत्यादि। इत्यजन्ताः पुँल्लिङ्गा।

राय इति– रै शब्द को आकार अन्तादेश हो हलादि विभक्ति परे रहते।

रै शब्द के प्रथमा के एकवचन में 'रै स्' इस दशा में हलादि विभक्ति 'स्' परे रहते ऐकार को आकार आदेश हो गया। अब विसर्ग आदि कार्य होकर 'राः' रूप सिद्ध हुआ।

'रै औ' में 'एचोऽयवायावः' के द्वारा आय् आदेश होकर 'रायौ' बन गया। 'रै जस्' में पूर्ववत् होकर 'रायः' 'रै भ्याम्'-यहां हलादि विभक्ति भ्याम् परे रहते 'रायो हलि' सूत्र के द्वारा आकार अन्तादेश होकर 'राभ्याम्' बन गया।

औकारान्त 'ग्लौ' शब्द

प्रथमा एकव० में विसर्गादि कार्य होकर 'ग्लौः' बनता है। द्विवचन में आव् आदेश होकर 'ग्लावौ' रूप सिद्ध होता है। बहुव० में 'ग्लावः' बनेगा।

अथ अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्।

रमा।

रमा शब्द टाप् प्रत्ययान्त है। अतः 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' सूत्र के द्वारा रमा शब्द से सु आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई।

'रमा सु>स्'-यहाँ 'हल्ङ्याब्भ्यो०' सूत्र के द्वारा सकार का लोप हो गया। तब 'रमा' रूप बना। यद्यपि विभक्ति का लोप हो गया है, तथापि 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' के बल पर 'रमा' शब्द की पद संज्ञा हो जाती है।

२१६. [५]औङ आपः[५] (७/१/१८)

आबन्तादङ्गात् परस्यौङः शी स्यात्।। 'औङ्' इति औकारविभक्तेः संज्ञा। रमे, रमाः।

औङ इति– आबन्त अङ्ग से पर 'औङ्' हुआ प्रथमयोः पूर्वसवर्णः से प्राप्त पूर्व सवर्ण का दीर्घाज्जसि च से निषेध। वृद्धिरेचि से प्राप्त वृद्धि एकादेश को बाधकर प्रकृत सूत्र के द्वारा प्रत्यय को 'शी' आदेश हो। 'औङ्' यह 'औ' कारविभक्ति- औ और औट् की संज्ञा है। रमा शब्द से प्रथमा के द्विवचन में आबन्त अङ्ग रमा से पर औङ् को 'शी'

आदेश हुआ। शकार की 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा और 'तस्य लोपः' से लोप हो गया। रमा शी-रमा ई। 'स्थानिवदादेशोऽनल्०' के अनुसार 'शी' में सुप्त्व धर्म उत्पन्न हुआ। अब 'आद्गुणः' के द्वारा गुण होकर 'रमे' रूप सिद्ध हुआ।

'रमा जस् > अस्' यहाँ 'अकः सवर्णे दीर्घः' के द्वारा दीर्घ होकर 'रामाः' रूप बना। यहाँ 'प्रथमयोः पूर्वसवर्ण०' के द्वारा प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का 'दीर्घाज्जसि च' के द्वारा निषेध हो गया।

२१७. [७]**सम्बुद्धौ च॑ (७/३/१०६)**

आप एकारः स्यात् सम्बुद्धौ। एङ्ह्रस्वात्-' इति सम्बुद्धिलोपः।

हे रमे, हे रमे, हे रमाः। रमाम्, रमे, रमाः।

सम्बुद्धौ चेति-आबन्त अङ्ग को एकार आदेश हो सम्बुद्धि परे रहते। 'हे रमा स्' इस दशा में प्रकृत सूत्र से आबन्त अङ्ग से सम्बुद्धि परे होने के कारण अन्त्य आकार को एकार हो गया। तब 'हे रमे स्' इस स्थिति में एङ्ह्रस्वात्संबुद्धेः' सूत्र से सम्बुद्धि के सकार का लोप होने से 'हे रमे' रूप सिद्ध हुआ। हे रमे, हे रमाः ये प्रथमा के समान ही सिद्ध होंगे। द्वितीया के एकवचन में 'अमि पूर्वः' से अम् के अकार का पूर्वरूप होने से रूप बना- रमाम्। द्विवचन और बहुवचन में 'रमे' और 'रमाः' रूप प्रथमा के समान ही हैं। 'रमा शस्' इस दशा में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (६/१/९८) सूत्र से पूर्व आकार और अकार दोनों के स्थान में सवर्ण दीर्घ आकार एकादेश हुआ। तब सकार के स्थान में 'रु' और उसके रकार के स्थान में विसर्ग होने पर रूप सिद्ध हुआ- रमाः। यद्यपि यहाँ 'अकः सवर्णे दीर्घः' (६/१/९७) होने पर भीं रूप सिद्ध हो सकता है, परन्तु पूर्वसवर्ण दीर्घ विधायक सूत्र पर है, अतः शास्त्रमर्यादा के अनुसार ऐसा करना उचित है।

२१८. [७]**आङि चॉऽऽपः[६] (७/३/१०५)**

आङि ओसि चाप एकारः। रमया, रमाभ्याम्, रमाभिः।

आङीति-आङ् या ओस् परे रहते आबन्त अङ्ग को एकार आदेश हो। 'टा' को आङ् कहते हैं-ऐसी प्राचीन आचार्यों की परम्परा है। 'रमा टा' में अकः सवर्णे— से प्राप्त सवर्ण दीर्घ को बाध कर प्रकृत सूत्र के द्वारा एकार आदेश हुआ। रमे आ। अब 'एचोऽयवायावः' के द्वारा अय् आदेश होकर 'रमय् आ' हुआ। रमया।

रमा भ्याम्- रमाभ्याम्। रमा भिस्-रमाभिः। रुत्व तथा विसर्ग हुआ है।

२१९. [१]**याड् आपः[६] (७/३/११३)**

आपो ङितो याट्। वृद्धिः। रमायै, रमाभ्याम्, रमाभ्यः, रमायाः। रमयोः। रमाणाम्। रमायाम्। रमासु। एवं दुर्गाऽम्बिकादयः।

याड् इति-आबन्त अङ्ग से परे ङित् को 'याट्' आगम हो। 'याट्' में 'टकार' इत्संज्ञक है। टित् होने से ङित् प्रत्यय के आदि में होता है।

चतुर्थी के एकवचन में 'रमा ए' इस अवस्था में आबन्त अङ्ग से परे ङित् प्रत्यय को

'याट्' आगम हुआ। तब 'रमाया ए' इस दशा में 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि हुई। इस प्रकार रूप बना 'रमायै'। द्विवचन में 'रमाभ्याम्' तथा बहुवचन में 'रमाभ्य:' हो जायेगा।

'रमा ङसि > अस्' में प्रकृत सूत्र के द्वारा याट् आगम होगा। अब अकः सवर्णे० से सवर्ण दीर्घ होकर रमा याट् अस्-रमायास्। विसर्ग इत्यादि होकर— रमाया:। शेष पूर्ववत्। 'रमा ङस्' में पूर्ववत् क्रिया होकर 'रमाया:' रूप होगा। 'रमा ओस्' में 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि आदेश प्राप्त हुआ। 'आङि चाप:' के द्वारा आकार को एकार हुआ। 'एचोऽयवायाव:' के द्वारा अयादेश तथा रुत्वादि कार्य होकर-रमा ओस्-रमे ओस्-रमय् ओस्-रमयो:। 'रमा आम्' में 'ह्रस्वनद्यापो०' के द्वारा 'नुट्' आगम हुआ। 'अट्कुप्वाङ्नुम्०' के द्वारा रेफोत्तरवर्त्ती नकार को णकार हो गया। रमा नुट् आम्-रमा नाम्-रमाणाम्। 'रमा ङि'- यहाँ 'ङे राम्नद्याम्नीभ्य:' के द्वारा 'ङि' को आम् आदेश हुआ। उसे स्थानिवद्भाव होकर 'याडाप:' से याट् आगम होकर सवर्णदीर्घ हुआ। रमा आम्-रमा याट् आम्—रमायाम्। रमा सुप्—रमासु।

प्र० रमा	रमे	रमा:	सं० हे रमे	हे रमे	हे रमा:
द्वि० रमाम्	रमे	रमा:	तृ० रमया	रमाभ्याम्	रमाभि:
च० रमायै	रमाभ्याम्	रमाभ्य:	पं० रमाया:	रमाभ्याम्	रमाभ्य:
ष० रमाया:	रमयो:	रमाणाम्	स० रमायाम्	रमयो:	रमासु

एवमिति- इसी प्रकार आकारान्त स्त्रीलिङ्ग दुर्गा तथा अम्बिका आदि शब्दों के रूप बनेंगे।

२२०. [5]सर्वनाम्न: स्या[1]ड्ढ्रस्व[1]श्च (७/३/११४)

आबन्तात् सर्वनाम्नो ङित: स्याट् स्यात्, आपश्च ह्रस्व:। सर्वस्यै। सर्वस्या:। सर्वासाम्। सर्वस्याम्। शेषं रमावत्। एवं विश्वादय आबन्ता:।

सर्वनाम्न इति- आबन्त सर्वनाम से परे ङित् प्रत्ययों (ङसि ङे, ङि) को स्याट् आगम हो तथा अऊको ह्रस्व आदेश हो। 'स्याट्' में टकार इत्संज्ञक है।

'सर्वा ङे' इस अवस्था में वृद्धि प्राप्त है, उसको बाध कर सर्वनाम होने के कारण इस सूत्र से 'स्याट्' आगम और आकार को ह्रस्व हो गया। वृद्धि होकर 'सर्वस्यै' रूप सिद्ध हुआ। पञ्चमी एकवचन में 'सर्वा अस्' यहाँ 'सर्वनाम्न: स्याड्०' से स्याट् आगम, आकार को ह्रस्व तथा सवर्णदीर्घ, रुत्व, विसर्ग हुए। सर्वस्या:। सप्तमी के एकवचन में 'सर्वा ङि' इस दशा में 'ङेराम्नद्याम्नीभ्य:' से ङि को आम् आदेश, प्रकृत सूत्र से स्याट् आगम और आकार को ह्रस्व होकर रूप बना। सर्वस्याम्।

शेषमिति-शेष रूप 'रमा' शब्द के समान ही बनेंगे। इसी प्रकार 'विश्वपा' आदि आबन्त सर्वनाम शब्दों के रूप बनेंगे।।

२२१. विभाषा दिक्समासे[7] बहुव्रीहौ[7] (१/१/२७)

सर्वनामता वा। उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै। तीयस्येति वा सर्वनामसंज्ञा-द्वितीयस्यै, द्वितीयायै। एवं तृतीया। 'अम्बार्थ-' इति ह्रस्वः- हे अम्ब, हे अक्क, हे अल्ल। जरा जरसौ इत्यादि। पक्षे (हलादौ च) रमावत्। गोपा विश्वपावत्। मतीः। मत्या

विभाषेति-बहुव्रीहि समास के विषय में दिक्समास में सर्वादि की सर्वनाम संज्ञा विकल्प से हो।

बहुव्रीहि समास के प्रकरण में कथित 'दिङ्नामान्यन्तराले' सूत्र के द्वारा किया गया समास 'दिक्समास' कहलाता है। सर्वनाम संज्ञा का विकल्प होने से दिक् समास से निष्पन्न शब्दों के दो दो रूप (केवल पाँच विभक्तियों में) बनेंगे।

उत्तरपूर्वयोः दिशयोः अन्तरालम् (अर्थात् उत्तर और पूर्व दिशा के बीच की दिशा) इति उत्तरपूर्वा। 'उत्तरपूर्वा ङे' में प्रकृत सूत्र के द्वारा सर्वनाम संज्ञा की अवस्था में स्याट् आगम और ह्रस्व हो गया। उत्तरपूर्व स्याट् (स्या) ए। वृद्धि होकर 'उत्तरपूर्वस्यै' रूप सिद्ध हुआ। अभाव पक्ष में 'याट्' होकर 'उत्तरपूर्वायै' हो गया। याडापि। 'उत्तरपूर्वा ङसि' में पूर्ववत् कार्य होकर उत्तरपूर्वस्याः, उत्तरपूर्वायाः रूप बनेंगे। इसी प्रकार दो रूप ङस् में बनेंगे। आम् में- उत्तरपूर्वासाम् तथा उत्तरपूर्वाणाम्। ङि में उत्तरपूर्वस्याम् और उत्तरपूर्वायाम्।

तीयस्येति इति- 'तीयस्य ङित्सु वा' से तीयप्रत्ययान्त शब्दों की ङित् प्रत्ययों में विकल्प से सर्वनाम संज्ञा होती है द्वितीया शब्द से ङित् (ङे) प्रत्यय होने से सर्वनाम संज्ञा विकल्प से हुई। तब स्याट् आगम और ह्रस्व होकर रूप बना। अभावपक्ष में 'द्वितीयायै'। याडापः

आम् में एक ही रूप होगा। द्वितीयानाम।

एवमिति—इसी प्रकार तृतीया (तीसरी) शब्द के भी रूप बनेंगे।

अम्बार्थ- अम्बा अर्थात् माता के वाचक 'अम्बा', 'अक्का' तथा 'अल्ला' को सम्बुद्धि में 'अम्बार्थनद्यो०' सूत्र से ह्रस्व होकर 'हे अम्ब' इत्यादि रूप बनते हैं। शेष रूप 'रमा' शब्द की तरह होंगे।

जरा (बुढ़ापा) शब्द के प्रथमा एकवचन में आबन्त होने से 'रमा' की तरह 'हल्ङ्याब्भ्यो०' के द्वारा सु का लोप होकर 'जरा' रूप सिद्ध हुआ।

'जरा औ' में 'जराया जरसन्यतरस्याम्' के द्वारा जरस् आदेश होकर 'जरसौ' बन गया। पक्ष में 'रमा' की तरह रूप होंगे।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	जरा	जरसौ, जरे	जरसः, जराः
स०	हे जरे	हे जरसौ, जरे	हे जरसः, जराः
द्वि०	जरसम्, जराम्	जरसौ, जरे	जरसः, जराः

तृ०	जरसा, जरया	जराभ्याम्	जराभिः
च०	जरसे, जरायै	जराभ्याम्	जराभ्यः
पं०	जरसः, जरायाः	जराभ्याम्	जराभ्यः
ष०	जरसः, जरायाः	जरसोः, जरयोः	जरसाम्, जराणाम्
स०	जरसि, जरायाम्	जरसोः, जरयोः	जरासु

'गोपा' शब्द 'विच्' प्रत्ययान्त है जिसका सर्वापहार लोप हो जाता है। अतः यह शब्द दोनों लिङ्गों में समान ही रहता है। दूसरे प्रकार से गोप शब्द 'क' प्रत्यय जोड़कर बनता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में इससे 'टाप्' प्रत्यय होकर 'गोपा' शब्द बनता है। इस का अर्थ होगा- गोप जाति की स्त्री। ङीष् प्रत्यय से निष्पन्न 'गोपी' शब्द का अर्थ होता है- गोप की स्त्री। गोपा शब्द के रूप 'विश्वपा' की तरह होंगे।

ह्रस्व इकारान्त शब्द मति (बुद्धि)

मति शब्द के द्वितीया के बहुवचन में पूर्वसवर्णदीर्घ होकर 'मतीस्' ऐसी स्थिति हुई। तब सकार को रुत्व, विसर्ग होकर रूप सिद्ध हुआ। मतीः।

'मति टा > आ' में 'इको यणचि' के द्वारा यणादेश होकर 'मत्या' हो गया।

२२२. ७ङिति १ह्रस्वश्च (१/४/६)

इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ ह्रस्वौ च इवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तः ङिति। मत्यै, मतये। मत्याः२। मतेः२।

ङितीति- स्त्री शब्द को छोड़कर अन्य जिनके स्थान पर इयङ् उवङ् आदेश होते हों, उन नित्य स्त्रीलिङ्ग इकार, ईकार और उकार, ऊकार की ङित् (ङे-,ङसि, ङस्, ङि) प्रत्यय परे रहते विकल्प से नदी संज्ञा हो।

'मति ङे' में मति शब्द की प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प से नदी संज्ञा हुई। नदी संज्ञा पक्ष में 'आण् नद्याः' के द्वारा आट् आगम और 'आटश्च' के द्वारा वृद्धि तथा इकार को 'यण्' होकर-मति ए-मति आट् ए- मति ऐ-मत्यै रूप बना। अभाव पक्ष में घि संज्ञा होगी और 'घेर्ङिति' के द्वारा गुण होकर 'अय्' आदेश होकर मति ए-मते ए-मतय् ए-मतये बन गया।

मत्याः- पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में नदी संज्ञा, आट् आगम, वृद्धि, यण्, रुत्व और विसर्ग कार्य होकर उक्त रूप सिद्ध हुआ। नदीसंज्ञा के अभावपक्ष में घिसंज्ञा, गुण और 'ङसिङसोश्च' से अकार का पूर्वरूप तथा सकार को रुत्व विसर्ग होकर रूप बना। मतेः। मति आम् ह्रस्वनद्यापो० नामि।

२२३. ५इदुद्भ्याम् (७/३/११७)

इदुद्भ्यां नदीसंज्ञकाभ्यां परस्य ङेराम्। मत्याम्, मतौ। शेषं हरिवत्। एवं बुद्ध्यादयः।

इदुदिति—नदीसंज्ञक ह्रस्व इकार और उकार से पर 'ङि' को 'आम्' तथा औत् से 'औ' आदेश की युगपत् प्राप्ति। विप्रतिषेधे परं कार्यम् से परकार्य 'औ' आदेश प्राप्त हुआ। 'मति ङि' में 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' (७.३.११६) से 'ङि' को 'आम्' तब प्रकृत सूत्र के द्वारा पुनः 'आम्' आदेश हुआ। 'यण्' होकर 'मत्याम्' बन गया। नदी संज्ञा के अभाव में 'घि' संज्ञा होने से 'अच्च घेः' सूत्र से 'ङि' को 'औ' और इकार को अकार आदेश हुआ। तब 'मत औ' इस दशा में वृद्धि होकर रूप बना। मतौ।

शेषमिति- शेष रूप हरि शब्द के समान ही बनेंगे।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	मतिः	मती	मतयः
सं०	हे मते	हे मती	हे मतयः
द्वि०	मतिम्	मती	मतीः
तृ०	मत्या	मतिभ्याम्	मतिभिः
च०	मत्यै, मतये	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
पं०	मत्याः, मतेः	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
ष०	मत्याः, मतेः	मत्योः	मतीनाम्
स०	मत्याम्, मतौ	मत्योः	मतिषु

एवमिति- इस प्रकार बुद्धि आदि इकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप बनेंगे।

२२४. [६]**त्रि-चतुरोः स्त्रियां**[७] **तिसृचतसृ**[१] **(७/२/९९)**

स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतौ स्तो विभक्तौ।

त्रिचतुरोरिति—त्रि और चतुर् शब्दों को क्रम से 'तिसृ' और 'चतसृ' आदेश हों स्त्रीलिंग में।

त्रिशब्द नित्य बहुवचनान्त है। चतुर् शब्द भी नित्य बहुवचनान्त है।

२२५. [७]**अचि**[६]**र** [६]**ऋतः (७/२/१००)**

तिसृचतसृ एतयोर्ऋकारस्य रेफादेशः स्यादचि। गुणदीर्घोत्वानामपवादः। तिस्रः। तिस्रः। तिसृभिः। तिसृभ्यः। तिसृभ्यः। आमि नुट्।

अचिर इति-तिसृ और चतसृ शब्द के ऋकार को रेफ आदेश हो अच् परे रहते।

गुणेति-प्रस्तुत सूत्र गुण, दीर्घ तथा उकार का अपवाद है। यथा—१. जस् परे रहते 'ऋतो ङिसर्वनाम०' के द्वारा गुण प्राप्त होता है। २. शस् परे रहते 'प्रथमयोः पूर्व०' के द्वारा पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त है। ३. ङसि और ङस् परे रहते 'ऋत उत्' से उत्व प्राप्त है। प्रस्तुत सूत्र उक्त तीनों कार्यों का बाधक है।

'त्रि जस्' यहाँ 'त्रिचतुरोः०' के द्वारा 'तिसृ' आदेश हो गया। तिसृ अस्। अब 'ऋतो ङि सर्वनाम०' के द्वारा गुण प्राप्त हुआ। तब 'अचि र ऋतः' के द्वारा रेफ आदेश

हो गया। तिस्र् अस्। विसर्ग इत्यादि होकर 'तिस्रः' रूप सिद्ध हो गया।

'तिसृ शस्' यहाँ पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त था जिसे प्रकृत सूत्र बाध देता है। तिस्र :।

'त्रि भिस्' यहाँ 'तिसृ' आदेश होकर सकार को रुत्व तथा विसर्ग होकर-तिसृ भिस्-तिसृभिरु-तिसृभिः रूप हुआ।

त्रि भ्यस्' में 'तिसृ' आदेश होकर 'तिसृभ्यः' बन गया।

आमि इति- आम् में 'नुट्' आगम हुआ।

'त्रि आम्' -यहाँ 'त्रिचतुरोः'- के द्वारा 'तिसृ' आदेश हो गया। 'अचि र ऋतः' के द्वारा रेफ आदेश हुआ। 'ह्रस्वनद्यापो०' से आम् को 'नुट्' आगम हुआ। पर होने से रेफ आदेश प्रबल है, तथापि 'नुमचिर तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्व विप्रतिषेधेन' परिभाषा के अनुसार रेफादेश की अपेक्षा नुडागम प्रबल है। अतः 'नुट्' आगम होगा। तिसृ आम्-तिसृ नुट् आम्-तिसृ नाम्। अब रेफादेश की स्वतः निवृत्ति हो जायेगी, क्योंकि नाम् अजादि प्रत्यय नहीं है।

२२६. **न तिसृ-चतसृ**[१] **(६/४/४)**

एतयोर्नामि दीर्घो न। तिसृणाम्। तिसृषु। द्वे, द्वे। द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्, द्वाभ्याम्। द्वयोः, द्वयोः। गौरी, गौर्यौ, गौर्यः। हे गौरि। गौर्यै इत्यादि। एवं नद्यादयः। लक्ष्मीः। शेषं गौरीवत्। एवं तरीतन्त्र्यादयः। स्त्री। हे स्त्रि।

नेति-आम् प्रत्यय परे रहते तिसृ और चतसृ शब्दों को दीर्घ आदेश न हो।

'तिसृ नाम्' यहाँ 'नामि' सूत्र के द्वारा दीर्घत्व प्राप्त था जिसका प्रकत सूत्र के द्वारा निषेध हो जाता है। अब 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' से णत्व होकर 'तिसृणाम्' हो गया।

तिसृषु— सप्तमी के बहुवचन में 'आदेशप्रत्यययोः' से सुप् प्रत्यय के सकार को मूर्धन्य (षकार) आदेश होकर रूप सिद्ध हो गया।

इसी प्रकार चतसृ शब्द के भी रूप बनेंगे- प्र० चतस्रः। द्वि० चतस्रः। तृ० चतसृभिः। च० चतसृभ्यः। पं० चतृसभ्यः। ष० चतसृणाम्। स० चतसृषु।

द्वि शब्द

प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन में 'त्यदादीनामः' से इकार को अकार आदेश हुआ। तब 'द्व औ' इस स्थिति में स्त्रीत्व की विवक्षामें टाप् हो गया। द्वआ औ। सवर्णदीर्घ हुआ। द्वा औ। तब औङः आपः' से 'शी' आदेश तथा गुण होकर 'द्वे' रूप बना।

'द्वि भ्याम्'- यहाँ अकार आदेश, टाप् तथा सवर्णदीर्घ होकर 'द्वाभ्याम्' रूप बना।

षष्ठी तथा सप्तमी द्विव० में अकार, टाप्, सवर्ण दीर्घ, आकार का एकार (आङि चापः) तथा अय् आदेश होकर 'द्वयोः' रूप बना।

दीर्घ ईकारान्त शब्द गौरी (पार्वती)

'गौरी सु'- इस अवस्था में 'हल्ङ्याब्भ्यो०' के द्वारा अपृक्त सकार का लोप हो

गया। गौरी।

'गौरी औ'- यहाँ पूर्व सवर्ण दीर्घ प्राप्त हुआ। 'दीर्घाज्जसि च' के द्वारा निषेध हो गया। तब 'यण्' होकर 'गौर्यौ' रूप बना। इको यणचि।

'गौरी जस्'-पूर्ववत् कार्य होकर 'गौर्यः' रूप बना।

'हे गौरी सु'- नित्य स्त्रीलिङ्ग होने के कारण नदीसंज्ञक हो गया। तब 'अम्बार्थ०' के द्वारा ह्रस्व तथा 'एङ् ह्रस्वात्०' के द्वारा सकार लोप होकर 'हे गौरि' रूप बना। गौरी अम्। अमि पूर्वः। गौरी शस्— प्रथमयोः पूर्वसवर्णः। गौरी आम्— ह्रस्वनद्यापो०। अट्कुप्वाङ्नु०।

'गौरी ङे' -इस अवस्था में 'आण्नद्याः' के द्वारा आट् तथा 'आटश्च' के द्वारा वृद्धि होकर 'गौरी आ ए-गौरी ऐ' बन गया। तब 'यण्' होकर 'गौर्यै' रूप बना। 'गौरी ङि' — ङे राम्नद्याम्नीभ्यः। गौरी आम्— आण्नद्याः। गौरी आट् आम्— आटश्च। गौरी आम्— इको यणचि। गौर्याम्।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	गौरी	गौर्यौ	गौर्यः
सं०	हे गौरि	हे गौर्यौ	हे गौर्यः
द्वि०	गौरीम्	गौर्यौ	गौरीः
तृ०	गौर्या	गौरीभ्याम्	गौरीभिः
च०	गौर्यै	गौरीभ्याम्	गौरीभ्यः
पं०	गौर्याः	गौरीभ्याम्	गौरीभ्यः
ष०	गौर्याः	गौर्योः	गौरीणाम्
स०	गौर्याम्	गौर्योः	गौरीषु

इसी प्रकार नदी इत्यादि।

लक्ष्मी शब्द

'लक्ष्मी सु'- यहाँ लक्ष्मी शब्द ङ्यन्त नहीं है। अतः 'हल्ङ्याब्भ्यः०' के द्वारा 'सु' का लोप नहीं होगा। लक्ष्मीः।

शेष रूप गौरी शब्द की तरह होंगे। इसी प्रकार तरी, तन्त्री आदि अङ्यन्त शब्दों के रूप होंगे।

स्त्री शब्द

'स्त्री सु'- चूँकि यह ङ्यन्त शब्द है। अतः 'हल्ङ्याब्भ्यः-' के द्वारा अपृक्त सकार का लोप होगा। स्त्री।

'हे स्त्री सु'- यहाँ नदीसंज्ञक होने से 'अम्बार्थ नद्योर्ह्रस्वः' के द्वारा ह्रस्व हो गया। तब 'एङ्ह्रस्वाद्०' के द्वारा सकार का लोप हो गया। स्त्री सु-स्त्रि स्-स्त्रि।

२२७. ⁶स्त्रियाः (६/४/७९)

अस्येयङ् स्याद् अजादौ प्रत्यये परे। स्त्रियौ। स्त्रियः।

स्त्रिया इति- अजादि प्रत्यय परे रहते स्त्री शब्द को इयङ् आदेश हो। इयङ् का अकार तथा ङकार इत्संज्ञक है। ङित् होने से यह अन्त्य वर्ण के स्थान पर होगा।

'स्त्री औ' इस अवस्था में 'दीर्घाज्जसि च' से पूर्वसवर्ण दीर्घ आदेश का निषेध। 'इको यणचि' से यण् प्राप्त। प्रकृत सूत्र से अजादि प्रत्यय परे होने से 'स्त्री' शब्द के ईकार को इयङ् आदेश होकर 'स्त्रियौ' रूप सिद्ध हुआ। प्रथमा के बहुवचन में पूर्ववत् इयङ् आदेश और सकार को रु और रेफ को विसर्ग होने से रूप बना। स्त्रियः।

२२८. वाऽम्-शसोः⁷ (६/४/८०)

अमि शसि च स्त्रिया इयङ् वा स्यात्। स्त्रियम्, स्त्रीम्। स्त्रियः, स्त्रीः। स्त्रिया। स्त्रियै। स्त्रियाः परत्वान्नुट्-स्त्रीणाम्। स्त्रियाम् स्त्रीषु। श्रीः। श्रियौ। श्रियः।

वामिति- अम् और शस् परे रहते स्त्री शब्द को इयङ् विकल्प से हो।

द्वितीया के एकवचन में 'इको यणचि' से यण्। इसे बाधकर 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप। इसे बाधकर प्रकृत सूत्र से इयङ् आदेश होकर यह रूप सिद्ध हुआ। स्त्रियम्। स्त्रीम् पक्ष में 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप होकर बना। द्वितीया के बहुवचन (शस्) में जब इयङ् हुआ, तब जस् के समान रूप बना- स्त्रियः। और जब इयङ् नहीं हुआ तब पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर 'स्त्रीः' यह रूप बना।

'स्त्री टा'- यहाँ 'स्त्रियाः' सूत्र के द्वारा इयङ् आदेश होकर 'स्त्रिय् आ- स्त्रिया' रूप सिद्ध हुआ। 'स्त्री ङे'- इस अवस्था में 'आण्नद्याः' के द्वारा आट् हुआ। 'आटश्च' के द्वारा वृद्धि होकर 'स्त्री ऐ' ऐसी स्थिति बन गई। तब 'स्त्रियाः' के द्वारा इयङ् आदेश होकर 'स्त्रियै' रूप बना। 'स्त्री ङसि > अस्' स्त्री शब्द की नदी संज्ञा होने से आट् आगम, वृद्धि आदेश तथा इयङ् आदेश होकर–स्त्री अस्–स्त्री आट् अस्–स्त्री आस्–स्त्रियङ् आस्–स्त्रियास्–स्त्रियाः।

इसी प्रकार 'स्त्री ङस्' में पूर्ववत् क्रिया होकर 'स्त्रियाः' रूप सिद्ध होता है।

'स्त्री आम्'- यहाँ 'स्त्रियाः' (६.४.७९) के द्वारा इयङ् आदेश तथा 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' ७.१.५४ के द्वारा 'नुट्' प्राप्त है। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' के अनुसार पर कार्य नुडागम हो गया। अब 'अट्कुप्वाङ्०' के द्वारा नकार को णकार हो गया। स्त्री आम्–स्त्री नुट् आम्–स्त्रीनाम्–स्त्रीणाम्।

'स्त्री सुप्' मूर्धन्य आदेश (आदेशप्रत्यययोः) होकर 'स्त्रीषु' हो गया।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	स्त्री	स्त्रियौ	स्त्रियः
सं०	हे स्त्रि	हे स्त्रियौ	हे स्त्रियः
द्वि०	स्त्रीम्, स्त्रियम्	स्त्रियौ	स्त्रीः स्त्रियः

तृ०	स्त्रिया	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभिः
च०	स्त्रियै	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभ्यः
पं०	स्त्रियाः	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभ्यः
ष०	स्त्रियाः	स्त्रियोः	स्त्रीणाम्
स०	स्त्रियाम्	स्त्रियोः	स्त्रीषु

श्री (लक्ष्मी) यह ङ्यन्त नहीं है। अतः 'श्री सु' यहाँ 'स्' का लोप न होकर 'श्रीः' रूप बनेगा। 'श्री औ'- यहाँ 'अचिश्नु०' के द्वारा इयङ् आदेश होकर 'श्रियौ' रूप बना।

इसी प्रकार- श्री जस्-श्रियः।

२२९. नेयँङुवङ्स्थाना[१] वस्त्री[१] (१/४/४)

इयङुवङोः स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदीसंज्ञौ न स्तः, स्त्रीभिन्नौ। हे श्रीः। श्रियै, श्रिये। श्रियाः २, श्रियः।

नेयङ् इति-इयङ् व उवङ् की स्थिति जहाँ हो, ऐसे दीर्घ ईकार तथा ऊकार की नदी संज्ञा नहीं होती स्त्रीशब्द से अतिरिक्त।

'हे श्री सु'-यहाँ इयङ् की स्थितिवाला होने से दीर्घ ईकारान्त 'श्री' शब्द की नदी संज्ञा का प्रकृत सूत्र से निषेध हो जाता है। जिसके परिणाम स्वरूप ह्रस्व नहीं हुआ। रुत्व तथा विसर्ग होकर 'हे श्रीः' बन गया। श्री अम् — अमि पूर्वः। इयङ्। श्रियम्। श्री शस्— इयङ्। श्री टा— श्रिया। सर्वत्र अचिश्नुधातु० से इयङ्।

'श्री ए'- 'यूस्त्राख्यौ नदी' से प्राप्त नदी संज्ञा का 'नेयङुवङ्स्था०' से निषेध। 'ङिति ह्रस्वश्च०' के द्वारा विकल्प से नदी संज्ञा होती है। नदी संज्ञा होने पर आट् आगम, वृद्धि आदेश होकर 'अचिश्नु०' के द्वारा इयङ् आदेश होता है। श्री आट् ए-श्री ऐ-श्रियङ् ऐ। श्रियै। अभाव पक्ष में इयङ् आदेश होकर 'श्रिये' रूप बनेगा। 'श्री ङसि'-नदीसंज्ञा विकल्प से होती है। नदी पक्ष में 'श्रियै' की तरह कार्य होकर 'श्रियाः' रूप सिद्ध हुआ है तथा अभाव पक्ष में इयङ् आदेश होकर 'श्रियः' रूप बन गया। 'श्री ङस्' में पूर्ववत् दो रूप बनेंगे।

२३०. वाँऽऽमि[७] (१/४/५)

इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसंज्ञौ स्तः, स्त्रीभिन्नौ। श्रीणाम्, श्रियाम्। श्रियाम्, श्रियि। धेनुर्मतिवत्।

वामीति- इयङ् और उवङ् के स्थान, नित्यस्त्रीलिङ्ग ईकार, ऊकार की आम् परे रहते विकल्प से नदीसंज्ञा हो। स्त्री शब्द की उक्त संज्ञा न हो।

'श्री आम्'- यहाँ इयङ् स्थिति वाला ईकारान्त 'श्री' शब्द है। आम् परे रहते इसकी प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प से नदीसंज्ञा हो गई। संज्ञा पक्ष में 'ह्रस्वनद्यापो नुट्०' के द्वारा 'नुट्' आगम, णत्व होकर 'श्रीणाम्' बनता है। पक्ष में 'इयङ्' होकर 'श्रियाम्' बनेगा।

अचिश्नुधातु०।

'श्री ङि' 'ङिति ह्रस्वश्च०' से पाक्षिक नदी संज्ञा। नदीपक्ष में डेराम्नद्याम्नी०। श्री आम्। आण् नद्याः। श्री आट् आम्। आटश्च। अचिश्नुधातु०। श्रियाम्। नदीत्वाभाव पक्ष में इयङ् आदेश होकर 'श्रियि' रूप बनेगा।

२३१. [७]**स्त्रियां च** (७/१/९६)

स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद् रूपं लभते।

स्त्रियामिति-स्त्री वाची क्रोष्टु शब्द तृजन्त के समान हो।

२३२. [५]**ऋन्नेभ्यो ङीप्**[१] (४/१/५)

ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप्। क्रोष्ट्री गौरीवत्। भ्रूः श्रीवत्। स्वयम्भूः पुंवत्।

ऋन्निति-ऋदन्त और नकारान्त शब्दों से ङीप् हो स्त्रीलिङ्ग के विषय में।

पूर्व सूत्र के द्वारा क्रोष्टु शब्द को स्त्रीलिङ्ग में तृजन्त होकर 'क्रोष्टृ' रूप बना। अब प्रकृत सूत्र के द्वारा 'ङीप्' प्रत्यय हुआ। 'क्रोष्टृ ङीप् > ई'। ङकार का 'लशक्वतद्धिते०' के द्वारा तथा पकार का 'हलन्त्यम्' के द्वारा इत्संज्ञा व लोप होते है। अब यणादेश होकर 'क्रोष्ट्री' हो गया।

गौरीवदिति- अब ईकारान्त 'क्रोष्ट्री' शब्द के रूप गौरी शब्द की तरह होंगे।

दीर्घ ऊकारान्त शब्द

भ्रूः-भ्रू (भौं) शब्द के प्रथमा के एकवचन में सु का लोप नहीं होता।

श्रीवत्-भ्रू शब्द के रूप श्री शब्द के समान बनेंगे। इसमें 'अचिश्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ' से उवङ् आदेश होता है। (१) उवङ् की स्थिति है अतः 'नेयङुवङ्स्थानावस्त्री' से नदी संज्ञा का निषेध और ङिद्वचनों में 'ङिति ह्रस्वश्च' से नदी संज्ञा का विकल्प होता है।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	भ्रूः	भ्रुवौ	भ्रुवः
सं०	हे भ्रूः	हे भ्रुवौ	हे भ्रुवः
द्वि०	भ्रुवम्	हे भ्रुवौ	हे भ्रुवः
तृ०	भ्रुवा	भ्रूभ्याम्	भ्रूभिः
च०	भ्रुवै, भ्रुवे	भ्रूभ्याम्	भ्रूभ्यः
पं०	भ्रुवाः, भ्रुवः	भ्रूभ्याम्	भ्रूभ्यः
ष०	भ्रुवाः, भ्रुवः	भ्रुवोः	भ्रुवाम्
स०	भ्रुवाम्, भ्रुवि	भ्रुवोः	भ्रूषु

'स्वयम्भू सु'- 'ससजुषोः रुः' के द्वारा रु होकर 'खरवसानयोः विसर्ज०' के द्वारा विसर्ग हो गया। स्वयम्भू रु-स्वयम्भूर्-स्वयम्भूः।

'स्वयम्भू' के रूप पुँल्लिङ्ग की तरह होंगे।

२३३. नॅ षट्-स्वस्त्रादिभ्यः[५] (४/१/१०)

डीप् टापौ न स्तः।

स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा।
याता मातेति सप्तैते स्वस्त्रादय उदाहृताः॥

स्वसा, स्वसारौ। माता पितृवत्। शसि-मातॄः। इति ऋदन्ताः। द्यौर्गोवत्। राः पुंवत्। नौग्लौवत्।

॥इति अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्॥

नेति-षट् संज्ञा वाले और स्वसृ आदि शब्दों से डीप् तथा टाप् नहीं होते हैं।

'ष्णान्ताः षट्' के द्वारा षष् (६) पञ्चन् (५) आदि शब्दों की षट् संज्ञा होती है। अतः इन नकारान्त शब्दों को 'ऋन्नेभ्यः०' के द्वारा ङीप् प्राप्त है, जिसका निषेध प्रकृत सूत्र के द्वारा होता है।

स्वसा इति— स्वसृ आदियों का कारिका में परिगणन किया गया है। 'स्वसृ (बहिन), तिसृ (तीन स्त्रियाँ), चतसृ (चार स्त्रियाँ), ननान्दृ (पति की बहिन-ननद), दुहितृ (लड़की), यातृ (भाइयों की स्त्रियाँ आपस में 'याता' कहती हैं), मातृ (माता)— ये सात शब्द स्वस्त्रादि कहे गये हैं।

'स्वसृ सु' इस दशा में 'ऋदुदशन०' सूत्र से ऋकार को 'अनङ्' आदेश, अङ् मात्र की इत्संज्ञा और लोप, 'अप्तृन्तृच्स्वसृ०' से उपधा अकार को दीर्घ, अपृक्त सकार का 'हल्ङ्याब्भ्यः०' से सलोप और नकार का 'नलोपः प्रातिपदिका०' के द्वारा लोप होकर बनता है। स्वसा।

'स्वसृ औ'— यहाँ 'ऋतो ङि सर्वनामस्थानयोः' के द्वारा गुण होकर 'स्वसर् औ' बन गया। उपधा को 'अप्तृन्तृच्स्वसृ०' के द्वारा दीर्घ हो गया। स्वसारौ। स्वसृ सु—सम्बोधन में ऋतो ङि सर्वनाम०। हे स्वसर् स्— हल्ङ्याब्भ्यो०। रुत्व, विसर्ग। स्वसृ ङसि- ऋत उत्, रात्सस्य। स्वसृ ङि - ऋतो ङि सर्व०।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	स्वसा	स्वसारौ	स्वसारः
सं०	हे स्वसः	हे स्वसारौ	हे स्वसारः
द्वि०	स्वसारम्	स्वसारौ	स्वसॄः
तृ०	स्वस्रा	स्वसृभ्याम्	स्वसृभिः
च०	स्वस्रे	स्वसृभ्याम्	स्वसृभ्यः
पं०	स्वसुः	स्वसृभ्याम्	स्वसृभ्यः
ष०	स्वसुः	स्वस्रोः	स्वसॄणाम्
सं०	स्वसरि	स्वस्रोः	स्वसृषु

माता पितृवदिति-मातृ शब्द के रूप पितृ शब्द के समान होंगे। शस् में पुँल्लिङ्ग न होने से सकार को 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इस सूत्र से नकार नहीं होता। तब 'मातृः' रूप बनेगा। इसी प्रकार ननान्दृ आदि शब्दों के भी रूप बनते हैं।

सर्वनामस्थान प्रत्ययों में पितृ मातृ शब्द के समान 'अप्तृन्०' सूत्र से उपधा दीर्घ नहीं होता है।

ओकारान्त शब्द

द्यौः— यह रूप प्रथमा के एकवचन का है। 'द्यो स्' इस दशा में सु को 'ओतो णिदिति वाच्यम्' इस वार्तिक से णिद्वद्भाव हो जाता है। तब 'अचोञ्णिति' से ओकार को औकार वृद्धि हो गई। द्यो औ— णिद्वत्, वृद्धि, आव्। द्यो अम्- औतोऽम् शसोः। आकार आदेश। शस् में पूर्ववत्। द्यो ङसि-'ङसिङसोश्च' से पूर्वरूप।

गोवदिति— इसके रूप 'गो' शब्द के समान बनेंगे।

प्र०	द्यौः	द्यावौ	द्यावः
सं०	हे द्यौः	हे द्यावौ	हे द्यावः
द्वि०	द्याम्	द्यावौ	द्याः
तृ०	द्यावा	द्योभ्याम्	द्योभिः
च०	द्यवे	द्योभ्याम्	द्योभ्यः
पं०	द्योः	द्योभ्याम्	द्योभ्यः
ष०	द्योः	द्यवोः	द्यवाम्
स०	द्यवि	द्यवोः	द्योषु

ऐकारान्त शब्द

रा इति-रै शब्द के रूप पुँल्लिङ्ग की तरह बनेंगे।

औकारान्त शब्द

नौः— यह रूप नौ (नाव) शब्द के प्रथमा के एकवचन का है। सकार रुत्व विसर्ग होकर बनता है।

ग्लौवदिति-नौ शब्द के रूप ग्लौ के समान बनते हैं।

प्र०	नौः	नावौ	नावः
सं०	हे नौः	हे नावौ	हे नावः
द्वि०	नावम्	नावौ	नावः
तृ०	नावा	नौभ्याम्	नौभिः
च०	नावे	नौभ्याम्	नौभ्यः
पं०	नावः	नौभ्याम्	नौभ्यः
ष०	नावः	नावोः	नावाम्
सं०	नावि	नावोः	नौषु

॥ अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण समाप्त ॥

अथ अजन्तनपुँसकलिङ्गप्रकरणम्

२३४. [५]**अतोऽम्**[१] (७/१/२४)

अतोऽङ्गात् क्लीबात् स्वमोरम्। अमि पूर्वः। ज्ञानम्। 'एङ्ह्रस्वाद्'– इति हल्लोपः। हे ज्ञान।

अत इति— अदन्त नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से पर 'सु' और 'अम्' को 'अम्' आदेश हो।

ज्ञान शब्द के प्रथमा के एक वचन में स्वमोर्नपुंसकात् से प्राप्त सुलुक् का बाध। 'सु' को 'अम्' आदेश हुआ। तब 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप होने पर रूप सिद्ध हो गया। ज्ञानम्। सम्बुद्धि में अम् आदेश और पूर्वरूप होने पर 'हे ज्ञानम्' बन गया। तब 'एङ्ह्रस्वात् सम्बु०' से हल् का लोप हुआ। हे ज्ञान।

२३५. [५]**नपुंसकाच्च** (७/१/१९)

क्लीबात्परस्यौङः शी स्यात्। भसंज्ञायाम्।

नपुँसकाच्चेति—नपुँसक अङ्ग से पर औङ् को 'शी' आदेश हो।

'ज्ञान औ' इस दशा में नपुँसक अङ्ग से पर औङ् को 'शी' आदेश हुआ। 'शी' स्थानिवभ्दाव से प्रत्यय हुआ। तब आदि शकार का 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। ज्ञान ई। अब ज्ञान शब्द की 'यचि भम्' से भसंज्ञा 'सुडनपुँसकस्य' के अनुसार हो गई।

२३६. [६]**यस्येति**[७] **च** (६/४/१४८)

ईकारे तद्धिते च परे भस्येवर्णावर्णयोर्लोपः। इत्यल्लोपे प्राप्ते–

(वा०) औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः। ज्ञाने।

यस्येति-ईकार और तद्धित प्रत्यय परे रहते भसंज्ञक अङ्ग के इकार और अकार का लोप हो।

इतीति— 'ज्ञान ई'— यहाँ ज्ञान शब्द की भसंज्ञा हो गई। ईकार परे रहते इसके अकार का लोप प्राप्त होता है।

औङ इति— औङ् स्थानीय (अर्थात् जो औङ् के स्थान पर आदेश हो) 'शी' परे रहते 'यस्येति च' के द्वारा होने वाले लोप का प्रतिषेध हो। अब प्रकृत वार्त्तिक के द्वारा पूर्व प्राप्त लोप का निषेध हो गया। तब 'आद्गुणः' के द्वारा गुण होकर 'ज्ञाने' रूप सिद्ध हुआ।

२३७. [६]**जश्शसोः शिः**[१] (७/१/२०)

क्लीबादनयोः शिः स्यात्।

जशिति-नपुँसकलिङ्ग अङ्ग से परवर्ती जस् और शस् को 'शि' आदेश हो। 'शि' का शकार 'लशक्वतद्धिते' के द्वारा इत्संज्ञक है। 'ज्ञान जस्' यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा जस् को 'शि' आदेश हो गया। ज्ञान शि-ज्ञान इ।

२३८. [१]शि सर्वनामस्थानम्[१] (१/१/४१)

शि इत्येतत् उक्तसंज्ञं स्यात्।

शीति– (पूर्व सूत्र से प्राप्त) शि की सर्वनामस्थान संज्ञा हो।

२३९. [६]नपुँसकस्य झलच:[६] (७/१/७२)

झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुम् स्यात् सर्वनामस्थानेपरे।

नपुँसकेति-झलन्त और अजन्त नपुँसकलिङ्ग अङ्ग को सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय परे रहते नुम् आगम हो।

'नुम्' के मकार की 'हलन्त्यम्' के द्वारा तथा उकार की 'उपदेशेऽजनुनासि०' के द्वारा इत्संज्ञा होती है। शेष 'न्' बचता है।

२४०. [५]मिदचोऽन्त्यात्[५] पर:[१] (१/१/४६)

अचां मध्ये योऽन्त्य:, तस्मात् परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात्। उपधादीर्घ:– ज्ञानानि। पुनस्तद्वत्। शेषं पुंवत्। एवं धन-वन-फलादय:।

मिदिति-अचों में जो अन्त्य अच्, उससे परवर्त्ती और जिस समुदाय को विधान किया गया हो, उसी का अन्त्यावयव मित् होता है।

ज्ञान शि-ज्ञान इ। अब शि आदेश की 'शि सर्वनामस्थानम्' के द्वारा सर्वनामस्थान संज्ञा हो गई। ऐसा होने पर 'नपुँसकस्य झलच:' के द्वारा 'नुम्' (न्) आगम हो गया। प्रश्न उठता है कि यह आगम कहाँ हो? 'मिदचोऽन्त्यात् पर:' के बल पर यह आगम 'ज्ञान' का अन्त्यावयव बनेगा। ज्ञान शब्द का अन्त्य अच् अकार है, वह 'ज्ञान' इस समुदाय के अन्त में है। अत: इस समुदाय का अन्त्य अवयव बन जायेग। ज्ञान नुम् > ई-ज्ञानन् इ। तब 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' के द्वारा उपधा का दीर्घ कर देने पर 'ज्ञानानि' रूप सिद्ध हो गया।

इसी प्रकार 'ज्ञान शस्' में पूर्ववत् प्रक्रिया होकर 'ज्ञानानि' रूप बन जायेगा।

पुनरिति-द्वितीया में प्रथमा के समान रूप होंगे।

शेषमिति– शेष तृतीया आदि के रूप पुँल्लिङ्ग अकारान्त शब्द के समान बनेंगे।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि
सं०	हे ज्ञान	हे ज्ञाने	हे ज्ञानानि
द्वि०	ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि
तृ०	ज्ञानेन	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानै:
च०	ज्ञानाय	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानेभ्य:
पं०	ज्ञानात्	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानेभ्य:
ष०	ज्ञानस्य	ज्ञानयो:	ज्ञानानाम्
स०	ज्ञाने	ज्ञानयो:	ज्ञानेषु

एवमिति— इसी प्रकार अकारान्त नपुँसकलिङ्ग धन, वन तथा फल आदि शब्दों के रूप होंगे। कुछ अन्य नपुँसकलिङ्ग शब्द-नेत्र, मुख, मूल्य, जल, पुष्प, पत्र, सत्य, आज्य (घी) आदि।

२४१. [१]अद्ड् डतरादिभ्यः[५] पञ्चभ्यः[५] (७/१/२५)

एभ्यः क्लीबेभ्यः स्वमोरद्ड् आदेशः स्यात्।

अद्डिति-डतर आदि पाँच नपुँसकलिङ्ग अङ्गों से परे सु और अम् को अद्ड् आदेश हो। 'अद्ड्' के डकार की 'हलन्त्यम्' के द्वारा इत्संज्ञा होगी। 'अद्' शेष रहेगा।

डतर आदि सर्वादिगण में आये हैं— डतर, डतम, अन्य, अन्यतर और इतर। डतर, डतम प्रत्यय हैं। अतः प्रत्ययग्रहण परिभाषा के अनुसार डतर व डतम प्रत्ययान्त कतर, कतम आदि शब्द ही लिये जायँगे। 'अन्यतर' शब्द डतरप्रत्ययान्त नहीं, इसीलिये इसका पृथक् ग्रहण किया है। ये अव्युत्पन्न हैं। यह अतोऽम् का अपवाद है।

कतर— (दो में से कौन) शब्द डतरप्रत्ययान्त है। अतः इससे परवर्ती 'सु' और 'अम्' अद्ड् आदेश हो गया।

२४२. [६]टेः (६/४/१४३)

डिति भस्य टेर्लोपः। कतरत्, कतरद्। कतरे। कतराणि। हे कतरत्। शेषं पुंवत्। एवम्-कतमत्, कतरत्, अन्यत्, अन्यतरत्। अन्यतमस्य तु अन्यतममित्येव।

(वा०) एकतरात् प्रतिषेधो वक्तव्यः। एकतरम्।

टेरिति-डित् परे रहते भसंज्ञक अङ्ग की 'टि' का लोप हो।

'कतर अद्'— इस अवस्था में 'कतर' भसंज्ञक है जिससे परे डित् 'अद्' है। अतः इसके टि का प्रकृत सूत्र के द्वारा लोप हो गया। कतर्अद्। तब 'वाऽवसाने' के द्वारा दकार को विकल्प से 'चर्' (तकार) हो गया। कतरत्। कतरद्।

'कतर औ'— यहाँ 'नपुंसकाच्च' से 'शि' आदेश तथा उसकी सर्वनामस्थान संज्ञा आदि कार्य होकर 'यस्येति च' से लोप प्राप्त था जिसका 'औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः' वार्तिक के द्वारा निषेध होकर गुण आदि होकर 'कतरे' सिद्ध हुआ।

'कतर जस्'— 'जश्शसोः शि' के द्वारा 'शि' आदेश होकर सम्पूर्ण प्रक्रिया 'ज्ञानानि' की तरह होगी। कतर शि-कतर इ-कतर नुम् इ-कतरान् इ। 'अट्कुप्वाङ्नुम्०' के द्वारा णत्व होकर 'कतराणि' हो गया। इसी प्रकार द्वितीया में रूप बनेंगे।

'हे कतर सु'— इस अवस्था में अद्ड् आदेश, टिलोप होकर 'हे कतर अद्' ऐसा बना। कतर अङ्ग है। वह ह्रस्वान्त नहीं। वह हलन्त है। अतः तकार का लोप नहीं होगा। तब विकल्प से चर्त्व होकर रूप बना। हे कतरत्। शेष रूप पुँल्लिङ्ग के समान होंगे।

इसी प्रकार 'अद्ड्' आदेश होकर 'कतम' से 'कतमत्', 'इतर' से 'इतरत्' अन्य से 'अन्यत्' तथा 'अन्यतर' से 'अन्यतरत्' रूप बनेंगे।

यतर, यतम, एकतम आदि शब्दों के रूप कतर की तरह होंगे। ये डतर तथा डतम प्रत्ययान्त शब्द हैं।

अन्यतमस्येति-अन्यतम शब्द को 'अद्ड्' आदेश नहीं होगा, क्योंकि अन्यतम शब्द पूर्वोक्त पाँचों में नहीं है। अपि च, यह डतर डतम प्रत्ययान्त भी नहीं है। अतः इसके रूप 'अन्यतमम्' की तरह होंगे।

एकतरादिति-एकतर शब्द से परवर्त्ती 'सु' और 'अम्' को अद्ड् आदेश न हो।

'एकतर सु'- एकतर शब्द डतर- प्रत्ययान्त है। अतः अद्ड् आदेश प्राप्त हुआ। इसका प्रकृत वार्तिक के द्वारा निषेध हो गया। तब 'सु' को 'अम्' आदेश होकर 'ज्ञानम्' की तरह 'एकतरम्' रूप सिद्ध हुआ।

शेष 'ज्ञान' शब्द की तरह रूप होंगे।

२४३. **[१]ह्रस्वो नपुंसके[७] प्रातिपदिकस्य[६]** (१/२/४७)

अजन्तस्येत्येव। श्रीपम्-ज्ञानवत्। द्वे। द्वे। त्रीणि।

ह्रस्व इति-नपुँसकलिङ्ग में अजन्त प्रातिपदिक को ह्रस्व आदेश हो।

आकारान्त शब्द

'श्रीपा' (लक्ष्मी का पालन करने वाला) यह आकारान्त शब्द है। प्रकृत सूत्र के द्वारा इसे ह्रस्व हो गया। श्रीपा-श्रीप। अब 'श्रीप सु' होने पर ज्ञान शब्द की तरह 'श्रीपम्'। द्विवचन में शी आदेश होकर 'श्रीपे' रूप बन गया।

'श्रीप जस्'-यहाँ जस् को 'शि' आदेश होकर 'नुम्' आगम हुआ। उपधा को दीर्घ इत्यादि कार्य 'ज्ञानानि' की तरह हो गए।। श्रीप शि-श्रीप इ-श्रीप नुम् इ-श्रीपन् इ-श्रीपानि। अब णत्व होकर 'श्रीपाणि' रूप बन गया। णत्व 'एकाजुत्तरपदे णः' के द्वारा होगा, क्योंकि 'श्रीपा' एक अखण्ड पद नहीं। 'श्रीपेण' तथा 'श्रीपाणाम्' में भी 'एकाजुत्तरपदे०' सूत्र के द्वारा णत्व होता है। 'ह्रस्वो नपुंसके०' से नपुँसकलिङ्ग में कोई भी शब्द दीर्घान्त नहीं रह जाता है। एकारान्त, ओकारान्त, ऐकारान्त और ओकारान्त शब्दों को ह्रस्व कर देने से वे 'एच इग्घ्रस्वादेशे' परिभाषा के बल पर इदन्त और उदन्त बन जायँगे।

प्र०	श्रीपम्	श्रीपे	श्रीपाणि
सं०	हे श्रीप	हे श्रीपे	हे श्रीपाणि
द्वि०	श्रीपम्	श्रीपे	श्रीपाणि
तृ०	श्रीपेण	श्रीपाभ्याम्	श्रीपैः
च०	श्रीपाय	श्रीपाभ्याम्	श्रीपेभ्यः
पं०	श्रीपात्	श्रीपाभ्याम्	श्रीपेभ्यः
ष०	श्रीपस्य	श्रीपयोः	श्रीपाणाम्
स०	श्रीपे	श्रीपयोः	श्रीपेषु

ह्रस्व इकारान्त शब्द

द्वि शब्द त्रिलिंगी है। यह नित्य द्विवचनान्त है। द्विं औ-त्यदादीनामः द्व् अ औ—नपुँसकाच्च। द्व शी-लशक्वतद्धिते। आद् गुणः। द्वे। द्वि भ्याम्- त्यदीदानामः से अ अन्तादेश तथा सुपि च से दीर्घ आदेश। द्वि ओस्— त्यदादीनामः। ओसि च से एकारादेश। एचोऽयवायावः से अय्। त्रि- यह नित्य बहुवचनान्त है। त्रि जस् जश्शसोः शिः। शि सर्वनामस्थानम्। नपुंसकस्य झलचः से नुमागम। सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ से उपधा दीर्घ। अट्कुटवाङ्नुम्० से णत्व।

२४४. [६]**स्वमोर्नपुंसकात्**[५] (७/१/२३)

लुक् स्यात्। वारि।

स्वमोरिति-नपुंसकलिङ्ग शब्दों से पर 'सु' और 'अम्' का लोप हो।

वारि (जल) शब्द से पर 'सु' और 'अम्' का लोप होकर प्रथमा व द्वितीया के एकवचन में 'वारि' रूप सिद्ध हुआ।

२४५. [६]**इकोऽचि**[७] **विभक्तौ**[७] (७/१/७३)

इगन्तस्य क्लीबस्य नुम् अचि विभक्तौ। वारिणी। वारीणि। 'न लुमता-' इत्यस्यानित्यत्वात् पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः-हे वारे, हे वारि। आङो ना-वारिणा। 'घेर्ङिति' इति गुणे प्राप्ते-

(वा०) वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन।

वारिणे। वारिणः। वारिणः। वारिणोः। 'नुमचिर०' इति नुट्-वारीणाम्। वारिणि। हलादौ हरिवत्।

इक इति-इगन्त अङ्ग को नुम् आगम हो अजादि विभक्ति परे रहते।

'मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा से अङ्ग के अन्त्य अच् के आगे 'नुम्' होगा और वह अङ्ग का अन्त्य अवयव समझा जायेगा। 'वारि औ'— में 'औ' को 'शी' आदेश हुआ। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा इगन्त अङ्ग वारि को नुम् आगम हुआ। वह अन्त्य अच् इकार का अन्त्य अवयव बन गया। वारि शी-वारि ई-वारि नुम् ई-वारि न् ई। 'अट्कुप्वाङ्नुम्०' के द्वारा नकार को णकार होकर 'वारिणी' रूप सिद्ध हो गया। 'वारि औट्' में भी पूर्ववत् क्रिया होकर 'वारिणी' रूप बन गया। 'वारि जस्' में 'जश्शसोः शि' के द्वारा सर्वनामस्थान संज्ञा तथा 'इकोऽचि विभक्तौ' के द्वारा नुम् आगम तथा 'सर्वनामस्थाने' के द्वारा उपधा को दीर्घ होकर 'अट्कुप्वाङ्०' के द्वारा नकार को णकार हो गया। वारि शि-वारि इ-वारि नुम् इ-वारी न् इ-वारी ण् इ-वारीणि।

'वारि शस्'— यहाँ भी पूर्ववत् क्रिया होकर 'वारीणि' रूप बन गया।

न लुमता— 'न लुमता०' सूत्र का कार्य अनित्य है। अतः पक्ष में सम्बुद्धि निमित्तक गुण होगा। 'हे वारि सु' प्रथम स्थिति में 'सु' का लोप होकर 'हे वारि' रूप होगा तथा

पक्ष में गुण होकर 'हे वारे' रूप भी होगा। हे 'वारि सु' इस अवस्था में स्वमोर्नपुं० से 'सु' का लोप होने पर 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' सूत्र के बल पर 'ह्रस्वस्य गुणः' से गुण कार्य प्राप्त है। सु लोप के लुक् शब्द से विहित होने के कारण 'न लुमताङ्गस्य' निषेध कर देता है। परन्तु यह सूत्र नित्य नहीं है। अतः जब इसकी प्रवृत्ति होगी, तब लुप्तप्रत्ययजन्य गुण कार्य न होकर 'वारि' ऐसा रूप होगा।

विशेष वक्तव्य 'इकोऽचि विभक्तौ' सूत्र में 'अचि' पद का ग्रहण व्यर्थ है, क्योंकि इगन्त अङ्ग को हलादि विभक्ति परे रहते नुम् होने पर उसका (पदान्त होने के कारण) 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' के द्वारा लोप हो जायगा। प्रकृत सूत्र के द्वारा केवल अजादि विभक्ति परे रहते नुम् विधान हलादि विभक्ति के निवारणार्थ किया गया है, जो पहले ही सिद्ध है। अतः 'अचि' पद व्यर्थ है। सम्बुद्धि में नुम् न हो, इसलिए 'अचि' पद रखा है। यह हल् विभक्ति है। 'न ङि सम्बुद्ध्योः' के द्वारा नलोप का निषेध हो जाता है। परन्तु यहाँ पर भी नुम् निवारण स्वतः सिद्ध है, क्योंकि सम्बद्धि का लोप 'लुक्' शब्द से हुआ। तब 'न लुमताऽङ्गस्य' के द्वारा नुम् होगा ही नहीं। इस प्रकार ज्ञापित होता है कि 'न लुमताङ्ग' विधि अनित्य है। जब इसकी प्रवृत्ति नहीं होगी, तब प्रत्यय-लक्षण कार्य नुम् होगा। उसके निवारणार्थ 'अचि' ग्रहण सार्थक है।

आङो नेति— 'वारि टा' इस अवस्था में 'इकोऽचि विभक्तौ' से नुमागम तथा 'आङो नाऽस्त्रियाम्' के द्वारा 'टा' को 'ना' आदेश और 'अट्कुप्वाङ्०' से नकार को णकार होकर 'वारिणा' रूप बनेगा।

घेर्ङिति इति— चतुर्थी के एकवचन में 'वारि ए' इस अवस्था में घि सञ्ज्ञा, इकोऽचि विभक्तौ (पा० ७.१.७३) से नुम् तथा 'घेर्ङिति' से गुण प्राप्त होने पर **वृद्ध्यौत्वेति०** इससे वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव और गुण की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध से नुम् पहले हो। 'वारि ए' में गुण की अपेक्षा पूर्वविप्रतिषेध से नुम् पहले हुआ। नुम् होने पर 'वारिन् ए' ऐसी स्थिति में गुण न हुआ। तब 'अट्कुप्वाङ्नुम्०' से नकार को णकार हो गया। वारिणे। अचो ञ्णिति (पा० ७.२.११५) से वृद्धि, अच्चघेः (पा० ७.३.११९) से औत्व, तृज्वत् क्रोष्टुः (पा० ७.१.९५) से तथा विभाषा तृतीया० (पा० ७.१.९७) से तृज्वद्भाव और घेर्ङिति (पा० ७.३.१११) से गुण कार्य कहे गए हैं। ये सभी कार्य नुम् (पा० ७.१.७३) से परे हैं।

वारि ङसि— यहाँ 'घेर्ङिति' से गुण प्राप्त था परन्तु प्रकृत वार्तिक के द्वारा 'नुम्' पहले हुआ। वारिणः। इसी प्रकार 'ङस्' का रूप हो गया। वारिणः। ओस् में इको यणचि से यण् प्राप्त। विप्रतिषेधे परं कार्यम् से पर कार्य नुमागम।

'वारि आम्'— यहाँ नुम् तथा 'ह्रस्वनद्यापो०' से 'आम्' को 'नुट्' प्राप्त हुआ। 'नुमचिरतृज्वद्०' वार्तिक के द्वारा पूर्वविप्रतिषेध से नुट् आगम पहले हुआ। वारि आम्- वारि नुट् आम्। अब 'नामि' सूत्र के द्वारा इकार को दीर्घ हुआ। वारीन् आम्।

'अट्कुप्वाङ् नुम्०' के द्वारा णत्व हो गया। वारीणाम्। 'वारि ङि' इस अवस्था में 'अच्च घे:' के द्वारा 'औत्व' तथा 'इकोऽचि०' के द्वारा 'नुम्' प्राप्त है। तब प्रकृत वार्तिक के द्वारा पहले नुम् हुआ। वारिणि।

'प्रिय: सखा यस्य तत्कुलं प्रियसखि'। 'प्रियसखि जस्' इस अवस्था में 'सख्युरसम्बुद्धौ' के द्वारा णिद्वत् हो गया। तब 'अचो ञ्णिति' के द्वारा वृद्धि प्राप्ति हो गई। नुम् की प्राप्ति हुई। प्रकृत वार्तिक के द्वारा पहले नुम् हुआ। प्रियसखीनि।

'प्रियक्रोष्टूनि' में तृज्वद्भाव की अपेक्षा नुम् पहले हुआ है।

२४६. [६]**अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्त:**[१] (७/१/७५)

एषामनङ् स्यात् टादावचि।

अस्थि इति— अस्थि (हड्डी), दधि (दही), सक्थि (जङ्घा) और अक्षि (आँख) शब्दों को अनङ् आदेश हो टा आदि अजादि विभक्ति परे रहते।

दधि शब्द के रूप प्रथमा संबोधन और द्वितीया में तो 'वारि' शब्द के समान ही बनेंगे। 'दधि टा'— यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा अनङ् आदेश हो जाता है। दध् अनङ् आ।

२४७. [१]**अल्लोपोऽन:**[१] (६/४/१३४)

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरो योऽन् तस्याऽकारस्य लोप:। दध्ना। दध्ने। दध्न:२ दध्नो: २।

अलिति-भसंज्ञक तथा अङ्ग के अवयव 'अन्' के ह्रस्व अकार का लोप हो जाता है, सर्वनाम स्थानभिन्न यकारादि तथा अजादि प्रत्यय परे रहते।

'दध् अन् आ'— यहाँ 'टा' प्रत्यय सर्वनाम स्थान से अतिरिक्त है तथा अजादि भी है। अत: प्रकृत सूत्र के द्वारा 'अन्' के अकार का लोप होकर 'दध्ना' रूप बना।

'दधि ङे' 'दधि ङसि' तथा 'दधि ओस्'— यहाँ तीनों स्थलों पर पूर्ववत् क्रिया होकर क्रमश: 'दध्ने', 'दध्न:' तथा 'दध्नो:' रूप बनेंगे।

२४८. [१]**विभाषा ङिश्यो:**[७] (६/४/१३६)

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थान परो योऽन्, तस्याऽकारस्य लोपो वा स्यात् ङिश्यो: परयो:। दध्नि, दधनि। शेषं वारिवत्। एवमस्थि-सक्थ्यक्षीणि। सुधि। सुधिनी। सुधीनि। हे सुधे। हे सुधि।

विभाषेति— 'ङि' और 'शी' परे होने पर अङ्ग के अवयव 'अन्' के ह्रस्व अकार का विकल्प से लोप होता है।

'दधि ङि' में अनङ् आदेश हुआ। दधन् इ। प्रकृत सूत्र से अकार का वैकल्पिक लोप हुआ। दध् न् इ। दध्नि। लोपाभाव पक्ष में 'दधनि' बना।

शेष रूप 'वारि' की तरह होंगे। इसी प्रकार 'अस्थि', 'सक्थि' व 'अक्षि' शब्दों के रूप होंगे।

दधि आदि शब्दों के रूप इस प्रकार हैं।

दधि

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	दधि	दधिनी	दधीनि
सं०	हे दधे, दधि	हे दधिनी	हे दधीनि
द्वि०	दधि	दधिनी	दधीनि
तृ०	दध्ना	दधिभ्याम्	दधिभिः
च०	दध्ने	दधिभ्याम्	दधिभ्यः
पं०	दध्नः	दधिभ्याम्	दधिभ्यः
ष०	दध्नः	दध्नोः	दध्नाम्
स०	दध्नि, दधनि	दध्नोः	दधिषु

अस्थि

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अस्थि	अस्थिनी	अस्थीनि
सं०	हे अस्थे, अस्थि	हे अस्थिनी	हे अस्थीनि
द्वि०	अस्थि	अस्थिनी	अस्थीनि
तृ०	अस्थ्ना	अस्थिभ्याम्	अस्थिभिः
च०	अस्थ्ने	अस्थिभ्याम्	अस्थिभ्यः
पं०	अस्थ्नः	अस्थिभ्याम्	अस्थिभ्यः
ष०	अस्थ्नः	अस्थ्नोः	अस्थ्नाम्
स०	अस्थ्नि, अस्थनि	अस्थ्नोः	अस्थिषु

सक्थि

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सक्थि	सक्थिनी	सक्थीनि
सं०	हे सक्थे, सक्थि	हे सक्थिनी	हे सक्थीनि
द्वि०	सक्थि	सक्थिनी	सक्थीनि
तृ०	सक्थ्ना	सक्थिभ्याम्	सक्थिभिः
च०	सक्थ्ने	सक्थिभ्याम्	सक्थिभ्यः
पं०	सक्थ्नः	सक्थिभ्याम्	सक्थिभ्यः
ष०	सक्थ्नः	सक्थनोः	सक्थ्नाम्
स०	सक्थ्नि, सक्थनि	सक्थनोः	सक्थिषु

अक्षि

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अक्षि	अक्षिणी	अक्षीणि
सं०	हे अक्षे, अक्षि	हे अक्षिणी	हे अक्षीणि
द्वि०	अक्षि	अक्षिणी	अक्षीणि
तृ०	अक्ष्णा	अक्षिभ्याम्	अक्षिभिः
च०	अक्ष्णे	अक्षिभ्याम्	अक्षिभ्यः
पं०	अक्ष्णः	अक्षिभ्याम्	अक्षिभ्यः
ष०	अक्ष्णः	अक्ष्णोः	अक्ष्णाम्
स०	अक्ष्णि, अक्षणि	अक्ष्णोः	अक्षिषु

'सुधी' शब्द को ह्रस्वादेश होकर 'सुधि' बन जाता है। तब इसके रूप 'वारि' शब्द की तरह होते हैं।

२४९. [७]तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं[१] पुंवद् गालवस्य[६] (७/१/७४)

प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कमिगन्तं क्लीबं पुंवद् वा टादावचि।

सुधिया, सुधिनेत्यादि। मधु। मधुनी। सुलु। सुलुनी। सुलूनि। सुल्वा। सुलुना। धातृ। धातृणी। धातृणि। हे धातः। हे धातृ। धात्रा। धातृणा। धातृणाम्। एवं ज्ञात्रादयः।

तृतीयादिष्वति— गालव (वैयाकरण) के मत के अनुसार तृतीया आदि विभक्तियों के परे होने पर भाषितपुंस्क पुंवत् (अर्थात् पुँल्लिङ्ग के समान) हो।

जिस निमित्त से शब्द का प्रयोग होता है उसे प्रवृत्ति निमित्त कहते हैं। जिस शब्द का प्रयोग पुँल्लिग तथा नपुंसक-लिङ्ग दोनों जगह हो और प्रवृत्तिनिमित्त (अर्थात् अर्थ) भी दोनों लिङ्गों में समान हो, उसे भाषितपुंस्क कहते हैं। निम्नलिखित कारिका में भाषितपुँस्क स्पष्ट किया गया है-

यन्निमित्तमुपादाय पुँसि शब्दः प्रवर्त्तते।
क्लीबवृत्तौ तदेव स्यादुक्तपुंस्क तदुच्यते।
पीलुर्वृक्षः फलं पीलु 'पीलुने' न तु 'पीलवे' वृक्षे।
निमित्तं पीलुत्व तज्जत्वं तत्फले पुनः। इति।

अर्थात्-जिस निगित्त को लेकर पुंल्लिङ्ग में शब्द प्रवृत्त होता है, यदि नपुंसकलिङ्ग में प्रवृत्ति का भी वही निमित्त हो तो उस शब्द को भाषितपुंस्क कहा जाता है। पीलु वृक्ष को भी कहते हैं और उसके फल को भी। अतः पुँल्लिङ्ग और नपुँसकलिङ्ग में प्रयोग होने पर भी दोनों का प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न है। अतः यह शब्द भाषितपुंस्क नहीं। अतएव 'फल' अर्थ में नपुँसकलिङ्ग में- 'पीलुने' रूप बनेगा, पुँल्लिङ्ग में 'पीलवे'। सुधी शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग दोनों जगह प्रयुक्त होता है और दोनों स्थलों में इसका- अर्थ-'अच्छी

बुद्धिवाला' है। अतः यह भाषितपुंस्क शब्द है इसे प्रकृतसूत्र के द्वारा पुंवद् भाव हो गया।

'सुधी टा' प्रकृत सूत्र के द्वारा पुंवद् भाव होकर 'अचिश्नुधातु०'-के द्वारा इयङ् आदेश हो जायेगा। सुधी आ-सुधियङ् आ-सुधिया। पक्ष में 'नुम्' होकर 'सुधिना' रूप बनेगा। तृतीयादि अच् विभक्तियों में पुंवद्भाव होकर इयङ् आदेश तथा पुंवद्भाव अभाव पक्ष में नुम् होकर पूर्ववत् रूप बनेंगे।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सुधि	सुधिनी	सुधीनि
सं०	हे सुधि, सुधे	हे सुधिनी	हे सुधीनि
द्वि०	सुधि	सुधिनी	सुधीनि
तृ०	सुधिया, सुधिना	सुधिभ्याम्	सुधिभिः
च०	सुधिये, सुधिने	सुधिभ्याम्	सुधिभ्यः
पं०	सुधियः, सुधिनः	सुधिभ्याम्	सुधिभ्यः
ष०	सुधियः, सुधिनः	सुधियोः, सुधिनोः	सुधीनाम्
सं०	सुधियि, सुधिनि	सुधियोः, सुधिनोः	सुधिषु

'प्रधी' आदि भाषितपुंस्क शब्दों के भी रूप इसी प्रकार पुँवद्भाव होकर सिद्ध होंगे।

उकारान्त शब्द

मधु- 'मधु सु' यहाँ 'स्वमोर्नपुंसकात्' के सु का लोप होकर 'मधु' रूप बन गया। 'मधु औ' में 'शी' आदेश हो गया। तब नुम् आगम हुआ। मधु शी-मधु नुम् ई-मधुनी। 'मधु शस्'-शि आदेश, नुम् आगम तथा उपधादीर्घ होकर मधु शि—मधु नुम् इ-मधू न्इ-मधूनि।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	मधु	मधुनी	मधूनि
सं०	हे मधो, हे मधु	हे मधुनी	हे मधूनि
द्वि०	मधु	मधुनी	मधूनि
तृ०	मधुना	मधुभ्याम्	मधुभिः
च०	मधुने	मधुभ्याम्	मधुभ्यः
पं०	मधुनः	मधुभ्याम्	मधुभ्यः
ष०	मधुनः	मधुनोः	मधूनाम्
स०	मधुनि	मधुनोः	मधुषु

दीर्घ ऊकारान्त शब्द

सुलू (अच्छा काटनेवाला) शब्द को 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' सूत्र से ह्रस्व हुआ अतः इसके रूप 'मधु' शब्द के समान ही रूप बनेंगे। 'सुलू औ'-'ह्रस्वो

नपुंसके०' के द्वारा ह्रस्व, 'औ' को 'शी', नुम् हो गया। सुलुई-सुलुनुम् ई-सुलुनी। 'सुलू जस्'-यहाँ 'मधूनि' की तरह प्रक्रिया होकर 'सुलूनि' सिद्ध हुआ। इस शब्द का 'अच्छा काटनेवाला' अर्थ-पुँलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग दोनों लिङ्गों में एक है, अतः यह भाषितपुंस्क है। अतएव तृतीयादि अजादि विभक्ति परे रहते पुंवद्भाव हो। पुंवद्भावपक्ष का फल है— 'ओ सुपि' से 'यण्' और अभावपक्ष में 'नुम्' आगम का होना।

'सुलु टा' यहाँ 'तृतीयादिषु०' के द्वारा पुंवद्भाव हो गया। 'ओः सुपि' सूत्र के द्वारा यण् हो गया। सुलु आ-सुल् व् आ-सुल्वा। पक्ष में 'नुम्' आगम होकर सुलु टा-सुलुनुम् आ-सुलुना।

अन्य सभी भाषितपुँस्क दीर्घ ऊकारान्त नपुँसकलिङ्ग शब्दों के रूप सुलू की तरह सिद्ध होंगे।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सुलु	सुलुनी	सुलूनि
सं०	हे सुलु	हे सुलुनी	हे सुलूनि
द्वि०	सुलु, सुलो	सुलुनी	सुलूनि
तृ०	सुल्वा, सुलुना	सुलुभ्याम्	सुलुभिः
च०	सुल्वे, सुलुने	सुलुभ्याम्	सुलुभ्यः
पं०	सुल्वः, सुलुनः	सुलुभ्याम्	सुलुभ्यः
ष०	सुल्वः, सुलुनः	सुल्वोः, सुलुनोः	सुल्वाम्
स०	सुल्वि, सुलुनि	सुल्वोः, सुलुनोः	सुलुषु।

ऋकारान्त शब्द धातृ (धारण करने वाला)

'धातृ सु' -यहाँ सु का लोप होकर 'धातृ' रूप बना। इसी प्रकार द्वितीया एकव० में 'धातृ अम्' में अम् का लोप होकर 'धातृ' बना। 'धातृ औ'-यहाँ शी आदेश होकर नुम् आगम हुआ। धातृ शी-धातृ नुम् ई। तब णत्व इत्यादि कार्य होकर -धातृणी। 'धातृ जस्'-मधूनि की तरह प्रक्रिया होगी। एक णत्व कार्य विशेष होगा। धातॄणि।

'हे धातृ सु'- सु का लोप होगा, गुण अर् होगा, रेफ को 'खरवसानयोः' के द्वारा विसर्ग होगा। धातृ-धातर्-धातः। पक्ष में 'धातृ' ही होगा। न लुमताङ्गस्य शास्त्र अनित्य है।

'धातृ' शब्द भाषितपुंस्क है। अतः तृतीयादि अजादि विभक्तियों में विकल्प से पुंवद्भाव होगा।

'धातृ टा'-पुंवद्भाव होकर 'यण्' आदेश हो जायेगा। धात्रा। पक्ष में नुम् आगम तथा णत्व इत्यादि कार्य होंगे। धातृणा।

'धातृ आम्'- पुवंद्भाव पक्ष में 'नुट्' आगम होकर तथा 'नामि' से दीर्घ हो कर

'धातॄणाम्' रूप सिद्ध हुआ। अभाव पक्ष में 'नुमचिर तृज्वद्' के द्वारा नुम् की अपेक्षा 'नुट्' के प्रबल होने के कारण पूर्वविप्रतिषेध बल से नुट् आगम होकर पूर्ववत् 'धातॄणाम्' रूप बन गया।

धातृ

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	धातृ	धातृणी	धातॄणि
सं०	हे धातः, धातृ	हे धातृणी	हे धातॄणि
द्वि०	धातृ	धातृणी	धातॄणि
तृ०	धात्रा, धातृणा	धातृभ्याम्	धातृभिः
च०	धात्रे, धातृणे	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
पं०	धातुः, धातृणः	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
ष०	धातुः, धातृणः	धात्रोः, धातृणोः	धातॄणाम्
सं०	धातरि, धातृणि	धात्रोः, धातृणोः	धातृषु

इसी प्रकार ज्ञातृ (जानने वाला) इत्यादि के रूप होंगे। अन्य ऋकारान्त शब्द-कर्तृ (करने वाला), हर्तृ (हरनेवाला), जेतृ (जीतने वाला) तथा दातृ (दाता)।

२५०. [६]एच इग्[१] ह्रस्वादेशे[७] (१/१/४७)

आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु मध्ये एच इगेव स्यात्। प्रद्यु, प्रद्युनी, प्रद्यूनि। प्रद्युनेत्यादि। प्ररि, प्ररिणी, प्ररीणि। प्ररिणा। एकदेशविकृतमनन्यवत्। प्रराभ्याम्। प्ररीणाम् सुनु, सुनुनी, सुनूनि। सुनुनेत्यादि।

।। इति अजन्तनपुँसकलिङ्गप्रकरणम् ।।

एच इति-ह्रस्व आदेश का विधान होने पर एच् (ए, ओ, ऐ, औ) के स्थान पर इक् (इ, उ, ऋ, लृ) हों अर्थात् ए- ऐ के स्थान पर 'इ' तथा ओ- औ के स्थान पर 'उ' स्थानसाम्य के बल पर हों।

ये एच् संयुक्त स्वर हैं। अकार और इकार के संयोग से एकार-ऐकार तथा अकार और उकार के संयोग से ओकार-औकार बने हैं। इस अवस्था में 'एचः०' सूत्र नियम करता है कि इकार और उकार ही ह्रस्व हों।

ओकारान्त प्रद्यो (प्रकृष्टा द्यौः यस्मिन् दिने, सुन्दर आकाश वाला दिन) शब्द को 'ह्रस्वो०' से ह्रस्व उकार हुआ। इसलिये 'प्रद्यु, प्रद्युनी, प्रद्यूनि' रूप दिखाये गये हैं।

तृतीया के एकवचन में 'इकोऽचि विभक्तौ' से नुम् होकर रूप सिद्ध हुआ। प्रद्युना।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	प्रद्यु	प्रद्युनी	प्रद्यूनी
सं०	हे प्रद्यु, हे प्रद्यो	हे प्रद्युनी	प्रद्यूनी

द्वि०	प्रद्यु	प्रद्युनी	प्रद्यूनी
तृ०	प्रद्युना	प्रद्युभ्याम्	प्रद्युभिः
च०	प्रद्युने	प्रद्युभ्याम्	प्रद्युभ्यः
पं०	प्रद्युनः	प्रद्युभ्याम्	प्रद्युभ्यः
ष०	प्रद्युनः	प्रद्युनोः	प्रद्यूनाम्
स०	प्रद्युनि	प्रद्युनोः	प्रद्युषु

ऐकारान्त शब्द प्रै (अधिक धनवाला)

'प्रै' इसकी प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'ह्रस्वो नंपुसके प्रातिपदिकस्य' के द्वारा ह्रस्वादेश प्राप्त हुआ जो 'एच इग्घ्रस्वादेशे' के बल पर 'इकार' हो गया। प्रै-प्रि। अब प्रि के वारि शब्द की तरह रूप होंगे।

'प्रि सु' यहाँ 'रायो हलि' से आत्व नहीं होगा क्योंकि उसका लुक् हो जाता है। तब 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' के बल पर प्राप्त आत्व का पुनः 'न लुमताङ्गस्य' के द्वारा निषेध हो जाता है। प्रि।

'प्रि औ' यहाँ वारिणी की तरह प्रक्रिया होकर 'प्रिणी' बनेगा। 'प्रि जस्' में 'वारीणि' की तरह सभी कार्य होंगे। प्रीणि। 'प्रिणा'-वारिणा की तरह। 'प्रि भ्याम्'- यहाँ 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' के बल पर 'रायो हलि' की प्रवृत्ति होकर आकार आदेश हो गया। प्राभ्याम्। 'प्रि आम्' में दीर्घादेश व णत्व होकर 'प्रीणाम्' बन गया।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	प्रिं	प्रिणी	प्रीणि
सं०	हे प्रि, प्रे	हे प्रिणी	हे प्रीणि
द्वि०	प्रि	प्रिणी	प्रीणि
तृ०	प्रिणा	प्राभ्याम्	प्राभिः
च०	प्रिणे	प्राभ्याम्	प्राभ्यः
पं०	प्रिणः	प्राभ्याम्	प्राभ्यः
ष०	प्रिणः	प्रिणोः	प्रीणाम्
स०	प्रिणि	प्रिणोः	प्रासु

औकारान्त शब्द

सुनौ-(शोभना नौः यस्य कुलस्य तत्, अच्छी नाव वाला कुल) शब्द में सर्वप्रथम ह्रस्व हो जायगा।

'सुनौ' शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा होने पर 'ह्रस्वो नपुंसके०' के द्वारा ह्रस्वादेश की प्रवृत्ति होगी। अब 'एचः इग्घ्रस्वादेशे' के बल पर औकार के स्थान पर उकार आदेश होगा। 'सुनु' शब्द के रूप 'मधु' के समान होंगे।

'सुनु सु'- सु का लोप होकर 'सुनु' बन गया। 'सुनु औ'-शी आदेश तथा नुम् आ

आगम होकर 'सुनुनी' बन गया। 'सुनु जस्'-शि आदेश, नुम् आगम, उपधा दीर्घ आदि कार्य होकर 'सुनूनि' बन गया। इसी प्रकार 'शस्' में रूप होगा।

हलादि विभक्ति परे रहते कोई विशेष कार्य नहीं होगा।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	सुनु	सुनुनी	सुनूनि
सं०	हे सुनु, सुनो	हे सुनुनी	हे सुनूनि
द्वि०	सुनु	सुनुनी	सुनूनि
तृ०	सुनुना	सुनुभ्याम्	सुनुभिः
च०	सुनुने	सुनुभ्याम्	सुनुभ्यः
पं०	सुनुनः	सुनुभ्याम्	सुनुभ्यः
ष०	सुनुनः	सुनुनोः	सुनूनाम्
स०	सुनुनि	सुनुनोः	सुनुषु

।। अजन्त नपुंसकलिङ्ग समाप्त ।।

अथ हलन्तपुँल्लिङ्ग प्रकरणम्।

हकारान्त शब्द

लिह् (चाटने वाला)

२५१. [६]**हो ढः**[१] (८/२/३१)

हस्य ढः स्याज् झलि पदान्ते च। लिट्, लिड्। लिहौ। लिहः लिड्भ्याम्। लिट्त्सु-लिट्सु।

ह इति-पदान्त में और झल् परे रहते हकार को ढकार हो।

'लिह् सु'-'हल्ङ्याब्भ्यो०'-के द्वारा अपृक्त सकार का लोप हो गया। पदान्त होने से हकार को ढकार आदेश। तब 'झलां जशोऽन्ते' के द्वारा डकार हुआ। 'वाऽवसाने' के द्वारा पदान्त डकार को विकल्प से चर् हो गया। लिह् सु-लिह् स्-लिह्-लिढ्-लिड्, लिट्। लिह् औ- लिहौ। लिह् जस्-लिह् अस्-लिहः। लिह् शस्, लिह् ङसि तथा लिह् ङस्—तीनों स्थलों में पूर्ववत् कार्य होकर 'लिहः' रूप होगा।

'लिह् भ्याम्' 'हो ढः' के द्वारा झल् परे रहते ढकार हो गया। 'झलां जशोऽन्ते' के द्वारा डकार हो गया। लिढ्भ्याम्-लिड्भ्याम्। स्वादिष्वसर्वनामस्थाने।

लिह् सुप्-यहाँ 'हो ढः' के द्वारा ढकार हुआ। लिढ् सु। 'झलां जशोऽन्ते' के द्वारा ढकार को डकार हुआ। लिड्सु। 'ड: सि धुट्' के द्वारा धुट् आगम। 'खरि च' से धकार को तकार और तकार परे रहते 'खरि च' से डकार को टकार। लिढ्सु-लिड् धुट् सु-लिड् ध् सु- लिड् त् सु-लिट्त्सु। धुट् अभाव पक्ष में 'लिड्सु' तथा 'खरि च' से टकार होकर 'लिट्सु' बन गया।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	लिट्, लिड्	लिहौ	लिहः
सं०	हे लिट्, लिड्	हे लिहौ	हे लिहः
द्वि०	लिहम्	लिहौ	लिहः
तृ०	लिहा	लिड्भ्याम्	लिड्भिः
च०	लिहे	लिड्भ्याम्	लिड्भ्यः
पं०	लिहः	लिड्भ्याम्	लिड्भ्यः
ष०	लिहः	लिहोः	लिहाम्
स०	लिहि	लिहोः	लिट्सु, लिट्त्सु

२५२. [६]दाऽऽदेर्धातो[६] र्घः[१] (८/२/३२)

झलि पदान्ते चोपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः।

दादेरिति-पदान्त में और झल् परे रहते उपदेश में दकारादि धातु के हकार को घकार हो।

२५३. [६]**एकाचो बशो**[६] **भष्**[१] **झषन्तस्य**[६] [७]**स्-ध्वोः** (८/२/३७)

धात्ववयवस्यैकाचो झषन्तस्य बशो भश्, से ध्वे पदान्ते च। धुक् धुग्। दुहौ। दुहः। धुग्भ्याम्। धुक्षु।

एकाच इति-सकार और ध्व परे रहते अथवा पदान्त में धातु के अवयव स्वरूप झषन्त एकाच् के बश् को भष् आदेश हो।

दुह् (दुहने वाला) शब्द 'दुह्' धातु से निष्पन्न होता है। दुह् उपदेश में दकारादि है। दुह् सु > स्'-अपृक्त सकार का लोप होने पर 'दादेर्धातोर्घः' सूत्र के द्वारा हकार को घकार हो गया। दुघ्।

'दुघ्' यह एकाच् है, झषन्त भी है तथा पदान्त में घकार है। धातु का अवयव भी है। अतः इसके बश् दकार को अत्यन्त सादृश्य के कारण भष् (धकार) हुआ। 'झलां जशोऽन्ते' के द्वारा घकार को गकार हुआ। दुघ्-धुघ्-धुग्। 'वाऽवसाने' के द्वारा विकल्प से ककार होकर दो रूप बने। धुक्, धुग्। भ्याम् में भकार झल् परे है। अतः दकार के स्थान में धकार और घकार के स्थान में गकार हो जाने से 'धुग्भ्याम्' बना।

धुक्षु-सुप् में सकार परे है। अतः भष्भाव से दकार को धकार और घकार को जश्त्व से गकार हुआ। तब 'खरि च' से सकार परे होने से गकार को चर् (ककार) हुआ। तदनन्तर कवर्ग से पर सकार को 'आदेशप्रत्यययोः' सूत्र से मूर्धन्य (षकार) हुआ। तब 'धुक्षु' रूप सिद्ध हुआ।

विशेष-भष्भाव से पहले हकार को घकार करना चाहिये अन्यथा झषन्त नहीं हो सकेगा।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	धुक्, धुग्	दुहौ	दुहः
सं०	हे धुक्, धुग्	हे दुहौ	हे दुहः
द्वि०	दुहम्	दुहौ	दुहः
तृ०	दुहा	धुग्भ्याम्	धुग्भिः
च०	दुहे	धुग्भ्याम्	धुग्भ्यः
पं०	दुहः	धुग्भ्याम्	धुग्भ्यः
ष०	दुहः	दुहोः	दुहाम्
स०	दुहि	दुहोः	धुक्षु

(हलन्त शब्दों के रूप बनाने में ध्यान रखना चाहिये कि अजादि विभक्तियों में प्रायः कोई विशेष कार्य नहीं करना पड़ता। शब्द के साथ विभक्ति को जोड़ देना होता है। जिन विभक्तियों के अन्त में सकार है उनमें सकार के स्थान में विसर्ग हो जाते हैं।)

हलादि विभक्तियों में कुछ कार्य होता है अर्थात् सु, भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप्-इन पाँच स्थलों में ही रूप बनाने पड़ते हैं। इसमें भी सु और सुप् में विशेष कार्य करना पड़ता है, शेष में सामान्य। अतः हलन्त शब्दों के सु और सुप् के रूपों पर विशेष ध्यान रखना चाहिये। भ्याम्, भिस् और भ्यस् में साधन- प्रक्रिया समान ही होती है।

द्रुह् (द्रोही) शब्द

२५४. वॉ **द्रुह-मुह-ष्णुह्-ष्णिहाम्**[६] (८/२/३३)

एषां हस्य वा घो झलि पदान्ते च। ध्रुक्, ध्रुग्; ध्रुट्, ध्रुड्। द्रुहौ। द्रुहः। ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्। ध्रुक्षु, ध्रुट्त्सु, ध्रुट्सु। एवं मुक्, मुग्, मुट्, मुड् इत्यादि।

वेति-पदान्त तथा झल् परे रहते द्रुह, मुह, ष्णुह तथा ष्णिह् शब्दों के हकार को घकार विकल्प से हो।

'द्रुह् सु > स्'-यह दकारादि धातु से निष्पन्न है। अतः 'दाऽदेर्धातोः० सूत्र से 'घ' प्राप्त होता है। प्रकृत सूत्र से उक्त घकार आदेश विकल्प से प्राप्त होता है।

घकार पक्ष	घकार अभाव
द्रुह् स्-द्रुह्-द्रुघ्	द्रुह् स् - द्रुह्-द्रुढ्-
ध्रुघ्-ध्रुग्-ध्रुग्, ध्रुक्	ध्रुढ्-ध्रुड्- ध्रुड्, ध्रुट्

ध्रुक् ध्रुग्-ये रूप घकार पक्ष के हैं और घकार के अभाव में 'हो ढः' से हकार को ढकार हुआ। 'एकाचः' से भष्भाव के द्वारा 'ध्रुट्' और 'ध्रुड्' रूप बने।

'द्रुह् भ्याम्'-यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प से घकार होकर 'ध्रुग्भ्याम्' बन गया तथा घकार अभाव पक्ष में 'होढः' से ढकार होकर 'ध्रुड्भ्याम्' बन गया।

ध्रुक्षु-सुप् में घकार पक्ष में घकार होने के अनन्तर दकार को धकार और घकार को चर्त्व (क्) तथा मूर्धन्य आदेश होकर 'ध्रुक्षु' रूप सिद्ध हुआ।

ध्रुट्त्सु ध्रुट्सु-घकाराभाव पक्ष में 'हो ढः' सूत्र से ढकार हुआ और उसके स्थान में डकार आदेश। तब 'डः सि' सूत्र से वैकल्पिक 'धुट्' आगम। 'खरि च' से पहले धकार को तकार और तब 'खरि च' से डकार को टकार होकर 'ध्रुट्त्सु' रूप सिद्ध हुआ।

धुडभाव की अवस्था में डकार को चर्त्व होकर 'ध्रुट्सु' बन गया।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	ध्रुक्, ध्रुग्, ध्रुट्, ध्रुड्	द्रुहौ	द्रुहः
सं०	हे ध्रुक्, ध्रुग्, ध्रुट्, ध्रुड्	हे द्रुहौ	हे द्रुहः
द्वि०	द्रुहम्	द्रुहौ	द्रुहः
तृ०	द्रुहा	ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्	ध्रुग्भिः, ध्रुड्भिः
च०	द्रुहे	ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्	ध्रुग्भ्यः, ध्रुड्भ्यः
पं०	द्रुहः	ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्	ध्रुग्भ्यः, ध्रुड्भ्यः
ष०	द्रुहः	द्रुहोः	द्रुहाम्
सं०	द्रुहि	द्रुहोः	ध्रुक्षु, ध्रुट्त्सु, ध्रुट्सु

इसी प्रकार 'मुह्' शब्द के भी रूप बनेंगे। सु में— मुक्, मुग्, मुट्, मुड्; भ्याम् में— मुग्भ्याम्, मुड्भ्याम् तथा सुप् में मुक्षु, मुट्त्सु, मुट्सु रूप बनेंगे।

ष्णुह् (वमनकारी) शब्द

२५५. [६]धात्वाऽऽदेः षः[६] सः[१] (६/१/६२)

स्नुक् स्नुग्, स्नुट् स्नुड्। एवं स्निक् स्निग्, स्निट् स्निड् इत्यादि। विश्ववाट् विश्ववाड्। विश्ववाहौ। विश्ववाहः। विश्ववाहम्। विश्ववाहौ।

धात्वादेरिति—धातु के आदि षकार को सकार आदेश हो।

'ष्णुह्' धातु है। इसके आदि मूर्धन्य षकार को सकार हो गया। निमित्त के समाप्त होने पर। णकार भी नकार बन गया क्योंकि 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इस परिभाषा के बल से निमित्त के न रहने पर नैमित्तिक भी नहीं रहता।

'स्नुह् सु > स्'-यहाँ अपृक्त सकार का लोप हो गया। 'वा द्रुह०' के द्वारा विकल्प से घकार हो गया। घकार पक्ष में 'स्नुग्' तथा 'स्नुक्' रूप होंगे। घकार अभाव पक्ष में 'हो ढः' से ढकार होकर 'स्नुड्' तथा 'स्नुट्' रूप होंगे।

'स्नुह् भ्याम्'- यहां पर दो रूप होंगे। एक घकार पक्ष में 'स्नुग्भ्याम्' तथा दूसरा ढकार पक्ष में 'स्नुड्भ्याम्'।

स्नुह् सुप्- यहाँ 'वा द्रुह०' के द्वारा विकल्प से घकार हुआ। घकार पक्ष में 'स्नघ् सु'। घकार का गकार तथा ककार हुआ। अब 'सु' को मूर्द्धन्य आदेश होकर 'स्नुक्षु' रूप

बन गया। घकार अभाव पक्ष में धुट् आगम की वैकल्पिक प्राप्ति होगी। धुट् पक्ष में 'स्नुट्त्सु' तथा अभाव पक्ष में 'ध्रुट्सु' होगा।

इसी प्रकार स्निह् शब्द (स्नेह करने वाला) के भी रूप बनेंगे।

सु में— स्निक्, स्निग्, स्निट् स्निड्। भ्याम् में— स्निग्भ्याम्, स्निड्भ्याम्। सुप् में— स्निक्षु, स्निट्त्सु, स्निट्सु।

विश्ववाह् शब्द (विश्वं वहति इति विश्ववाह् अर्थात् संसार को चलाने वाला।)

'विश्ववाह् सु > स्'-अपृक्त सकार का लोप हो गया। 'हो ढः' के द्वारा ढकार तथा 'झलां जशोऽन्ते' के द्वारा डकार हो गया। विश्ववाढ्-विश्वजाड्। 'वाऽवसाने' के द्वारा विकल्प से चर्त्व हो गया। विश्ववाड्, विश्ववाट्।

२५६. [१]इग् यणः[६] सम्प्रसारणम्[१] (१/१/४४)

यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक् स सम्प्रसारणसंज्ञः स्यात्।

इगिति-यण् के स्थान में होने वाले इक् की सम्प्रसारण संज्ञा हो।

२५७. [६]वाह ऊठ्[१] (६/४/१३२)

भस्य वाहः संप्रसारणम् ऊठ्।

वाह इति-वाह् शब्दान्त भसंज्ञक अङ्ग के अवयवस्वरूप 'वाह्' शब्द को 'ऊठ्' सम्प्रसारण संज्ञक आदेश हो। 'ऊठ्' के ठकार की 'हलन्त्यम्' के द्वारा इत्संज्ञा हो जायेगी।

'विश्ववाह् शस्'-यहाँ विश्ववाह् की भसंज्ञा है। इसके अवयव 'वाह्' को सम्प्रसारण ऊठ् हुआ। विश्व ऊठ् आह् अस्। यह सम्प्रसारण 'यण्' (वकार) के स्थान पर हुआ।

२५८. [५]सम्प्रसारणाच्च (६/१/१०४)

संप्रसारणादचि पूर्वरूपमेकादेशः। वृद्धिः-विश्वौहः-इत्यादि।

सम्प्रसारणदिति-सम्प्रसारण का अच् परे रहते पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो।

'विश्व ऊ' आहअस्-प्रकृत सूत्र से पूर्वरूप एकादेश हो गया। विश्व ऊह् अस्। 'एत्येधत्यूठ्सु' के द्वारा वकारोत्तरवर्त्ती अकार और ऊकार दोनों को वृद्धि एकादेश हो गया। अब रुत्व, विसर्ग होकर- विश्वौहस्-विश्वौहः।

हलादि विभक्ति परे रहते 'विश्ववाह्' के हकार को 'हो ढः' के द्वारा ढकार हो जायेगा तथा अजादि विभक्ति परे रहते 'विश्वौहः' की भाँति समस्त प्रक्रिया होगी।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	विश्ववाट्	विश्ववाहौ	विश्ववाहः
सं०	हे विश्ववाह्	हे विश्ववाहौ	हे विश्ववाहः
द्वि०	विश्ववाहम्	विश्ववाहौ	विश्वौहः

तृ०	विश्वौहा	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भिः
च०	विश्वौहे	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भ्यः
पं०	विश्वौहः	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भ्यः
ष०	विश्वौहः	विश्वौहोः	विश्वौहाम्
स०	विश्वौहि	विश्वौहोः	विश्ववाट्त्सु विश्ववाट्सु

इसी प्रकार भारवाह् (कुली) तथा प्रष्ठवाह् (बछड़ा) आदि शब्दों के रूप होंगे।

अनडुह् (बैल) शब्द

२५९. [६]चतुरनडुहोराम्[१] उदात्तः[१] (७/१/९८)

अनयोराम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे।

चतुर् इति- सर्वनाम-स्थानिक प्रत्यय परे रहते चतुर् और अनडुह् शब्द को आम् आगम हो। आम् का मकार इत्संज्ञक है। 'मिदचोऽन्त्यात्परः' परिभाषा के बल पर अन्त्य अच् का अवयव होगा।

'अनडुह् सु > स्'-यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा 'आम्' आगम हुआ। अनडु आम् ह्स्।

२६०. [७]**सावनडुहः**[६] (७/१/८२)

अस्य नुम् स्यात् सौ परे। अनड्वान्।

सावितिति-सु परे रहते अनडुह् शब्द को नुम् आगम हो। नुम् के मकार की इत्संज्ञा है और उकार मुख-सुखार्थ है।

'अनडु आम् ह् स्' को प्रकृत सूत्र के द्वारा नुम् आगम हुआ। मित् होने के कारण अन्त्य अच् का अवयव बन गया। अनडु आम् नुम् ह् स्। 'इको यणचि' के द्वारा 'यण्' हुआ। अनड्वान् ह्स्। 'हल्ङ्याब्०' के द्वारा अपृक्त सकार का लोप हो गया। अनड्वान् ह् स्। 'अनड्वान् ह्। 'संयोगान्तस्य लोपः' के द्वारा हकार का लोप हो गया। अनड्वान्।

२६१. [१]**अम् सम्बुद्धौ**[७] (७/१/९९)

हे अनड्वन्। अनड्वाहौ। अनड्वाहः। (अनडुहः)। अनडुहा।

अमिति-सम्बुद्धि परे रहते चतुर् और अनडुह् को अम् आगम हो। अम् का मकार इत्संज्ञक है।

'हे अनडुह् सु'- यहाँ 'अम्सम्बुद्धौ' सूत्र के द्वारा 'अम्' आगम तथा 'सावनडुहः' से 'नुम्' भी हो गया। अनडु अम् न् ह् स्। अब 'इको यणचि' के द्वारा यण्, 'हल्ङ्याब्भ्यो०' के द्वारा सकार का लोप तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' के द्वारा हकार का लोप हुआ। हे अनड्वन् ह् स्-हे अनड्वन् ह्-हे अनड्वन्।

'अनडुह् औ'- यहाँ 'चतुरनडुहो०'- के द्वारा आम् आगम हुआ। 'यण्' आदेश होकर अनडु आम् ह् औ-अनड्वाह् औ-अनड्वाहौ।

इसी प्रकार 'जस्' प्रत्यय परे रहते 'अनड्वाह:' रूप सिद्ध हुआ।

'अनडुह् शस्'- यहाँ 'आम्' आगम नहीं होगा। रुत्व आदि होकर 'अनडुह:' बन गया।

२६२. [६]वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां द:[१] (८/२/७२)

सान्तस्यवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च द: स्यात् पदान्ते। अनडुद्भ्याम् इत्यादि। सान्तेति किम्-विद्वान्। पदान्तेति किम्-स्रस्तम्, ध्वस्तम्।

वस्विति--सकारान्त वसु प्रत्ययान्त, स्रंसु, ध्वंसु, और अनडुह् शब्दों को दकार आदेश हो, पदान्त में।

'अनडुह् भ्याम्'-यहाँ 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' के द्वारा 'अनडुह्' की पद संज्ञा हुई। अब पदान्त में हकार को दकार हो गया। अनडुद्भ्याम्।

'अनडुह् सुप्'- यहाँ पूर्ववत् पदसंज्ञा होकर हकार के स्थान पर दकार हो गया। तब 'खरि च' सूत्र के द्वारा चर् (तकार) हो कर-अनडुद् सु-अनडुत्सु रूप सिद्ध हुआ।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	अनड्वान्	अनड्वाहौ	अनड्वाह:
सं०	हे अनड्वन्	हे अनड्वाहौ	हे अनड्वाह:
द्वि०	अनड्वाहम्	अनड्वाहौ	अनड्वाह:
तृ०	अनडुहा	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भि:
च०	अनडुहे	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्य:
पं०	अनडुह:	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भ्य:
ष०	अनडुह:	अनडुहो:	अनडुहाम्
स०	अनडुहि	अनडुहो:	अनडुत्सु

सान्त इति- 'वसु प्रत्ययान्त सकारान्त को ही हो'- ऐसा क्यों कहा? 'विद्वस् सु-विद्वान्'-ऐसी स्थिति में विद्वान् शब्द वसु प्रत्ययान्त तो है, परन्तु सकारान्त नहीं है। यदि प्रकृत सूत्र में 'सान्त' शब्द का न्यास नहीं होता तो इसे दकार आदेश होकर 'विद्वाद्' ऐसा अनिष्ट रूप बनेगा। सूत्र में 'सान्त' ऐसा पाठ करने का उद्देश्य है कि 'विद्वान्' में दकार आदेश का निवारण हो।

प्रत्येक वसु प्रत्ययान्त शब्द सकारान्त होता है, अत: 'सान्त' ऐसा कहना व्यर्थ है। इसका समाधान है कि वसु प्रत्ययान्तता तो शब्द (विद्वान्) में रहेगी परन्तु सान्तता नहीं रहेगी। अत: सकारान्त नहीं होने से दकार आदेश नहीं हुआ।

पदान्त इति-पदान्त में हो-ऐसा क्यों कहा? 'स्रस्तम्' तथा 'ध्वस्तम्' में दकार आदेश न हो। स्रंसु तथा ध्वंसु पदान्त नहीं होने के कारण दकार आदेश नहीं हुआ।

तुरासाह् (इन्द्र) शब्द

'तुरासाह् सु > स्' सकार का लोप हो गया। तुरासाह्। पदान्त होने से 'हो ढः' के द्वारा ढकार और 'झलां जशोऽन्ते' के द्वारा डकार हो गया। तुरासाढ्-तुरासाड्। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा मूर्धन्य आदेश होकर 'वाऽवसाने' के द्वारा विकल्प से चर्त्व हो गया। तुराषाड्, तुराषाट्।

'तुरासाह् औ' यहाँ पदान्त न होने से ढत्व नहीं होता। अतः 'साड्' रूप नहीं बनता। तुरासाहौ। हलादियों में ढकार हो गया और 'साड्' रूप बनने से मूर्धन्य भी।

२६३. [६]**सहेः साडः**[६] **सः**[६] (८/३/५६)

साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः। तुराषाट्, तुराषाड्। तुरासाहौ। तुरासाहः। तुराषाड्भ्यामित्यादि। इति (हकारान्ताः)।

सहेरिति-साड् स्वरूप सह् धातु के सकार को मूर्द्धन्य आदेश हो।

सह् धातु का साड् रूप हलादि विभक्तियों में ही बनता है और वहाँ पर 'स्वादिष्वसर्वनाम०' के द्वारा पद संज्ञा हो जायेगी। अतः उक्त मूर्धन्य आदेश भी पदान्त में होता है।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	तुराषाट्, ड्	तुरासाहौ	तुरासाहः
सं०	हे तुराषाट्, ड्	हे तुरासाहौ	हे तुरासाहः
द्वि०	तुरासाहम्	तुरासाहौ	तुरासाहः
तृ०	तुरासाहा	तुराषाड्भ्याम्	तुराषाड्भिः
च०	तुरासाहे	तुराषाड्भ्याम्	तुराषाड्भ्यः
पं०	तुरासाहः	तुराषाड्भ्याम्	तुराषाड्भ्यः
ष०	तुरासाहः	तुरासाहोः	तुरासाहाम्
स०	तुरासाहि	तुरासाहोः	तुराषाट्त्सु, तुराषाट्सु

२६४. [६]**दिव औत्**[१] (७/१/८४)

'दिव्' इति प्रातिपदिकस्य 'औत्' स्यात् सौ परे। सुद्यौः। सुदिवौ।

दिव इति- दिव् प्रातिपदिक को औत् आदेश हो सु परे रहते।

'औत्' का तकार उच्चारणार्थ है। 'उच्चारणार्थानामित्संज्ञालोपाभ्याम् विना एव निवृत्तिः अर्थात् आचार्य ने जिनका उच्चारण के प्रयोजन से पाठ किया है, उनकी इत्संज्ञा करने तथा लोप करने की आवश्यकता नहीं होती, अपितु उनकी स्वतः निवृत्ति हो जाती है।

यह सूत्र अङ्गाधिकार का है। अतः 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' परिभाषा से तदन्त का ग्रहण होता है। तब दिव् शब्दान्त 'सुदिव्' शब्द में भी सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

वकारान्त सुदिव् (स्वच्छ आकाशवाला दिन) शब्द

'सुदिव् सु' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र से अन्त्य वर्ण वकार को औकार आदेश हुआ। तब 'सुदि औ स्' इस स्थिति में इकार को यण् तथा सकार को रु और रकार को विसर्ग होकर 'सुद्यौः' रूप सिद्ध हुआ।

सुदिवौ-'औ' का रूप है।

इसी प्रकार सभी अजादि विभक्तियों में हो जायेगा।

२६५. [६]दिव उत्[१] (६/१/१२७)

दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात् पदान्ते। सुद्युभ्याम्-इत्यादि। (इति वकारान्ताः)।

चत्वारः। चतुरः। चतुर्भिः। चतुर्भ्यः२।

दिव इति-पदान्त में दिव् शब्द को उकार आदेश हो।

'सुदिव् भ्याम्'-यहाँ 'भ्याम्' परे रहते 'सुदिव्' शब्द की पदसंज्ञा हो गई। वकार पदान्त है अतः उसे 'दिव उत्' सूत्र के द्वारा उकार अन्तादेश हो गया। सुदिव् भ्याम्। सुदिउ भ्याम्। अब 'यण्' आदेश होकर 'सुद्युभ्याम्' बन गया।

सभी हलादि विभक्तियों में इसी प्रकार हो जायेगा।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	सुद्यौः	सुदिवौ	सुदिवः
सं०	हे सुद्यौः	हे सुदिवौ	हे सुदिवः
द्वि०	सुदिवम्	सुदिवौ	सुदिवः
तृ०	सुदिवा	सुद्युभ्याम्	सुद्युभिः
च०	सुदिवे	सुद्युभ्याम्	सुद्युभ्यः
पं०	सुदिवः	सुद्युभ्याम्	सुद्युभ्यः
ष०	सुदिवः	सुदिवोः	सुदिवाम्
स०	सुदिवि	सुदिवोः	सुद्युषु

रकारान्त शब्द

'चतुर्' शब्द नित्य बहुवचनान्त है। इसके रूप बहुवचन में ही होंगे।

'चतुर् अस्'-इस अवस्था में 'चतुरनडुहो०' के द्वारा 'आम्' आगम हुआ। चतु आम् र् अस्। 'यण्' होकर 'चत्वारः' रूप बना।

'चतुर् शस्'- यहाँ 'चतुरः' रूप बनेगा।

'चतुर्भिः' तथा 'चतुर्भ्यः' में कोई विशेष कार्य नहीं हुआ है।

२६६. [५]षट्चतुर्भ्यश्च (७/१/५५)

एभ्य आमो नुडागमः।

षडिति-षट् संज्ञक तथा चतुर् से पर 'आम्' को 'नुट्' हो।

२६७. [५]**रषाभ्यां नो[१] णः[६] समानपदे[७]** (८/४/१)

रेफ षकाराभ्यां परस्य नस्य णः स्यादेकपदे- इति वृत्तिः।

'अचो रहाभ्यां द्वे-' इति चतुर्ण्णाम्, चतुर्णाम्।

रषाभ्यामिति-समानपद अर्थात् एक पद में रेफ और षकार से उत्तरवर्त्ती नकार को णकार हो।

चतुर् आम्' -ऐसा होने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा आम् को 'नुट्' आगम हुआ। टित् होने के कारण यह आदि में हो गया। चतुर् नुट् आम्। 'चतुर् न् आम्'- यह एक पद होने के कारण प्रकृत सूत्र के द्वारा णकार हुआ। चतुर्णाम्। अब 'अचो रहाभ्याम्०' सूत्र के द्वारा अच् (उकार) से परवर्त्ती रेफ से उत्तरवर्त्ती यर् (णकार) को विकल्प से द्वित्व होकर- 'चतुर्णाम्' तथा 'चतुर्ण्णाम्' रूप बने।

२६८. [६]**रोः सुपि[७]** (८/३/१६)

रोरेव विसर्गः सुपि। षत्वम्। षस्य द्वित्वे प्राप्ते-

रोरिति-सुप् (सप्तमी बहुवचन) परे रहते 'रु' निमित्तक रेफ को विसर्ग हो।

'चतुर् सुप्'-'खरवसानयोः विसर्ज०' के द्वारा विसर्ग प्राप्त था। प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध हो जाता है।

षत्वमिति-अब 'आदेशप्रत्यययोः' के द्वारा मूर्धन्य आदेश हो गया। चतुर्सु-चतुर्षु-चतुर्षु। 'अचोरहाभ्यां द्वे' के द्वारा अच् (उकार) से परवर्ती रेफ से उत्तरवर्ती षकार को द्वित्व प्राप्त हुआ।

२६९. [६]**शरोऽचि[७]** (८/४/४८)

अचि परे शरो न द्वे स्तः। चतुर्षु। (इति रकारान्ताः)।

शर इति-अच् परे रहते शर् को द्वित्व न हो।

'चतुर्षु' में प्राप्त द्वित्व का प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध हो गया।

चतुर् शब्द

विभक्ति	**बहु०**	**विभ०**	**बहु०**
प्र०	चत्वारः	द्वि०	चतुरः
तृ०	चतुर्भिः	च०	चतुर्भ्यः
पं०	चतुर्भ्यः	ष०	चतुर्णाम्, चतुर्ण्णाम्
स०	चतुर्षु		

मकारान्त शब्द प्रशाम् (बहुत शान्त)

२७०. [६]**मो नो[१] धातोः** (८/२/६४)

धातोर्मस्य नः स्यात् पदान्ते। प्रशान्।

मो न इति-धातु के मकार को नकार हो पदान्त में।

'प्रशाम् स्' इस दशा में अपृक्त सकार का हल्ङ्यादि लोप हो जाने से 'प्रशाम्' पद बना। तब धातु के अन्त्य मकार को नकार होने से 'प्रशान्' रूप सिद्ध हुआ। अब 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (पा० ८/२/७) के द्वारा नकार का लोप प्राप्त हुआ, परन्तु 'मो नो धातोः (८.२.६४)' का कार्य असिद्ध होने के कारण यहाँ नकार का लोप नहीं हुआ।

हलादि विभक्ति परे रहते 'स्वादिष्वसर्वनाम०' के द्वारा 'प्रशाम्' शब्द की पद संज्ञा हो जायेगी। अतः 'मो नो धातोः' के द्वारा मकार को नकार होगा।

'प्रशाम् सुप्'-यहाँ पदसंज्ञा होकर 'मो नो धातोः' के द्वारा मकार को नकार हो गया। अब 'नश्च' के द्वारा धुट् आगम प्राप्त है, परन्तु 'मो नो धातोः' (८/२/६४) असिद्ध है, अतः इस सूत्र के द्वारा किया गया नकार आदेश भी असिद्ध है। अतः धुट् आगम नहीं होगा। प्रशान्सु।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	प्रशान्	प्रशामौ	प्रशामः
सं०	हे प्रशान्	हे प्रशामौ	हे प्रशामः
द्वि०	प्रशामम्	प्रशामौ	प्रशामः
तृ०	प्रशामा	प्रशान्भ्याम्	प्रशान्भिः
च०	प्रशामे	प्रशान्भ्याम्	प्रशान्भ्यः
पं०	प्रशामः	प्रशान्भ्याम्	प्रशान्भ्यः
ष०	प्रशामः	प्रशामोः	प्रशामाम्
स०	प्रशामि	प्रशामोः	प्रशान्सु

किम् (कौन)

२७१. [६]**किमः कः**[१] (७/२/१०३)

किमः कः स्याद् विभक्तौ। कः, कौ, के इत्यादि। शेषं सर्ववत्।

किम इति—'किम्' शब्द को 'क' आदेश हो विभक्ति परे रहते।

विभक्ति आने के बाद सब से पहले 'किम्' शब्द को 'क' आदेश होगा। और स्थानिवद्भाव से तत्स्थानिक 'क' भी सर्वनाम संज्ञक हो गया। अजन्त बन जाने से इसके रूप 'सर्व' शब्द के समान बनेंगे।

किम्

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	कः	कौ	के
द्वि०	कम्	कौ	कान्
तृ०	केन	काभ्याम्	कैः

च०	कस्मै	काभ्याम्	केभ्यः
पं०	कस्मात्-द्	काभ्याम्	केभ्यः
ष०	कस्य	कयोः	केषाम्
स०	कस्मिन्	कयोः	केषु

इदम् (यह)

२७२. [6]**इदमो मः**[1] **(७/२/१०८)**

इदमो मस्य मः स्यात्। (सौ)। त्यदाद्यत्वापवादः।

इदम इति- 'सु' परे रहते 'इदम्' शब्द के मकार को मकार ही हो।

'इदम् सु'-यहाँ 'त्यदादीनामः' के द्वारा अकार आदेश प्राप्त है जिसका प्रकृत सूत्र के द्वारा बाध हो जाता है।

२७३. [6]**इदोऽय्**[1] **पुंसि**[7] **(७/२/१११)**

इदम इदोऽय् स्यात् सौ पुंसि। अयम्। त्यदाद्यत्वे-

इद इति- पुँल्लिङ्ग के विषय में सु परे रहते इदम् शब्द के 'इद्' अवयव को 'अय्' आदेश हो।

'इदम् सु'-यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा 'अय्' आदेश करने पर 'अय् अम् स्' हो गया। तब 'हल्ङ्याब्भ्यो०' के द्वारा सकार का लोप हो गया। 'अयम्' बन गया।

त्यदाद्यत्व इति— 'इदम् औ' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' सूत्र से मकार को अकार हों गया। तब 'इद अ औ' ऐसी स्थिति हुई।

२७४. [5]**अतो गुणे**[7] **(६/१/९४)**

अपदान्तादतो गुणे पररूपमेकादेशः।

अत इति-पदान्तभिन्न ह्रस्व अकार से गुण परे रहते पररूप एकादेश हो।

'इद अ औ' यहाँ पर अकार रूप एकादेश हुआ। तब 'इद औ' यह बना।

२७५. [6]**दश्च (७/२/१०९)**

इदमो दस्य मः स्याद् विभक्तौ। इमौ, इमे। त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः।

दश्चेति-इदम् शब्द के दकार को मकार हो विभक्ति परे रहते।

'इद औ'-यहाँ दकार को मकार हुआ। इम औ। 'वृद्धिरेचि' के द्वारा वृद्धि प्राप्त हुई। तब 'प्रथमयोः पूर्व०' के द्वारा पूर्व सवर्ण दीर्घ की प्राप्ति हुई। तब 'नादिचि' के द्वारा पूर्व सवर्णदीर्घ का निषेध हुआ। तब सामान्य वृद्धि होकर 'इमौ' रूप बना।

'इदम् अस्' इस स्थिति में मकार को अकार (त्यदादीनामः) हुआ। पररूप एकादेश (अतो गुणे) हो गया। तब दकार को मकार (दश्च) हो गया। 'इम' यह अदन्त सर्वनाम हो गया 'जस्' परे रहते उसे 'जसः शी' के द्वारा शी आदेश हो गया। शकार की इत्संज्ञा

होकर लोप हो गया। अब 'आद्गुण:' के द्वारा गुण हो गया। इम् शी-इम ई- इमे।

त्यदादेरिति-त्यदादियों का सम्बोधन नहीं होता है। यह उत्सर्ग अर्थात् साधारण नियम है।

२७६. ७**अनाऽऽप्यक:**६ (७/२/११२)

अककारस्येदम इदोऽन् स्याद् आपि विभक्तौ। आबिति प्रत्याहार:। अनेन।

अनापीति-आप् (टा से लेकर सुप् तक) विभक्ति परे रहते ककार रहित 'इदम्' के 'इद' भाग को 'अन्' आदेश हो।

आबिति-आप् प्रत्याहार है। टा (आ) से लेकर सुप् पर्यन्त सभी प्रत्ययों का 'आप्' प्रत्याहार के द्वारा बोध होता है।

इदम् अम्-इमम्-पूर्ववत् समझें। 'इदम् औट्'- प्रथमा की तरह। इमौ।

'इदम् शस्'- यहाँ 'तस्माच्छसो न: पुंसि' के द्वारा सकार को नकार हो जाता है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् समझें। त्यदादीनाम:। इद अ अस्— अतो गुणे से पररूप। इ द अ स्— दश्च से मत्व। इम अ स् -प्रथमयो: पूर्वसवर्ण:। इमास्। इमान्।

'इदम् टा > आ'-यहाँ 'त्यदादीनाम:' से मकार को अकार आदेश हुआ। तब 'अतो गुणे' के द्वारा पररूप आदेश हुआ। इदम् आ-इद अ आ-इद आ। 'दश्च' के द्वारा 'टा' परे रहते मकार प्राप्त हुआ। परन्तु 'अनाप्यक:' सूत्र के द्वारा 'टा' परे रहते 'इद्' भाग को 'अन्' आदेश हुआ। तब 'टाङसिङसामि०' के द्वारा 'टा' को 'इन' आदेश हो गया। 'आद् गुण:' के द्वारा गुणादेश हो गया। इद अ आ- इद आ-अन् अ आ-अन आ > इन-. अनेन। 'इदम् भ्याम्'-यहाँ 'त्यदादीनाम:' के द्वारा अकार हुआ। 'दश्च' के द्वारा मकार प्राप्त था, परन्तु 'अनाप्यक:' के द्वारा 'इद्' के स्थान पर 'अन्' आदेश प्राप्त हुआ। इद अ भ्याम्-इद भ्याम्।

२७७. ७**हलि लोप:**१ (७/२/११३)

अककारस्येदम इदो लोप आपि हलादौ। (प) नाऽनर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे।

हलीति-हलादि आप् विभक्ति परे रहते ककाररहित 'इदम्' शब्द के 'इद्' भाग का लोप हो। अब 'अलोऽन्त्यस्य' के बल पर उक्त लोप 'इद्' समुदाय के अन्त्य वर्ण (द्) का होता है। नेति-अभ्यास के विकार को छोड़कर अन्यत्र अनर्थक में अन्त्यविधि की प्रवृत्ति न हो।

समुदाय सार्थक होता है और उसका एक भाग निरर्थक होता है। कहा गया है- समुदायो ह्यर्थवान्, तस्यैकदेशोऽनर्थक:'। 'इदम्' एक समुदाय है तथा इद् एक भाग है जो निरर्थक है। अत: इस के विषय में 'अलोऽन्त्यस्य' की प्रवृत्ति नहीं होगी और प्रकृत सूत्र के द्वारा समग्र 'इद्' भाग का लोप हो जायेगा। इद भ्याम्-अ भ्याम्।

२७८. **आद्यन्तवद् एकस्मिन्[७] (१/१/२१)**

एकस्मिन् क्रियमाणं कार्यमादाविवान्त इव स्यात्। 'सुपि च' इति दीर्घः- आभ्याम्३।

आदीति-आदि और अन्त को विधीयमान कार्य एक में भी हो। इसे व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं। यह एक लोकन्याय है। यथा— देवदत्त का एक पुत्र है, उसे ही ज्येष्ठ तथा उसे ही कनिष्ठ कहा जायेगा। यद्यपि ज्येष्ठत्व तथा कनिष्ठत्व सापेक्ष है, तथापि अमुख्य में भी मुख्य व्यवहार किया जाता है।

'अ भ्याम्'-इस स्थिति में 'सुपि च' से प्राप्त दीर्घत्व अन्त्य को होगा। तब व्यपदेशिवद्न्याय से अकार को ही अन्त्य मानकर दीर्घ हो गया। आभ्याम्।

२७९. **नेदमदसोरकोः[६] (७/१/११)**

अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न। एभिः। अस्मै। एभ्यः२। अस्मात्। अस्य। अनयोः२। एषाम्। अस्मिन्। एषु।

नेदमदसोरिति—ककाररहित इदम् और अदस् से परे 'भिस्' को 'ऐस्' आदेश न हो।

'इदम् भिस्'—यहाँ 'त्यदादीनामः' के द्वारा अकार आदेश तथा 'अतो गुणे' के द्वारा पररूप आदेश हो गया। हलादि (भिस्) विभक्ति परे रहते 'हलि लोपः' के द्वारा 'इद्' भाग का लोप हो गया। इद्अ भिस्-इद भिस्-अ भिस्। यहाँ व्यपदेशिवद्भाव से अकार को अदन्त अंग मान कर 'अतो भिस ऐस्' की प्रवृत्ति होती है जिसका प्रकृत सूत्र के द्वारा बाध हो गया है। तब 'बहुवचने झल्येत्' के द्वारा एकार आदेश हो गया। सकार को विसर्गादि होकर-अ भिस्-ए भिस्-एभिरु-एभिः।

'इदम् ङे' -यहाँ 'त्यदादीनामः' के द्वारा अकार आदेश आदि पूर्ववत् कार्य होकर-इदअ ङे-इदङे। बन गया। 'सर्वनाम्नः स्मै' के द्वारा 'स्मै' आदेश हुआ। इदस्मै। अब स्थानिवद् भाव के बल पर 'स्मै' आदेश में विभक्ति धर्म की उत्पत्ति होकर 'हलि लोपः' के द्वारा 'इद्' का लोप होकर-अस्मै। एभ्यः-'इदम् भ्यस्' इस दशा में त्यदाद्यत्व और पररूप होने पर 'इद्' भाग का लोप हुआ। तब व्यपदेशिवद्भाव से अदन्त अङ्ग के अकार को 'बहुवचने झल्येत्' के द्वारा एकार हो गया। तब 'एभ्यः' बना।

'इदम् ङसि'-इस अवस्था में त्यदाद्यत्व, पररूप हो गया। तब 'स्मात्' आदेश हुआ। इद स्मात्। 'इद्' भाग का लोप होकर 'अस्मात्' रूप बना। 'इदम् ङस्'-यहाँ ङस् को 'स्य' आदेश हो गया। शेष कार्य पूर्ववत् होंगे। अस्य। षष्ठी तथा सप्तमी द्विवचन में त्यदाद्यत्व तथा पररूप हो गया। इद ओस्। तब 'अनाप्यः०' के द्वारा 'अन्' आदेश हो गया। 'ओसि च' के द्वारा एकार होकर 'अनयोः' रूप बना।

'इदम् आम्'- यहाँ अदन्त अङ्ग बनने के पश्चात् सुट् आगम (आमि सर्वनाम्नः सुट्) हुआ। इद् भाग का लोप (हलि लोपः) हो गया। अ सुट् आम्। तब एकार आदेश (बहुवचने झल्येत्) हो गया। ए साम्। मूर्धन्य आदेश होकर 'एषाम्' बना। सप्तमी एक

वचन में 'स्मिन्' आदेश तथ अदन्त अङ्ग बन कर 'अस्मिन्' रूप बनेगा।

२८०. [७]**द्वितीया-टौस्स्वेन:**[१] **(२/४/३४)**

इदमेतदोरेनादेश: स्यादन्वादेशे। किञ्चित् कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानम् अन्वादेश:। यथा-अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापयेति। अनयो: पवित्रं कुलम्, एनयो: प्रभूतं स्वम्-इति। एनम्, एनौ, एनान्। एनेन। एतयो:। एनयो:२ (इति मकारान्ता:।) राजा।

द्वितीयेति-द्वितीया (सब वचन), टा तथा ओस् परे रहते अन्वादेश के विषय में इदम् तथा एतद् को 'एन' आदेश हो। 'ओस्' के द्वारा षष्ठी द्विव० तथा सप्तमी द्विव० दोनों का ग्रहण होता है। जिसका पहले किसी कार्य के लिए ग्रहण किया गया हो तथा उसका अन्य कार्य के लिए पुन: ग्रहण करना 'अन्वादेश' कहलाता है। यथा— अनेन व्याकरणमधीतम्, एनं छन्दोऽध्यापय। यहाँ किसी ने अपने शिष्य वा पुत्र के लिए व्याकरण अध्ययन रूप कार्य का विधान किया। पुन: उसी के लिए वेद अध्ययन रूप कार्य का विधान किया गया। अत: उत्तरवर्त्ती वाक्य में अन्वादेश सिद्ध हुआ। तब अन्वादिष्ट 'इदम्' शब्द को द्वितीया (अम्) में 'एन' आदेश हो गया। 'एनम्' रूप सिद्ध हुआ।

'अनयो: पवित्रं कुलम्, एनयो: प्रभूतं स्वम्'- यहाँ प्रथम वाक्य में कुल की पवित्रता के विधानार्थ ग्रहण किये हुये का द्वितीय वाक्य में अन्य विधान के लिए प्रयोग हुआ है। अत: अन्वादेश सिद्ध हुआ।

'इदम् अम्'-ऐसी स्थिति होने पर अन्वादेश में 'इदम्' को 'एन' आदेश प्रकृत सूत्र के द्वारा हो गया। तब 'अमि पूर्व:' के द्वारा पूर्वरूप आदेश होकर 'एनम्' रूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार 'इदम् औ' तथा 'इदम् शस्' को अन्वादेश में 'एन' आदेश होकर 'एनौ' तथा 'एनान्' रूप सिद्ध होते है। तृतीया में 'टा' तथा षष्ठी में 'ओस्' परे रहते 'एनेन' तथा 'एनयो:' रूप सिद्ध हुए।

इदम्

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	अयम्	इमौ	इमे
द्वि०	इमम्	इमौ	इमान्
तृ०	अनेन	आभ्याम्	एभि:
च०	अस्मै	आभ्याम्	एभ्य:
पं०	अस्मात्-द्	आभ्याम्	एभ्य:
ष०	अस्य	अनयो:	एषाम्
स०	अस्मिन्	अनयो:	एषु

नकारान्त शब्द राजन् (राजा)

'राजन् सु > स्'-यहाँ 'सर्वनामस्थाने०' के द्वारा उपधा को दीर्घ आदेश तथा 'हल्ङ्याब्भ्य:'-के द्वारा सकार लोप हो गया। राजान् स्-राजान्-राजान्। 'न लोप: प्रातिपदिकान्तस्य' के द्वारा नकार का लोप हो गया। राजा।

२८१. **नॅ ङिसम्बुद्ध्यो:**[७] **(८/२/८)**

नस्य लोपो न ङौ सम्बुद्धौ च। हे राजन्।

(वा०) ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्य:। ब्रह्मनिष्ठ:। राजानौ, राजान: राज्ञ:।

नेति-ङि और सम्बुद्धि परे रहते नकार का लोप न हो।

हे राजन् सु-अपृक्त सकार का लोप हो जाने पर पदान्त में स्थित नकार का 'नलोप: प्रातिपदिकान्तस्य के द्वारा लोप प्राप्त हुआ। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा लोप का निषेध हो गया। तब 'हे राजन्' बन गया।

ङाविति—उत्तरपद है परे जिसके, उस ङि के परे रहते नकारलोप का निषेध नहीं होता अर्थात् नकारलोप हो ही जाता है।

ब्रह्मनिष्ठ:- ब्रह्मणि निष्ठा यस्य स ब्रह्मनिष्ठ:। यहाँ समास होने पर (सुपो धातुप्रातिपदिकयो:) विभक्ति का लोप हो गया। प्रत्ययलक्षण से उसके लाने पर यहाँ प्राप्त नकारलोप का पूर्व सूत्र से निषेध प्राप्त था, उसका इस वार्तिक से निषेध हो गया। तब नकार लोप हो गया। यहाँ उत्तरपद निष्ठा परे है, यह समास का अन्त्य अवयव है।

'राजन् औ' यहाँ उपधा को 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' सूत्र से दीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ। राजानौ। 'राजन् शस्'-यहाँ 'अल्लोपोऽन:' के द्वारा भसंज्ञक के अकार का लोप हुआ। 'स्तोश्चुना श्चु:' के द्वारा नकार को ञकार आदेश। राजन् अस्-राज् न् अस्-राज् ञ् अस्। विसर्गादि कार्य होकर 'राज्ञ:' बन गया।

२८२. **नलोप: सुप्स्वर-संज्ञा-तुग्विधिषु कृति (८/२/२)**

सुब्विधौ स्वरविधौ संज्ञाविधौ कृति तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्ध:, नान्यत्र-राजाश्व इत्यादौ। इत्यसिद्धत्वाद्-आत्वम्, एत्वम्, ऐस्त्वं च न। राजभ्याम्, राजभि:। राजभ्य:२। राज्ञि-राजनि। राजसु। यज्वा, यज्वानौ, यज्वान:।

नलोप इति—सुब्विधि, स्वरविधि, संज्ञाविधि और कृत् प्रत्यय परे रहते तुग्विधि के विषय में ही नकार का लोप असिद्ध होता है अन्यत्र नहीं।

सुप् सम्बन्धी विधि दो प्रकार की होती है—१. सुप् निमित्तक तथा २. सुप्स्थानिक।

यद्यपि 'पूर्वत्रासिद्धम्' के द्वारा ही नकार-लोप असिद्ध है तथा पुन: नकार लोप की असिद्धि का कथन नियमार्थ है। 'सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय कल्पते' अर्थात् स्वत: सिद्ध कार्य के लिए पुन: विधान करना नियमार्थ होता है। इसके अनुसार यदि नकार का लोप असिद्ध हो तो सुप् आदि में ही हो, अन्यत्र नहीं। अत: 'राज्ञ: अश्व:' में 'राजन् अश्व:' इस अवस्था में नकार लोप असिद्ध नहीं है, क्योंकि लोपविधायक सूत्र

सुबादि विधियों में नहीं है। अब असिद्ध न होने से 'अकः सवर्णे दीर्घः के द्वारा दीर्घ होकर 'राजाश्वः' ऐसा रूप सिद्ध होगा।

इत्यसिद्धत्वादिति-इस सूत्र से नकारलोप के असिद्ध होने से आत्व, एत्व और ऐस् आदेश नहीं होते।

'राजन् भ्याम्' यहाँ 'स्वादिष्वसर्वनाम०' के द्वारा राजन् शब्द की पद संज्ञा हो गई। 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' के द्वारा नलोप हो गया। अब 'सुपि च' के द्वारा दीर्घ आकार की प्राप्ति होती है। परन्तु न लोप के असिद्ध होने से दीर्घत्व नहीं होगा। राजभ्याम्।

'राजन् भिस्'-यहाँ नकार लोप हो गया। तब 'अतो भिस ऐस्' के द्वारा सुप् स्थानिक 'ऐस्' आदेश प्राप्त हुआ। परन्तु नकार के लोप के असिद्ध होने के कारण यह आदेश न होकर 'राजभिः' बन गया।

'राजन् ङि' यहाँ 'विभाषा ङि श्योः' के द्वारा विकल्प से अकार का लोप होता है। लोप पक्ष में राजन् इ -राज् न् इ-राज्ञ्इ-राज्ञि। अभावपक्ष में 'राजनि' रूप होगा।

'राजन् सुप्' में नकार लोप होने पर 'बहुवचने झल्येत्' के द्वारा एकार आदेश की निवृत्ति होकर 'राजसु' रूप बन गया।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	राजा	राजानौ	राजानः
सं०	हे राजन्	हे राजानौ	हे राजानः
द्वि०	राजानम्	राजानौ	राज्ञः
तृ०	राज्ञा	राजभ्याम्	राजभिः
च०	राज्ञे	राजभ्याम्	राजभ्यः
पं०	राज्ञः	राजभ्याम्	राजभ्यः
ष०	राज्ञः	राज्ञोः	राज्ञाम्
स०	राज्ञि, राजनि	राज्ञोः	राजसु

यज्वन् शब्द

प्रथमा में 'राजन्' शब्द की तरह ही रूप होंगे। यथा-यज्वा, यज्वानौ, यज्वानः।

२८३. **न संयोगाद्[५] वमन्तात्[५] (६/४/१३७)**

वमन्तसंयोगाद् अनोऽकारस्य लोपो न। यज्वनः। यज्वना। यज्वभ्याम्। ब्रह्मणः। ब्रह्मणा।

न संयोगादिति-वकारान्त और मकारान्त संयोग से परे जो 'अन्' उस के अकार का लोप न हो।

द्वितीया के बहुवचन में 'यज्वन् अस्' इस स्थिति में 'अल्लोपोऽनः' के द्वारा अकारलोप प्राप्त होता है। परन्तु यहाँ जकार तथा वकार का संयोग है और वह संयोग

वकारान्त है। उससे परे 'अन्' के अकार का लोप प्रकृत सूत्र के द्वारा नहीं हुआ। तब 'यज्वनः' यही रूप सिद्ध हुआ।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	यज्वा	यज्वानौ	यज्वानः
सं०	हे यज्वन्	हे यज्वानौ	हे यज्वानः
द्वि०	यज्वानम्	यज्वानौ	यज्वनः
तृ०	यज्वना	यज्वभ्याम्	यज्वभिः
च०	यज्वने	यज्वभ्याम्	यज्वभ्यः
पं०	यज्वनः	यज्वभ्याम्	यज्वभ्यः
ष०	यज्वनः	यज्वनोः	यज्वनाम्
सं०	यज्वनि	यज्वनोः	यज्वसु

ब्रह्मन्

ब्रह्मन् शब्द में हकार और मकार का संयोग है। अतः संयोग के अन्त में मकार होने से उसके आगे के 'अन्' के अकार का लोप न होकर 'यज्वन्' शब्द के समान ही रूप होंगे।

ब्रह्मन् शब्द के प्रथम पाँच रूप—ब्रह्मा, ब्रह्माणौ, ब्रह्माणः। ब्रह्माणम् ब्रह्माणौ–राजन् शब्द के समान ही सिद्ध होते हैं।

'ब्रह्मन् अस्' इस स्थिति में 'अल्लोपोऽनः' सूत्र से प्राप्त नकार के लोप का मकारान्त संयोग होने सें प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध हो गया। नकार को णकार होकर 'ब्रह्मणः' हो गया।

'ब्रह्मन् टा' यहाँ पूर्ववत् नकार का लोप निषेध होने से 'ब्रह्मणा' बन गया।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	ब्रह्मा	ब्रह्माणौ	ब्रह्माणः
सं०	हे ब्रह्मन्	हे ब्रह्माणौ	हे ब्रह्माणः
द्वि०	ब्रह्माणम्	ब्रह्माणौ	ब्रह्मणः
तृ०	ब्रह्मणा	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभिः
च०	ब्रह्मणे	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभ्यः
पं०	ब्रह्मणः	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभ्यः
ष०	ब्रह्मणः	ब्रह्मणोः	ब्रह्मणाम्
स०	ब्रह्मणि	ब्रह्मणोः	ब्रह्मसु

'शस्' में 'अल्लोपोऽनः' सूत्र से 'अन्' के अकार का लोप प्राप्त होता है, उसी का निषेध अग्रिम सूत्र से कहा है।

२८४. [६]इन्-हन्-पूषाऽर्यम्णां शौ[७] (६/४/१२)

एषां शावेवोपधाया दीर्घो नाऽन्यत्र। इति निषेधे प्राप्ते।

वृत्रहन् (इन्द्र) शब्द

इन् इति—इन्नन्त, हन् शब्दान्त, पूषन् शब्दान्त और अर्यमन् शब्दों को उपधा दीर्घ 'शि' परे रहते ही हो।

क्योंकि 'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा है ही, उसके परे रहते 'सर्वनामस्थाने०' सूत्र से उपधादीर्घ होता ही है। अतः सिद्ध होते हुए 'शि' परे रहते दीर्घ विधान नियम करता है 'शि' के अतिरिक्त अन्य स्थलों में दीर्घ न हो। इसलिये, दण्डिनौ, वाग्मिनौ, इत्यादि प्रयोगों में दीर्घ नहीं होता।

इति निषेध इति- 'वृत्रहन् स्' इस दशा में 'सु' परे रहते भी उक्त नियम से उपधादीर्घ का निषेध प्राप्त होता है।

२८५. [७]सौ च (६/४/१३)

इन्नादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सौ। वृत्रहा। हे वृत्रहन्।

सौ चेति- इन् शब्दान्त आदि की उपधा को दीर्घ हो सम्बुद्धि भिन्न सु परे रहते।

'वृत्रहन् सु'-यहाँ 'इन् हन्-' के द्वारा उपधादीर्घ का निषेध होता है। तब 'सौ' सूत्र के द्वारा पुनः विधान हुआ। अपृक्त सकार का लोप होकर तथा नकार का लोप होकर— वृत्रहन् स्-वृत्रहान् स्- वृत्रहान्-वृत्रहा।

'हे वृत्रहन् सु'-यहां सम्बुद्धि में निषेध होने के कारण नकार लोप नहीं होगा। इसी प्रकार उपधादीर्घ भी नहीं होगा। अतः सकार का लोप होकर 'हे वृत्रहन्' हो गया।

२८६. [७]एकाजुत्तरपदे णः[१] (८/४/१२)

एकाज्-उत्तरपदं यस्य, तस्मिन् समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्त नुम्विभक्तिस्थस्य नस्य णः। वृत्रहणौ।

एकाजिति—जिस समास का उत्तरपद एक अच् वाला हो, उस समास में यदि (णकार के) निमित्त पूर्वपद में हो, तो उससे परे प्रातिपदिक के अन्त्य नकार, नुम् के नकार और विभक्ति में स्थित नकार को णकार हो।

निमित्त है- रेफ और षकार। समास में एकपद की अवस्था में 'अट्कुप्वाङ्नुम्०' के द्वारा णत्व होता है, परन्तु खण्डित पद में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा विधान किया गया है।

वृत्रहन् औ- यहाँ 'वृत्र' शब्द में णकार का निमित्त रेफ है, इससे परवर्ती 'हन्' पद में स्थित नकार को प्रकृत सूत्र के द्वारा णकार हो गया। वृत्रहणौ।

'वृत्रहन् अम्' यहाँ पर पूर्ववत् क्रिया होकर 'वृत्रहणम्' बन गया।

२८७. [६]हो [६]हन्तेर्ञ्णिन्नेषु[७] (७/३/५४)

ञिति णिति च प्रत्यये नकारे च परे हन्तेर्हकारस्य कुत्वम्। वृत्रघ्नः।

इत्यादि। एवम्-शार्ङ्गिन्, यशस्विन्, अर्यमन्, पूषन्।

ह इति— ञित् या णित् प्रत्यय या नकार परे रहते 'हन्' धातु के हकार को कुत्व आदेश हो।

हकार को कवर्गीय आदेश हो। हकार के संवार, नाद, अघोष तथा महाप्राण यत्न हैं और कवर्ग में घकार के संवार आदि यत्न हैं। अतः यत्न तथा उच्चारण स्थान की समानता के बल पर हकार के स्थान पर घकार होगा।

'वृत्रहन् शस् > अस्'- एकाजुत्तरपदे णः के असिद्ध होने से 'अल्लोपोऽनः' के द्वारा अकार का लोप हो गया तथा प्रकृत सूत्र के द्वारा घकार आदेश हो गया। वृत्रह्न् अस्–वृत्रघ्नस्। अब विसर्ग आदि होकर 'वृत्रघ्नः' हो गया।

इसी प्रकार आगे अजादि विभक्तियों में—जहाँ भसंज्ञा होने से अन् के अकार का लोप हो जाता है—नकार परे होने से हकार के स्थान में घकार हो जायगा।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	वृत्रहा	वृत्रहणौ	वृत्रहणः
सं०	हे वृत्रहन्	हे वृत्रहणौ	हे वृत्रहणः
द्वि०	वृत्रहणम्	वृत्रहणौ	वृत्रघ्नः
तृ०	वृत्रघ्ना	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभिः
च०	वृत्रघ्ने	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभ्यः
पं०	वृत्रघ्नः	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभ्यः
ष०	वृत्रघ्नः	वृत्रघ्नोः	वृत्रघ्नाम्
स०	वृत्रघ्नि, वृत्रहणि	वृत्रघ्नोः	वृत्रहसु

एवमिति—इसी प्रकार शार्ङ्गिन् (विष्णु), यशस्विन् (यशस्वी), अर्यमन् और पूषन् (सूर्य) आदि शब्दों के भी रूप बनेंगे।

२८८. [१]**मघवा बहुलम्**[१] (६/४/१२८)

मघवन् शब्दस्य वा तृ इत्यन्तादेशः। ऋ इत्।

मघवा इति—'मघवन्' शब्द को 'तृ' अन्तादेश विकल्प से हो।

ऋ इत् इति—'तृ' आदेश का अन्त्य ऋकार इत् है।

'नानुबन्धकृतम् अनेकाल्त्वम्' अर्थात् अनुबन्ध के द्वारा होने वाली अनेकाल्ता नहीं मानी जाती। इस परिभाषा के बल पर 'तृ' अनेकाल् नहीं माना जा सकता। अनेकाल् न होने के कारण तृ अन्तादेश सम्पूर्ण स्थानी को न होकर, अन्त्य वर्ण के स्थान पर होगा।

२८९. [७]**उगिदचां** [७]**सर्वनामस्थानेऽधातोः**[६] (७/१/७०)

अधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुम् स्यात् सर्वनामस्थाने परे। मघवान्, मघवन्तौ, मघवन्तः। हे मघवन्। मघवद्भ्याम्। तृत्वाभावे-मघवा। सुटि राजवत्।

उगिदचामिति–धातुभिन्न उगित् और नकारलोपी अञ्चु धातु को 'नुम्' आगम हो सर्वनामस्थान परे रहते।

उगित् का अर्थ है–जिनका उक् (उ, ऋ, लृ) इत् है। नकार लोपी का अर्थ है- जिसके नकार का लोप हुआ हो।

'मघवन्' शब्द को 'मघवा बहुलम्' के द्वारा विकल्प से 'तृ'। ऋकार की इत्संज्ञा। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'नुम्' आगम हुआ। मघव नुम् त् स्-मघवन् त् स्। अब अपृक्त सकार का लोप हुआ, संयोगान्त तकार का लोप हो गया। मघवन् त्-मघवन्। 'सर्वनामस्थाने०' सूत्र के द्वारा उपधा को दीर्घ हो गया। मघवान्।

'मघवन् औ'-यहाँ तृ आदेश तथा प्रकृत सूत्र के द्वारा नुम् आगम हो गया। मघवत् औ-मघव नुम् त् औ- मघवन्त् औ-मघवन्तौ।

'हे मघवन् सु'- यहाँ पूर्ववत् क्रिया होकर 'मघव नुम् त् स्' ऐसी स्थिति हुई। सर्वनाम स्थानिक नुम् के नकार को पहले 'नश्चापदान्तस्य झलि' के द्वारा अनुस्वार होगा तथा पुनः 'अनुस्वारस्य ययि०' के द्वारा परसवर्ण होकर नकार होगा। अपृक्त का लोप तथा संयोगान्त का लोप होकर 'हे मघवन्' ऐसा बना। अब नलोप की प्राप्ति हुई जिसका 'न ङिसम्बु०' के द्वारा निषेध हो गया।

हलादि विभक्तियों में पद संज्ञा होकर 'झलां जशोऽन्ते' के द्वारा दकार हो जायेगा।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	मघवान्	मघवन्तौ	मघवन्तः
सं०	हे मघवन्	हे मघवन्तौ	हे मघवन्तः
द्वि०	मघवन्तम्	मघवन्तौ	मघवतः
तृ०	मघवता	मघवद्भ्याम्	मघवद्भिः
च०	मघवते	मघवद्भ्याम्	मघवद्भ्यः
पं०	मघवतः	मघवद्भ्याम्	मघवद्भ्यः
ष०	मघवतः	मघवतोः	मघवताम्
सं०	मघवति	मघवतोः	मघवत्सु

'मघवन् सु'-यहाँ तृ अन्तादेश के अभाव पक्ष में उपधादीर्घ, अपृक्त लोप तथा नकार का लोप होकर-मघवन्स्-मघवन्-मघवान्-मघवा रूप बना।

तृत्वाभावे इति-जब तृ आदेश नहीं होगा।। तब 'मघवन्' ऐसा शब्द रहेगा।

सुटीति- इस पक्ष में नकारान्त शब्द होने से राजन् शब्द के समान सुट् में रूप बनते हैं। सुट् का अभिप्राय है-सु से लेकर औट् तक।

२९०. [६]**श्व-युव-मघोनामतद्धिते**[७] **(६/४/१३३)**

अन्नन्तानां भानामेषामतद्धिते सम्प्रसारणम्। मघोनः। मघवभ्याम्। एवं-श्वन्, युवन्।

श्वयुवेति—श्वन् (कुत्ता), युवन् (युवा,) और मघवन् (इन्द्र)-इन अन्नन्त भसंज्ञक अङ्गों को सम्प्रसारण हो तद्धितभिन्न प्रत्यय परे रहते।

'मघवन् शस्'- इस स्थिति में प्रकृत सूत्र के द्वारा वकार के स्थान पर सम्प्रसारण हो गया। मघ उ अन् अस्। सम्प्रसारणाच्च से पूर्वरूप हो गया। मघ उन् अस्। तब गुण हुआ। मघोन:। जहां भसंज्ञा होगी, वहाँ सम्प्रसारण आदि कार्य होकर रूपसिद्धि होगी। हलादि विभक्तियों में 'राजन्' शब्द की तरह होंगे।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	मघवा	मघवानौ	मघवान:
सं०	हे मघवन्	हे मघवानौ	हे मघवान:
द्वि०	मघवानम्	मघवानौ	मघोन:
तृ०	मघोना	मघवभ्याम्	मघवभि:
च०	मघोने	मघवभ्याम्	मघवभ्य:
पं०	मघोन:	मघवभ्याम्	मघवभ्य:
ष०	मघोन:	मघोनो:	मघोनाम्
स०	मघोनि	मघोनो:	मघवसु

एवमिति-इसी प्रकार श्वन् तथा युवन् के रूप होंगे।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	श्वा	श्वानौ	श्वान:
सं०	हे श्वन्	हे श्वानौ	हे श्वान:
द्वि०	श्वानम्	श्वानौ	शुन:
तृ०	शुना	श्वभ्याम्	श्वभि:
च०	शुने	श्वभ्याम्	श्वभ्य:
पं०	शुन:	श्वभ्याम्	श्वभ्य:
ष०	शुन:	शुनो:	शुनाम्
स०	शुनि	शुनो:	श्वसु

२९१. नॅ संप्रसारणे[७] संप्रसारणम्[१] (६/१/३६)

संप्रसारणे परत: पूर्वस्य यण: सम्प्रसारणं न स्यात्। इति यकारस्य नेत्त्वम्। अतएव ज्ञापकाद् अन्त्यस्य यण: पूर्वं सम्प्रसारणम्। यून:। यूना। युवभ्याम् इत्यादि। अर्वा हे अर्वन्।

नेति-सम्प्रसारण परे रहते पूर्व यण् को सम्प्रसारण न हो।

इति यकारस्येति-अत: यकार को इकार न हो।

'युवन् अस्'-यहाँ पूर्वसूत्र के द्वारा सम्प्रसारण होकर 'यूनस्' -इस अवस्था में यकार को सम्प्रसारण प्राप्त होता है जिसका प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध हो गया।

अतएव इति-इस ज्ञापक के द्वारा अन्त्य 'यण्' को पहले सम्प्रसारण होता है।

इस सूत्र न्यास से यह ज्ञापक सिद्ध होता है कि 'युवन्' शब्द में अन्त्य (अर्थात् वकार) 'यण्' को ही सम्प्रसारण कार्य हो। यदपि पूर्वयण् (यकार) को सम्प्रसारण कर दिया तो सूत्र का पाठ ही व्यर्थ हो जाता है। ऐसी दशा में कहीं पर भी सम्प्रसारण हो।

'युवन् शस्' इस दशा में पहले 'श्व-युव०' सूत्र से वकार को संप्रसारण हो। तब यकार को प्राप्त संप्रसारण का निषेध हो जायगा। 'यु उ न् अस्' इस दशा में दोनों उकारों को सवर्णदीर्घ तथा सकार को रुत्व विसर्ग होने से 'यूनः' रूप सिद्ध हुआ।

'युवन् टा'-यहाँ पूर्ववत् क्रिया हो कर 'यूना' रूप बना।

अजादि विभक्तियों (ङे, ङसि, ङस्, ओस्, आम्, ङि) में सम्प्रसारण आदि कार्य पूर्ववत् होंगे।

हलादि विभक्तियों में 'स्वादिष्वसर्व०' के द्वारा पद संज्ञा हो जायेगी तथा 'न लोप०' के द्वारा नकार का लोप होकर रूप सिद्धि होगी।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	युवा	युवानौ	युवानः
सं०	हे युवन्	हे युवानौ	हे युवानः
द्वि०	युवानम्	युवानौ	यूनः
तृ०	यूना	युवभ्याम्	युवभिः
च०	यूने	युवभ्याम्	युवभ्यः
पं०	यूनः	युवभ्याम्	युवभ्यः
ष०	यूनः	यूनोः	यूनाम्
स०	यूनि	यूनोः	युवसु

अर्वन् (घोडा) शब्द

'अर्वन् सु'-राजन् की तरह 'अर्वा' रूप सिद्ध होगा।

हे अर्वन् सु-यहाँ भी राजन् की तरह कार्य होकर हे 'अर्वन्' बनेगा।

२९२. [६]**अर्वणस्त्रसावनञः**[६] (६/४/१२७)

नञा रहितस्य 'अर्वन्' इत्यस्याऽङ्गस्य 'तृ' इत्यन्तादेशो न तु सौ। अर्वन्तौ। अर्वद्भ्यामित्यादि।

अर्वण इति-सु को छोड़कर (अन्य स्थलों में) नञ् रहित 'अर्वन्' अङ्ग को 'तृ' आदेश हो।

'अर्वन् औ'-यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा 'तृ' अन्त्यादेश हो गया। अर्वत् औ। 'उगिदचाम्०' के द्वारा नुम् आदेश हो गया। अर्व नुम् त् औ। अब 'नश्चापदान्तस्य झलि' के द्वारा अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि०' के द्वारा परसवर्ण हो गया। अर्वन्तौ।

हलादि विभक्तियों में तकार के स्थान में दकार हो जायेगा।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	अर्वा	अर्वन्तौ	अर्वन्तः
सं०	हे अर्वन्	हे अर्वन्तौ	हे अर्वन्तः
द्वि०	अर्वन्तम्	अर्वन्तौ	अर्वतः
तृ०	अर्वता	अर्वद्भ्याम्	अर्वद्भिः
च०	अर्वते	अर्वद्भ्याम्	अर्वद्भ्यः
पं०	अर्वतः	अर्वद्भ्याम्	अर्वद्भ्यः
ष०	अर्वतः	अर्वतोः	अर्वताम्
स०	अर्वति	अर्वतोः	अर्वत्सु

पथिन् (मार्ग, रास्ता) शब्द।

२९३. [६]**पथिमथ्यृभुक्षामात्।**[१] (७/१/८५)

एषामाकारोऽन्तादेशः स्यात् सौ परे।

पथि इति-पथिन् (मार्ग), मथिन् (मथनी,) ऋभुक्षिन् (इन्द्र) इन शब्दों को आकार अन्तादेश हो सु परे रहते।

'पथिन् स्' इस दशा में नकार को आकार हो गया। 'पथि आ स्' ऐसी स्थिति बन गई।

२९४. [६]**इतोऽत्**[१] **सर्वनामस्थाने**[७] (७/१/८६)

पथ्यादेरिकारस्याऽकारः स्यात् सर्वनामस्थाने परे।

इत इति—पथिन् आदि के इकार को अकार हो, सर्वनामस्थान परे रहते।

'पथि आ स्' इस स्थिति में 'पथिन्' के इकार को अकार हो कर 'पथ आ स्' यह अवस्था हुई।

२९५. [६]**थो न्थः**[१] (७/१/८७)

पथिमथोस्थस्य न्थाऽऽदेशः सर्वनामस्थाने। पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः।

थ इति-पथिन् और मथिन् शब्दों के थकार को 'न्थ्' आदेश हो सर्वनामस्थान परे रहते।

'पथ आ स्' ऐसी स्थिति बन जाने पर इस सूत्र से 'थ्' को 'न्थ्' आदेश हुआ। 'पन्थ आ स्' इस दशा में सवर्णदीर्घ और सकार को रुत्व तथा विसर्ग होकर 'पन्थाः' रूप सिद्ध हुआ।

'पथिन् औ'-पूर्वोक्त रीति से क्रिया होकर 'पन्थानौ' रूप सिद्ध हुआ।

'पथिन् जस्' यहाँ पर पूर्ववत् प्रक्रिया होगी। रुत्व तथा विसर्ग कार्य अधिक होगा। पन्थानः।

द्वितीया के एकवचन में—पन्थानम्, द्विवचन में पन्थानौ।

२९६. [६]भस्य [६]टेर्लोपः [१] (७/१/८८)

भस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः। पथः। पथा। पथिभ्याम्। एवम्-मथिन्, ऋभुक्षिन्।

भस्येति—भसंज्ञक पथिन् आदि अङ्ग की टि का लोप हो।

'पथिन् शस्' इस स्थिति में भसंज्ञक अङ्ग होने 'पथिन्' की टि 'इन्' का लोप हो गया। तब 'पथ् अस्' ऐसी स्थिति बन जाने पर रुत्व आदि कार्य होकर 'पथः' रूप सिद्ध हुआ। तृ० एकव० में— पथा।

'पथिन् भ्याम्' इस स्थिति में नकार का लोप 'न लोपः० सूत्र से होने पर रूप सिद्ध होता है। पथिभ्याम्।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	पन्थाः	पन्थानौ	पन्थानः
सं०	हे पन्थाः	हे पन्थानौ	हे पन्थानः
द्वि०	पन्थानम्	पन्थानौ	पथः
तृ०	पथा	पथिभ्याम्	पथिमिः
च०	पथे	पथिभ्याम्	पथिभ्यः
पं०	पथः	पथिभ्याम्	पथिभ्यः
ष०	पथः	पथोः	पथाम्
स०	पथि	पथोः	पथिषु

इसी प्रकार मथिन् तथा ऋभुक्षिन् के रूप होंगे।

मथिन्

प्र०	मन्थाः	मन्थानौ	मन्थानः
सं०	हे मन्थाः	हे मन्थानौ	हे मन्थानः
द्वि०	मन्थानम्	मन्थानौ	मथः
तृ०	मथा	मथिभ्याम्	मथिभिः
च०	मथे	मथिभ्याम्	मथिभ्यः
पं०	मथः	मथिभ्याम्	मथिभ्यः
ष०	मथः	मथोः	मथाम्
स०	मथि	मथोः	मथिषु

ऋभुक्षिन्

प्र०	ऋभुक्षाः	ऋभुक्षाणौ	ऋभुक्षाणः
सं०	हे ऋभुक्षाः	हे ऋभुक्षाणौ	हे ऋभुक्षाण
द्वि०	ऋभुक्षाणम्	ऋभुक्षाणौ	ऋभुक्षः
तृ०	ऋभुक्षा	ऋभुक्षिभ्याम्	ऋभुक्षिभिः

च०	ऋभुक्षे	ऋभुक्षिभ्याम्	ऋभुक्षिभ्यः
पं०	ऋभुक्षः	ऋभुक्षिभ्याम्	ऋभुक्षिभ्यः
ष०	ऋभुक्षः	ऋभुक्षोः	ऋभुक्षाम्
स०	ऋभुक्षि	ऋभुक्षोः	ऋभुक्षिषु

पञ्चन् (पाँच) शब्द।

२९७. [१]**ष्णान्ताः**[१] **षट्** (१/१/२४)

षान्ता नान्ता च संख्या षट्संज्ञा स्यात्। पञ्चन्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। पञ्च। पञ्च। पञ्चभिः। पञ्चभ्यः। पञ्चभ्यः। नुट्-

ष्णान्ता इति—षकारान्त और नकारान्त संख्यावाचक शब्द षट् संज्ञक होता है।

'पञ्चन्' शब्द संख्यावाचक है और नकारान्त भी इसकी षट्संज्ञा हुई।

पञ्चन् इति—पञ्चन् शब्द नित्य बहुवचनान्त है। संख्या का वाचक है।

'पञ्चन् जस्'-ऐसी स्थिति में (षड्भ्यो लुक्) सूत्र से प्रत्यय का लोप होकर 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' के द्वारा नकार का लोप होता है। पञ्च। इसी प्रकार 'पञ्चन् शस् > अस्'-पञ्च।

'पञ्चन् भिस्'-यहाँ नकार का लोप तथा विसर्गादि कार्य होकर 'पञ्च भिस्-पञ्च भि रु- पञ्चभिः' रूप बना। इसी प्रकार पञ्चन् भ्यस्-पञ्चभ्यः। षष्ठी बहुवचन में 'पञ्चन् आम्' यहाँ पर षट्संज्ञक होने से पञ्चन् के आगे 'आम्' को 'षट्चतुर्भ्यश्च' सूत्र से 'नुट्' आगम हुआ। तब 'पञ्चन् नाम्' यह स्थिति हुई।

२९८. **नोपधायाः**[६] (६/४/७)

नान्तस्योपधाया दीर्घो नामि। पञ्चानाम्। पञ्चसु।

नोपधाया इति—नान्त की उपधा को दीर्घ हो नाम् परे रहते।

'पञ्चन् नाम्' यहाँ पर नाम् परे होने से पञ्चन् के उपाधाभूत अकार को दीर्घ हो गया और हलादि विभक्ति (नाम्) परे रहने से 'पञ्चान्' की 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' सूत्र से पदसंज्ञा हो गई। तब प्रातिपदिकसंज्ञक पद 'पञ्चान्' के अन्त्यावयव होने से नकार का 'न लोपः०' सूत्र से लोप हुआ। तब 'पञ्चानाम्' रूप सिद्ध हुआ।

सम्पूर्ण प्रक्रिया इस प्रकार है-

पञ्चन् आम्-पञ्चन् नुट् आम्-पञ्चन् न् आम्-पञ्चन् नाम्- पञ्चान् नाम्-पञ्चानाम्।

विभक्ति	बहु०	विभ०	बहु०
प्र०	पञ्च	द्वि०	पञ्च
तृ०	पञ्चभिः	च०	पञ्चभ्यः
पं०	पञ्चभ्यः	ष०	पञ्चानाम्
सं०	पञ्चसु		

अष्टन् (आठ) शब्द

२९९. [६]**अष्टन आ**[१] **विभक्तौ**[७] **(७/२/८४)**

अष्टन आत्वं हलादौ वा स्यात्।

अष्टन इति—अष्टन् अङ्ग को आकार हो हलादि विभक्ति परे रहते विकल्प से।

यह आकारादेश अन्त्य नकार को होगा। यद्यपि सूत्र में विकल्प का निर्देश नहीं किया गया है, फिर भी वरदराज ने 'अष्टाभ्य औश्' सूत्र से 'जस्' व 'शस्' में आत्व की स्थिति को वैकल्पिक माना है अन्यथा 'अष्टाभ्य औश्' के स्थान पर 'अष्टभ्य औश्' के पाठ से भी काम चल सकता था। अपि च, 'अष्टनो दीर्घात्'[१] सूत्र में 'दीर्घात्' पद विकल्प की स्थिति का द्योतक हैं।

३००. [५]**'अष्टाभ्य औश्**[१] **(७/१/२१)**

कृताऽऽकाराद् अष्टनो जश्शसोरौश्। 'अष्टाभ्यः' इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोर्विषये आत्वं ज्ञापयति। अष्टौ। अष्टौ। अष्टाभिः। अष्टाभ्यः। अष्टाभ्यः। अष्टानाम्। अष्टासु। आत्वाभावे-अष्ट पञ्चवत्। (इति नकारान्ताः)।

अष्टाभ्य इति-कृताऽऽकार (जिसको 'आकार' किया गया हो) अष्टन् शब्द से परे 'जस्' और 'शस्' को 'औश्' आदेश हो।

'औश्' में 'श' इत् है। शित् आदेश 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' सूत्र से सम्पूर्ण स्थानी के स्थान में होता है।

यहाँ पर शङ्का होती है कि प्रकृत सूत्र से हलादि विभक्तियों में अष्टन् को आकार अन्तादेश होने का विधान किया गया है। जस् और शस् के अजादि होने के कारण 'अष्टन्' को आकार आदेश नहीं हो सकता तो पुनः उससे परे जस् और शस् के स्थान पर औश् विधान कैसे सम्भव हो सकता है। उत्तर यह है कि यदि अष्टन् शब्द से परे केवल जस् और शस् को औश् विधान करना होता तो पाणिनि 'अष्टाभ्य औश्' सूत्र में 'अष्टभ्यः' ऐसा लिखते। किन्तु मुनि के ऐसा न कर 'अष्टाभ्यः' लिखने से ज्ञापित होता है कि आचार्य आत्व किए हुए 'अष्टन्' शब्द की ओर सङ्केत कर रहे हैं। स्पष्ट है कि जस् और शस् परे रहते 'अष्टन्' शब्द को आत्व होता है। अतः जिस पक्ष में यह आत्व होगा उस पक्ष में 'जस्' व शस् को उक्त 'औश्' आदेश भी होगा।

'अष्टन्' से जस् और शस् परे रहते सब से पहले आत्व और 'अकः सवर्णे दीर्घः'

---

१. वै० सि० कौ० में भट्टोजि लिखते हैं (द्र० सूत्र ३७२— वैकल्पिकं चेदमष्टन आत्वम् 'अष्टनो दीर्घात्' इति सूत्रे दीर्घग्रहणाज्ज्ञापकात्।) कि 'अष्टन आ विभक्तौ' सूत्र के द्वारा यदि नित्य आत्व होता तो 'अष्टनो दीर्घात्' इस सूत्र में 'दीर्घात्' इस विशेषण का पाठ व्यर्थ हो जाता। अतः 'अष्टनो दीर्घात्' सूत्र का पाठ ज्ञापित करता है कि 'अष्टन आ विभक्तौ' सूत्र के द्वारा विहित आत्व वैकल्पिक होता है।

से सवर्ण दीर्घ हुआ। तब जस् और शस् को औश् आदेश और 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि होकर 'अष्टौ' रूप बना।

'अष्टन् भिस्'-यहाँ हलादि विभक्ति परे रहते 'अष्टन आ०' सूत्र के द्वारा आकार अन्तादेश हुआ। तब विसर्गादि कार्य होकर 'अष्टाभिः' बन गया।

'अष्टन् आम्'-यहाँ 'ष्णान्ता षट्' के द्वारा षट् संज्ञा तथा 'षट्चतुर्भ्यः' के द्वारा 'नुट्' आगम। आत्व हुआ। नकार का लोप। अष्टन् आम्-अष्टन् नुट्आम्-अष्टानाम्।

आत्व के अभाव पक्ष में- अष्टन् जस्-अष्ट। इसी प्रकार नकार लोप होकर 'अष्टभि':।

आत्व पक्ष में	**आत्व अभाव पक्ष में**
अष्टौ, अष्टौ, अष्टाभिः, अष्टभिः, अष्टाभ्यः, अष्टाभ्यः, अष्टानाम्, अष्टासु	अष्ट, अष्ट, अष्टभ्यः, अष्टभ्यः, अष्टानाम्, अष्टसु

३०१. [६]**ऋत्विग्-दधृक्-स्रग्-दिग्-उष्णिग्-अञ्चु-युजि-क्रुञ्चां च (३/२/५९)**

एभ्यः क्विन्। अञ्चेः सुप्युपपदे युजिक्रुञ्चोः केवलयोः, क्रुञ्चेर्नलोपाभावश्च निपात्यते। कनावितौ।

ऋत्विगिति—ऋतु शब्दपूर्वक यज्, धृष्, स्रज्, दिश्, उत्पूर्वक स्निह्, अञ्चु, युजि और क्रुञ्च् धातुओं से क्विन् प्रत्यय हो।

अञ्चेरिति-अञ्चु धातु से क्विन् प्रत्यय सुबन्त उपपद रहते होता है। इसके उदाहरण-प्राङ्, प्रत्यङ् और उदङ् आदि पद हैं।

युजिक्रुञ्चोरिति—युज् और क्रुञ्च् धातुओं से जब वे उपपद रहित हों तब क्विन् प्रत्यय होता है।

क्रुञ्चेरिति—क्रुञ्च् धातु में क्विन् विधान के साथ नकार के लोप (अनिदितां हल०) अभाव का भी निपातन होता है

कनावितौ इति-क्विन् के नकार और ककार इत्संज्ञक हैं। ये क्रमशः 'हलन्त्यम्' तथा 'लशक्वतद्धिते' सूत्र के द्वारा होते हैं। इकार की इत्संज्ञा 'उपदेशेऽज०' के द्वारा होती है। शेष वकार बच गया जिसकी 'वेरपृक्तस्य' के द्वारा इत्संज्ञा होती है।

जकारान्त ऋत्विज् शब्द

३०२. [१]**कृदतिङ्**[१] **(३/१/९३)**

अत्र धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञः स्यात्।

कृदिति-इस धात्वधिकार में तिङ् से अतिरिक्त प्रत्यय की कृत् संज्ञा हो।

धातोः (३/१/९३) इस सूत्र का अधिकार चलता है। चूँकि पूर्वोक्त 'क्विन्' प्रत्यय तिङ् नहीं। अतः इसकी कृत् संज्ञा हुई।

३०३. [६]**वेरपृक्तस्य**[६] **(६/१/६५)**

अपृक्तस्य वस्य लोपः।

वेरिति—अपृक्त वकार का लोप हो।

क्विन् के अवशिष्ट वकार की 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' के द्वारा अपृक्त संज्ञा होती है। अतः उसका भी लोप हो गया। इस प्रकार क्विन् का सर्वापहार लोप हो गया।

३०४. [६]**क्विन्प्रत्ययस्य** [१]**कुः (८/२/६२)**

क्विन् प्रत्ययो यस्मात्, तस्य कवर्गोऽन्तादेशः पदान्ते। तस्यासिद्धत्वात् 'चोःकुः ८.२.३०।' इति कुत्वम्। ऋत्विक्, ऋत्विग्। ऋत्विजौ। ऋत्विग्भ्याम्।

क्विन्निति—क्विन् प्रत्यय जिस से किया गया हो, उसको पदान्त में कवर्ग अन्तादेश हो।

अस्य इति—इस सूत्र के असिद्ध होने से 'चोः कुः' सूत्र से कुत्व होता है। यद्यपि ये दोनों सूत्र त्रिपादी के ही हैं तथापि पर होने से 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' असिद्ध है। कारण कि त्रिपादी में भी परशास्त्र पूर्वशास्त्र के प्रति असिद्ध होता ही है।

यहाँ शङ्का होती है कि 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' तथा 'चोः कुः' दोनों सूत्रों का कार्यक्षेत्र एक ही है तो 'क्विन्०' सूत्र व्यर्थ हो जाता है। इस का समाधान है कि 'चोः कुः' केवल चवर्ग को ही कुत्व विधान करता है, जबकि 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' के द्वारा चवर्ग से अतिरिक्त (यथा-युङ्, प्राङ्, प्रत्यङ्, उदङ्) स्थलों पर भी कुत्व होता है।

'ऋत्विज् सु'- इस दशा में अपृक्त सकार का लोप (हल्ङ्याब्भ्यः०) हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा कुत्व (पा० ८.२.६२) प्राप्त हुआ। यह 'चोः कुः' (पा० ८/२/३०) की दृष्टि में असिद्ध है। 'चोः कुः' के द्वारा गकार हुआ तब विकल्प से चर् (वाऽवसाने) हुआ। ऋत्विग्, ऋत्विक्।

'ऋत्विज् औ'-यहां 'ऋत्विजौ' रूप बना। 'ऋत्विज् भ्याम्- यहाँ हलादि विभक्ति में 'स्वादिष्वसर्वनाम०' के द्वारा 'ऋत्विज्' की पदसंज्ञा हुई। 'चोः कुः' के द्वारा कुत्व होकर 'ऋत्विग्भ्याम्' रूप बना।

ऋत्विज् सुप्'-'स्वादिष्व सर्वनाम०' के द्वारा पद संज्ञा होने पर 'चोः कुः' के द्वारा कुत्व हो गया। ऋत्विग् सु। अब 'खरि च' के द्वारा 'चर्त्व' करके- 'ऋत्विक्सु' हो गया। 'आदेशप्रत्यययोः' के द्वारा मूर्धन्य आदेश हो कर 'ऋत्विक्षु' बन गया।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	ऋत्विक्-ग्	ऋत्विजौ	ऋत्विजः
सं०	हे ऋत्विक्-ग्	हे ऋत्विजौ	हे ऋत्विजः
द्वि०	ऋत्विजम्	ऋत्विजौ	ऋत्विजः
तृ०	ऋत्विजा	ऋत्विग्भ्याम्	ऋत्विग्भिः
च०	ऋत्विजे	ऋत्विग्भ्याम्	ऋत्विग्भ्यः
पं०	ऋत्विजः	ऋत्विग्भ्याम्	ऋत्विग्भ्यः

ष०	ऋत्विजः	ऋत्विजोः	ऋत्विजाम्
स०	ऋत्विजि	ऋत्विजोः	ऋत्विक्षु

युज् (योगी) शब्द

३०५. [६]युजेरसमासे[७] (७/१/७१)

युजेः सर्वनामस्थाने नुम् स्याद् असमासे। सुलोपः संयोगान्तलोपः। कुत्वेन नस्य ङः-युङ्। अनुस्वारपरसवर्णौ-युञ्जौ। युञ्जः। युजा। युग्भ्याम्।

युजेरिति- समास की अवस्था से भिन्न युज् धातु को 'नुम्' आगम हो, सर्वनामस्थान परे रहते।

'युज् सु'-यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा नुम् आगम हुआ। 'युन् ज् स्'। 'हल्ङ्याब्भ्यः' सूत्र के द्वारा अपृक्त सकार का लोप हो गया। अब संयोगान्त लोपः संयोगान्त के अन्त्य वर्ण जकार का लोप हो गया। युन् ज्-युन्। तक 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' के द्वारा नकार को कवर्गीय ङकार आदेश हो गया। युङ्। कुत्व होने से पूर्व 'युन्' के नकार का 'न लोपः प्रातिपदिका०' के द्वारा लोप प्राप्त है, परन्तु 'संयोगान्तस्य लोपः' सूत्र 'न लोपः प्राति०' (पा० ८.२.७) की दृष्टि में असिद्ध होने से नकार का लोप नहीं होगा।

अनुस्वार इति- 'युन् ज् औ'—इस दशा में पहले नकार को 'नश्चापदान्तस्य झलि' से अनुस्वार तथा उसे 'अनुस्वारस्य०' से परसवर्ण होता है।

'युज् औ'-यहाँ नुम् आगम हुआ। तब नुम् के नकार को अपदान्त में (नश्चापदान्तस्य०) अनुस्वार हुआ तब परसवर्ण (अनुस्वारस्य०) होकर 'युञ्जौ' रूप बना।

नश्चापदान्तस्य झलि (८/३/२४) के प्रति 'स्तोःश्चुनाः' (८.४.४०) असिद्ध है। अतः 'युन् ज् औ'- यहाँ अनुस्वार विधि से पहले नकार को श्चुत्व नहीं होता है।

सर्वनामस्थान प्रत्ययों में इसी प्रकार रूप सिद्ध होंगे। अजादि विभक्तियों में कोई कार्य नहीं होता।

हलादि विभक्तियों में 'चोः कुः' से ककार आदेश कर देने से रूप सिद्ध होते हैं। यथा—युग्भ्याम्।

'युज् सुप्'-यहाँ पद संज्ञा होकर 'चोः कुः' से कुत्व हो गया। युग् सु। तब 'खरि च' के द्वारा गकार को ककार हुआ। युक्सु। अब 'आदेशप्रत्यययोः' के द्वारा 'सु' को मूर्धन्य आदेश हुआ। युक् षु-युक्षु।

प्र०	युङ्	युञ्जौ	युञ्जः
सं०	हे युङ्	हे युञ्जौ	हे युञ्जः
द्वि०	युञ्जम्	युञ्जौ	युजः
तृ०	युजा	युग्भ्याम्	युग्भिः
च०	युजे	युग्भ्याम्	युग्भ्यः

पं०	युजः	युग्भ्याम्	युग्भ्यः
ष०	युजः	युजोः	युजाम्
स०	युजि	युजोः	युक्षु

३०६. [६]**चोः कुः**[१] (८/२/३०)

चवर्गस्य कवर्गः स्याद् झलि पदान्ते च। सुयुक्, सुयुग्। सुयुजौ। सुयुग्भ्याम्। खन्। खञ्जौ। खन्भ्याम्।

चोरिति-चवर्ग को कवर्ग हो झल् परे रहते और पदान्त में।

सुयुज् (सुयोगी) शब्द।

समास में निषेध होने से 'सुयुज्' शब्द में नुम् आगम नहीं होता।

सुयुक्, ग्—'सुयुज् स्' इस अवस्था में हल्ङ्याब्भ्यः०' से अपृक्त सकार का लोप, पदान्त होने से जकार को 'चोः कुः' से कवर्ग, अवसान होने के कारण उसको 'वाऽवसाने' सूत्र से विकल्प से ककार होकर दो रूप सिद्ध हुए।

प्र०	सुयुक्-ग्	सुयुजौ	सुयुजः
सं०	हे सुयुक्-ग्	हे सुयुजौ	हे सुयुजः
द्वि०	सुयुजम्	सुयुजौ	सुयुजः
तृ०	सुयुजा	सुयुग्भ्याम्	सुयुग्भिः
च०	सुयुजे	सुयुग्भ्याम्	सुयुग्भ्यः
पं०	सुयुजः	सुयुग्भ्याम्	सुयुग्भ्यः
ष०	सुयुजः	सुयुजोः	सुयुजाम्
स०	सुयुजि	सुयुजोः	सुयुक्षु

खञ्ज् (लंगड़ा) शब्द

'खञ्ज् सु > स्-' यहाँ 'हल्ङ्याब्भ्यः०' के द्वारा सकार का लोप हो गया। 'सुप्तिङन्तं पदम्' के अनुसार पद संज्ञक हो गया। 'संयोगान्तस्य लोपः' के द्वारा जकार का लोप। खञ्ज्-खञ्। निमित्त जकार के न रहने से तज्जन्य अनुस्वार कार्य की निवृत्ति। खन्। अब 'नलोपः०' के द्वारा नकार का लोप नहीं हो सकता, क्योंकि 'न लोपः प्राति०' (पा० ८.२.७) की दृष्टि में संयोगान्त लोप 'संयोगान्तस्य लोपः' (पा० ८.२.२७) असिद्ध है।

प्र०	खन्	खञ्जौ	खञ्जः
सं०	हे खन्	हे खञ्जौ	हे खञ्जः
द्वि०	खञ्जम्	खञ्जौ	खञ्जः
तृ०	खञ्जा	खन्भ्याम्	खन्भिः
च०	खञ्जे	खन्भ्याम्	खन्भ्यः
पं०	खञ्जः	खन्भ्याम्	खन्भ्यः

ष०	खञ्जः	खञ्जोः	खञ्जाम्
स०	खञ्जि	खञ्जोः	खन्सु

३०७. [६]व्रश्च-भ्रस्ज-सृज-मृज-यज-राज-भ्राजच्छशां षः[१] (८/२/३६)

व्रश्चादीनां सप्तानां छशान्तयोश्च षकारोऽन्तादेशः स्याज् झलि पदान्ते च। जश्त्वचर्त्वे-राट् राड्। राजौ। राजः। राड्भ्याम्। एवम्-विभ्राट्, देवेट्, विश्वसृट्।

(वा०) परौ व्रजेः षः पदान्ते।

परावुपपदे व्रजेः क्विप् स्यात् दीर्घश्च, पदान्ते षत्वमपि। परिव्राट्-ड्। परिव्राजौ।

व्रश्चेति-व्रश्च् (काटना), भ्रस्ज् (भूनना), सृज् (पैदा करना), मृज् (शुद्ध करना), यज् (यज्ञ करना), राज् और भ्राज् (दीप्तिमान्)-इन धातुओं को तथा छकारान्त व शकारान्त को षकार अन्तादेश हो, झल् परे रहते तथा पदान्त में।

राज् (दीप्तिन्,) शब्द।

'राज् सु'-'हल्ङ्याब्भ्यः-' के द्वारा सकार का लोप। राज् की पद संज्ञा हो गई। अब जकार के स्थान पर षकार हो गया। राज् स्-राज्-राष्। 'झलां जशोऽन्ते' के द्वारा षकार को उच्चारणस्थान साम्य के आधार पर डकार हो गया। राड्। 'वाऽवसाने' के द्वारा विकल्प से चर्त्व हो गया। राड्, राट्।

अजादि विभक्तियों में कोई विशेष कार्य नहीं होता है और हलादि में षकार और जश्त्व करने मात्र से रूप सिद्ध होते है। सुप् में जश्त्व (डकार) होने पर 'ङः सि धुट्' से 'धुट्' आगम विकल्प से होता है। अतः वहाँ 'राट्त्सु' और 'राट्सु' ये दो रूप बनते हैं।

प्र०	राट्-ड्	राजौ	राजः
सं०	हे राट्-ड्	हे राजौ	हे राजः
द्वि०	राजम्	राजौ	राजः
तृ०	राजा	राड्भ्याम्	राड्भिः
च०	राजे	राड्भ्याम्	राड्भ्यः
पं०	राजः	राड्भ्याम्	राड्भ्यः
ष०	राजः	राजोः	राजाम्
स०	राजि	राजोः	राट्त्सु, राट्सु

एवमिति-इसी प्रकार विभ्राज् (विशेषेण भ्राजते इति-विशेष दीप्तिमान्), देवेज् (देवान् यजतीति, देवताओं की पूजा करने वाला), विश्वसृज् (विश्वं सृजतीति, संसार को बनाने वाला, परमात्मा) शब्दों के रूप बनेंगे।

परिव्राज् (परित्यज्य सर्वं व्रजतीति, विरक्त संन्यासी) शब्द।

(वा०) परा इति-परि उपपद पूर्व रहते व्रज् धातु से क्विप् प्रत्यय हो और धातु के अकार को दीर्घ तथा पदान्त में षकार अन्तादेश भी हो।

क्विप् का सर्वापहार लोप और दीर्घ होने पर 'परिव्राज्' शब्द बना।

परिव्राट्-ड्—पहले परि पूर्वक व्रज् धातु से प्रकृत वार्तिक से क्विप् प्रत्यय और उपधा दीर्घ हुआ, क्विप् का सर्वापहार लोप होने पर 'परिव्राज्' शब्द बना। इस की कृदन्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा हुई। 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से स्वादि की उत्पत्ति होने पर 'परिव्राज् स्' इस स्थिति में अपृक्त सकार का लोप, पदान्त होने से जकार के स्थान में प्रकृत वार्तिक से षकार आदेश हुआ। परिव्राज् क्विन्। परिव्राज्। परिव्राज् सु। परिव्राज्। तब 'झलां जशोऽन्ते' के द्वारा षकार के स्थान में डकार (परिव्राड्)और उसको विकल्प से चर्त्व होकर दो रूप बनेंगे।

३०८. [६]**विश्वस्य वसुराटो:**[७] (६/३/१२७)

विश्वशब्दस्य दीर्घोऽन्तादेशः स्याद् वसौ राट् शब्दे च परे। विश्वाराट् विश्वाराड्। विश्वराजौ। विश्वाराड्भ्याम्।

विश्वस्येति-विश्व शब्द को दीर्घ अन्तादेश हो वसु और राट् शब्द परे रहते।

विश्वराज् (संसार का स्वामी) शब्द।

'राट्' शब्द पदान्त का उपलक्षण है। व्रश्चभ्रस्जसृजमृज० के द्वारा जकार को षकार और उसको जश्त्व डकार तथा डकार को चर् (टकार) होकर 'राट्' पदान्त में ही बनता है। अतः हलादि विभक्तियों में पदान्त होने से दीर्घ होगा, अजादि में नहीं।

प्र०	विश्वाराट्-ड्	विश्वराजौ	विश्वराजः
सं०	हे विश्वाराट्-ड्	हे विश्वराजौ	हे विश्वराजः
द्वि०	विश्वराजम्	विश्वराजौ	विश्वराजः
तृ०	विश्वराजा	विश्वाराड्भ्याम्	विश्वाराड्भिः
च०	विश्वराजे	विश्वाराड्भ्याम्	विश्वाराड्भ्यः
पं०	विश्वराजः	विश्वाराड्भ्याम्	विश्वाराड्भ्यः
ष०	विश्वराजः	विश्वराजोः	विश्वराजाम्
स०	विश्वराजि	विश्वराजोः	विश्वाराट्त्सु, विश्वाराट्सु

भृस्ज् (भडभूजा) शब्द।

३०९. [६]**स्कोः संयोगाद्योरन्ते**[७] **च** (८/२/२९)

पदान्ते झलि च परे यः संयोगः तदाद्योः स्कोर्लोपः। भृट्, भृड्। सस्य श्चुत्वेन शः, 'झलां जश् झशि' इति शस्य जः-भृज्जौ। भृड्भ्याम्। इति जकारान्ताः।

स्कोरिति-पदान्त में या झल् परे रहते जो संयोग उसके आदि सकार और ककार का लोप हो।

'भृस् ज् स्' इस दशा में 'हल्ङ्याब्भ्यः०' सूत्र से अपृक्त सकार का लोप होने पर पदान्त बन जाने से 'संयोगान्तस्य लोपः' से संयोगान्त पद के अन्त्य जकार का लोप

प्राप्त हुआ। इसे प्रकृत सूत्र ने बाध दिया और सकार का लोप हुआ। भृज्। तब 'व्रश्च भ्रस्ज्०' के द्वारा षकार हो गया। भृष्। अब 'झलां जशोऽन्ते' के द्वारा जश् (डकार) हुआ। भृड्। 'वाऽवसाने' के द्वारा विकल्प से टकार हुआ। भृड्, भृट्।

सस्येति-सकार के स्थान में श्चुत्व के द्वारा शकार हो गया। तब 'झलां जश् झशि' के द्वारा शकार के स्थान पर जकार हुआ।

'भृस्ज् औ'-सर्वप्रथम सकार को चवर्ग (जकार) के साथ योग होने से 'स्तोः श्चुना श्चुः' के द्वारा श्चुत्व (शकार) हो गया। तब 'झलां जश् झशि' के द्वारा शकार के स्थान पर जकार हो गया। भृश्ज् औ-भृज्ज् औ- भृज्जौ।

सभी अजादि विभक्तियों में श्चुत्व तथा जश्त्व कार्य होंगे। हलादि विभक्तियों में 'सु' की तरह सकार का लोप, जकार को मूर्धन्य आदेश, जश्त्व आदेश आदि कार्य होते हैं।

प्र०	भृट्-भृड्	भृज्जौ	भृज्जः
सं०	हे भृट्-भृड्	हे भृज्जौ	हे भृज्जः
द्वि०	भृज्जम्	भृज्जौ	भृज्जः
तृ०	भृज्जा	भृड्भ्याम्	भृड्भिः
च०	भृज्जे	भृड्भ्याम्	भृड्भ्यः
पं०	भृज्जः	भृड्भ्याम्	भृड्भ्यः
ष०	भृज्जः	भृज्जोः	भृज्जाम्
स०	भृज्जि	भृज्जोः	भृट्त्सु-भृट्सु

दकारान्त शब्द

त्यद् (वह), तद् (वह), यद् (जो), एतद् (यह) शब्द।

३१०. [६]**तदोः सः**[१] [७]**सावनन्त्ययोः**[६] (७/२/१०६)

त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात् सौ। स्यः, त्यौ, त्ये। सः, तौ, ते। यः, यौ, ये। एषः एतौ, एते, (एतम्। अन्वादेशे-एनम्, एनौ, एनान्, एनेन एनयोः।)

तदोरिति—त्यद् आदियों के अनन्त्य तकार और दकार को सकार हो, सु परे रहते। अनन्त्य का अर्थ है जो अन्त में नहीं है। 'त्यद् स्' इस दशा में सबसे पहले 'त्यदादीनामः' सूत्र से दकार को अकार हुआ। 'अतो गुणे' सूत्र से पूर्व अकार को पररूप एकादेश होकर 'त्य स्' यह स्थिति बनी, प्रकृत सूत्र से आदि तकार को सकार हुआ और प्रत्यय सकार को रु और रकार को विसर्ग। 'स्यः'।

त्यद्, तद्, यद् और एतद् इन चारों शब्दों में विभक्ति आने पर 'त्यदादीनामः' से दकार को अकार आदेश होता है। पूर्व पर दोनों अकारों के स्थान में 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश होकर क्रमशः त्य, त, य, और एत-इस रूप में अकारान्त बन जाते हैं। छात्रों को इतना कार्य सभी विभक्तियों में कर लेना चाहिए। इसके पश्चात् विभक्ति कार्य करने चाहिए।

तद्

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सः	तौ	ते
द्वि०	तम्	तौ	तान्
तृ०	तेन	ताभ्याम्	तैः
च०	तस्मै	ताभ्याम्	तेभ्यः
पं०	तस्मात्	ताभ्याम्	तेभ्यः
ष०	तस्य	तयोः	तेषाम्
स०	तस्मिन्	तयोः	तेषु

यद्

प्र०	यः	यौ	ये
द्वि०	यम्	यौ	यान्
तृ०	येन	याभ्याम्	यैः
च०	यस्मै	याभ्याम्	येभ्यः
पं०	यस्मात्	याभ्याम्	येभ्यः
ष०	यस्य	ययोः	येषाम्
स०	यस्मिन्	ययोः	येषु

एतद्

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	एषः	एतौ	एते
द्वि०	एतम्	एतौ	एतान्
तृ०	एतेन	एताभ्याम्	एतैः
च०	एतस्मै	एताभ्याम्	एतेभ्यः
पं०	एतस्मात्	एताभ्याम्	एतेभ्यः
ष०	एतस्य	एतयोः	एतेषाम्
स०	एतस्मिन्	एतयोः	एतेषु

अन्वादेश इति—'एतद्' शब्द को अन्वादेश में 'द्वितीया०' सूत्र से 'एन' आदेश होकर द्वि० में- एनम्, एनौ, एनान्, टा में- एनेन, ओस् में— एनयोः—ये रूप 'इदम्' शब्द के समान ही बनते हैं।

युष्मद् (तू), अस्मद् (मैं) शब्द।

इन दोनों शब्दों की रूप सिद्धि एकसमान है। अतः दोनों के रूप साथ साथ सिद्ध किये जाते हैं।

३११. **ङे-प्रथमयोरम्**[१] (७/१/२८)

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य 'ङे' इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चाऽमादेशः।

ङ इति— 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्दों से परे 'ङे' और प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के स्थान पर 'अम्' आदेश होता है।

३१२. त्वाऽहौ[१] सौ[७] (७/२/९४)

अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाऽहौ आदेशौ स्तः (सौ परे।)

त्वाऽहा इति-युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त (युष्म् और अस्म्) भाग को क्रम से 'त्व' और 'अह' आदेश हों, सु परे रहते।

३१३. [७]शेषे लोपः[१] (७/२/९०)

एतयोष्टिलोपः। त्वम्। अहम्।

शेष इति— शेष (अर्थात् आत्व और यत्व की निमित्त विभक्ति से भिन्न) विभक्ति परे रहते इनकी 'टि' का लोप हो।

'युष्मद् सु'-यहाँ 'ङे प्रथमयोरम्' सूत्र के द्वारा 'अम्' आदेश हो गया। युष्मद् अम्। तब 'त्वाऽऽहौ सौ' के द्वारा सु विभक्ति में युष्मद् के 'युष्म्' भाग को त्व आदेश हो गया। त्व अद् अम्। 'अकः सवर्णे दीर्घः' से प्राप्त दीर्घादेश को बाधकर 'अतो गुणे' के द्वारा पररूप हो गया। त्वद् अम्। 'शेषे लोपः' के द्वारा टि का लोप होकर त्वद् अम्-त्व् अम्-त्वम् सिद्ध हो गया।

इसी प्रकार 'अस्मद् सु'-में समस्त प्रक्रिया पूर्ववत् होगी। अस्मद् अम्-अहअद् अम्- अहद् अम्-अह् अम्- अहम्।

आत्व की निमित्त विभक्तियाँ-औ, द्वितीया और आदेश रहित हलादि।

यत्व की निमित्त ये हैं-आदेश रहित अजादि विभक्तियाँ।

३१४. युवाऽऽवौ[१] द्विवचने[७] (७/२/९२)

द्वयोरुक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ।

युवेति-विभक्ति परे रहते द्वित्व संख्या के वाचक युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त (युष्म्, अस्म्) भाग को क्रम से 'युव' और 'आव' आदेश हों।

इससे सभी द्विवचनों में 'युव' और 'आव' आदेश हो जायेंगे। औ, औट् तीनों 'भ्याम्' और दोनों ओस् में यह सूत्र कार्य करता है।

३१५. [६]प्रथमायाश्च द्विवचने[७] भाषायाम्[७] (७/२/८८)

औङ्येतयोरात्वं लोके। युवाम्। आवाम्।

प्रथमाया इति—औङ् परे रहते युष्मद् और अस्मद् शब्दों को आकार अन्तादेश हो लोक में।

'प्रथमायाश्च०' सूत्र आत्व विधायक है। 'युष्मद् औ' यहाँ 'ङेप्रथमयोरम्' के द्वारा औ को 'अम्' आदेश हो गया। युष्मद् अम्। अब 'युवाऽऽवौ द्विवचने' के द्वारा 'युव' आदेश हो गया। युव अद् अम्। 'अतो गुणे' से पर रूप हो गया। युवद् अम्।

'प्रथमायाश्च—' के द्वारा आकार अन्त्यादेश हो गया। युव आ अम्। 'अकः सवर्णे दीर्घः' के द्वारा युवा अम्-युवाम् बन गया।

'अस्मद् औ'-पूर्ववत् प्रक्रिया होगी। अस्मद् अम्-आव अद् अम्-आवद् अम्-आवआ अम्-आवा अम्- आवाम्।

३१६. [१]यूय-वयौ [७]जसि (७/२/९३)

अनयोर्मपर्यन्तस्य (यूयवयौ स्तो जसि।) यूयम्। वयम्।

यूयति—जस् परे रहते इनके (अर्थात् युष्मद् व अस्मद् के) मपर्यन्त भाग को 'यूय' और 'वय' आदेश हों।

'युष्मद् जस्' 'ङे प्रथमयोरम्' के द्वारा 'अम्' आदेश। तब 'यूयवयौ०' के द्वारा 'यूय' आदेश हो गया। युष्मद् अम्-यूय अद् अम्-पररूप होकर- यूयद् अम्। 'शेषे लोपः' से टि का लोप होकर 'यूय् अम्'- 'यूयम्' बन गया। 'अस्मद् जस्'- पूर्ववत् क्रिया जानें। अस्मद् अम्-वय अद् अम्- वयद् अम्- वय् अम्- वयम्।

३१७. [१]त्व-मावेकवचने[७] (७/२/९७)

एकस्योक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ।

त्वमाविति—विभक्ति परे रहते युष्मद् तथा अस्मद् के मपर्यन्त भाग को 'त्व' और 'म' आदेश हों एकवचन में।

'युष्मद् अम्'-सर्वप्रथम अमादेश हुआ। तब 'त्वमावेकवचने०' के द्वारा 'त्व' आदेश हुआ। त्व अद् अम्। पररूप होकर-त्वद् अम्।

३१८. [७]द्वितीयायां चँ (७/२/८७)

अनयोरात् स्यात्। त्वाम्। माम्।

द्वितीयायामिति—द्वितीया विभक्ति परे रहते युष्मद् और अस्मद् शब्द को आकार अन्तादेश हो।

यह सूत्र भी आत्व विधायक है। त्वद् अम्- यहाँ 'द्वितीयायां च' के द्वारा आकार अन्तादेश हो गया। त्व आ अम्। 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ होकर 'त्वाम्' बन गया।

'अस्मद् अम्'-यहाँ पूर्ववत् क्रिया होगी। म अद् अम्-मद् अम्-म आ अम्-माम्।

द्वितीया के द्विवचन में प्रथमा के समान—युवाम्, आवाम् रूप बनेंगे।

३१९. [६]शसो न[१] (७/१/२९)

आभ्यां शसो न स्यात्। अमोऽपवादः। आदेः परस्य। संयोगान्तलोपः।युष्मान्। अस्मान्।

शस इति—युष्मद् और अस्मद् शब्द से परे शस् को नकार आदेश हो।

अम इति-यह नकार आदेश 'ङेप्रथमयोः' सूत्र से प्राप्त 'अम्' आदेश का अपवाद है। पर को विहित होने से यह नकारादेश 'आदेः परस्य' सूत्र के बल पर इस के आदि

को होगा।

'युष्मद् शस् > अस्'- यहाँ 'शसो नः' के द्वारा 'शस्' के अकार को नकार हो गया। युष्मद् न् स्। 'द्वितीयायां च' के द्वारा आकारादेश हो गया। युष्म आ न् स्। 'अकः सवर्णे दीर्घः' के द्वारा दीर्घ हो गया। युष्मान् स्। 'संयोगान्तस्य लोपः' के द्वारा सकार का लोप हो गया। युष्मान्।

इसी प्रकार अस्मद् शस्-अस्मद् न् स्-अस्म आ न् स्- अस्मान् स्-अस्मान्।

३२०. [१]योऽचि[७] (७/२/८९)

अनयोर्यकारादेशः स्यादनादेशेऽजादौ परतः। त्वया। मया।

योऽचीति—अनादेश अजादि विभक्ति परे रहते युष्मद् और अस्मद् शब्दों को यकार आदेश हो।

यह यत्व विधायक सूत्र है। अनादेश का अर्थ है जिसको कुछ आदेश न हुआ हो तथा अजादि का अर्थ है- जिस के आदि में कोई स्वर हो। ध्यान रहे कि जहाँ कोई आदेश होकर विभक्ति अजादि होगी तो वहाँ यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा। यथा- युष्मत् तथा अस्मद् आदि रूपों में 'भ्यस्' के स्थान पर अत् आदेश (पञ्चम्या अत्) होकर अजादि विभक्ति प्राप्त होती है। परन्तु आदेश होने के कारण यहाँ पर इस सूत्र की प्रवृत्ति (यकारादेश) नहीं होगी।

'युष्मद् टा'- यहाँ 'त्वमा०' के द्वारा 'त्व' आदेश हो गया। त्व अद् आ। पररूप होकर-त्वद्आ, हो गया। अब प्रकृत सूत्र के द्वारा यकार आदेश हो गया। त्वय् आ-त्वया।

'अस्मद् टा'- अस्मद् आ-मअद् आ-मद्आ-मय् आ-मया।

३२१. [६]युष्मदस्मदोरनादेशे[७] (७/२/८६)

अनयोरात् स्याद् अनादेशे हलादौ विभक्तौ। युवाभ्याम्। आवाभ्याम्। युष्माभिः। अस्माभिः।

युष्मदिति—अनादेश हलादि विभक्ति परे रहते युष्मद् और अस्मद् अङ्ग को आकार आदेश हो।

युष्मद्भ्याम्- 'युवावौ०' के द्वारा 'युवअद्भ्याम्'। पररूप होकर 'युवद्भ्याम्'। प्रकृत सूत्र के द्वारा आकार आदेश तथा सवर्ण दीर्घ हो गया। युव आ भ्याम्- युवाभ्याम्।

अस्मद्भ्याम्-आव अद्भ्याम्-आवद्भ्याम्- आव आ भ्याम्- आवाभ्याम्

'युष्मद् भिस्'-दकार को आकार हो गया। युष्म आ भिस्-युष्माभिस्-युष्माभिः।

अस्मद् भिस्-अस्म आ भिस्- अस्माभिस्-अस्माभिः।

३२२. तुभ्यमह्यौ ङयि (७/२/९५)

अनयोर्मपर्यन्तस्य तुभ्यमह्यौ स्तो ङयि। टिलोपः। तुभ्यम्। मह्यम्।

तुभ्येति-ङे परे रहते (युष्मद् तथा अस्मद् के) मपर्यन्त भाग को 'तुभ्य' और 'मह्य' आदेश हों।

'युष्मद् ङे'-'ङे प्रथमयोरम्' के द्वारा 'ङे' को अम् आदेश। 'तुभ्यमह्यौ०' के द्वारा 'तुभ्य' आदेश हो गया। युष्मद् अम्। तुभ्य अद् अम्। 'अतो गुणे' से पररूप हो गया। तुभ्यद् अम्। 'शेषे लोपः' के द्वारा टि का लोप हो गया। तुभ्य् अम्-तुभ्यम्।

अस्मद् ङे-अस्मद् अम्-मह्यअद्अम्- मह्यद् अम्-मह्य् अम्-मह्यम्।

३२३. [६]भ्यसोऽभ्यम्[१] (७/१/३०)

आभ्यां परस्य (भ्यसो अभ्यम् आदेशः।) युष्मभ्यम्। अस्मभ्यम्।

भ्यस इति-युष्मद् और अस्मद् से परे 'भ्यस्' को 'अभ्यम्' आदेश हो।

'युष्मद् भ्यस्'- 'भ्यसोऽभ्यम्' के द्वारा 'अभ्यम्' आदेश हो गया। 'शेषे लोपः' से टि का लोप हो गया। युष्मद् अभ्यम्-युष्म् अभ्यम्-युष्मभ्यम्।

इसी प्रकार 'अस्मभ्यम्'।

३२४. [६]एकवचनस्य च (७/१/३२)

आभ्यां ङसेरत्। त्वत्। मत्।

एकवचनस्येति-(युष्मद् और अस्मद्) इन दोनों से परवर्त्ती 'ङस्' को अत् आदेश हो।

'युष्मद् ङसि'- 'त्वमावेकवचन०' के द्वारा 'त्व अद् ङसि' हो गया। पररूप होकर 'एकवचनस्य च' के द्वारा 'अत्' आदेश हो गया। त्वद् ङसि। त्वद् अत्। 'शेषे लोपः' से टि का लोप हो गया। त्व् अत्-त्वत्।

'अस्मद् ङसि'-पूर्ववत् प्रक्रिया समझें। म अद् ङसि-मद् ङसि-मद् अत्-म् अत्-मत्।

३२५. [६]पञ्चम्या अत्[१] (७/१/३१)

आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत् स्यात्। युष्मत्। अस्मत्।

पञ्चम्या इति--युष्मद् और अस्मद् से परे पञ्चमी के 'भ्यस्' को 'अत्' आदेश हो।

पञ्चमी के बहुवचन में 'युष्मद् भ्यस्' इस दशा में 'भ्यस्' को 'अत्' आदेश हुआ। तब 'शेषे लोपः' के द्वारा टि (अद्) का लोप होकर 'युष्मत्' रूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार 'अस्मत्' बनेगा

यहाँ 'भ्यस्' को अत् आदेश हो गया। तब अनादेश विभक्ति न मिलने के कारण 'आत्व' नहीं हुआ। आत्व निमित्तक विभक्ति न होने से 'शेषे लोपः' से टि का लोप हुआ। तब रूप बना।

इसी प्रकार 'अस्मद् भ्यस्'-प्रकृत सूत्र के द्वारा 'अत्' आदेश हो गया। पूर्ववत् प्रक्रिया होकर 'अस्मत्' रूप सिद्ध हो गया। अस्मद् अत्-अस्म् अत्-अस्मत्।

३२६. [१]तवममौ ङसि[७] (७/२/९६)

अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि।

तवममाविति—ङस् परे रहते युष्मद् और अस्मद् के मपर्यन्त भाग को 'तव' और 'मम' आदेश हों।

'युष्यद् ङस्'-यहाँ 'तवममौ-' के द्वारा 'तव' आदेश हो गया। पररूप होकर 'तव अद् ङस्-तवद् ङस्' हो गया।

३२७. [५]युष्मदस्मद्भ्यां [६]ङसोऽश्[१] (७/१/२७)

(युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङसोऽशादेशः स्यात्)। तव। मम। युवयोः। आवयोः।

युष्मदिति-युष्मद् और अस्मद् शब्दों से ङस् को 'अश्' आदेश हो।

'अश्' का शकार इत् है। 'अश्' शित् होने से 'अनेकाल् शित्—' के द्वारा सम्पूर्ण के स्थान पर होगा।

'युष्मद् ङस्' में 'तवममौ०' से 'तव' आदेश, पररूप हो गया। 'तवद् ङस्' प्रकृत सूत्र के द्वारा 'अश्' आदेश। तवद् अश्-तवद् अ। अब 'शेषे लोपः' के द्वारा 'टि' का लोप हो गया। तव् अ-तव।

इसी प्रकार अस्मद् ङस्-मम।

'युष्मद् ओस्'- 'युवावौ०' के द्वारा 'युव' आदेश, पररूप आदि होकर। युव अद् ओस्। अनादेश अजादि विभक्ति परे रहते 'योऽचि' के द्वारा दकार को यकार आदेश हो गया। युवद् ओस्-युवय् ओस्-युवयोः।

इसी प्रकार 'अस्मद् ओस्' में समग्र प्रक्रिया पूर्ववत् होकर 'आवयोः बनेगा।

३२८. [६]साम आकम्[१] (७/१/३३)

आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात्। युष्माकम्। अस्माकम्। त्वयि। मयि। युवयोः। आवयोः। युष्मासु। अस्मासु।

साम इति—युष्मद् और अस्मद् से परे 'साम्' को 'आकम्' आदेश हो।

'आम्' को सुट् आगम होने से 'साम्' बनता है अतः 'साम्' का तात्पर्य है-आम्। सुट् सहित 'आम्' को 'आकम्' आदेश का इसमें विधान है। चूँकि 'युष्मद्' और 'अस्मद्' शब्द हलन्त हैं। अतः इनसे परे 'आम्' को सुट् की प्राप्ति नहीं। अतः सूत्र में 'साम्' यह सकार सहित पढना व्यर्थ है। इसका समाधान यह है कि यदि 'आम्' को ही 'आकम्' कर दिया जाय तो 'शेषे लोपः' से अन्त्यलोप पक्ष में दकार का लोप होगा तथा ये शब्द अकारान्त बन जायेंगे और 'सुट्' की प्राप्ति होगी। उस (भावी) सुट् की निवृत्ति के लिए सुट् विशिष्ट 'आम्' को 'आकम्' का विधान किया है। अतः 'आकम्' होने के अनन्तर सुट् नहीं होता।

'शेषे लोपः' सूत्र के अर्थ के विषय में दो पक्ष हैं। एक पक्ष के अनुसार अन्त्य का

लोप होता है। इसे ही अन्त्यलोप पक्ष कहते हैं। उनके अनुसार 'आत्वयत्वनिमित्तेतर-विभक्तौ एतयोरन्त्यस्य लोपः' है। दूसरा पक्ष टिलोप पक्ष कहलाता है। इसके अनुसार मपर्यन्त भाग से अवशिष्ट भाग अर्थात् टि (अद्) का लोप होता है। 'शेषे इति षष्ठ्यर्थे सप्तमी तथा च मपर्यन्ताच्छेषस्य लोपः'। अन्त्यलोप पक्ष में ही अकारान्त बन जाने से सुट् की प्राप्ति होती है। उसी भावी सुट् के निवारण के लिए 'साम्' कहा गया है। टिलोप पक्ष में ये हलन्त ही रहते हैं। अतः वहाँ सुट् सहित निर्देश की आवश्यकता नहीं।

'युष्मद् आम्'-यहाँ 'आम्' को 'आकम्' आदेश हुआ 'शेषे लोपः' के द्वारा अन्त्य लोप हुआ। तब 'युष्म आकम्' इस स्थिति में सवर्ण दीर्घ होकर 'युष्माकम्' बना। टिलोप पक्ष में 'युष्म् आकम्-युष्माकम्' रूप बनेगा।

इसी प्रकार 'अस्माकम्' बन गया।

'युष्मद् ङि'- यहाँ 'त्वमावेकवच०' के द्वारा 'त्व' आदेश हुआ। त्व अद् इ। 'अतो गुणे' के द्वारा पररूप हुआ। 'योऽचि' के द्वारा यकार आदेश होकर 'त्वयि' रूप बना।

'अस्मद् ङि'-यहाँ 'मयि' रूप बना।

सुप् में 'युष्मदस्मदो-' के द्वारा दकार को आकार आदेश होगा। तब सवर्ण दीर्घ होकर 'युष्मासु' तथा 'अस्मासु' रूप बनेंगे।

३२९. [६]**युष्मदस्मदोः** [६]**षष्ठी-चतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनावौ**[१] (८/१/२०)

पदात्परयोरपादादौ स्थितयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोः युष्मदस्मदोः 'वाम्' 'नौ' इत्यादेशौ स्तः।

युष्मदिति— किसी पद से पर षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया विभक्तियों से युक्त युष्मद् और अस्मद् शब्दों को क्रमशः 'वाम्' तथा 'नौ' आदेश होते हैं, परन्तु ये पाद के प्रारम्भ में न हों।

३३०. [६]**बहुवचनस्य वस्नसौ**[१] (८/१/२१)

उक्तविधयोरनयोः षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्तः।

बहुव०-पद से पर, जो पाद के आदि में नहीं है, ऐसे षष्ठी आदि बहुवचनान्त युष्मद् और अस्मद् शब्दों को क्रमशः 'वस्' तथा 'नस्' हों।

सभी विभक्तियों के द्विवचन में पूर्वसूत्र के द्वारा वाम् तथा नौ होते हैं तथा बहुवचन में प्रकृतसूत्र के द्वारा वस् और नस् होते हैं।

३३१. [१]**तेमयावेकवचनस्य**[६] (८/१/२२)

उक्तविधयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोस्ते मे एतौ स्तः।

तेमया इति-पद से पर, जो पाद के आदि में नहीं है, ऐसे षष्ठ्यादि के एकवचनान्त युष्मद् तथा अस्मद् को क्रमशः 'ते' तथा 'मे' आदेश हों।

३३२. [१]त्वामौ द्वितीयायाः[६] (८/१/२३)

द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा इत्यादेशौ स्तः।

श्रीशस्त्वाऽवतु माऽपीह दत्तात् ते मेऽपि शर्म सः।
स्वामी ते मेऽपि स हरिः पातु वामपि नौ विभुः॥
सुखं वां नौ ददात्वीशः, पतिर्वामपि नौ हरिः।
सोऽव्याद् वो नः शिवं वो नो दद्यात् सेव्योऽत्र वः स नः॥

(वा०) समानवाक्ये युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः।

एकतिङ् वाक्यम्। तेनेह न–ओदनं पच, तव भविष्यति। इह तु स्यादेव–शालीनां ते ओदनं दास्यामि।

(वा०) एते वांनावादयोऽनन्वादेशे वा वक्तव्याः।

अन्वादेशे तु नित्यं स्युः। (अनन्वादेशे) धाता ते भक्तोऽस्ति, धाता तव भक्तोऽस्ति वा। (अन्वादेशे) तस्मै ते नमः इत्येव। सुपात्, सुपाद्। सुपादौ।

त्वामा इति- (पूर्वोक्त दशा में) द्वितीया के एकवचन में युष्मद् व अस्मद् को क्रमशः 'त्वा' तथा 'मा' आदेश हों।

श्लोकों का हिन्दी अर्थ

श्रीश इति- इस संसार में लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु तुम्हें पाले (रक्षा करे) तथा मुझे भी। वह तेरे लिये तथा मेरे लिये कल्याण को देवे। वह भगवान् विष्णु तुम्हारा और मेरा भी स्वामी है। व्यापक भगवान् तुम दो की तथा हम दो की भी रक्षा करे ॥१॥ सर्वशक्तिमान् परमात्मा तुम दो के लिए तथा हम दो के लिए सुख देवे। भगवान् तुम दो का तथा हम दो का भी स्वामी है। वह भगवान् तुम सब की तथा हम सब की रक्षा करे और तुम सब के लिए तथा हम सबके लिए कल्याण देवे। इस संसार में वह भगवान् तुम सबका तथा हम सब का सेवनीय है।

श्लोकों में आदेश रेखाङ्कित हैं।

एकेति-युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर होने वाले आदेश (वाम्, नौ आदि) एक वाक्य में ही होते हैं। जिसमें एक तिङन्त पद रहता है, उसे वाक्य कहते हैं अर्थात् एक मुख्य क्रिया वाले शब्द समूह को वाक्य कहते हैं। यथा- 'ओदनं पच, तव भविष्यति'-यहाँ दो वाक्य होने के कारण प्रस्तुत वार्तिक से 'तव' के स्थान पर 'ते' नहीं हुआ। एक वाक्य का उदाहरण है- 'शालीनां ते ओदनं दास्यामि।' अतः यहाँ 'तुभ्यं' के स्थान पर 'ते' आदेश हो जाता है।

एत इति-अन्वादेश न होने पर पूर्वोक्त (वाम् इत्यादि) आदेश विकल्प से होते हैं। अन्वादेश के विषय में नित्य हों। यथा-'धाता ते भक्तोऽस्ति'-में अन्वादेश नहीं है, अतः इसके स्थान पर 'धाता तव भक्तोऽस्ति' इस प्रकार वैकल्पिक रूप हो सकता है।

अन्वादेश होने पर ये आदेश नित्य होगा। यथा- 'तस्मै ते नमः' में अन्वादेश होने के कारण 'तुभ्यम्' के स्थान पर नित्य 'ते' आदेश होगा।

युष्मद्

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	त्वम्	युवाम्	यूयम्
द्वि०	त्वाम्	युवाम्	युष्मान्
	त्वा	वाम्	वः
तृ०	त्वया	युवाभ्याम्	युष्माभिः
च०	तुभ्यम्	युवाभ्याम्	युष्मभ्यम्
	ते	वाम्	वः
पं०	त्वत्	युवाभ्याम्	युष्मत्
ष०	तव	युवयोः	युष्माकम्
	ते	वाम्	वः
स०	त्वयि	युवयोः	युष्मासु

अस्मद्

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	अहम्	आवाम्	वयम्
द्वि०	माम्	आवाम्	अस्मान्
	मा	नौ	नः
तृ०	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
च०	मह्यम्	आवाभ्याम्	अस्मभ्यम्
	मे	नौ	नः
पं०	मत्	आवाभ्याम्	अस्मत्
ष०	मम	आवयोः	अस्माकम्
	मे	नौ	नः
स०	मयि	आवयोः	अस्मासु

सुपाद् (सुन्दर पैरों वाला) शब्द।

३३३. [६]पादः पत्[१] (६/४/१३०)

पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः। सुपदः। सुपदा सुपाद्भ्याम्। (इति दकारान्ताः)। अग्निमत्, अग्निमद्। अग्निमथौ। अग्निमथः (इति थकारान्ताः)।

पाद इति-'पाद' शब्दान्त भसंज्ञक अङ्ग के अवयव 'पाद्' शब्द को 'पद्' आदेश हो।

चूँकि अजादि विभक्तियों में ही भसंज्ञा होती है। अत: 'शस्' से लेकर सभी अजादि विभक्तियों में 'पाद' को 'पद्' आदेश होगा।

प्रथमा के एकवचन में 'सुपाद् स्' इस अवस्था में 'हल्ङ्याब्भ्य:' सूत्र से अपृक्त सकार का लोप हो गया। तब दकार को 'वाऽवसाने' सूत्र से विकल्प से चर् (तकार) होकर दो रूप 'सुपात्' और 'सुपाद्' बने। 'सुपाद् औ'-'सुपादौ' हो गया।

'सुपाद् शस्' -इस स्थिति में 'पाद्' शब्दान्त भसंज्ञक अङ्ग 'सुपाद्' हो गया। अब इसके अवयव स्वरूप 'पाद्' शब्द को 'पद्' आदेश हो गया। रुत्व इत्यादि कार्य होकर- सुपाद् अस्-सुपद् अस्-सुपद:।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	सुपाद्	सुपादौ	सुपाद:
सं०	हे सुपाद्, सुपात्	हे सुपादौ	हे सुपाद:
द्वि०	सुपादम्	सुपादौ	सुपद:
तृ०	सुपदा	सुपाद्भ्याम्	सुपाद्भि:
च०	सुपदे	सुपाद्भ्याम्	सुपाद्भ्य:
पं०	सुपद:	सुपाद्भ्याम्	सुपाद्भ्य:
ष०	सुपद:	सुपदो:	सुपदाम्
स०	सुपदि	सुपदो:	सुपात्सु

अग्निमथ् (अग्नि को मथने वाला) शब्द।

प्रथमा के एकवचन में अपृक्त सकार का लोप हो गया। थकार को झलां जशोऽन्ते से दकार हुआ। तब 'वाऽवसाने' सूत्र से विकल्प से चर् तकार होकर 'अग्निमत्' और 'अग्निमद्' ये दो रूप सिद्ध हुए।

विभक्ति	**एक०**	**द्वि०**	**बहु०**
प्र०	अग्निमत्-द्	अग्निमथौ	अग्निमथ:
सं०	हे अग्निमत्-द्	हे अग्निमथौ	हे अग्निमथ:
द्वि०	अग्निमथम्	अग्निमथौ	अग्निमथ:
तृ०	अग्निमथा	अग्निमद्भ्याम्	अग्निमद्भि:
च०	अग्निमथे	अग्निमद्भ्याम्	अग्निमद्भ्य:
पं०	अग्निमथ:	अग्निमद्भ्याम्	अग्निमद्भ्य:
ष०	अग्निमथ:	अग्निमथो:	अग्निमथाम्
स०	अग्निमथि	अग्निमथो:	अग्निमत्सु

३३४. [६]अनिदितां [६]हल उपधाया[६] क्ङिति[७] (६/४/२४)

हलन्तानामनिदितामङ्गानामुपधाया नस्य लोपः किति ङिति। नुम्। संयोगान्तस्यलोपः नस्य कुत्वेन ङ–प्राङ्, प्राञ्चौ, प्राञ्चः।

अनिदितामिति–हलन्त अनिदित् अङ्ग के उपधा नकार का लोप हो कित् और ङित् प्रत्यय परे रहते।

अनिदित् का 'अन् (नहीं है) इत् (ह्रस्व इकार) इत् (इत्सञ्ज्ञक जिसका)' इस प्रकार विच्छेद होता है। अतः इसका अर्थ है कि जिसके ह्रस्व इकार (इत्) की इत् संज्ञा न हुई हो।

चकारान्त शब्द प्राञ्च् (पूर्व दिशा)

प्र अञ्च् धातु से 'ऋत्विग्०' सूत्र के द्वारा क्विन् प्रत्यय होता है। प्रत्यय का सर्वापहार लोप होकर 'प्राञ्च्' शब्द बनता है।

क्विन् प्रत्यय कित् है, उसके परे रहते हलन्त अङ्ग 'प्र अन् च्' के उपधा का लोप होता जाता है। 'प्र अच्' रूप बना।

नुम्–'प्र अच् स्' इस दशा में 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' सूत्र से नुम् आगम होता है।

संयोगान्तलोप इति–'प्र अ न् च् स् इस दशा में अपृक्त सकार का लोप होने पर चकार पदान्त बन जाता है। वह संयोगान्त पद के अन्त में होने से 'संयोगान्तस्य०' के द्वारा लोप हो जायेगा। प्र अन् इस दशा में ''क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से कवर्गीय आदेश। प्राङ्।

३३५. [६]**अचः (६/४/१३८)**

लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याऽकारस्य लोपः (स्यात्)।

अच इति– लुप्त नकार वाली 'अञ्च्' धातु के भसंज्ञक ह्रस्व अकार का लोप हो।

३३६. [७]**चौ (६/३/१३७)**

लुप्ताऽऽकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याऽणो दीर्घः स्यात्। प्राचः। प्राचा। प्राग्भ्याम्। प्रत्यङ्। प्रत्यञ्चौ। प्रतीचः। प्रत्यग्भ्याम्। उदङ्। उदञ्चौ।

चाविति– लुप्त अकार नकार वाली 'अञ्च्' धातु के परे होने पर पूर्व अण् के स्थान पर दीर्घादेश हो।

'प्र अञ्च् शस्' इस स्थिति में नकार लोप हो गया। प्र अच् अस्। सर्वनामस्थानभिन्न अजादि प्रत्यय परे है। अतः भसंज्ञा हो गई। 'अचः' से अकार लोप हुआ। प्र च् अस्। 'चौ' से अण् को दीर्घादेश हो गया। प्राचः।

'प्र अञ्च् टा' में 'प्राचा' बनेगा। 'प्र अञ्च् भ्याम्' में कुत्व इत्यादि होकर 'प्राग्भ्याम्' बनेगा। प्रति अञ्च्– प्रत्यञ्च् शब्द। प्रथमा एकव० में 'प्रत्यङ्' बनेगा। द्विव० में 'प्रत्यञ्चौ' बनेगा।

प्रत्यञ्च्

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	प्रत्यङ्	प्रत्यञ्चौ	प्रत्यञ्चः
सं०	हे प्रत्यङ्	हे प्रत्यञ्चौ	हे प्रत्यञ्चः
द्वि०	प्रत्यञ्चम्	प्रत्यञ्चौ	प्रतीचः
तृ०	प्रतीचा	प्रत्यग्भ्याम्	प्रत्यग्भिः
च०	प्रतीचे	प्रत्यग्भ्याम्	प्रत्यग्भ्यः
पं०	प्रतीचः	प्रत्यग्भ्याम्	प्रत्यग्भ्यः
ष०	प्रतीचः	प्रतीचोः	प्रतीचाम्
स०	प्रतीचि	प्रतीचोः	प्रत्यक्षु

उदञ्च् (उत्तर दिशा) शब्द

३३७. [६]उद ईत्[१] (६/४/१३९)

उच्छब्दात्परस्य लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य ईत्। उदीचः। उदीचा। उदग्भ्याम्।

उद इति—'उद्' शब्द से परे लुप्त नकार 'अञ्चु' के भसंज्ञक अङ्ग के अकार को ई कार आदेश होता है।

इसके रूप सर्वनाम स्थान विभक्तियों में 'प्राङ्' की तरह होंगे। शस् परे रहते 'अचः' सूत्र के द्वारा अकार का लोप प्राप्त होता है। तब 'उद ईत्' सूत्र के द्वारा ईकार आदेश होता है। उदीचः।

उदञ्च्

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	उदङ्	उदञ्चौ	उदञ्चः
सं०	हे उदङ्	हे उदञ्चौ	हे उदञ्चः
द्वि०	उदञ्चम्	उदञ्चौ	उदीचः
तृ०	उदीचा	उदग्भ्याम्	उदग्भिः
च०	उदीचे	उदग्भ्याम्	उदग्भ्यः
पं०	उदीचः	उदग्भ्याम्	उदग्भ्यः
ष०	उदीचः	उदीचोः	उदीचाम्
स०	उदीचि	उदीचोः	उदक्षु

सम् अच् (ठीक चलनेवाला)।

३३८. [६]**समः समि**[१] (६/३/९२)

वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे (समः सम्यादेशः स्यात्)। सम्यङ्। सम्यञ्चौ। समीचः। सम्यग्भ्याम्।

सम इति-'व' प्रत्ययान्त अञ्च परे रहते 'सम्' को 'समि' आदेश होता है।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सम्यङ्	सम्यञ्चौ	सम्यञ्चः
सं०	हे सम्यङ्	हे सम्यञ्चौ	हे सम्यञ्चः
द्वि०	सम्यञ्चम्	सम्यञ्चौ	समीचः
तृ०	समीचा	सम्यग्भ्याम्	सम्यग्भिः
च०	समीचे	सम्यग्भ्याम्	सम्यग्भ्यः
पं०	समीचः	सम्यग्भ्याम्	सम्यग्भ्यः
ष०	समीचः	समीचोः	समीचाम्
स०	समीचि	समीचोः	सम्यक्षु

सह अञ्च् (साथ चलने वाला)

३३९. [६]**सहस्य सध्रिः** [१] **(६/३/९४)**

(वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे सहस्य सध्र्यादेशः स्यात्) तथा। सध्र्यङ्

सहस्येति-वप्रत्ययान्त अञ्च परे रहते सह को सध्रि आदेश होता है। सह को 'सध्रि' आदेश होने पर 'सम् अच्' के समान ही रूप बनेंगे।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	सध्र्यङ्	सध्र्यञ्चौ	सध्र्यञ्चः
सं०	हे सध्र्यङ्	हे सध्र्यञ्चौ	हे सध्र्यञ्चः
द्वि०	सध्र्यञ्चम्	सध्र्यञ्चौ	सध्रीचः
तृ०	सध्रीचा	सध्र्यग्भ्याम्	सध्र्यग्भिः
च०	सध्रीचे	सध्र्यग्भ्याम्	सध्र्यग्भ्यः
पं०	सध्रीचः	सध्र्यग्भ्याम्	सध्र्यग्भ्यः
ष०	सध्रीचः	सध्रीचोः	सध्रीचाम्
स०	सध्रीचि	सध्रीचोः	सध्र्यक्षु

तिरस् अञ्च् (तिर्यङ् योनि, पशुपक्षी आदि)

३४०. [६]**तिरसस्तिर्यलोपे (६/३/९३)**

अलुप्ताकारेऽञ्चतौ वप्रत्ययान्ते परे तिरसस्तिर्यादेशः (स्यात्)। तिर्यङ् तिर्यञ्चौ। तिरश्चः। तिर्यग्भ्याम्।

तिरस इति-जिसमें अकार का लोप न हुआ हो ऐसे 'व' प्रत्ययान्त अञ्च परे रहते 'तिरस्' को 'तिरि' आदेश हो।

व प्रत्ययान्त का अर्थ है-जिसके अन्त में क्विन् आदि प्रत्यय हों। अनेकाल् होने के कारण वह आदेश सम्पूर्ण 'तिरस्' के स्थान पर होता है।

शस् आदि विभक्तियों में भसंज्ञा होती है। भसंज्ञा होने पर अकार का लोप होता है। अन्य स्थलों पर अकार का लोप नहीं होता है।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	तिर्यङ्	तिर्यञ्चौ	तिर्यञ्चः
सं०	हे तिर्यङ्	हे तिर्यञ्चौ	हे तिरश्चः
द्वि०	तिर्यञ्चम्	तिर्यञ्चौ	तिरश्चः
तृ०	तिरश्चा	तिर्यग्भ्याम्	तिर्यग्भिः
च०	तिरश्चे	तिर्यग्भ्याम्	तिर्यग्भ्यः
पं०	तिरश्चः	तिर्यग्भ्याम्	तिर्यग्भ्यः
ष०	तिरश्चः	तिरश्चोः	तिरश्चाम्
स०	तिरश्चि	तिरश्चोः	तिर्यक्षु

३४१. [६]नॉऽञ्चेः पूजायाम्[७] (६/४/३०)

पूजार्थस्याऽञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न। 'प्राङ्'। प्राञ्चौ। नलोपाभावाद् 'अल् लोपो न प्राञ्चः। प्राङ्भ्याम्। प्राङ्क्षु। एवं पूजार्थे प्रत्यङ्ङादयः। क्रुञ्। क्रुङ्भ्याम्। पयोमुक्, पयोमुग्। पयोमुचौ। पयोमुग्भ्याम्। उगित्वान्नुम्।

पूजार्थक 'अञ्चु' धातु के उपधा नकार का लोप न हो। 'अञ्चु' धातु के गति और पूजा दो अर्थ हैं। पूजा अर्थ में 'अनिदिताम्-' सूत्र के द्वारा नकार का लोप प्राप्त होता है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा उसका निषेध किया गया है।

प्र अञ्च् धातु से क्विन् प्रत्यय हुआ है। प्रकृत सूत्र से नकार लोप का निषेध हो गया। नकार को 'नश्चापदान्तस्य०' के द्वारा अनुस्वार हुआ। तब 'अनुस्वारस्य ययि०' के द्वारा परसवर्ण हो गया। प्र अन् च् क्विप्-प्रान् च्-प्रांच्-प्राञ्च्।

'प्राञ्च् सु'- में अपृक्त सकार का लोप होकर 'प्राञ्च्' बन गया। पदान्त होने से संयोगान्त लोप हो गया। प्राञ्। निमित्त की निवृत्ति होने पर कार्य की निवृत्ति हो गई। प्रान्। 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' के द्वारा कवर्गीय ङकार आदेश होकर 'प्राङ्' रूप सिद्ध हुआ।

प्राञ्चौ— 'प्राञ्च् औ' इस स्थिति में संयोग होकर रूप सिद्ध हुआ।

पूजा अर्थ के पक्ष में विशेष कार्य नहीं होते हैं। हलादि विभक्ति में पद संज्ञा होकर चकार का संयोगान्त लोप हो गया। तब नकार को ङकार होता है।

नलोपाभावाद् इति-पूजा अर्थ में नलोप नहीं होता है। तब अकारलोप भी नहीं होगा (अचः)।

'प्राञ्च् शस्'-यहाँ पूजा अर्थ में प्रकृत सूत्र के द्वारा नलोप का निषेध होता है। फलतः अकार का लोप नहीं होता है। प्राञ्चः।

'प्राञ्च् सु'-यहाँ चकार का सलोप हो गया। 'ङणोः कुक् टुक् शरि'- के द्वारा 'शर्' परे रहते कुक् आगम हुआ। आगम पक्षमें 'चयो द्वितीयाः शरि–' के द्वारा ककार को खकार हुआ। तब 'आदेश प्रत्यययोः' के द्वारा मूर्धन्य आदेश हो गया। 'प्राङ्ख् षु' रूप बना। द्वितीय वर्ण न होने की अवस्था में पूर्ववत् मूर्धन्य होकर 'प्राङ्क्षु' रूप बना। आगम के अभाव पक्ष में 'प्रा ङ्षु' बना।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	प्राङ्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः
सं०	हे प्राङ्	हे प्राञ्चौ	हे प्राञ्चः
द्वि०	प्राञ्चम्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः
तृ०	प्राञ्चा	प्राङ्भ्याम्	प्राङ्भिः
च०	प्राञ्चे	प्राङ्भ्याम्	प्राङ्भ्यः
पं०	प्राञ्चः	प्राङ्भ्याम्	प्राङ्भ्यः
ष०	प्राञ्चः	प्राञ्चोः	प्राञ्चाम्
स०	प्राञ्चि	प्राञ्चोः	प्राङ्खषु-प्राङ्क्षु-प्राङ्षु

क्रुञ्च् (क्रौञ्च पक्षी)

यह भी क्विन् प्रत्ययान्त शब्द है।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	क्रुङ्	क्रुञ्चौ	क्रुञ्चः
सं०	हे क्रुङ्	हे क्रुञ्चौ	हे क्रुञ्चः
द्वि०	क्रुञ्चम्	क्रुञ्चौ	क्रुञ्चः
तृ०	क्रुञ्चा	क्रुङ्भ्याम्	क्रुङ्भिः
च०	क्रुञ्चे	क्रुङ्भ्यान्	क्रुङ्भ्यः
पं०	क्रुञ्चः	क्रुङ्भ्यान्	क्रुङ्भ्यः
ष०	क्रुञ्चः	क्रुञ्चोः	क्रुञ्चाम्
सं०	क्रुञ्चि	क्रुञ्चोः	क्रुङ्ख्षु-क्रुङ्क्षु-क्रुङ्षु

पयोमुच् (बादल)

यह क्विप् प्रत्ययान्त शब्द है। 'पयोमुच् सु' -यहाँ अपृक्त सकार का लोप होकर 'झलां जशोऽन्ते' के द्वारा चकार को जकार हुआ। पयोमु च् स् -पयोमुच्-पयोमुज्। 'चोः कुः' के द्वारा कुत्व होकर 'वाऽवसाने' के द्वारा विकल्प से चर् ककार हुआ। पयोमुग्-पयोमुग्, पयोमुक्।

'पयोमुच् सुप्' -यहाँ कुत्व करने पर 'पयोमुक्सु' बन गया। तब 'आदेश प्रत्यययोः' के द्वारा मूर्धन्य आदेश हुआ। पयोमुक् षु - पयोमुक्षु।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	पयोमुक्-ग्	पयोमुचौ	पयोमुचः
सं०	हे पयोमुक्-ग्	हे पयोमुचौ	हे पयोमुचः
द्वि०	पयोमुचम्	पयोमुचौ	पयोमुचः
तृ०	पयोमुचा	पयोमुग्भ्याम्	पयोमुग्भिः
च०	पयोमुचे	पयोमुग्भ्याम्	पयोमुग्भ्यः
पं०	पयोमुचः	पयोमुग्भ्याम्	पयोमुग्भ्यः
ष०	पयोमुचः	पयोमुचोः	पयोमुचाम्
सं०	पयोमुचि	पयोमुचोः	पयोमुक्षु

तकारान्त महत् (बड़ा)

३४२. [६]सान्त-महतः संयोगस्य[६] (६/४/१०)

सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारः, तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। महान्, महान्तौ, महान्तः हे महन्, महद्भ्याम्।

सान्त इति—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे रहते सकारान्त संयोग और महत् शब्द का जो नकार उसकी उपधा को दीर्घ हो

'महत् स्' इस दशा में उगित् होने से 'उगिदचां सर्वनाम०' से नुम् आगम हुआ। 'मित्' होने से अन्त्य अच् से परे हुआ। तब 'महन् त् स्' इस स्थिति में उपधादीर्घ, हल्ङ्यादिलोप और संयोगान्तलोप हुए। महान् त् स्। महान् त्। महान्। 'संयोगान्तस्य लोपः' असिद्ध है। अतः 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' के द्वारा नलोप नहीं होता है।

महत् औ-नुम् तथा उपधादीर्घ होकर रूप सिद्ध हुआ। महान्तौ।

महत् जस्-पूर्ववत् क्रिया समझें। महान्तः।

हे महत् सु-यहाँ पूर्ववत् क्रिया होगी। हे महन्। उपधा दीर्घ नहीं होगी।

महत् भ्याम्-जश्त्व करके रूप सिद्ध हो जायेगा-महद्भ्याम्।

विभक्ति	एक०	द्वि०	बहु०
प्र०	महान्	महान्तौ	महान्तः
सं०	हे महन्	हे महान्तौ	हे महान्तः
द्वि०	महान्तम्	महान्तौ	महतः
तृ०	महता	महद्भ्याम्	महद्भिः
च०	महते	महद्भ्याम्	महद्भ्यः
पं०	महतः	महद्भ्याम्	महद्भ्यः
ष०	महतः	महतोः	महताम्
स०	महति	महतोः	महत्सु

उगित्वादिति-उगित् होने से नुम् हुआ।

धीमत् (बुद्धिमान्)

३४३. **अत्वसन्तस्य[६] चाऽधातोः[६] (६/४/१४)**

अत्वन्तस्योपधाया दीर्घो धातुभिन्नाऽसन्तस्य चाऽसम्बुद्धौ सौ परे। धीमान्, धीमन्तौ, धीमन्तः। हे धीमन्। शसादौ महद्वत्। भातेर्डवतुः

(वा०) डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः। भवान्। भवन्तः। शत्रन्तस्य-भवन्।

अत्विति-यदि सम्बुद्धि भिन्न सु परे हो तो 'अतु' अन्त वाले अङ्ग की तथा धातु भिन्न अस् अन्त वाले अङ्ग की उपधा के स्थान पर दीर्घ आदेश होता है।

'अतु' में मतुप्, वतुप्, डवतु आदि प्रत्ययों का ग्रहण होता है।

'धीमत्-सु'-यहाँ नुम् आगम, प्रकृत सूत्र के द्वारा उपधा को दीर्घ, अपृक्त सकार का लोप, संयोगान्त का लोप इत्यादि कार्य। धीम नुम् त् स्-धीमान् त्- धीमान्।

सम्बुद्धि में उपधा दीर्घ का निषेध है। अतः-हे धीमन् होगा। शेष सभी रूप महत् की तरह होंगे।

भवत् (आप) शब्द।

भातेरिति-'भा' धातु से 'डवतु' प्रत्यय हुआ। 'ड' की 'चुटू' से और उकार की 'उपदेशे०' से इत्संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' से लोप हुआ।

डित्वेति-'भा अवत्' इस स्थिति में। चूँकि से कप् प्रत्यय के बीच 'डवतु' नहीं आता। अतः डवतु परे रहते भसंज्ञा नहीं होती तथापि डित् करने के सामर्थ्य से 'टि' (आकार) का लोप हुआ, अन्यथा डित् करना व्यर्थ हो जाता। इस प्रकार 'भवत्' शब्द बन गया।

प्रथमा के एकवचन में 'उगिदचां०' से नुम् आगम अत्वन्त होने से उपधा को दीर्घ 'हल्ङ्याब्भ्यः०' से अपृक्त सकार का लोप और 'संयोगान्तस्य-' सूत्र के द्वारा तकार का लोप हो गया। 'भवान्' रूप सिद्ध हुआ। अन्य सर्वनामस्थानों में भी इसी प्रकार नुम् होता है। शेष स्थलों पर कोई विशेष कार्य नहीं होता।

विभक्ति	**एक०**	**द्विव०**	**बहुव०**
प्र०	भवान्	भवन्तौ	भवन्तः
द्वि०	भवन्तम्	भवन्तौ	भवतः
तृ०	भवता	भवद्भ्याम्	भवद्भिः
च०	भवते	भवद्भ्याम्	भवद्भ्यः
पं०	भवतः	भवद्भ्याम्	भवद्भ्यः
ष०	भवतः	भवतोः	भवताम्
स०	भवति	भवतोः	भवत्सु

शत्रन्तस्येति—भू धातु से शतृ प्रत्यय करने से भी 'भवत्' शब्द बनता है। यह 'अतु' अन्त नहीं। अत: प्रकृत सूत्र के द्वारा दीर्घ नहीं होगा। 'सु' में प्रकृत सूत्र से दीर्घ न होकर 'भवन्' रूप बना। संयोगान्त तकार लोप के असिद्ध होने से 'सर्वनामस्थाने०' सूत्र से भी दीर्घ नहीं होता है।

ददत् (देता हुआ) शब्द।

३४४. [१]**उभे अभ्यस्तम्**[१] **(६/१/५)**

षाष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते, ते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे स्तः।

उभे इति-छठे अध्याय के द्वित्वप्रकरण में जिन दो रूपों को किया जाता है, उन दोनों की मिलकर अभ्यस्तसंज्ञा होती है।

द्वित्वप्रकरण दो हैं— एक छठे अध्याय में और दूसरा आठवें में। छठे अध्याय में 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' (६.१.१) से और आठवें अध्याय में 'सर्वस्य द्वे' (पा०८.१.१) से प्रारम्भ होता है। इनमें छठे अध्यायवाले द्वित्व प्रकरण में ही 'अभ्यस्तसंज्ञा' होती है। 'ददत्' में श्लौ (६/१/१०) सूत्र से द्वित्व होता है। इसके दोनों रूप 'दद्' की 'अभ्यस्त' संज्ञा हुई।

३४५. [५]**नाभ्यस्ताच्छतुः (७।१।७८)**

अभ्यस्तात्परस्य शतुर्नुम् न। ददत् ददद्। ददतौ, ददतः

नेति- अभ्यस्त संज्ञक से परे 'शतृ' को नुम् नहीं होता है।

प्रथमा के एकवचन में शतृ के ऋकार के इत्संज्ञक होने के कारण उगित् है। 'उगिदचां-' सूत्र से नुम् का आगम प्राप्त था। उसका प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध होगया। अभ्यस्त संज्ञ 'दद्' से परे 'शतृ' को 'तुम्' आगम का निषेध हो जाने से ददत् रूप बनेगा।

विभक्ति	एक०	द्विव०	बहुव०
प्र०	ददत्-ददद्	ददतौ	ददतः
सं०	हे ददत्-ददद्	हे ददतौ	हे ददतः
द्वि०	ददतम्	ददतौ	ददतः
तृ०	ददता	ददद्भ्याम्	ददद्भिः
च०	ददते	ददद्भ्याम्	ददद्भ्यः
पं०	ददतः	ददद्भ्याम्	ददद्भ्यः
ष०	ददतः	ददतोः	ददताम्
सं०	ददति	ददतोः	ददत्सु

जक्षत् (खाता हुआ या हँसता हुआ)

३४६. [१]**जक्षित्यादयः षट्**[१] **(६/१/६)**

षट् धातवोऽन्ये जक्षितिश्च सप्तम एते अभ्यस्तसंज्ञाः स्युः। जक्षत्, जक्षद्, जक्षतौ, जक्षतः। एवं जाग्रत्, दरिद्रत्,, शासत्, चकासत्। (इति तकारान्ताः।) गुप्, गुब्। गुपौ। गुपः गुब्भ्याम्। (इति पकारान्ताः।)

जक्षित्यादय इति- छह धातु अन्य और 'जक्ष' सातवां, ये अभ्यस्तसंज्ञक हों।

जक्ष् आदि सातों का परिगणन निम्नलिखित पद्य में है-

'जक्षि-जागृ-दरिद्रा-शास्-दीधीङ्-वेवीङ् चकासृ च।

अभ्यस्तसंज्ञं विज्ञेयं मुन्युक्तं धातुसप्तकम्।।' इति।।

'जक्षत् सु'- यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा 'जक्षत्' की अभ्यस्त संज्ञा हो गई। तब 'नाभ्यस्तात्०' के द्वारा नुम् का निषेध हो गया। 'जक्षत्' रूप बना 'वाऽवसाने' से वैकल्पिक चर्त्व। जक्षद्।

एवमिति-इसी प्रकार-जाग्रत् (जागता हुआ), दरिद्रत् (दुर्गति को प्राप्त होता हुआ), शासत् (शासन करता हुआ) और चकासत् (चमकता हुआ) शब्दों के रूप भी बनेंगे। जक्षित्यादिगण में आने से ये सभी अभ्यस्त संज्ञक हैं।

पकारान्त शब्द गुप् (रक्षक)

'गुप् सु' अपृक्त सकार लोप, जशत्व, तथा विकल्प से चर्त्व होकर गुप्-गुब्-गुब्, गुप्। 'गुप् औ' में 'गुपौ' बन गया।

'गुप् भ्याम्' में पदसंज्ञा होकर पकार का बकार हो गया। गुब्भ्याम्।

विभक्ति	**एक०**	**द्विव०**	**बहुव०**
प्र०	गुप्-गुब्	गुपौ	गुपः
सं०	हे गुप्-गुब्	हे गुपौ	हे गुपः
द्वि०	गुपम्	गुपौ	गुपः
तृ०	गुपा	गुब्भ्याम्	गुब्भिः
च०	गुपे	गुब्भ्याम्	गुब्भ्यः
पं०	गुपः	गुब्भ्याम्	गुब्भ्यः
ष०	गुपः	गुपोः	गुपाम्
स०	गुपि	गुपोः	गुप्सु

शकारान्त

तादृश् (उसके समान)

३४७. **[७]त्यदादिषु [५]दृशोऽनालोचने[७] कञ्[१] चँ (३/२/६०)**

त्यदादिषूपपदेषु अज्ञानार्थाद् दृशेः कञ्, स्यात्। चात् क्विन्।

त्यदादिषु इति-त्यद् आदि उपपद रहते ज्ञान से अतिरिक्त अर्थ के वाचक दृश् धातु से कञ् प्रत्यय हो। चकार से क्विन् भी हो।

'तद्' उपपद रहते हुए 'दृश्' यह स्थिति बनी। तद् दृश्।

३४८. [१]आ सर्वनाम्नः[६] (६/३/९०)

सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशःस्याद् दृग्-दृश् वतुषु। तादृक्, तादृग्। तादृशौ। तादृशः। तादृग्भ्याम्। 'व्रश्च-' इति षः। जश्त्वचर्त्वे-विट्, विड्। विशौ। विशः। विड्भ्याम्।

आ इति—दृश्, दृश और वतु परे रहते सर्वनाम को आकार हो।

'तद् दृश्' यहाँ 'दृश्' परे होने के कारण सर्वनाम 'तद्' को आकार अन्तादेश हुआ। तब 'त आ दृश्' इस स्थिति में सवर्णदीर्घ होकर तादृश् शब्द बना। 'कञ्' प्रत्यय करने पर 'तादृश' तथा 'क्विन्' करने पर 'तादृश्' बनता है।

'तादृश् सु'- यहाँ 'हल्ङ्याब्भ्य०' के द्वारा अपृक्त सकार का लोप हो गया। तादृश्। यह शब्द पद हो गया और पदान्त होने से शकार को 'व्रश्चभ्रस्ज्०' सूत्र के द्वारा षकार आदेश हुआ। तब 'झलां जश्०' के द्वारा षकार को डकार आदेश हुआ। 'क्विन्प्रत्ययस्य०' के द्वारा कुत्व हो गया। तादृष्-तादृड्-तादृग्। 'वाऽवसाने' के द्वारा विकल्प से चर्त्व होकर— तादृग् तथा तादृक् रूप बने।

हलादि विभक्तियों में भी पूर्ववत् क्रिया होगी। तादृश् भ्याम् तादृग्भ्याम्।

'तादृश् सुप्'-यहाँ गकार को ककार हो जायेगा तथा 'आदेश प्रत्यययोः' के द्वारा सुप् को मूर्धन्य आदेश हो जाता है। तब 'तादृक्षु' रूप सिद्ध हुआ।

विभक्ति	एक०	द्विव०	बहुव०
प्र०	तादृक्-तादृग्	तादृशौ	तादृशः
सं०	हे तादृक्-तादृग्	हे तादृशौ	हे तादृशः
द्वि०	तादृशम्	तादृशौ	तादृशः
तृ०	तादृशा	तादृग्भ्याम्	तादृग्भिः
च०	तादृशे	तादृग्भ्याम्	तादृग्भ्यः
पं०	तादृशः	तादृग्भ्याम्	तादृग्भ्यः
ष०	तादृशः	तादृशोः	तादृशाम्
स०	तादृशि	तादृशोः	तादृक्षु

विश् (वैश्य)

जश्त्वचर्त्वे- 'विश्' शब्द क्विप् प्रत्ययान्त है, क्विन्प्रत्ययान्त नहीं। अतः यहाँ 'डकार' को क्विन् प्रत्ययस्य०' से कवर्ग (गकार) नहीं हुआ।

'विश् स्'-अपृक्त सकार का लोप होता है। तब शकार को षकार होता है। अब 'झलां जश्०' के द्वारा डकार होता है। 'वाऽवसाने' के द्वारा विकल्प से चर् होता है। विश्-विष्-विड्-विड्, विट्।

हलादि विभक्तियों में षकार तथा जश्त्व कार्य पूर्ववत् होते हैं। सुप् में विकल्प से धुट् आगम होता है (डः सि धुट्)। दो रूप बनेंगे। यथा– विश् सु। विष् सु। विड् सु। विड् धुट् सु। विड् त् सु। विट्त्सु, विट्सु।

प्र०	विट्–विड्	विशौ	विशः
सं०	हे विट्–विड्	हे विशौ	हे विशः
द्वि०	विशम्	विशौ	विशः
तृ०	विशा	विड्भ्याम्	विड्भिः
च०	विशे	विड्भ्याम्	विड्भ्यः
पं०	विशः	विड्भ्याम्	विड्भ्यः
ष०	विशः	विशोः	विशाम्
स०	विशि	विशोः	विट्त्सु–विट्सु

नश् (नश्वर)

३४९. [६]नशेर्वा (८/२/६३)

नशेः कवर्गोऽन्तादेशो वा (स्यात्) पदान्ते। नक्, नग्, नट्, नड्। नशौ। नशः। नग्भ्याम्, नड्भ्याम्।

नशेरिति– पदान्त में नश् को विकल्प से कवर्ग अन्तादेश हो।

कुत्व पक्ष में साधन प्रक्रिया 'तादृश्' के समान होती है तथा अभाव पक्ष में 'विश्' शब्द के समान होती है।

'नश् सु' में 'हल्ङ्याब्भ्यो०' से अपृक्त सकार का लोप, नश् की पदसंज्ञा, 'व्रश्चभ्रस्ज्०' से षकार हुआ। नष्। 'झलां जशोऽन्ते' से डकार। नड्। 'वाऽवसाने' से 'नड्' व 'नट्' दो रूप बने। दूसरे पक्ष (अर्थात् कुत्व) में 'नशेर्वा' से 'नड्' के डकार को कुत्व हो गया। नग्। 'वाऽवसाने' से 'नग्' व 'नक्' दो रूप बने। इस प्रकार प्रथमा एकव० में कुल चार रूप बने। 'भ्याम्' में कुत्व पक्ष में 'नग्भ्याम्' तथा अभाव पक्ष में 'नड्भ्याम्' बनेगा।

विभक्ति	एक०	द्विव०	बहुव०
प्र०	नक्–ग्/ नट्–ड्	नशौ	नशः
सं०	हे नक्–ग्/ नट्–ड्	हे नशौ	हे नशः
द्वि०	नशम्	नशौ	नशः
तृ०	नशा	नग्भ्याम्/नड्भ्याम्	नग्भिः/ नड्भिः
च०	नशे	नग्भ्याम्, नड्भ्याम्	नग्भ्यः, नड्भ्यः
पं०	नशः	नग्भ्याम्, नड्भ्याम्	नग्भ्यः, नड्भ्यः
ष०	नशः	नशोः	नशाम्
स०	नशि	नशोः	नक्षु. नटत्सु, नट्सु

घृतस्पृश् (घी का स्पर्श करने वाला)

३५०. [५]स्पृशोऽनुदके[७] क्विन्[१] (३/२/५८)

अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन्। घृतस्पृक्, घृतस्पृग्, घृतस्पृशौ, दधृक्, दधृग्। दधृषौ। दधृषः। दधृग्भ्याम्। रत्नमुट्, रत्नमुड्। रत्नमुषौ। रत्नमुड्भ्याम्। षट्, षड्। षड्भिः। षड्भ्यः२। षण्णाम्। षट्सु, षट्त्सु। घृतस्पृशः। (इति शकारान्ताः।) रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः' इति रुत्वम्।

स्पृश इति-उदक शब्द को छोडकर सुबन्त उपपद रहते स्पृश् से क्विन् प्रत्यय हो।

'घृतं स्पृशति' इस विग्रह में 'घृत' सुबन्त उपपद रहते 'स्पृश्' धातु से 'क्विन्' प्रत्यय हुआ। उसका सर्वापहार लोप हुआ। तब 'घृतस्पृश्' शब्द बना। कृदन्त होने से 'कृत्तद्धितसमासाश्च' के द्वारा इसकी प्रातिपदिकसंज्ञा हुई। प्रातिपदिकसंज्ञक होने से सु आदि की उत्पत्ति हुई। प्रत्ययः। परश्च। स्वौजसमौट्०।

'घृतस्पृश्' शब्द क्विन् प्रत्ययान्त है। अतः इसके रूप 'तादृश्' के समान होते हैं, सर्वप्रथम षकार आदेश, जश्त्व तथा 'क्विन्प्रत्यय०' से कुत्व आदि कार्य होते है। सुप् में 'आदेशप्रत्यययोः' के द्वारा मूर्धन्य आदेश होता है।

विभक्ति	एक०	द्विव०	बहुव०
प्र०	घृतस्पृक्-ग्	घृतस्पृशौ	घृतस्पृशः
सं०	हे घृतस्पृक्-ग्	हे घृतस्पृशौ	हे घृतस्पृशः
द्वि०	घृतस्पृशम्	घृतस्पृशौ	घृतस्पृशः
तृ०	घृतस्पृशा	घृतस्पृग्भ्याम्	घृतस्पृग्भ्यः
च०	घृतस्पृशे	घृतस्पृग्भ्याम्	घृतस्पृग्भ्यः
पं०	घृतस्पृशः	घृतस्पृग्भ्याम्	घृतस्पृग्भ्यः
ष०	घृतस्पृशः	घृतस्पृशोः	घृतस्पृशाम्
स०	घृतस्पृशि	घृतस्पृशोः	घृतस्पृक्षु

षकारान्त शब्द दधृष् (तिरस्कार करनेवाला)

'दधृष्' क्विन् प्रत्ययान्त शब्द है। अतः पदान्त में जश्त्व (डकार) तथा कुत्व (गकार) आदि कार्य होते हैं।

प्रथमा एकवचन में गकार को विकल्प से चर् होकर 'दधृग्', 'द्धृक्' रूप बन गए।

हलादि विभक्तियों में पूर्वोक्त की तरह कुत्व तक कार्य होते हैं। दधृष् भ्याम् दधृड्भ्याम्-दधृग्भ्याम्।

सप्तमी बहुवचन में जश्त्व, कुत्व (गकार), चर्त्व (खरि च) तथा सुप् को मूर्धन्य आदेश होकर 'दधृक्षु' रूप बनता है।

रत्नमुष् (रत्न चुराने वाला)

यह क्विप् प्रत्ययान्त रूप है। 'रत्नमुष् सु' में अपृक्त सकार का लोप होकर जश्त्व आदेश हो जाता है। रत्नमुष्-रत्न मुड्। विकल्प से चर् होकर 'रत्नमुड्', 'रत्नमुट्' दो रूप बनेंगे।

हलादि विभक्तियों में जश्त्व होता है। सुप् विभक्ति में विकल्प से धुट् आगम होकर 'रत्नमुट्सु' तथा 'रत्नमुट्त्सु' रूप बनेंगे।

षष्

षष् शब्द नित्य बहुवचनान्त है। षकारान्त संख्यावाचक होने से 'ष्णान्ताः षट्०' सूत्र से इसकी षट् संज्ञा है। तब 'षड्भ्यो लुक्०' सूत्र से 'जस्' और 'शस्' का लोप होगा। पदान्त बन जाने से 'षष्' के अन्तिम षकार को 'झलां जशोऽन्ते' के द्वारा जश् (डकार) हुआ। 'वाऽवसाने' के द्वारा चर्त्व होकर 'षट्' तथा 'षड्' दो रूप बनेंगे।

'भिस्' तथा 'भ्याम्' में 'झलां जशोऽन्ते' के द्वारा षकार को डकार होकर 'षड्भिः' तथा 'षड्भ्याम्' रूप बनेंगे।

'षष् आम्'-यहाँ 'षट् चतुर्भ्यश्च' के द्वारा 'नुट्' आगम हुआ। षष् नुट् आम्। 'झलां जश्- के द्वारा जश्त्व हो गया। षड् न् आम्। 'ष्टुना ष्टुः' के द्वारा ष्टुत्व हुआ। षड्णाम्। 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' वार्तिक के द्वारा णकार परे रहते डकार को णकार होगा। षण्णाम्।

'सुप्' विभक्ति में विकल्प से धुट् आगम होकर 'षट्सु' तथा 'षट्त्सु' रूप बनेंगे।

पिपठिष् (पढ़ने की इच्छावाला)

३५१. [६]**र्वोरुपधाया दीर्घ** [१]**इकः** [६] **(८/२/७६)**

रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः (स्यात्) पदान्ते। पिपठीः। पिपठिषौ। पिपठीर्भ्याम्।

र्वोरिति-पदान्त में रकारान्त और वकारान्त शब्दों के उपधा इक् को दीर्घ हो।

'पिपठिष् सु'-सकार का लोप हो गया। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा उपधा दीर्घ हुआ। पिपठिर् - पिपठीर्। 'खरवसानयोः—' के द्वारा विसर्ग हुआ। पिपठीः।

रुत्वं इति- 'पिपठिष् सु'-यहाँ अपृक्त सकार का लोप होने पर 'ससजुषो रुः' के द्वारा षकार को 'रु' आदेश हो जाएगा, क्योंकि मूर्धन्य षकार विधायक 'आदेश प्रत्यययोः (८/३/५९) सूत्र असिद्ध है। अतः षकार आदेश भी असिद्ध हुआ अर्थात् 'स सजुषोः' की दृष्टि में 'पिपठिष्' ऐसा न होकर 'पिपठिस्' ऐसा है।

पिपठिष् औ - पिपठिषौ।

'पिपठिष् भ्याम्'-यहाँ पूर्ववत् 'रु' आदेश हुआ। उपधा को दीर्घ होकर 'पिपठीर्भ्याम्' रूप बना।

३५२. [७]नुम्-विसर्जनीयशर्-व्यवायेऽपि (८/३/५८)

एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपि इण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। ष्टुत्वेन पूर्वस्य षः-पिपठीष्षु। पिपठीःषु। चिकीः। चिकीर्षौ। चिकीर्भ्याम्। चिकिर्षु। (इति षकारान्ताः।) विद्वान्। विद्वांसौ। हे विद्वन्!

नुमिति-नुम्, विसर्ग और शर् इनमें प्रत्येक के अर्थात् पृथक् पृथक् व्यवधान होने पर इण् और कवर्ग से पर सकार को मूर्धन्य आदेश हो।

'पिपठिष् सुप्' में रुत्व, उपधादीर्घ, तथा 'वा शरि' से विकल्प से विसर्ग की प्राप्ति हुई। तब पिपठीस्सु तथा पिपठीः सु-इन दोनों स्थितियों में क्रमशः सकार तथा विसर्ग का व्यवधान है। तथापि प्रकृत सूत्र के द्वारा इण् से परवर्ती सकार को दोनों स्थलों पर मूर्धन्य आदेश हो गया। अब 'पिपठीस् षु' इस अवस्था में ष्टुत्व होकर 'पिपठीष्षु रूप बना तथा पक्ष में 'पिपठीः षु' बना।

विभक्ति	एक०	द्विव०	बहुव०
प्र०	पिपठीः	पिपठिषौ	पिपठिषः
सं०	हे पिपठीः	हे पिपठिषौ	हे पिपठिषः
द्वि०	पिपठिषम्	पिपठिषौ	पिपठिषः
तृ०	पिपठिषा	पिपठीर्भ्याम्	पिपठीर्भिः
च०	पिपठिषे	पिपठीर्भ्याम्	पिपठीर्भ्यः
पं०	पिपठिषः	पिपठीर्भ्याम्	पिपठीर्भ्यः
ष०	पिपठिषः	पिपठिषोः	पिपठिषाम्
स०	पिपठिषि	पिपठिषोः	पिपठीष्षु, पिपठीःषु

चिकीर्ष् (करने का इच्छुक)

'चिकीर्ष् सु'-सकार का लोप हो गया। तब षत्व (पा० ८.३.५९) के असिद्ध होने से 'रात्सस्य' (पा० ८.२.२४) के द्वारा संयोगान्त सकार का लोप हुआ। तब 'खरवसानयोः०' के द्वारा रेफ को विसर्ग हो गया। चिकीर्ष् सु > स्-चिकीर्ष्-चिकीर्-चिकीः।

चिकीर्ष् औ-चिकीर्षौ।

'भ्याम्' में षत्व असिद्ध है। अतः पूर्वोक्त रीति से सकार का लोप होता है। चिकीर्भ्याम्।

सुप् में पूर्ववत् सकारलोप होगया। चिकीर् सु। 'खरवसानयोः०' के द्वारा विसर्ग प्राप्त हुआ। तब 'रोः सुपि' के द्वारा निषेध हो गया। 'आदेशप्रत्यययोः' के द्वारा मूर्द्धन्य आदेश होकर 'चिकीर्षु' बना।

सकारान्त शब्द विद्वस् (विद्वान्)

विद्वस् सु- नुम् आगम वसु प्रत्ययान्त शब्द है। वसु प्रत्यय उगित् है। अतः

'उगिदचाम्०' के द्वारा 'सर्वनाम-स्थान विभक्ति परे रहते नुम् आगम होगा।

'विद्वस् होकर 'विद्वन् स् सु' बना। अपृक्त सकार का लोप हो गया। तब संयोगान्त सकार का लोप हो गया। विद्वन् स्-विद्वन्। चूँकि 'संयोगान्तस्य लोपः' (८/२/२३) असिद्ध है। अतः'सर्वनामस्थाने०' के द्वारा दीर्घ की प्राप्ति नहीं हुई। तब 'सान्तमहतः-' के द्वारा दीर्घ हुआ। विद्वान्।

सम्बुद्धि में दीर्घत्व का निषेध होता है। विद्वन्।

३५३. [६]वसोः सम्प्रसारणम्[१] (६/४/१३१)

वस्वन्तस्य भस्य संप्रसारणं स्यात्। विदुषः। 'वसुस्रंसु-' इति दः-विद्वद्भ्याम्।

वसोरिति-वसु प्रत्यय जिसके अन्त में है, ऐसे भसंज्ञक अङ्ग को सम्प्रसारण हो।

'विद्वस् शस्'-प्रकृत सूत्र के द्वारा सम्प्रसारण हुआ, पररूप हुआ। विदुस् अस्। 'आदेशप्रत्यययोः' के द्वारा मूर्धन्य आदेश हुआ। विदुषः।

विद्वस् भ्याम्- 'वसुस्रंसु-' के द्वारा सकार को दकार हो गया। विद्वद्भ्याम्।

विभक्ति	**एक०**	**द्विव०**	**बहुव०**
प्र०	विद्वान्	विद्वांसौ	विद्वांसः
सं०	हे विद्वन्	हे विद्वांसौ	हे विद्वांसः
द्वि०	विद्वांसम्	विद्वांसौ	विदुषः
तृ०	विदुषा	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भिः
च०	विदुषे	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भ्यः
पं०	विदुषः	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भ्यः
ष०	विदुषः	विदुषोः	विदुषाम्
स०	विदुषि	विदुषोः	विद्वत्सु

३५४. [६]पुंसोऽसुङ्[१] (७/१/८९)

सर्वनामस्थाने विवक्षितेपुंसोऽसुङ् स्यात्। पुमान्। हे पुमन्। पुमांसौ। पुंसः पुम्भ्याम्। पुंसु। 'ऋदुशनस्-' इत्यनङ्-उशना, उशनसौ।

(वा०) अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ्, नलोपश्च वा वाच्यः।

हे उशन, हे उशनन् हे उशनः। हे उशनसौ। उशनोभ्याम्। उशनस्सु। उशनः सु। अनेहा। अनेहसौ। हे अनेहः। वेधाः। देधसौ। हे वेधः। वेधोभ्याम्।

पुंस इति-सर्वनामस्थान की विवक्षा में 'पुंस्' शब्द को असुङ् आदेश हो। 'असुङ्' में उकार उच्चारणार्थ है और ङकार इत्संज्ञक है।

प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'पुंस्' को असुङ् आदेश हुआ 'असुङ्' ङित् है। अतः 'ङिच्च' से 'पुंस्' के अन्त्य वर्ण (सकार) के स्थान पर होगा। पुं असुङ् सु। तब 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' के अनुसार अनुस्वार पूर्व रूप में परिवर्तित हो गया।

पुम् असुङ् स्। यहाँ नुम् आगम (उगिदचाम्०) हुआ। अपृक्त सकार का लोप हो गया। पुम् अन् स्। उपधा को दीर्घ होकर (सान्तमहत:०) 'पुम् आ नुम् स्' बना। संयोगान्त लोप होकर 'पुमान्' रूप बना।

सम्बुद्धि में दीर्घ नहीं होता है। हे पुमन्।

पुंस् शस्-पुंस:।

'भ्याम्' में 'संयोगान्तस्य लोप:' के द्वारा लोप होकर 'मोऽनुस्वार:' के द्वारा अनुस्वार हो गया। पुन: 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण:' के द्वारा परसवर्ण हो गया। पुम्भ्याम्।

पुंसु-यहाँ सकार का लोप होकर मकार को अनुस्वार हो गया।

विभक्ति	एक०	द्विव०	बहुव०
प्र०	पुमान्	पुमांसौ	पुमांस:
सं०	हे पुमन्	हे पुमांसौ	हे पुमांस:
द्वि०	पुमांसम्	पुमांसौ	पुंस:
तृ०	पुंसा	पुम्भ्याम्	पुम्भि:
च०	पुंसे	पुम्भ्याम्	पुम्भ्य:
पं०	पुंस:	पुम्भ्याम्	पुम्भ्य:
ष०	पुंस:	पुंसो:	पुंसाम्
स०	पुंसि	पुंसो:	पुंसु

उशनस् (शुक्र)

'उशनस् सु'-यहाँ अनङ् आदेश (ऋदुशनस्०) हुआ। उशन अनङ् स्। पर रूप तथा नकारान्त की उपधा को दीर्घ (सर्वनामस्थाने चाऽस०) हुआ। उशनान् स्। अपृक्तसकार का लोप तथा नलोप (न लोप: प्रतिपदि०) हो गया। उशना।

अस्येति-सम्बुद्धि में उशनस् शब्द को विकल्प से अनङ् आदेश हो तथा नकार का लोप भी हो।

हे उशनस् सु-यहाँ सकार का लोप हो गया। प्रकृत वार्त्तिक के द्वारा अनङ् आदेश विंकल्प से हुआ। उशनस्-उशन अनङ् स्। अब 'हल्ङ्याब्भ्य:०' के द्वारा सकार का लोप हो गया तथा नकार का लोप प्राप्त हुआ। उशन अन् स्-उशन अन्-उशन अ। 'अतोगुणे' से पर रूप होकर हे 'उशन' रूप बना। नकार का लोप न होने की अवस्था में 'उशनन्' रूप बन गया। अनङ् आदेश अभाव पक्ष में 'उशनस् स्' के अपृक्त सकार का लोप हुआ। पुन: सकार को विसर्ग हो गया। उशनस्-उशनरु-उशन:।

'उशनस् भ्याम्' इस दशा में (स्वादिष्वसर्व०) पद संज्ञा हुई। सकार को रु आदेश (ससजुषो: रु:) तथा उसे उकार आदेश (हशि च) होकर 'उशनोभ्याम्' बना।

'उशनस् सु'-यहाँ रुत्व तथा विसर्ग हुआ। उशनःसु। तब 'विसर्जनीयस्य—' के द्वारा प्राप्त सकार का 'वा शरि' के द्वारा बाध हो गया। तब पक्ष में 'विसर्जनीयस्य०' के द्वारा सकार होकर दो रूप बने। उशनस्सु। उशनः सु।

प्र०	उशना	उशनसौ	उशनसः
सं०	हे उशनन्	हे उशनसौ	हे उशनसः
द्वि०	उशनसम्	उशनसौ	उशनः
तृ०	उशनसा	उशनोभ्याम्	उशनोभिः
च०	उशनसे	उशनोभ्याम्	उशनोभ्यः
पं०	उशनसः	उशनोभ्याम्	उशनोभ्यः
षं०	उशनसः	उशनसोः	उशनसाम्
स०	उशनसि	उशनसोः	उशनःसु, उशनस्सु

अनेहस् (समय)

'अनेहस् सु'- 'ऋदुशनस्०' के द्वारा अनङ् आदेश होकर नकारान्त की उपधा को दीर्घ 'सर्वनाम स्थाने०' सूत्र के द्वारा हुआ। अनेहस् स्- अनेहस् स्- अनेह अनङ् स्। पररूप हुआ। अनेहन् स्। उपधादीर्घ हुआ। अनेहान् स्। अपृक्त सकार का लोप होकर नकार का लोप 'नलोपः प्रतिपदिक-' के द्वारा हुआ। अनेहान्-अनेहा।

हे 'अनेहस् सु'-यहाँ अपृक्त सकार का लोप होकर विसर्गादि कार्य होते हैं। अनेहस्- अनेहरु- अनेहर्- अनेहः। शेष रूप 'उशनस्' की तरह।

वेधस् (ब्रह्मा)

प्रथमा के एकवचन में 'वेधस् स्' इस दशा में धातुभिन्न-असन्त होने से उपधा को 'अत्वसन्तस्य' सूत्र से दीर्घ हुआ। तब अपृक्त सकार का लोप हो जाने पर पदान्त बन गया। तब प्रातिपदिक के सकार को 'रु और रकार को विसर्ग होकर 'वेधाः' रूप सिद्ध हुआ।

सु परे रहते दीर्घ का विधान होने से सम्बुद्धि में दीर्घ नहीं हुआ। तब 'हे वेधः' रूप होगा।

प्र०	वेधाः	वेधसौ	वेधसः
स०	हे वेधः	हे वेधसौ	हे वेधसः
द्वि०	वेधसम्	वेधसौ	वेधसः
तृ०	वेधसा	वेधोभ्याम्	वेधोभिः
च०	वेधसे	वेधोभ्याम्	वेधोभ्यः
पं०	वेधसः	वेधोभ्याम्	वेधोभ्यः
ष०	वेधसः	वेधसोः	वेधसाम्
स०	वेधसि	वेधसोः	वेधःसु, वेधस्सु

चन्द्रमस्, सुमेधस्, सुमनस् (देवता-अच्छे मन वाला), हिरण्यरेतस् (अग्नि, सूर्य), दिवौकस् (देवता), वनौकस् (बन्दर) आदि सकारान्त शब्दों के भी रूप इसी प्रकार बनेंगे।

ईयसुन् प्रत्ययान्त कनीयस् (छोटा), महीयस् (बड़ा) आदि पुंल्लिङ्ग शब्दों के सर्वनामस्थान में 'उगिदचां०' के द्वारा नुम् आगम और 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' सूत्र से सान्त संयोग की उपधा का दीर्घ होगा। तब सर्वनामस्थान प्रत्ययों में 'विद्वस्' शब्द के समान रूप बनेंगे और शेष स्थलों में 'वेधस्' शब्द के समान बनेंगे।

अदस् (वह)

३५५. **[६]अदस औ[१] सुलोपश्च (७/२/१०७)**

अदस औत् स्यात् सौ परे, सुलोपश्च। 'तदोः सः-' इति सः-असौ। त्यदाद्यत्वम्, पररूपत्वम्, वृद्धिः।

अदस इति-सु परे रहते 'अदस्' को औकार आदेश हो तथा सु का लोप भी हो।

'अदस् सु'- यहाँ 'त्यदादीनामः' के द्वारा अकार आदेश प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा इसका बाध होकर सुलोप और 'औ' अन्तादेश होगा। अद औ सु-अदऔ। 'वृद्धिरेचि' के द्वारा वृद्धि आदेश हो गया। अदौ। 'अदसोऽसे०' से 'औ' प्राप्त हुआ, परन्तु 'तदोः सः'— (पा० ७.२.१०६) की दृष्टि में असिद्ध होने से प्रवृत्त न हुआ। तब 'तदोः सः साव०' के द्वारा अनन्त्य दकार को सकार हुआ। असौ।

'अदस् औ' में 'त्यदादीनामः' के द्वारा अकार आदेश हुआ। 'अतो गुणे' के द्वारा पररूप हुआ। अद अ औ-अद औ। 'वृद्धिरेचि' के द्वारा वृद्धि आदेश प्राप्त था। 'प्रथमयोः पूर्व०' के द्वारा पूर्वसवर्ण दीर्घ की प्राप्ति हुई। तब 'नादिचि' के द्वारा इसका निषेध हुआ। पुनः वृद्धि आदेश होकर 'अदौ' बन गया।

३५६. **[६]अदसोऽसे[६] र्दाद्[५] [१]उदो[६] मः[१] (८/२/८०)**

अदसोऽसान्तस्य दात् परस्य उदूतौ स्तो दस्य मश्च। आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य उः, दीर्घस्य ऊः। अमू। जसः शी, गुणः।

अदस इति- जिसके अन्त में सकार न हो, ऐसे अदस् के दकार से परवर्ती वर्ण को उकार तथा ऊकार हो व दकार को मकार हो।

आन्तर०-परिणाम रूप सादृश्य से ह्रस्व को ह्रस्व तथा दीर्घ वर्ण को दीर्घ वर्ण होता है।

'अदौ' ऐसा हो जाने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा दीर्घ ऊकार हुआ। दकार को मकार हुआ। तब 'अमू' बन गया।

जसः शीति-जस् में त्यदाद्यत्व और पररूप होने पर अकारान्त बन जाने से जस् को 'जसः शी' से 'शी' आदेश हुआ। अदस् जस्। अद अ जस्। अद शी।

गुण इति-शकार के लोप होने पर गुण एकादेश हुआ। तब 'अदे' यह स्थिति

हुई। अद ई। अदे।

३५७. एत[६] ईद्[१] बहुवचने[७] (८/२/८१)

अदसो दात् परस्यैत ईद्, दस्य च मो बह्वर्थोक्तौ। अमी। 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे। अमुम्, अमू, अमून्। मुत्वे कृते घिसंज्ञायां 'ना भाव:।

एत इति— बहुत्व की विवक्षा में अदस् शब्द के दकार से परवर्ती एकार को ईत् आदेश हो तथा दकार को मकार आदेश हो।

'अदस् जस्'— यहाँ सकार को 'त्यदादीनाम:' से अकार तथा 'अतो गुणे' से पररूप हुआ। तब 'जस: शी' के जस् को 'शी' आदेश हुआ। शकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। तब 'आद् गुण:' के द्वारा गुण आदेश हुआ। अदस् जस्- अद अ जस्- अद जस्- अद शी-अद ई-अदे। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा एकार को ईकार तथा दकार को मकार होकर 'अमी' रूप सिद्ध हुआ।

पूर्वत्रा०- उत्व तथा मत्व कार्य विधायक सूत्र त्रिपादी में स्थित हैं, वे असिद्ध हैं। अत: पहले विभक्ति कार्य होगे। पीछे उत्व आदि कार्य होंगे।

'अदस् अम्'-यहाँ सकार को अकार हो गया। पररूप हो गया। अद अ अम्-अद अम्। 'अमि पूर्व:' के द्वारा पूर्व सवर्ण हो गया। अदम्। अब पूर्व सूत्र के द्वारा उत्व तथा मत्व कार्य होकर 'अमुम्' रूप सिद्ध हुआ।

शस् में पररूप आदि होकर 'अद अस्' यह रूप बना। 'प्रथमयो: पूर्व—' के द्वारा नकार हुआ। अदान्। तब उत्व तथा मत्व होकर 'अमून्' बना।

मुत्वे कृते-तृतीया एकव० में 'अद टा'-ऐसा बन जाने पर मुत्व हुआ। अमु टा। 'शेषोघ्यसखि' के द्वारा घिसंज्ञा हुई तब 'टा' को 'ना' आदेश हुआ। अमुना। आङो नाऽस्त्रि०।

३५८. न[ँ] मु[१] ने[७] (८/२/३)

'ना' भावे कर्तव्ये कृते च मुभावो नासिद्ध:। अमुना। अमूभ्याम्।३। अमीभि:। अमुष्मै। अमीभ्य:। अमुष्मात्। अमुष्य। अमुयो:। अमीषाम्। अमुष्मिन्। अमीषु। (इति सकारान्ता:।) इति हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम्।

न मु इति-'ना' भाव करना हो अथवा कर लिया हो तो 'मु' भाव असिद्ध नहीं होता।

'अमु टा' इस दशा में 'अदसोऽसेर्दादु दो म:' (पा० ८.२.८०) से प्राप्त मकार व उकार 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (पा० ७.३.११९) के प्रति असिद्ध हैं। अत: 'ना' आदेश की प्राप्ति न होगी। इसका समाधान है कि नाभाव करने में मुभाव असिद्ध नहीं होता है। जब नाभाव करने में मुभाव असिद्ध न हुआ तो ह्रस्व उकारान्त मिल जाने से घिसंज्ञा होकर 'ना' आदेश हो गया। 'ना' आदेश किये जाने पर भी मुभाव असिद्ध नहीं है। अत: 'सुपि

च' के द्वारा दीर्घ भी नहीं हुआ। अतः 'अमुना' रूप बना।

'भ्याम्' में त्यदाद्यत्व और पररूप होने पर 'सुपि च' से दीर्घ हो गया। अदस् भ्याम्। अद अभ्याम्। अदभ्याम्। अदाभ्याम्। 'अदसोऽसे०' से मुत्व होकर 'अमूभ्याम्' बना।

'अदस् भिस्' में त्यदाद्यत्व, पररूप होकर 'अद भिस्' इस स्थिति में मुत्व, रुत्व व विसर्ग होकर 'अमीभिः' बनेगा।

'अदस् ङे' में इस प्रकार कार्य होंगे। अद अ ङे। अद ङे। सर्वनाम्नः स्मै। अदस्मै। मुत्व होकर 'अमुष्मै' बना।

अदस् भ्यस्। अद अभ्यस्। अद भ्यस्। अमीभ्यः। अदस् ङसि। अद अ ङसि। अद ङसि। अदस्मात्। अमुस्मात्। अमुष्मात्।

'अदस् ङस्' में त्यदाद्यत्व और पररूप करने पर 'अद ङस्' इस दशा में टाङसि०' सूत्र से 'ङस्' को 'स्य' आदेश हुआ। तब मुत्व होने पर 'अमुस्य' इस दशा में 'स्य' (स्थानिवद्भाव से) के सकार को मूर्धन्य षकार हुआ। अमुष्य।

षष्ठी व सप्तमी के द्विवचन में पूर्ववत् कार्य होकर 'अद ओस्'-ऐसी स्थिति बनी। एकार आदेश (ओसि च) तथा अयादेश होकर 'अदयोः' बना। तब मुत्व होकर 'अमुयोः' बना।

'अदस् आम्' में त्यदाद्यत्व व पररूप होकर 'अद आम्'— इस अवस्था में 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' के द्वारा सुट् हुआ। 'बहुवचने झल्येत्' के द्वारा एकारादेश हुआ। अदेस् आम्। तब 'एत ईद्' के द्वारा ईकार हुआ। मकार आदेश होकर 'अमीषाम्'।

सप्तमी एकव० में 'अद ङि' ऐसा बन जाने पर 'ङसि ङ्योः०' के द्वारा 'स्मिन्' आदेश हुआ। मुत्व तथा मूर्धन्य आदेश होकर 'अमुष्मिन्' बनेगा।

सप्तमी बहुवचन में एकार आदेश आदि कार्य होकर 'अदेसु' बना। 'एत ईद्—' के द्वारा ईकार आदेश हुआ। तब मकार आदेश तथा मूर्द्धन्य आदेश होकर 'अमीषु' बना।

।। हलन्त पुँल्लिङ्ग प्रकरण समाप्त ।।

अथ हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम्

हकारान्त उपानह् (जूता)

३५९. [६]**नहो धः**[१] (८/२/३४)

नहो हस्य धः स्याद् झलि पदान्ते च।

नह इति–पदान्त में या झल् परे रहते 'नह्' धातु के हकार को धकार हो।

३६०. [७]**नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु क्वौ**[७] (६/३/११४)

क्विबन्तेषु पूर्वपदस्य दीर्घः। उपानत्, उपानद्। उपानहौ। उपानत्सु। क्विन्नन्तत्वात्

कुत्वेन घः-उष्णिक्, उष्णिहौ। उष्णिग्भ्याम्। द्यौः, दिवौ, दिवः। द्युभ्याम्। गीः गिरौ, गिरः। एवं-पूः। चतस्रः। चतसृणाम्। का, के, काः-सर्वावत्।

नहीति-क्विप् प्रत्ययान्त नह, वृत्, वृष् व्यध्, रुच् सह् और तन् धातु से परे रहते पूर्वपद को दीर्घ हो।

उप नह् धातु से क्विप् करने पर ही 'उपानह्' शब्द बनता है।

'उपानह्' से परे सु, भ्याम्, भिस्, भ्यस् तथा सुप् प्रत्ययों के परे रहते धकार आदेश होगा।

'उपानह् सु'-अपृक्त सकार का लोप हो गया। 'नहो धः' के द्वारा धकार आदेश, जश्त्व तथा 'वाऽवसाने' के द्वारा विकल्प से चर्त्व हो गया। उपानह् स्- उपानह्- उपानध्- उपानद्- उपानद् तथा उपानत्।

'सुप्' में धकार आदेश, 'खरि च' से तकार होकर 'उपानत्सु' रूप बनेगा।

उष्णिह् (छन्दःविशेष)

क्विन् इति- उद् पूर्वक स्निह् से क्विन् होकर 'उष्णिह्' शब्द बना।

'उष्णिह् सु'- अपृक्त सकार का लोप हुआ। पदान्त होने से 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' के द्वारा कुत्व (घकार) हो गया। तब 'झलां जश्०' के द्वारा गकार। 'वाऽवसाने' के द्वारा विकल्प से चर्त्व हो गया। उष्णिह् स्-उष्णिह्-उष्णिघ्-उष्णिग्,- उष्णिग्, उष्णिक्।

उष्णिहौ-औ का रूप है। अजादि विभक्तियों में इसी प्रकार कोई विशेष कार्य नहीं होता।

'भ्याम्' में हकार को घकार और उसको जश् होकर 'उष्णिग्भ्याम्' रूप बना। हलादि विभक्तियों में इतना ही कार्य होता है। सुप् में गकार को चर् (ककार) होने पर सकार को मूर्धन्य होकर 'उष्णिक्षु' रूप होता है।

विभक्ति	एक०	द्विव०	बहुव०
प्र०	उष्णिग्, उष्णिक्	उष्णिहौ	उष्णिहः
सं०	हे उष्णिक्	हे उष्णिहौ	हे उष्णिहः
द्वि०	उष्णिहम्	उष्णिहौ	उष्णिहः
तृ०	उष्णिहा	उष्णिग्भ्याम्	उष्णिग्भिः
च०	उष्णिहे	उष्णिग्भ्याम्	उष्णिग्भ्यः
पं०	उष्णिहः	उष्णिग्भ्याम्	उष्णिग्भ्यः
ष०	उष्णिहः	उष्णिहोः	उष्णिहाम्
स०	उष्णिहि	उष्णिहोः	उष्णिक्षु

वकारान्त शब्द दिव् (आकाश)

'दिव् सु'-'दिव औत्' के द्वारा औत् आदेश हो गया। यणादेश होकर विसर्गादि कार्य हो गया। दि औ स् - द्यौः।

दिवौ, दिवः-औ और जस् के रूप हैं।

द्युभ्याम्-भ्याम् में 'दिव उत्-' सूत्र से वकार को उकार आदेश होने से 'यण्' होकर रूप बनता है।

रकारान्त शब्द गिर् (वाणी)

'गिर् सु' अब रकारान्त उपधा में इकार है, अतः 'र्वोरूपधायाः:-' सूत्र के द्वारा इसे दीर्घ हो गया। गिर् सु-गीर् सु-गीर् षु-गीर्षु।

विभक्ति	**एक०**	**द्विव०**	**बहुव०**
प्र०	गीः	गिरौ	गिरः
सं०	हे गीः	हे गिरौ	हे गिरः
द्वि०	गिरम्	गिरौ	गिरः
तृ०	गिरा	गीर्भ्याम्	गीर्भिः
च०	गिरे	गीर्भ्याम्	गीर्भ्यः
पं०	गिरः	गीर्भ्याम्	गीर्भ्यः
ष०	गिरः	गिरोः	गिराम्
सं०	गिरि	गिरोः	गीर्षु

एवमिति- इसी प्रकार पुर् (नगर) के रूप होंगे।

प्र०	पूः	पुरौ	पुरः
सं०	हे पूः	हे पुरौ	हे पुरः
द्वि०	पुरम्	पुरौ	पुरः
तृ०	पुरा	पूर्भ्याम्	पूर्भिः
च०	पुरे	पूर्भ्याम्	पूर्भ्यः इत्यादि

चतुर् (चार)

'त्रिचतुरोः स्त्रियाम्-' के द्वारा 'चतसृ' आदेश हो जाता है। तब 'तिसृ' की तरह रूप बनेंगे।

जस् और शस् में प्राप्त पूर्वसवर्णदीर्घ को बाधकर 'अचि र ऋतः' सूत्र से ऋकार को रेफ आदेश होकर 'चतस्रः' रूप हुआ। आम् में 'नुट्' होने पर 'नामि' से प्राप्त दीर्घ का 'न तिसृचतसृ' से निषेध हो जाता है। णत्व होकर रूप सिद्ध हुआ। चतसृणाम्।

चतसृभिः, चतसृभ्यः२, चतसृषु— इन में विशेष कार्य नहीं होता।

विभक्ति	**बहुव०**	**विभक्ति**	**बहुव०**
प्र०	चतस्रः	द्वि०	चतस्रः
तृ०	चतसृभिः	च०	चतसृभ्यः
पं०	चतसृभ्यः	ष०	चतसृणाम्
स०	चतसृषु		

मकारान्त शब्द किम् (कौन)

'किमः कः' सूत्र के द्वारा 'क' आदेश हो जाता है। तब स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय होता है। यह 'का' शब्द सर्वनाम है। अतः सर्वा' शब्द की तरह इसके रूप होंगे।

प्र०	का	के	काः
द्वि०	काम्	के	काः
तृ०	कया	काभ्याम्	काभिः
च०	कस्यै	काभ्याम्	काभ्यः
पं०	कस्याः	काभ्याम्	काभ्यः
ष०	कस्याः	कयोः	कासाम्
स०	कस्याम्	कयोः	कासु

इदम् (यह)

३६१. [१]यः सौ[७] (७/२/११०)

इदमो दस्य यः इयम्। त्यदाद्यत्वम्, पररूपत्वम्, टाप्, 'दश्च' इति मः-इमे, इमाः। इमाम्। अनया। हलि लोपः-आभ्याम् आभिः। अस्यै। अस्याः। अनयोः। आसाम्। अस्याम्। आसु। त्यदाद्यत्वम्, टाप्, स्या, त्ये,त्याः। एवं-तद्, एतद्। वाक्, वाग्। वाचौ। वाग्भ्याम्। वाक्षु। 'अप्' शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। 'अप्तृन्-' इति दीर्घः- आपः। अपः।

य इति-स्त्रीलिङ्ग के विषय में सु परे रहते 'इदम्' शब्द के दकार को यकार हो।

'इदम् सु'-त्यदादीनामः' के द्वारा अकार आदेश प्राप्त था, परन्तु 'इदमो मः' के द्वारा इसका बाध हो जाता है। प्रकृत सूत्र के द्वारा दकार को यकार हो गया तथा अपृक्त सकार का लोप हो गया। इदम् स्- इयम् स्-इयम्।

त्यदाद्यत्वमिति-अजादि विभक्तियों के रूपों की साधन प्रक्रिया में क्रमशः त्यदाद्यत्व, पररूप तथा टाप् इत्यादि होंगे। यथा-

'इदम् औ'-यहाँ त्यदादित्व तथा पररूप होकर 'इद औ' बना। तब दकार को मकार हुआ। स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् हुआ। इमा औ। 'औङः शी' के द्वारा शी आदेश हुआ। गुण होकर 'इमे' बना। आद्गुणः।

प्र०	इयम्	इमे	इमाः
द्वि०	इमाम्	इमे	इमाः
तृ०	अनया	आभ्याम्	आभिः
च०	अस्यै	आभ्याम्	आभ्यः
पं०	अस्याः	आभ्याम्	आभ्यः
ष०	अस्याः	अनयोः	आसाम्
स०	अस्याम्	अनयोः	आसु

दकारान्त शब्द त्यद् (वह)

त्यदाद्यत्वमिति-त्यद् शब्द के दकार को भी त्यदाद्यत्व और पररूप करने पर स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् प्रत्यय होता है। तब 'त्या' शब्द बन जाता है। इसके रूप सर्वनाम 'सर्वा' शब्द के समान ही सिद्ध होते हैं।

सु में 'तदो: स: सावनन्त्ययो:' से तकार को सकार आदेश हो जाता है। सु का लोप हुआ। स्या।

एवम्-इसी प्रकार 'तद्' और 'एतद्' के रूप भी सिद्ध होते हैं अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से त्यदाद्यत्व, पररूप और आ (टाप्) करने पर 'ता' और 'एता' शब्द बन जाते हैं। तत्पश्चात् विभक्तिकार्य करना चाहिए।

चकारान्त शब्द वाच् (वाणी)

'वाच् सु' यहाँ —'सु' का हल्ङ्यादि लोप, पदान्त चकार को 'चो: कु:' से कवर्ग जश्त्व से जकार (झलां जशोऽन्ते), और गकार को 'वाऽवसाने' से वैकल्पिक चर् होने पर दो रूप सिद्ध होते हें। वाच् सु-वाच्-वाज्-वाग्-वाग्, वाक्। वाचौ-'औ' का रूप है। वाग्भ्याम्-भ्याम् में चकार को जश्त्व (जकार) और उसको कुत्व (चो: कु:) होकर रूप सिद्ध हुआ।

हलादि विभक्तियों में इसी प्रकार जश्त्व और कुत्व कार्य होंगे। सुप् में जश्त्व और कुत्व होने पर गकार को 'खरि च' से चर्त्व होकर सकार को 'आदेशप्रत्यययो:' सूत्र से मूर्धन्य षकार हुआ। तब 'वाक्षु' रूप बना।

विभक्ति	एक०	द्विव०	बहुव०
प्र०	वाक् वाग्	वाचौ	वाच:
सं०	हे वाक्-ग्	हे वाचौ	हे वाच:
द्वि०	वाचम्	वाचौ	वाच:
तृ०	वाचा	वाग्भ्याम्	वाग्भि:
च०	वाचे	वाग्भ्याम्	वाग्भ्य:
पं०	वाच:	वाग्भ्याम्	वाग्भ्य:
ष०	वाच:	वाचो:	वाचाम्
स०	वाचि	वाचो:	वाक्षु

पकारान्त शब्द आप् (जल)

अप् शब्द नित्य बहुवचन में प्रयुक्त होता है।

'अप् जस्'-यहाँ 'अप्तृन्तृच्०' के द्वारा उपधा को दीर्घ हो गया। विसर्गादि कार्य हो कर अप् अस्-आप् अस्-आप: बन गया।

'अप् शस्'-यहाँ पूर्ववत् क्रिया होगी, केवल उपधा दीर्घ नहीं होगा। अप:।

३६२. [६]**अपो भि**[७] **(७/४/४८)**

अपस्तकारो भादौ प्रत्यये। अद्भि:। अद्भ्य: २। अपाम्। अप्सु। दिक्, दिग्।

दिशः। दिग्भ्याम्। 'त्यदादिषु-'इति दृशेः क्विन्विधानाद् अन्यत्रापि कुत्वम्-दृक्, दृग्। दृशौ। दृग्भ्याम्। त्विट्, त्विड्,। त्विड्भ्याम्। 'ससजुषो रुः' इति रुत्वम्–सजूः। सजुषौ। सजूर्भ्याम्। (सजूःषु, सजूष्षु।) आशीः। आशिषौ। आशीर्भ्याम्। असौ। उत्वमत्वे-अमू, अमूः। अमुया। अमूभ्याम्, अमूभिः। अमुष्यै। अमूभ्यः। अमुष्याः। अमुयोः। अमूषाम्। अमुष्याम्। अमूषु।

॥ इति हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ॥

अप इति- भकारादि प्रत्यय परे रहते 'अप्' शब्द को तकार (अन्तादेश) हो।

'अप् भिस्' प्रकृत सूत्र के द्वारा तकार आदेश हो गया। अत् भिस्। अब जश्त्व (झलां जशोऽन्ते) होकर 'अद्भिः' रूप बन गया।

अप् शब्द

विभक्ति	बहुव०	विभक्ति	बहुव०
प्र०	आपः	द्वि०	अपः
तृ०	अद्भिः	च०	अद्भ्यः
पं०	अद्भ्यः	ष०	अपाम्
स०	अप्सु		

शकारान्त शब्द

दिश् (दिशा)

यह शब्द क्विन् प्रत्ययान्त है। अतः तादृश् (पुँल्लिङ्ग) की तरह क्रिया होगी। अजादि विभक्तियों में कोई कार्य नहीं होगा।

विभक्ति	एक०	द्विव०	बहुव०
प्र०	दिक्–ग्	दिशौ	दिशः
सं०	हे दिक्–ग्	हे दिशौ	हे दिशः
द्वि०	दिशम्	दिशौ	दिशः
तृ०	दिशा	दिग्भ्याम्	दिग्भिः
च०	दिशे	दिग्भ्याम्	दिग्भ्यः
पं०	दिशः	दिग्भ्याम्	दिग्भ्यः
ष०	दिशः	दिशोः	दिशाम्
स०	दिशि	दिशोः	दिक्षु

दृश् (आँख)

त्यदिति- त्यद् आदि उपपद रहते दृश् धातु से क्विन् का विधान किया गया है। अतः अन्यत्र (त्यद् आदि उपपद न रहने पर) भी कुत्व हो जाता है।

षकारान्त शब्द त्विष् (कान्ति)

'त्विष् सु'-यहाँ अपृक्त हल् का लोप हो गया। त्विष्। 'झलां जशोऽन्ते' के द्वारा डकार हुआ। 'वाऽवसाने' के द्वारा विकल्प से चर् हुआ। त्विड्, त्विट्।

सजुष् (मित्र) शब्द

ससजुषोरिति-'सु' में अपृक्त हल् का लोप होगा। षकार को 'रु' आदेश हो गया। सजुष् सु-सजुष् स्-सजुष्-सजु रु। 'र्वो रुपधायाः' के द्वारा उपधादीर्घ हुआ सजू र्। रेफ को विसर्ग हो गया। सजूः।

'सजुष् भ्याम्'-यहाँ पूर्ववत् कार्य होकर 'सजूर्भ्याम्' बना।

'सजुष् सुप्'-इस अवस्था में 'रु' आदेश, उपधादीर्घ तथा विसर्ग होकर 'सजूःसु' स्थिति बनी। तब विसर्ग को सकार (विसर्जनीयस्य सः) प्राप्त हुआ। 'वा शरि' के द्वारा विकल्प से विसर्ग हुआ। विसर्गपक्ष में 'सजूः षु' रूप बना। पक्ष में पूर्व सकार को ष्टुत्व होकर 'सजूष्षु' रूप बना। सजुष् सु > सजु रु सु। सजु र् सु। स जू र् सु। सजूः षु। सजूष्षु।

आशिष् (आशीर्वाद)

चूंकि' आशिष् सु'-षकार असिद्ध है। अतः अपृक्त सकार का लोप होकर, 'ससजुषोः रुः' के द्वारा विसर्गादि कार्य हो गया। उपधा को दीर्घ होकर आशिष् सु-आशिष्-आशिरु- आशीर्-आशीः बन गया।

'आशिष् भ्याम्'-यहाँ पूर्ववत् 'रु' आदेश तथा उपधा दीर्घ होकर 'आशीर्भ्याम्' बन गया।

विभक्ति	**एक०**	**द्विव०**	**बहुव०**
प्र०	आशीः	आशिषौ	आशिषः
सं०	हे आशीः	हे आशिषौ	हे आशिषः
द्वि०	आशिषम्	आशिषौ	आशिषः
तृ०	आशिषा	आशीर्भ्याम्	आशीर्भिः
च०	आशिषे	आशीर्भ्याम्	आशीर्भ्यः
पं०	आशिषः	आशीर्भ्याम्	आशीर्भ्यः
ष०	आशिषः	आशिषोः	आशिषाम्
स०	आशिषि	आशिषोः	आशीःषु, आशीष्षु

सकारान्त शब्द अदस्

स्त्रीलिङ्ग में 'अदस् सु'- इस स्थिति में 'सु' को 'औ' आदेश हो गया (अदस औ सुलोपश्च)। सु का लोप हो गया। अदस् औ। अद औ। 'तदोः सः साव०' के द्वारा दकार को सकार और वृद्धि होकर 'असौ' बना।

विशेष- स्त्रीलिङ्ग में 'सु' को छोडकर शेष विभक्तियों में त्यदाद्यत्व तथा पररूप होकर टाप् होता है अदस्-अद अ-अद्-अद टाप्-अदा। तब 'अदा' इस शब्द को मुत्व करके रूप बनते हैं।

'अदस् औ'- यहाँ पूर्ववत् कार्य होकर 'अदाऔ' बन गया। वृद्धि हो गई। अदौ। मुत्व भाव होकर (अदसोऽसेः०) 'अमू' बना।

जस् में 'अदा अस्' बन गया। तब पूर्व सवर्णदीर्घ होकर 'अदाः' बन गया। इसे मुत्व भाव होकर 'अमूः' बन गया।

'अदस् टा'-यहाँ पूर्ववत् कार्य होकर 'अदा आ' ऐसा बन गया। तब 'आङि चापः' के द्वारा एकार आदेश अथा 'एचोऽय०' के द्वारा अय् आदेश होकर 'अदया' बन गया। इसे मुत्व करने पर 'अमुया' बन गया।

भिस् में 'अदाभिः' होकर मुत्व भाव हो गया। अमूभिः।

'ङे' में 'अदा ङे' इस स्थिति में स्याट् आगम (सर्वनाम्नः स्याड्०) तथा ह्रस्व हो गया। अद स्याट् ए। तब वृद्धि (वृद्धिरेचि), मुत्व भाव तथा मूर्द्धन्य आदेश होकर 'अमुष्यै' रूप बना।

'अदा भ्यस्'-यहाँ मुत्व होकर 'अमूभ्यः' बना।

ङसि तथा ङस् में स्याट्, ह्रस्व, सवर्ण दीर्घ तथा मुत्व होकर 'अमुष्याः' रूप बना।

अदस् ओस्-अद अ टाप् ओस्-अदाओस्— अदे ओस् (आङि चापः)-अदयोः-अमुयोः।

'आम्' में सुट् आगम (आमि सर्वनाम्नः सुट्), मुत्व तथा मूर्धन्य होकर 'अमूषाम्' बन गया।

सुप् में 'अदा सु'-इस स्थिति में मुत्व तथा मूर्धन्य आदेश होकर 'अमूषु' बना।

॥हलन्त स्त्रीलिङ्ग प्रकरण समाप्त॥

अथ हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्

हकारान्त स्वनडुह् (अच्छे बैल वाला)

स्वमोर्लुक्, दत्वम्-स्वनडुत्, स्वनडुद्। स्वनडुही। 'चतुरनडुहोः' इत्याम्-स्वनड्वांहि। पुनस्तद्वत्। शेषं पुंवत्। वाः, वारी, वारि। वार्भ्याम्। चत्वारि। किम्, के, कानि। इदम्, इमे, इमानि।

(वा०) अन्वादेशे नपुंसके एनद् वक्तव्यः।

एनत्, एनद्। एने। एनानि। एनेन। एनयोः। अहः। विभाषा ङिश्योः-अह्नी, अहनी। अहानि।

स्वमोरिति-नपुंसक लिङ्ग होने से 'स्वमोर्नपुंसकात्' सूत्र से सु और अम् का लोप होता है।

यह प्रक्रिया इस प्रकरण में सामान्य रूप से सभी शब्दों में समझें।

दत्वम्-सु और अम् का लोप होने पर 'स्वनडुह्' शब्द के हकार को 'वसुस्रंसु-' सूत्र से दकार आदेश होता है।

'स्वनडुह् सु' - 'स्वमोर्नपुंसकात्' इस के द्वारा 'सु' का लोप हो गया। स्वनडुह् की पद संज्ञा हो गई। 'वसुस्रंसुध्वंसु-' के द्वारा हकार को दकार तथा 'वाऽवसाने' के द्वारा वैकल्पिक चर्त्व हो गया। स्वनडुद्-स्वनडुद्, स्वनडुत्।

'स्वनडुह् औ'-यहाँ 'नपुंसकाच्च' के द्वारा 'शी' आदेश हो गया। स्वनडुही।

'स्वनडुह् अम्' यहाँ पूर्ववत् क्रिया होकर 'स्वनडुद्' तथा 'स्वनडुत्' बनेंगे।

'स्वनडुह् जस्'-यहाँ 'जश्शसोः शि' के द्वारा 'शि' आदेश हो गया। 'शि सर्वनामस्थानम्' के द्वारा उसकी सर्वनामस्थान संज्ञा हो गई। 'चतुरनडुहोः-' के द्वारा आम् का आगम हुआ। 'इको यणचि' के द्वारा 'यण्' आदेश हो गया। स्वनडुह् शि-स्वनडु आम् ह् इ-स्वनड्वाम् ह् इ। 'नपुंसकस्य झलचः' के द्वारा नुम् आगम तथा नकार को 'नश्चापदा०' के द्वारा अनुस्वार आदेश हुआ। स्वनड्वा ह्इ-स्वनड्वा नुम् हि-स्वनड्वान् हि- स्वनड्वांहि। नुम् के 'उ' तथा 'म्' की इत्संज्ञा होगी।

पुनरिति-फिर उसी प्रकार रूप प्रथमा के समान ही बनते हैं नपुंसक में प्रथमा और द्वितीया के एक जैसे रूप बनते हैं।

शेषमिति-शेष (अर्थात् तृतीयादि में) रूप पुँल्लिङ्ग के समान होंगे।

रकारान्त शब्द वार् (जल)

'वार् सु' सु का लोप होकर 'वाः' रूप सिद्ध हुआ। स्वमोर्नपु०। खरवसान०।

'वार् औ'- 'शी' आदेश होकर 'वारी' रूप हुआ। नपुंसकाच्च।

'वार् जस्'-यहाँ 'जश्शसोः शिः' के द्वारा 'शि' आदेश हो गया। वारि।

इसी प्रकार द्वितीया विभक्ति में होंगे। तृतीया आदि में पुँल्लिङ्ग की तरह रूप होंगे।

चतुर् (चार)

'चतुर् जस्'-यहाँ (जश्शसोः शि) 'जस्' को शि आदेश हो गया। तब सर्वनाम स्थान संज्ञा होकर 'चतुरनडुहोः०' के द्वारा 'आम्' आगम हो गया। चतुर् इ-चतु आम् र् इ- चतुआरि। अब यणादेश हो गया। चत्वारि। शेष रूप पुँल्लिङ्ग की तरह होंगे।

मकारान्त शब्द किम् (कौन)

'किम् सु'-यहाँ 'स्वमोर्नपुंसकात्' के द्वारा 'सु' का लोप हो गया। किम्।

'औ' में 'किमः कः' से 'क' आदेश होने पर अदन्त शब्द बन गया। तब औ को शी आदेश और गुण एकादेश होकर रूप सिद्ध होगा। के। आद्गुणः।

कानि—'जस्' और 'शस्' में 'क' आदेश होने पर पूर्ववत् कार्य होगा। शेष रूप पुंल्लिङ्ग के समान बनेंगे।

इदम्

'इदम् सु'-विभक्ति का लुक् हो गया। तब 'त्यदादीनामः' के द्वारा अकार आदेश नहीं हुआ। 'न लुमताङ्गस्य' के द्वारा इस का निषेध हो जाता है। 'इदम्' रूप सिद्ध हुआ।

'इदम् औ'- अकार आदेश, पररूप होकर 'औ' के स्थान पर 'शी' आदेश हुआ। गुण आदेश होकर-इदअ औ-इदअ शी-इदई-इदे। अब मकार आदेश होकर 'इमे' रूप सिद्ध हुआ।

'इदम् जस्' में त्यदाद्यत्व, पररूप, शि आदेश सर्वनामस्थानसंज्ञा,नुम् आगम, उपधादीर्घ और दकार को मकार होकर 'इमानि' रूप बना। इदम् जस्। इद अ शि। इद नुम् इ। इदान् इ। इमानि। इसी प्रकार द्वितीया के रूप बनेंगे। शेष रूप पुँल्लिङ्ग के समान बनेंगे।

(वा०) अन्वादेश इति- अन्वादेश में नुपंसकलिङ्ग में 'इदम्' और 'एतद्' शब्द को 'एनद्' आदेश हो।

यह वार्तिककार का वचन है। इसके आगे भाष्य में कहा है 'एनदिति नपुंसकैकवचने' अर्थात् 'एनद्' यह आदेश नपुंसक के एकवचन 'सु' 'अम्' में हो। एकवचन (सु, अम्) में ही यह आदेश होता है। अन्यत्र 'एन' आदेश ही होता है।

'सु' 'अम्' के लोप होने पर 'इदम्' को 'एनद्' आदेश हुआ। तब वैकल्पिक चर्त्व होने से दो रूप बने। एनद्, एनत्।

एने-शेष स्थलों में 'एन' आदेश ही होगा। द्विव० में 'औ' को 'शी' आदेश होकर 'एने' रूप बनता है। 'इदम् टा' में 'एन' आदेश 'टा' को 'इन' आदेश तथा गुण होकर 'एनेन' रूप बनेगा। 'इदम् ओस्' में एनादेश, 'ओसि च' से एकारादेश, अयादेश, रुत्व तथा विसर्ग होकर 'एनयोः' बनेगा।

नकारान्त शब्द अहन् (दिन)

'अहन् सु'-यहाँ सु का 'स्वमोर्नपुंसकात्' से लोप हो गया। 'रोऽसुपि' के द्वारा नकार को रेफ आदेश हुआ। तब 'खरवसानयोः०' के द्वारा विसर्ग हो गया। अहन् स्-अहन्-अहर्-अहः।

अह्नी, अहनी-'औ' को 'शी' आदेश हुआ। तब 'विभाषा ङिश्योः' सूत्र से 'अन्' के अकार का लोप विकल्प से होगा

जस् व शस् '> अस्' को से 'जश्शसोः शि' से शि आदेश, 'शि सर्व०' सर्वनामस्थानसंज्ञा, नान्त उपधा अकार को दीर्घ होकर 'अहानि' रूप सिद्ध हुआ।

'अहन् टा'-यहाँ 'अल्लोपोऽनः०' के द्वारा अकार का लोप हो गया। अहन् आ-अह्न् आ-अह्ना।

३६३. अहन् (८/२/६८)

अहन् इत्यस्य रुः पदान्ते। अहोभ्याम् दण्डि।

(वा०) सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः।

हे दण्डिन्, हे दण्डि। दण्डिनी, दण्डीनि, दण्डिना। दण्डिभ्याम्। सुपथि। टेर्लोपः- सुपथी। सुपन्थानि। ऊर्क्, ऊर्ग् ऊर्जी, ऊर्न्जि। नरजानां संयोगः। तत् ते, तानि। यत्, ये, यानि। एतत्, एते, एतानि। गवाक्, गोची गग्वाञ्चि। पुनस्तद्वत्। गोचा। गवाग्भ्याम्। शकृत्, शकृती, शकृन्ति। ददत्, ददती।

अहन्निति-पदान्त में अहन् शब्द को 'रु' आदेश हो।

'अहन् भ्याम्'- हलादि विभक्ति परे रहते 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने'-के द्वारा 'अहन्' शब्द की पद संज्ञा हो गई। प्रकृत सूत्र के द्वारा नकार को 'रु' आदेश हो गया। अह रुभ्याम्। 'हशि च' के द्वारा उकार आदेश हुआ। अह उ भ्याम्। 'आद्गुणः' के द्वारा 'अहोभ्याम्' हो गया।

विभक्ति	**एक०**	**द्विव०**	**बहुव०**
प्र०	अहः	अह्नी, अहनी	अहानि
सं०	हे अहः	हे अह्नी, अहनी	हे अहानि
द्वि०	अहः अह्नी,	अहनी	अहानि
तृ०	अह्ना	अहोभ्याम्	अहोभिः
च०	अह्ने	अहोभ्याम्	अहोभिः
पं०	अह्नः	अहोभ्याम्	अहोभिः
ष०	अह्नः	अह्नोः	अह्नाम्
स०	अह्नि	अह्नोः	अहःसु

दण्डिन् (दण्डधारी)

'दण्डिन् सु'-यहाँ सु का लोप हो जाने पर 'न लोपः०' के द्वारा नकार का लोप हो गया। दण्डिन्- दण्डि।

(वा०) सम्बुद्धौ इति-सम्बुद्धि में नपुंसकलिङ्ग शब्दों के नकार का लोप विकल्प से होता है।

हे दण्डिन्, हे दण्डि-इस वार्तिक से नकारलोप के विकल्प से होने से दो रूप बने।

दण्डिनी-'औ' को 'शी' आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

दण्डीनि-'जस्' को शि आदेश, सर्वनामस्थानसंज्ञा, उपधादीर्घ होकर रूप सिद्ध हो गया।

द्वितीया के रूप भी ऐसे ही बनते हैं। तृतीया आदि विभक्तियों में पुँल्लिङ्ग के समान रूप सिद्ध होते है।

सुपथिन् (अच्छे मार्ग वाला)

'सुपथिन् सु'-यहाँ सु का लोप हो गया। तब नकार का लोप हो गया। सुपथि।

'सुपथिन् औ'- यहाँ 'औ' को 'शी' आदेश हो गया। सुपथिन् शी > ई। 'सुडनपुं०' के द्वारा सर्वनामस्थान संज्ञा नहीं हुई। 'यचि भम्' के द्वारा भसंज्ञा हुई। 'भस्य टेर्लोपः' के द्वारा 'टि' का लोप हो गया। सुपथिन् ई- सुपथ् ई-सुपथी।

'सुपथिन् जस्' में जस् को शि आदेश और शि की सर्वनामस्थानसंज्ञा होकर 'इतोऽत् सर्वनामस्थाने' सूत्र से इकार को अकार आदेश, 'अतो गुणे' से पररूप हुआ तब 'थो न्थः' से 'न्थ' आदेश। उपधादीर्घ (सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ) होकर रूप सिद्ध हुआ। सुपथिन् जस् > शि। सुपथन् इ। सुपन्थन् इ। सुपन्थानि।

इसी प्रकार द्वितीया के रूप बनेंगे। शेष रूप पुंल्लिङ्ग 'पथिन्' शब्द के समान बनते हैं। सम्बुद्धि में नकारलोप के विकल्प से-हे सुपथि, हे सुपथिन्— ये दो रूप बनते हैं।

जकारान्त शब्द ऊर्ज् (तेज)

'ऊर्ज् सु' इस दशा में सु का लोप होने पर पदान्त चवर्ग को 'चोः कुः' सूत्र से कवर्ग (गकार) आदेश हुआ। विकल्प से चर् ककार होकर 'ऊर्क्' और 'ऊर्ग्' दो रूप सिद्ध हुए।

ऊर्जी-'औ' को 'शी' आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

'ऊर्ज् जस्'-'जश्शसोः शिः' के द्वारा 'शि' आदेश हो गया। 'शि सर्वनामस्थानम्' के द्वारा सर्वनाम स्थान संज्ञा होने पर 'उगिदचाम्०' अथवा 'नपुंसकस्य झलचः' से नुम् प्राप्त। नाऽभ्यस्ताच्छतुः से निषेध। 'नपुंसकस्य-' के द्वारा 'नुम्' आगम हो गया। यह अन्त्य अच् के आगे हो गया। ऊ न् र् ज् इस क्रम से संयोग है। अतः नकार और जकार के बीच में रेफ होने से श्चुत्व नहीं हुआ। ऊर्ज् जस्। ऊर्ज् शि > इ। ऊ नुम् र्ज् इ। ऊन्र्जि।

दकारान्त शब्द तद् (वह)

तद्, यद् और एतद् शब्द के सु और अम् के लोप और विकल्प से चर्त्व होने पर 'तत्,' 'यत्' और 'एतत्'-ये रूप सिद्ध होते हैं।

ते, ये, एते-औ परे रहते त्यदाद्यत्व, पररूप, शी आदेश और गुण होने पर रूप सिद्ध होते हैं।

तानि, यानि, एतानि—जस् और शस् को शि आदेश, सर्वनामस्थान संज्ञा, त्यदाद्यत्व, पररूप, नुम् और उपधादीर्घ होकर उक्त रूप बनेंगे। शेष रूप पुँल्लिङ्ग के समान ही बनते हैं।

चकारान्त शब्द गवञ्च् (गो अञ्च्)

'गो अञ्च् सु'-यहाँ 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति०' के द्वारा नकार का लोप हो गया। तब सु का लोप हो गया। 'अवङ् स्फोटाय०' के द्वारा 'गो' शब्द को विकल्प से अवङ् आदेश हुआ। 'अकः सवर्णे दीर्घः' से दीर्घ हुआ। गो अन् च् स्- गो अ च् स्-गो

अ च्-गवङ् अच्-गवाच्। जशत्व होकर 'क्विन् प्रत्ययस्य कुः' के द्वारा कुत्व हुआ। तब 'वाऽवसाने' के द्वारा विकल्प से चर् हुआ। गवाज्-गवाग्-गवाग्, गवाक्।

जहाँ अवङ् आदेश नहीं होगा, वहाँ 'गो अच्' में 'सर्वत्र विभाषा गोः' से विकल्प से प्रकृति भाव होगा। प्रकृति भाव पक्ष में 'गो अच्' तथा अभाव में 'एङः पदान्तादति' के द्वारा पूर्वरूप होकर 'गोच्' बनेगा। इन्हें आगे कुत्व कार्य होकर 'गोअक्' तथा 'गोक्' रूप बनेंगे। ये सभी रूप गति अर्थ वाली अञ्चु धातु के है। इस प्रकार प्रथमा एकव० में चार रूप बनेंगे— गवाग्, गवाक्, गोअक्, गोक्।

पूजा अर्थ वाली अञ्चु के नकार का लोप निषेध 'नाञ्चेः पूजायाम्' के द्वारा होता है।

'गो अन्च् औ'-यहाँ 'औ' को शी आदेश, नकार लोप हो गया। गो अच् शी। 'शी' की सर्वनाम संज्ञा न होने से इसके परे रहते भंसज्ञा होगी। तब 'अचः' के द्वारा अकार का लोप और 'गोची' रूप बना।

'गो अ च् जस्'- इस दशा में जस् को शि आदेश, सर्वनाम संज्ञा, अवङ् आदेश तथा सवर्ण दीर्घ हुआ। गवङ् अन् च् इ। अनुस्वार तथा परसवर्ण हो 'गवाञ्चि'रूप बना।

पुनरिति- द्वितीयामें इसी प्रकार रूप बनेंगे।

'टा' में भसंज्ञा हुई। अकार का लोप (अचः) होकर 'गोचा' रूप बना।

'गो अच् भ्याम्'-यहाँ 'स्वादिष्वसर्वनाम०' के द्वारा पद संज्ञा हुई। तब अवङ् आदेश, सवर्णदीर्घ, चकार को जश् हुआ। तब कवर्ग आदेश होकर 'गवाग्भ्याम्' बना।

अजादि विभक्तियों में अकार का लोप होकर रूप बनेंगे और हलादि में अवङ् आदेश, सवर्णदीर्घ, जश्त्व, कुत्व होकर। 'सुप्' में कुत्व होने पर चर् ककार और सकार को मूर्धन्य षकार होकर 'गवाक्षु' रूप बना।

तकारान्त शब्द शकृत् (विष्ठा)

'शकृत् सु' में सु का लोप हो गया। 'झलां जश्-' के द्वारा दकार हो गया। तब 'वाऽवसाने' के द्वारा विकल्प से चर् हो गया। शकृद्-शकृद्, शकृत्।

शकृती-औ को शी आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

शकृन्ति-जस् को शि आदेश, सर्वनामस्थानसंज्ञा, नुम्, अनुस्वार और परसवर्ण होकर रूप की सिद्धि हुई। शकृत् शि। शकृ न् त् इ। शकृंति। शकृन्ति।

ददत्-(देता हुआ) शब्द के सु और अम् में 'ददत्', औ और औट् में 'ददती' रूप पूर्ववत् सिद्ध होते हैं।

३६४. **वॉ नपुंसकस्य**[६] **(७/१/७९)**

अभ्यस्तात् परो यः शता, तदन्तस्य क्लीबस्य वा नुम् सर्वनामस्थाने। ददन्ति, ददति। तुदत्।

वेति-अभ्यस्त संज्ञक से परे शतृ प्रत्ययान्त नपुँसक अङ्ग का अवयव विकल्प से नुम् हो यदि उससे परे सर्वनाम स्थान प्रत्यय हो।

'ददत् जस्'-यहाँ जस् को शि आदेश तथा प्रकृत सूत्र के द्वारा नुम् आगम हुआ। अतः 'ददति' तथा 'ददन्ति' दो रूप बने।

तुदत् (पीडा पहुँचाता हुआ)

'तुदत् सु' सु का लोप होकर 'तुदत्' रूप सिद्ध हुआ।

३६५. [५]**आच्छी**[६]**नद्यो**[६]**र्नुम्**[१] (७/१/८०)

अवर्णान्ताद् अङ्गात् परो यः शतुरवयवः, तदन्तस्य अङ्गस्य नुम् वा शीनद्योः। तुदन्ती, तुदती। तुदन्ति।

आदिति- शी प्रत्यय और नदी संज्ञक परे होने पर अवर्णान्त अङ्ग से परे शतृ प्रत्यय का अवयव, तदन्त अङ्ग को विकल्प से 'नुम्' होता है।

'तुदत् औ' में तुदत् में अवर्णान्त अङ्ग 'तुद्' है। उससे परे शतृ का अवयव तकार है। तदन्त तुदत् अङ्ग को शी परे रहते विकल्प से 'नुम्' हो गया। तुद नुम् त् शी- तुदन्ती, तुदती।

'तुदत् जस्'-यहाँ 'जश्शसोः शिः' के द्वारा 'शि' आदेश हो जाएगा 'नपुसंकस्य झलचः' के द्वारा 'नुम्' आदेश होगा। तुद् नुम् त् शि- तुदन्ति।

शेष रूप पुँल्लिङ्ग के समान होंगे।

३६६. [६]**शप्श्यनोर्नित्यम्**[१] (७/१/८१)

शप्श्यनोरात् परो यः शतुरवयवः, तदन्तस्य नित्यं नुम् शीनद्योः। (पचन्ती। पचन्ति।) दीव्यत्। दीव्यन्ती। दीव्यन्ति। धनुः। धनुषी। सान्तेतिदीर्घः। नुम्-विसर्जनीयेति षः। धनूंषि। धनुषा। धनुर्भ्याम्। एवं चक्षुर्हविरादयः। पयः। पयसी। पयांसि। पयसा। पयोभ्याम्। सुपुम्, सुपुंसी, सुपुमाँसि। अदः। विभक्तिकार्यम्, उत्वमत्वे-अमू, अमूनि। शेषं पुंवत्।

इति हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्।

इति षड्लिङ्गप्रकरणम्।

शबिति-शप् और श्यन् के अकार से परे जो शतृ का अवयव, तदन्त को नुम् हो, शी तथा नदी संज्ञक (का ईकार) परे रहते।

'शप्' प्रत्यय भ्वादि और चुरादि गण में होता है तथा 'श्यन्' दिवादिगण में होता है। 'पचत्' शब्द शतृ प्रत्ययान्त है। इससे प्रथमा द्विव० में 'औ' के स्थान पर 'शी' हो गया। पचत् शी। तब नुम् आगम हो गया। पच् नुम् त् ई। पचन्ती।

'दीव्यत्' में 'श्यन्' प्रत्यय है। प्रथमा व द्वितीया के द्विव० में 'नुम्' होकर 'दीव्यन्ती' बनेगा।

धनुष् शब्द

'धनुष् सु' में 'सु' का लोप हो गया। रुत्व के प्रति षत्व असिद्ध है। अत: षकार के स्थान पर रुत्व व विसर्ग हो गया। धनु:। यहाँ रेफ धातु का नहीं है अपितु प्रत्यय का है। अत: 'र्वोरुपधाया:' की प्रवृति नहीं होगी।

धनुष् जस्। शस् (> शि)— इस स्थिति में 'शि' की सर्वनामस्थान संज्ञा हुई। झलन्त से परे होने के कारण 'नपुंसकस्य झलच:' से नुम् हो गया। धनु न् स् इ। सान्त संयोग होने से 'सान्तमहत: संयोगस्य' से उपधादीर्घ। धनू न् स् इ। 'नश्चापदान्तस्य०' से अनुस्वार, 'नुम् विसर्जनीय०' से मूर्धन्य हो गया। धनूंषि।

'धनुष् भ्याम्' में षत्व के असिद्ध होने से रुत्व हो गया। धनुर्भ्याम्।

धनुष्

विभक्ति	**एक०**	**द्विव०**	**बहुव०**
प्र०	धनु:	धनुषी	धनूंषि
सं०	हे धनु:	हे धनुषी	हे धनूंषि
द्वि०	धनु:	धनुषी	धनूंषि
तृ०	धनुषा	धनुर्भ्याम्	धनुर्भि:
च०	धनुषे	धनुर्भ्याम्	धनुर्भ्य:
पं०	धनुष:	धनुर्भ्याम्	धनुर्भ्य:
ष०	धनुष:	धनुषो:	धनुषाम्
स०	धनुषि	धनुषो:	धनु:षु, धनुष्षु

इसी प्रकार 'चक्षुष्' (आँख), 'हविष्' आदि के रूप होंगे।

पयस् (जल, दूध)

'पयस् सु' में सुलोप तथा विसर्ग आदि होकर 'पय:' रूप बना।

'पयस् जस्' में शि आदेश, नुम् आगम, उपधादीर्घ, अनुस्वार आदि होकर रूप बना।

'पयस् भ्याम्' में 'स्वादिष्वसर्व०' से पद संज्ञा, पदान्त होने से रुत्व हुआ। पय रु भ्याम्। 'हशि च' से उकार हो गया। पय उ भ्याम्। गुण। पयोभ्याम्।

पयस्

प्र०	पय:	पयसी	पयांसि
सं०	हे पय:	हे पयसी	हे पयांसि
द्वि०	पय:	पयसी	पयांसि
तृ०	पयसा	पयोभ्याम्	पयोभि:
च०	पयसे	पयोभ्याम्	पयोभ्य:
पं०	पयस:	पयोभ्याम्	पयोभ्य:
ष०	पयस:	पयसो:	पयसाम्

स०	पयसि	पयसोः	पयःसु

सुपुंस्

'सुपुंस् सु'-में सु का लोप हुआ। सकार का संयोगान्त लोप हो गया। सुपुंस्-सुपुं। पर त्रिपादी होने से संयोगान्त लोप के प्रति अनुस्वार असिद्ध है। अतः'सुपुम्' बन गया।

सुपुंस् औ > शी-सुपुंसी।

'जस्' में 'शी' आदेश, उसकी सर्वनामसंज्ञा, असुङ् आदेश (पुंसोऽसुङ्) हुआ। सुपुम् अस् इ। तब नुम् (नपुंसकस्य झलचः) और उपधादीर्घ (सान्तमहतः०) हुआ। सुपुम् अ नुम् स् इ। सुपुमा न् सि। 'नश्चापदान्तस्य०' के द्वारा अनुस्वार होकर 'सुपुमांसि' रूप बना।

अदस्

'अदस् सु'- यहाँ 'सु' का लोप होकर 'अदः' रूप बना।

'अदस् औ > शी'-यहाँ त्यदाद्यत्व, पररूप, और गुण हुआ। अदे। तब मुत्व होकर 'अमू' बना।

जस् और शस् में 'शि' आदेश होकर 'अदस् शि' ऐसा होने पर नुम्, उपधादीर्घ तथा मुत्व होकर रूप बना— अद नुम् इ-अदानि- अमूनि।

शेष रूप पुँल्लिङ्ग की तरह होंगे।

॥ हलन्त नपुँसकलिङ्ग प्रकरण समाप्त ॥

॥ षड्लिङ्ग समाप्त ॥

यह लघुसिद्धान्तकौमुदी की सोमलेखा टीका में षड् लिङ्ग प्रकरण समाप्त हुआ।

अथ अव्यय-प्रकरणम्

३६७. **[1]स्वरादि-निपातम् अव्ययम्[1]** (१/१/३६)

स्वरादयो निपाताश्चाव्ययसंज्ञाः स्युः।

स्वर् आदयः।

१. स्वर्, २. अन्तर्, ३. प्रातर्, ४. पुनर्, ५. सनुतर्, ६. उच्चैस्, ७. नीचैस्, ८. शनैस्, ९. ऋधक्, १०. ऋते, ११. युगपत्, १२. आरात्, १३. पृथक्, १४. ह्यस्, १५. श्वस्, १६. दिवा, १७. रात्रौ, १८. सायम्, १९. चिरम्, २०. मनाक्, २१. ईषत्, २२. जोषम्, २३. तूष्णीम्, २४.बहिस्, २५. अवस्, २६. अधस्, २७. समया, २८. निकषा, २९. स्वयम्, ३०. वृथा, ३१. नक्तम्, ३२. न, ३३. नञ्, ३४. इद्धा, ३५. अद्धा, ३७. सामि, ३८. (ग)-वत्, ३९. ब्राह्मणवत्, ४०. क्षत्रियवत्, ४१. सना, ४२. सनत्, ४३. सनात्

स्वरादि-स्वर् आदि शब्दों की तथा निपात (च आदि) की अव्यय संज्ञा होती है।

स्वरिति-स्वर् आदि का परिगणन किया गया है।

वृत्ति में स्वर् आदि शब्दों तथा च आदि निपातों का उल्लेख कर दिया गया है। अत: यहाँ उनका पुन: उल्लेख करना व्यर्थ होगा। यथा— १. स्वर्ग, २. भीतर, ३. प्रात:काल, ४. फिर, ५. छिप जाना, ६. ऊँचा, ७. नीचा, ८. धीरे, ९. सत्य, १०. बिना, ११. एकदम, १२. दूर, समीप, १३. अलग, १४.कल, (बीता हुआ) १५. कल (आनेवाला), १६. दिन, १७. रात, १८ सायंकाल, १९. विलम्ब, २०. थाड़ा, २१. थोड़ा, २२. चुपचाप, २३. चुपचाप, २४.बाहर, २५. बाहर, २६. नीचे, २७. समीप, २८. समीप, २९. अपने आप, ३०. व्यर्थ, ३१. रात, ३२. नहीं, ३३. नहीं, ३४. कारण, ३५. स्पष्ट, ३६ स्पष्ट, ३७. आधा, ३८. समान, ३९. ब्राह्मण के समान, ४०. क्षत्रिय के समान, ४१. नित्य, ४२. नित्य, ४३. नित्य।

४४. उपधा, ४५. तिरस्, ४६. अन्तरा, ४७. अन्तरेण, ४८. ज्योक्, ४९. कम्, ५०. शम्, ५१. सहसा, ५२. विना, ५३. नाना, ५४. स्वस्ति, ५५. स्वधा, ५६. अलम्, ५७. वषट्, ५८. श्रौषट्, ४९. वौषट्, ६०. अन्यत्, ६१. अस्ति, ६२. उपांशु, ६३. क्षमा, ६४. विहायसा, ६५. दोषा, ६६. मृषा, ६७. मिथ्या, ६८. मुधा, ६९. पुरा, ७०. मिथो, ७१. मिथस्, ७२. प्रायस्, ७३. मुहुस्, ७४. प्रवाहुकम्, ७५. प्रवाहिका, ७६. आर्यहलम्, ७७. अभीक्ष्णम्, ७८. साकम्, ७९. सार्धम्, ८०. नमस्, ८१. हिरुक्, ८२. धिक्, ८३. अथ, ८४.अम्, ८५. आम्, ८६. प्रताम्, ८७. प्रशान्, ८८. मा, ८९. माङ् आकृतिगणोऽयम्।

४४. भेद, ४५. छिपना, तिरस्कार, ४६. मध्य, बिना, ४७. बिना, ४८. शीघ्र, ४९. सुख, ५०. सुख, ५१. अकस्मात्, ५२. बिना, ५३. अनेक, बिना, ५४. कल्याण, ५५. पितरों को देना, ५६. निषेध, ५७. देवताओं को हवि देना, ५८. देवताओं को देना, ५९. देवताओं को देना, ६०. अन्य, ६१. है, ६२. एकान्त, रहस्य, ६३. क्षमा, ६४. आकाश, ६५. रात, ६६. झूठ, ६७. झूठ, ६८. व्यर्थ, ६९. पहले, ७०. साथ, परस्पर, ७१. साथ, परस्पर, ७२. अक्सर, ७३. बारबार, ७४. एकदम, ७५. एकदम, ७६. बलात्कार, ७७. बार बार, ७८. साथ, ७९. साथ, ८०. प्रणाम, . वर्जन, ८२. धिक्कार, ८३. प्रारम्भ, ८४. शीघ्र, ८५. हॉ, ८६. ग्लानि, ८७. समान, ८८. मत, ८९. निषेध।

स्वरादि गण आकृतिगण है। अत: इस में अन्य शब्दों का भी ग्रहण होता है।

च-आदयो निपाता:-

१. च, २. वा, ३. ह, ४. अह, ५. एव, ६. एवम्, ७. नूनम्, ८. शश्वत्, ९. युगपद्, १०. भूयस्, ११. कूपत्, १२. सुपत्, कुवित्, १३. नेत्, १४. चेत्, १५. चण्, १६. यत्र, १७. कच्चित्, १८. नह, १९. हन्त, २०. माकि:, २१. माकिम्, २२. नकि:, २३. नकिम्, नकिर्, २४. माङ्, २५. नञ्, २६. यावत्, २७. तावत्, २८. त्वै, न्वै, २९. द्वै, ३०. श्रौषट्, ३१. रै, ३२. वौषट्, ३३. स्वाहा, ३४. स्वधा, ३५. वपट्, ३६. नुम्, ३७. तथापि, ३८. खलु, ३९.

किल, ४०. अथो, ४१. अथ, ४२. सुष्ठु, ४३. स्म, ४४. आदह।

च-आदि निपातों के अर्थ-

१. और, २. विकल्प, ३. प्रसिद्धि, ४. पूजा, ५. ही, अवधारण, ६. ऐसा, ७. निश्चय, ८. निरन्तर, ९. एकदम, १०. फिर ११. प्रश्न, प्रशंसा १२. अधिक प्रशंसा १३. शङ्का, अन्यथा, नहीं तो १४. यदि १५. यदि १६. जहां, गर्हा, अमर्ष १७. प्रश्न १८. निषेधपूर्वक प्रारम्भ १९. हर्ष, विषाद २०. वर्जन २१. वर्जन २२. वर्जन २३. वर्जन २४. निषेध २५. निषेध २६. जितना, २७. उतना २८. वितर्क २९. वितर्क ३०. दान, आदर ३१. हवि दान ३२. हवि दान, ३३. देव दान ३४. पितृदान ३५. हविर्दान ३६. नुम् ३७. फिर भी ३७. निषेध, ३८. निश्चय, ३९ प्रसिद्धि ४०. प्रारम्भ ४१. प्रारम्भ ४२. अच्छा ४३. भूतकाल ४४. प्रारम्भ, निन्दा।

(ग० सू०) उपसर्ग-विभक्ति-स्वर-प्रतिरूपकाश्च।

४५. अवदत्तम् ४६. अहंयुः ४७. अस्तिक्षीरा।

४८. अ, ४९. आ, ५०. इ, ५१ ई, ५२. उ, ५३. ऊ, ५४. ए, ५५. ऐ, ५६. ओ ५७. औ।

५८. पशु, ५९. शुकम्, ६०. यथा कथा च, ६१. पाट्, ६२. प्याट्, ६३. अङ्ग, ६४. है, ६५. हे, ६६. भोः, ६७. अये, ६८. द्य, ६९. विषु, ७०. एकपदे, ७१. युत्, ७२. आतः।

चादिरप्याकृतिगणः।

उपसर्गेति-उपसर्ग प्रतिरूपक, विभक्ति (सुप्, तिङ्) प्रतिरूपक तथा स्वरप्रतिरूपक भी चादिगण के अन्तर्गत हैं अर्थात् निपात संज्ञक हैं। प्रतिरूपक का अर्थ है- समान प्रतीत होना।

अवदत्तम्-यहाँ 'अव' उपसर्ग निपात होने से अव्यय है। यह उपसर्ग नहीं है, अपितु उपसर्ग के समान है। अत एव 'अच उपसर्गात्तः' से तकारादेश नहीं हुआ अन्यथा अवत्तम् बनता। प्र आदि निपातसंज्ञक हैं, अतः अव्यय हैं।

अहंयुः-यहां 'अहम्' अव्यय है, जो अस्मद् शब्द के प्रथमा के एकवचन के समान (सुबन्तसदृश) पद है। 'अहंशुभमोर्युस्' से युस् प्रत्यय हुआ है। यदि 'अहम्' विभक्त्यन्त होता तो 'युस्' प्रत्यय परे रहते विभक्ति का लोप हो जाता।

अस्तिक्षीरा-इसमें 'अस्ति' यह पद तिङ् विभक्त्यन्त के सदृश है। यह अव्यय है। यदि यह तिङन्त होता तो समास न हो सकता था।

अ आ इति-स्वरप्रतिरूपक 'अ आ' आदि गिना दिये गये हैं। इन में सभी स्वर आ गये हैं। ये अव्यय हैं। अतएव इनको अच्त्व निमित्तक कार्य नहीं होते।

'अ', 'आ' आदि निपातों का स्वतंत्र भिन्न-भिन्न अर्थ है, पर इनका प्रयोग बहुत कम होता है। अ-सम्बोधन, तिरस्कार और निषेध। आ—वाक्य और स्मरण अर्थ में, 'वाक्यस्मरणयोरङित्' इति। इ-सम्बोधन, आश्चर्य और घृणा। ई उ ऊ ए ऐ ओ औ—ये

सम्बोधन के द्योतक हैं।

५८. सम्यक्, ५९. शीघ्र, ६०. निरादर, जैसे तैसे, ६१. ६७. सम्बोधन, ६८. हिंसा, ६९. नाना, ७०. युगपद्, ७१. घृणा, ७२. इसलिये।

चादीति-चादि भी आकृतिगण है, अतः इन परिगणित शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्द भी इसमें आते हैं।

३६८. [१]तद्धित श्चाॅऽसर्वविभक्तिः[१] (१/१/३७)

यस्मात्सर्वा विभक्तिर्नोत्पद्यते, स तद्धितान्तोऽव्ययं स्यात्। परिगणनं कर्तव्यम्-तसिलादयः प्राक् पाशपः शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः, अम्, आम्, कृत्वोऽर्थाः, तसिवती, नानाञौ। एतदन्तमव्ययम्। अत इत्यादि।

तद्धित इति-जिससे सब विभक्तियाँ नहीं आती, वह तद्धितान्त अव्यय हो।

परिगणनमिति-इनका परिगणन करना चाहिये- 'पञ्चम्यास्तसिल् (५/३/७)' से लेकर 'याप्ये पाशप् (५/३/४७)' के पहले के प्रत्यय, 'बह्वल्पार्थाच्छस्कारका-दन्यतरस्याम् (५/४/४२)' से लेकर 'समासान्ताः (५/४/६८)' सूत्र से पहले आये प्रत्यय, 'अमु च छन्दसि (५/४/१२)' से विहित 'अम्', 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे (५/४/११)' से विहित 'आम्' प्रत्यय, 'संख्यायाः क्रियाऽभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' (५/४/१७) इत्यादि सूत्रों से विहित 'कृत्वसुच्' आदि तीन प्रत्यय, 'तसिश्च' सूत्र से विहित एकदिगर्थ में 'तसि' प्रत्यय, 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (पा० ५.१.११४) और 'तत्र तस्येव' (पा० ५.१.११५) सूत्र से विहित 'वति' प्रत्यय, 'विनञ्भ्यां नानाञौ न सह (५/२/२७)' सूत्र से विहित 'ना' और 'नाञ्' प्रत्यय।

एतदिति-ये तद्धित प्रत्यय जिनके अन्त में हो, वे शब्द अव्यय होते हैं। जैसे— अतः इत्यादि। 'अतः' तसिल् प्रत्यय से बना है।

सुविधा के लिए यहाँ उन तद्धितप्रत्ययों को दिया जा रहा है जिनके अन्त में होने पर शब्दों के रूप विभक्तियों में नहीं होते हैं।

१. तसिल्, २. त्रल्, ३. ह, ४. अत्, ५. दा, ६. र्हिल्, ७. दानीम्, ८. धुना, ९. द्यस्, १०. थाल्, ११. थमु, १२. था, १३. अस्ताति, १४. अतसुच्, १५. रिल्, १६. आति, १७. अ, आ, १८. आति, १९. एनप्, २०. आच्, २१. आहि, २२. असि, २३. धा, २४. ध्यमुञ्, २५. धमुञ्, २६. एधाच्, २७. शस्, २८. तसि, २९. च्वि, ३०. साति, ३१. त्रा, ३२. डाच्, ३३. अम्, ३४ आम्, ३५. कृत्वसुच्, ३६. सुच्, ३७. धा, ३८. तसि, ३९. वति, ४०. ना, ४१. नाञ्

३६९. [१]कृन् मेजन्तः[१] (१/१/३८)

कृद् यो मान्त एजन्तश्च, तदन्तमव्ययं स्यात्। स्मारं स्मारम्। जीवसे। पिबध्यै।

कृदिति-जो कृत् प्रत्यय मकारान्त या एजन्त हो वह है अन्त में जिसके ऐसा शब्द अव्ययसंज्ञक हो।

स्मारं स्मारम्-यहाँ आभीक्ष्ण्ये णमुल् (३/४/२२) सूत्र से णमुल् प्रत्यय हुआ है। यह मान्त कृत् प्रत्यय है। तदन्त 'स्मारं स्मारम्' की अव्यय संज्ञा हुई।

जीवसे-यहाँ जीव धातु से 'से' प्रत्यय और पिबध्यै में 'पा' धातु से शध्यै प्रत्यय 'तुमर्थे से-सेन् असे-असेन् क्से-कसेन-अध्यै-अध्यैन्-कध्यै-कध्यैन्-शध्यै० ३/४/९' सूत्र से होते हैं। ये दोनों एजन्त है। अतः इनकी भी अव्ययसंज्ञा हुई।

'तुमुन्' प्रत्यय का 'तुम्' शेष रहता है। अतः मकारान्त कृत् हो गया। तब तुमुन्प्रत्ययान्त-गन्तुम् और पठितुम् आदि प्रयोग भी अव्यय होते हैं।

३७०. [१]**क्त्वा-तोसुन्-कसुनः (१/१/३९)**

एतदन्तमव्ययम्। कृत्वा। उदेतोः। विसृपः।

क्त्वातोसुन् इति-क्त्वा, तोसुन् और कसुन् ये प्रत्यय जिनके अन्त में हों, वे शब्द अव्यय होते हैं।

ये प्रत्यय भी कृत् हैं। 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले क्त्वा' ओर अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' सूत्र से क्त्वा प्रत्यय होता है। अतः कृत्वा, गत्वा, और पठित्वा आदि क्त्वाप्रत्ययान्त अव्यय होते हैं। तोसुन् और कसुन् प्रत्यय 'ईश्वरे तोसुन्कसुनौ (३/४/१३)' सूत्र से होते हैं। 'उदेतोः' में उत् पूर्वक इण् धातु से तोसुन् प्रत्यय हुआ है। तोसुन् का 'तोस्' शेष रहता है। विसृपः में 'कसुन्' हुआ है। 'कसुन्' का 'अस्' शेष रहता है। ये दोनों तुमुन् के अर्थ में होते हैं। अतः उदेतोः अर्थात् उदेतुम् है। विसृपः अर्थात् विसर्पितुम्।

३७१. [१]**अव्ययीभावश्च (१/१/४०)**

अधिहरि।

अव्ययीभावश्चेति-अव्ययीभाव समास भी अव्यय होता है। अधिहरि। उसमें अव्ययीभाव समास हुआ। अतः इसकी अव्ययसंज्ञा हुई।

इसी प्रकार-यथाशक्ति, प्रतिदिनम्, प्रत्येकम्, अध्यात्मम् और उपराजम् आदि अव्यय होते हैं।

३७२. [५]**अव्ययाद् आप्सुपः**[६] **(२/४/८२)**

अव्ययाद् विहितस्य आपः सुपश्च लुक्। तत्र शालायाम्।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तद् 'अव्ययम्'।।

(भागुरिमतम्)

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरूपसर्गयोः।

आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा॥

अवगाहः, वगाहः अपिधानं, पिधानम्।

इति अव्ययप्रकरणम्।

इति सुबन्तम्।

इति पूर्वार्धम्।

अव्ययादिति—अव्यय से विहित आप् और सुप् का लोप हो।

तत्र शालायाम्-'तत्र' शब्द 'सप्तम्यास्त्रल् (५/३/१०)' सूत्र से निष्पन्न होता है। अतः तसिल् और पाशप् प्रत्यय के भीतर आ जाने से यह 'तद्धितः०' सूत्र से अव्यय है। 'शालायाम्' इस स्त्रीलिङ्ग का विशेषण होने से इसमें टाप् प्रत्यय होता है। उसका प्रकृत सूत्र के द्वारा लोप हो गया।

सदृशमिति-जो तीनों लिङ्गों, सब विभक्तियों और सब वचनों में विकार को प्राप्त नहीं होता (एक जैसा रहता है), वह अव्यय होता है।

वष्टि इति-श्री भागुरि आचार्य 'अव और अपि' उपसर्गों के (आदि) अकार का लोप चाहते हैं तथा हलन्त शब्दों से 'आप्' (स्त्रीबोधक) प्रत्यय विधान करना चाहते हैं। पाणिनि का मत न होने के कारण यह आदेश विकल्प से होंगे। 'अव' और 'अपि' के अकार लोप के उदाहरण 'वगाहः (गोता) और 'पिधानम्' (ढकना) शब्दों में मिलते हैं। लोपाभावपक्ष में 'अवगाहः' और 'अपिधानम्' रूप बनेंगे। इसी प्रकार हलन्त शब्दों से 'आप्' प्रत्यय के उदाहरण निशा, वाचा और दिशा आदि में मिलते हैं। पक्ष में निश्, वाच् तथा दिश् आदि रूप रहेंगे।

॥ अव्यय प्रकरण समाप्त ॥

॥ पूर्वार्ध समाप्त ॥

यह लघुसिद्धान्तकौमुदी की सोमलेखा टीका में अव्यय प्रकरण समाप्त हुआ।

अथ उत्तरार्धम्

अथ तिङन्तम्

तत्र

भ्वादिगणः। लट् लिट् लुट् लृट् लेट् लोट् लङ् लिङ् लुङ्- एषु पञ्चमो लकारश्छन्दोमात्रगोचरः।

तिङन्त प्रकरण भ्वादिगण

लडिति-'लट्' आदि दश लकार हैं।

एष्विति- इनमें पाँचवां लकार लेट् है जिसका प्रयोग वेद में ही होता है।

इन दशों में 'ल' वर्ण का प्रयोग होता है, अतः इन्हें लकार कहा जाता है। लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट् तथा लोट-ये टित् लकार हैं। लङ्, लिङ्, लुङ् तथा लृङ्-ये ङित् लकार हैं। लकार का प्रयोग काल आदि के बोध के लिए होता है। यथा—

१. लट्-वर्तमान काल।

२. लिट्-परोक्ष अनद्यतन भूतकाल।

३. लुट्-अनद्यतन भविष्यत् काल।

४. लृट्-सामान्य भविष्यत्।

५. लेट्- शर्त लगाना और आशङ्का।

६. लोट्-विधि आदि।

७. लङ्-अनद्यतन भूत काल।

८. लिङ्-(क) विधि आदि। (ख) आशीर्वाद।

९. लुङ्-सामान्य भूत।

१०. लृङ्-हेतुहेतुमद्भाव आदि लिङ् के अर्थ में जब क्रिया की असिद्धि हो।

३७३. [१]लः कर्मणि[७]चँ भावे[७] चाँऽकर्मकेभ्यः[५] (३/४/६९)

लकाराः सकर्मकेभ्यः कर्मणि कर्तरि च स्युरकर्मकेभ्यो भावे कर्तरि च।

ल इति - लकार सकर्मक धातु से कर्म और कर्त्ता में तथा अकर्मक धातु से भाव और कर्म में हों।

प्रत्येक धातु के दो अर्थ होते है-

१. फल और २. व्यापार।

फल- जिस चीज की प्राप्ति के लिए कोई क्रिया की जाती है, उसे फल कहते हैं, 'गच्छति'-में गमन क्रिया है तथा गाँव के साथ संयोग फल है।

व्यापार-फल की प्राप्ति के लिए की गई क्रिया ही व्यापार कहलाती है। 'गच्छति'- में गाँव जाने तक जितनी चेष्टाऐं की जाती है, वे सब व्यापार कहलाती हैं।

फल सदैव कर्म में रहता है तथा व्यापार कर्त्ता में रहता है।

कर्त्ता-क्रिया के व्यापार का आश्रय कर्त्ता कहलाता है।

कर्म- क्रिया के फल के आश्रय को कर्म कहते हैं।

भाव- व्यापार को भाव कहते हैं।

सकर्मक और अकर्मक धातुओं के सम्बन्ध में कहा गया है-

क्रियापदं कर्तृपदेन युक्तं व्यपेक्षते यत्र किमित्यपेक्षाम्। सकर्मकं तं सुधियो वदन्ति शेषस्ततो धातुरकर्मक: स्यात्।।

अर्थात् कर्त्ता से युक्त जिस क्रियापद को 'किम्' इस पद की अपेक्षा रहती है, उसे सकर्मक क्रिया और इससे अतिरिक्त को अकर्मक क्रिया कहते हैं।

वाच्य- धातु के प्रकार को वाच्य कहते हैं। वाच्य के द्वारा यह ज्ञान होता है कि लकार किस अर्थ में प्रयुक्त हो रहा है।

वाच्य तीन प्रकार का होता है। यथा— कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा भाववाच्य।

३७४. [७]**वर्तमाने लट्**[१] **(३/२/१२३)**

वर्तमानक्रियावृत्तेर्धातोर्लट् स्यात्। अटावितौ। उच्चारणसामर्थ्याद् लस्य नेत्त्वम्। 'भू' सत्तायाम्। कर्तृविवक्षायां 'भू ल्' इति स्थिते

वर्तमान इति- यदि क्रिया वर्तमान काल की हो तो उस क्रिया को कहने वाली धातु से लट् लकार हो।

अटाविति-'लट्' के अकार और टकार इत्संज्ञक हैं।

उच्चारणेति- उच्चारण सामर्थ्य से लकार की इत्संज्ञा न हो।

भू इति-भू धातु का सत्ता (होना) अर्थ है। कर्तृ इति-कर्त्ता की विवक्षा में अर्थात् कर्तृवाच्य में (लट् लकार) हुआ।

'भू लट्-भू ल्' यह स्थिति बनी।

३७५. **तिप्तस्झि-सिप्थस्थमिब्वस्मस्ताऽऽतांझथासाऽऽथांध्वम्-इड्वहिमहिङ्** **(३/४/७८)**

एतेऽष्टादश लाऽऽदेशा: स्यु:।

तिबिति-तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इड्, वहि, महिङ्— ये अठारह आदेश लकारों के स्थान में हों।

इन अठारहों को 'तिङ्' कहते हैं। प्रारम्भ के 'ति' से लेकर अन्त्य 'ङ्' तक 'तिङ्' प्रत्याहार बनता है।

इनमें अन्तिम नौ प्रत्ययों को 'तङ्' कहते हैं। 'तङ्' भी एक प्रत्याहार है। 'त' प्रत्यय

से लेकर 'महिङ्' के ङकार तक 'तङ्' प्रत्याहार बनता है।

ध्यान रहे-तिङ् प्रत्ययों से अतिरिक्त कानच्, क्वसु, शतृ तथा शानच् आदि भी लादेश होते हैं।

३७६. [१]**लः परस्मैपदम्**[१] (१/४/९८)

लादेशाः परस्मैपदसंज्ञाः स्युः।

ल इति-लकार के स्थान पर होने वाले आदेश परस्मैपद संज्ञक होते हैं। पूर्व सूत्र में कथित अठारह (तिङ्) प्रत्ययों की परस्मैपद संज्ञा होती है।

३७७. [१]**तङानावात्मनेपदम्**[१] (१/४/९९)

तङ्प्रत्याहारः शानच्कानचौ चैतत्संज्ञाः स्युः। पूर्वसंज्ञाऽपवादः।

तडिति-तङ्, शानच् और कानच् की आत्मनेपद संज्ञा हो। सूत्र में पठित 'आन' पद के द्वारा 'शानच्' तथा 'कानच्' प्रत्ययों का ग्रहण होता है।

पूर्वेति-यह पूर्वसंज्ञा का अपवाद है। पूर्व सूत्र के द्वारा शानच्, कानच् तथा तङ् प्रत्ययों की परस्मैपद संज्ञा की गई थी। प्रकृत सूत्र के द्वारा पूर्व संज्ञा (परस्मैपद) का बाध किया गया है।

३७८. [५]**अनुदात्तङित आत्मनेपदम्**[१] (१/३/१२)

अनुदात्तेतो ङितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात्।

अनुदात्तेति-अनुदात्तेत् तथा ङित् धातु आत्मनेपद संज्ञक हों। पूर्व सूत्र के द्वारा स्पष्ट है कि तङ् आदि आत्मनेपद संज्ञक हैं। अतः इस सूत्र के द्वारा उक्त धातुओं से तङ् आदि प्रत्यय हों।

एध धातु का अकार अनुदात्त है तथा इत्संज्ञक भी है। अतः यह आत्मनेपद संज्ञक है। अनुदात्तेत् का ज्ञान धातु पाठ से होगा। जिस धातु के साथ 'ङ्' अनुबन्ध लगा है, वह ङित् होगा।

३७९. [५]**स्वरितञितः** [७]**कर्त्रभिप्राये क्रियाफले**[७] (१/३/७२)

स्वरितेतो ञितश्च धातोरात्मनेपदं स्यात् कर्तृगामिनि क्रियाफले।

स्वरितेति-स्वरितेत् तथा ञित् धातु आत्मनेपद है, यदि क्रिया का फल कर्तृगामी हो।

क्रिया का फल दो प्रकार का होता है—कर्तृगामी तथा परगामी। यदि फल कर्त्ता को मिले तो वह कर्तृगामी कहा जावेगा और आत्मनेपद प्रत्यय होंगे। क्रिया का फल कर्त्ता को छोडकर अन्य को मिले, तो उसे परगामी कहा जाता है। उससे परस्मैपद होगा।

यज धातु का जकारोत्तरवर्त्ती अकार स्वरित है तथा इत्संज्ञक भी है। जब यज्ञ का फल (पुत्रप्राप्ति इत्यादि) कर्त्ता को मिलेगा तो 'यज्ञमहं करिष्ये'-इस प्रकार आत्मनेपदयुक्त वाक्य का प्रयोग होगा। इससे ज्ञात होता है कि कर्त्ता अपने लिए यज्ञ कर रहा है, अतः स्वयं फल भोक्ता भी है। यदि यज्ञ यजमान के लिए किया जा रहा हो तो पुरोहित 'यज्ञमहं करिष्यामि'-ऐसा वाक्य का प्रयोग करेगा।

'कृञ्' धातु ञित् है। सन्ध्या करने का फल है- पाप का अभाव। क्योंकि सन्ध्या नित्यकर्म है और नित्यकर्म का फल, न करने से प्राप्त होने वाले पाप का अभाव ही माना जाता है। यह फल कर्ता को मिलता है। इसलिये यहाँ आत्मनेपद आयेगा, परस्मैपद नहीं। अत एव सन्ध्या के संकल्प में 'सन्ध्यामहं करिष्ये' कहना होगा 'करिष्यामि' नहीं। जैसा पहले कहा जा चुका है कि 'यज' धातु का जकारोत्तरवर्त्ती अकार स्वरित है और इत्संज्ञक है। इसलिये इस धातु से क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद आयेगा चूंकि 'श्रिञ्' धातु ञित् है। अत: इससे क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद आयेगा। यह क्रियाफल कर्तृगामी न होगा तो अग्रिम सूत्र से परस्मैपद आयेगा।

स्वरितेत् और ञित् का ज्ञान पूर्ववत् धातुपाठ से होगा।

स्वरितेत् और ञित् धातु से दोनों आत्मनेपद और परस्मैपद प्रत्यय आते हैं। क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर आत्मनेपद और परगामी होने पर परस्मैपद आयेगा।

३८०. [५]**शेषात्कर्तरि**[७] **परस्मैपदम्**[१] **(१/३/७८)**

आत्मनेपदनिमित्तहीनाद् धातो: कर्तरि परस्मैपद स्यात्।

शेषादिति-शेष (अर्थात् आत्मनेपद के निमित्त से भिन्न) धातु से कर्तृवाच्य में परस्मैपद हो।

प्रकृत तीन सूत्र आत्मनेपद और परस्मैपद की व्यवस्था करते हैं। अत एव इन्हें पदव्यवस्था के सूत्र कहा जाता है।

इन सूत्रों के आधार पर आत्मनेपद व्यवस्था सामान्यत: इन अवस्थाओं में होती है-

१. भाववाच्य, २. कर्मवाच्य, ३. अनुदात्तेत्, ४. ङित्, ५. स्वरितेत् (कर्तृगामी क्रियाफल होने पर), ६. ञित् (कर्तृगामी क्रियाफल होने पर)

इन अवस्थाओं को छोड़कर शेष में कर्तृवाच्य में परस्मैपद होता है। चूकि 'भू' धातु से आत्मनेपद का कोई निमित्त नहीं है, अत: उससे परस्मैपद होगा।

३८१. [६]**तिङस्त्रीणि**[१] **त्रीणि**[१] **प्रथममध्यमोत्तमा:**[१] **(१/४/१००)**

तिङ उभयो: पदयोस्त्रयस्त्रिका: क्रमाद् एतत्संज्ञा स्यु:।

तिड इति-तिङ् के तीन तीन के समूह प्रथम, मध्यम और उत्तम संज्ञक हों। तिङ प्रत्याहार के प्रथम नौ की परस्मैपद तथा अन्त के नौ की आत्मनेपद संज्ञा होती है। इस सूत्र के अनुसार दोनों पदों (आत्मनेपद तथा परस्मैपद) के त्रिक (अर्थात् तीन तीन के समूह) की क्रमश: प्रथमादि संज्ञा होती है।

पुरुष	परस्मैपद	आत्मनेपद		
प्रथम	तिप्, तस्, झि	त,	आताम्,	झ
मध्यम	सिप्, थस्, थ	थास्,	आथाम्,	ध्वम्
उत्तम	मिप्, वस्, मस्	इट्,	वहि,	महिङ्

३८२. [१]तान्येकवचन-द्विवचन-बहुवचनान्येकशः (१/४/१०१)

लब्धप्रथमादिसंज्ञानि तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रत्येकमेवचनादि संज्ञानि स्युः।

तानीति-तिङ् के त्रिकों (जिनकी प्रथम आदि संज्ञा कही गई है) के तीन प्रत्ययों की क्रमशः एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन संज्ञा हो।

ऊपर कहे गये प्रत्येक त्रिक में तीन तीन प्रत्यय हैं। उनकी क्रम से एकवचन आदि संज्ञा होती है। जैसे- तिप् की एकवचन, तस् की द्विवचन और झि की बहुवचन संज्ञा हुई। यथा—

	परस्मैपद			आत्मनेपद		
	एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्रथम	तिप्	तस्	झि	त	आताम्	झ
मध्यम	सिप्	थस्	थ	थास्	आथाम्	ध्वम्
उत्तम	मिप्	वस्	मस्	इट्	वहि	महिङ्

३८३. [७]युष्मद्युपपदे[७] समानाधिकरणे [७]स्थानिन्यपि मध्यमः[१] (१/४/१०४)

तिङ्वाच्यकारकवाचिनि युष्मदि प्रयुज्यमानेऽप्रयुज्यमाने च मध्यमः।

युष्मदीति-तिङ् वाच्य कारक के वाचक युष्मद् के उपपद रहते हुए उसका चाहे प्रयोग हुआ हो चाहे न हुआ हो, लकार के स्थान में मध्यम संज्ञा वाला तिङ् हो।

तिङ् लकार के स्थान में होता है और लकार कर्त्ता और कर्म कारक में होता है। अतः तिङ् का अर्थ कारक है।

समानाधिकरण का अर्थ है- एक ही अधिकरण (आधार) में रहने वाला। शब्द और अर्थ में वाच्य वाचक भाव होता है। अर्थ शब्द का अधिकरण है। अतः समान अर्थ वाले दो शब्द समानाधिकरण वाले कहलाते हैं। यहां युष्मद् और तिङ् (= क्रिया) का समानाधिकरण होगा। यह तभी संम्भव है, जब दोनों का समान अर्थ(या कारक) हो। अतः वृत्ति में इस पद का अर्थ 'तिङ् वाच्य कारक वाचिनि' ऐसा अर्थ किया गया है।

स्थानी के स्थान पर आदेश होने पर स्थानी का लोप हो जाता है। उसका प्रयोग नहीं होता है। अतः स्थानी का अर्थ हुआ- अप्रयुज्यमान। सूत्र में पठित 'अपि' पद के द्वारा 'अस्थानी' (अर्थात् प्रयुज्यमान) का भी ग्रहण होता है।

प्रकृत सूत्र के अनुसार 'त्वं गच्छसि' के स्थान पर केवल 'गच्छसि' पद के प्रयोग से भी काम चल जाता है। 'त्वम्' पद के बिना भी इसका मध्यमपुरुष परक ही अर्थ होगा।

३८४. [७]अस्मद्युत्तमः[१] (१/४/१०६)

तथाभूतेऽस्मदि उत्तमः (स्यात्)।

अस्मदीति-उपरिकथित अवस्था में 'अस्मद्' के सम्बन्ध में उत्तम संज्ञक तिङ् हों।

अर्थात् तिङ् का वाच्य जो कर्त्ता, या कर्म कारक-उसी का वाचक यदि 'अस्मद्' शब्द हो, उसका प्रयोग होने तथा न होने पर भी उत्तम संज्ञक तिङ् हों।

लट् लकार

३८५. [७]**शेषे प्रथम:**[१] (१/४/१०७)

मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथम: स्यात्। (भू ति इति जाते)

शेष इति- मध्यम और उत्तम के विषय से भिन्न सर्वत्र (लकार के स्थान पर) प्रथमसंज्ञक प्रत्यय हों।

धातु पाठ में पठित क्रम का अवलम्बन करके ही यहाँ धातुओं की रूपसिद्धि दिखलाई गई है। अत: सर्वप्रथम भू धातु के रूप सिद्ध किए जाएगे 'भू ल्' ऐसी अवस्था में लट् लकार के प्रथम पुरुष के एकवचन की विवक्षा में लकार के स्थान पर 'तिप्' की उत्पत्ति हुई। 'तिप्' के पकार की 'हलन्त्यम्' के द्वारा इत्संज्ञा हो गई। 'भू ति' यहाँ—

३८६. [१]**तिङ् शित्**[१] **सार्वधातुकम्**[१] (३/४/११३)

तिङ: शितश्च धात्वधिकारोक्ता एतत्संज्ञा: स्यु:।

तिङिति- 'धातो:' (पा० ३.१.९१) के अधिकार में कहे गये तिङ् और शित् प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा हो।

३८७. [७]**कर्तरि शप्**[१] (३/१/६८)

कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे धातो: शप् स्यात्।

कर्तरीति-कर्ता अर्थ में सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते धातु से शप् हो।

कर्त्ता अर्थ का अभिप्राय है-कर्तृवाच्य। 'शप्' एक विकरण है। विकरण धातु और तिङ् के मध्य में आता है। 'शप्' के 'प्' की 'हलन्त्यम्' के द्वारा तथा 'श्' की 'लशक्व०-' के द्वारा इत्संज्ञा हो जाती है। तब केवल 'अ' शेष रहता है।

'भू ति' में 'तिङ्' ति सार्वधातुक है कर्ता में लकार होने से तथा उस लकार के स्थान में आदेश होने से इसका अर्थ कर्ता है। अत: इसके परे रहते 'शप्' हुआ। तब 'भू अ ति' स्थिति बनी। यहाँ 'यस्मात्प्रत्यय०' सूत्र से धातु से परे विधान होने के कारण 'शप्' परे रहते भी धातु की अङ्ग संज्ञा है। और 'भू' यह अङ्ग इगन्त है।

३८८. [७]**सार्वधातुकार्धधातुकयो:** (७/३/८४)

अनयो: परयोरिगन्ताङ्गस्य गुण: स्यात्। अवादेश:। भवति। भवत:।

सार्वधातुकेति-सार्वधातुक तथा आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते इगन्त अङ्ग को गुण हो।

'अलोऽन्त्यस्य-' तथा 'इको गुणवृद्धी' के बल पर उक्त गुण आदेश अङ्ग के अन्त्य वर्ण (इक्) को ही होगा। 'भू अति' यहाँ पर अन्त्य 'ऊ' को गुण होकर 'भो अति' बन गया।

अवादेश इति- 'अव्' आदेश होकर-

अब 'एचोऽयवायावः' के द्वारा 'अव्' आदेश हो गया। भ् अव् अति-भवति।

'भवति' शब्द की रूप सिद्धि विस्तार से नीचे दर्शाई गई है:

भू सत्तायाम्	'भूवादयो धातवः' से 'भू' शब्द की धातु संज्ञा हुई। 'धातोः' (यह सूत्र लघुकौमुदी में आगे सू० ७६६ पर है), 'प्रत्ययः' तथा 'परश्च' इन तीन सूत्रों के अधिकार में 'भू' धातु से पर प्रत्यय संज्ञक शब्दों की उत्पत्ति हुई।
भू लट्	'वर्तमाने लट्' से वर्तमान की विवक्षा में लट् प्राप्त हुआ।
भू ल्	लट् के टकार की 'हलन्त्यम्' से तथा अकार की 'उपदेशेऽजनुना०' से इत् संज्ञा हुई। 'तस्य लोपः' से लोप संज्ञा हुई। 'लः कर्मणि च०' से कर्तृवाच्य में भू धातु से लट् लकार हुआ। 'लस्य' (यह सूत्र लघुकौमुदी में नहीं है) से लकार के स्थान में 'तिप्तस्झि०' से तिप् आदि १८ प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई। 'लः' परस्मैपदम्' से इन प्रत्ययों की परस्मैपद संज्ञा हुई। 'तङानावा०' से अन्तिम नौ की आत्मने पद संज्ञा हो गई। चूँकि भू परस्मैपदी धातु है। अतः 'शेषात् कर्तरि०' से लट् के स्थान पर तिप् से लेकर मस् पर्यन्त नौ प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई। 'तिङ्स्त्रीणि०' के द्वारा तीन-तीन की क्रमशः प्रथम, मध्यम व उत्तम संज्ञा हुई। तब 'शेषे' प्रथमः' से प्रथम पुरुष संज्ञक तिप्, तस् व झि इन तीन प्रत्ययों की प्राप्ति हुई।
भू तिप्	'तान्येकवचन०' के द्वारा तीन प्रत्ययों की क्रमशः एकवचनादि संज्ञा हुई। अब एकवचन की विवक्षा में 'द्वयेकयोर्द्विवचनैक०' से 'तिप्' हुआ।
भू ति	'हलन्त्यम्' से पकार की इत् संज्ञा व पूर्ववत् लोप हो गया। 'तिङ्शित् सार्व०' से 'तिप्' की सार्वधातुक संज्ञा हुई।
भू शप् ति	'कर्तरि शप्' से कर्ता में 'शप्' विकरण 'प्रत्ययः', 'परश्च' के अधिकार में हुआ।
भू अ ति	'शप्' के पकार की 'हलन्त्यम्' से तथा शकार की 'लशक्व०' से इत्संज्ञा व पूर्ववत् लोप हो गया।
भो अ ति	'यस्मात् प्रत्ययविधिः०' से 'भू' शब्द की अङ्ग संज्ञा, 'तिङ् शित्०' से 'शप्' की सार्वधातुक संज्ञा तथा 'सार्वधातु-कार्धधातुकयोः' से गुण संज्ञक अ, ए, ओ की प्राप्ति। तब 'इको गुणवृद्धी' से इक् (ऊकार) के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतमः' के बल पर ओकार गुणादेश हुआ।
भव् अति	'एचोऽयवा०' से अवादेश हुआ।
भवति	रूप सिद्ध हुआ।

भूतस्[१]। अब 'कर्तरिशप्' के द्वारा 'शप्' विकरण हुआ। तब गुण आदेश होकर 'भो अत स्' बन गया। अयादि आदेश हो गया। भव् अतस्। रुत्व आदि कार्य होकर 'भवतः' रूप सिद्ध हो गया।

३८९. [६]**झोऽन्तः**[१] (७/१/३)

प्रत्ययाऽवयवस्य झस्याऽन्तादेशः स्यात्। अतो गुणे-भवन्ति। भवसि, भवथः, भवथ।

झ इति- प्रत्यय के अवयव 'झ्' को 'अन्त्' आदेश हो।

'भू झि'-यहाँ 'कर्तरि शप्' के द्वारा 'शप्' विकरण हुआ। तब 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' के द्वारा गुण हो गया। भू शप् झि-भू अ झि-भो अ झि। 'एचोऽय-' के द्वारा 'अव्' आदेश हो गया। भव् अ झि। अब 'झोऽन्तः' के द्वारा 'झि' के झकार को 'अन्त्' आदेश हुआ। भव् अ अन्ति। 'अतो गुणे' के द्वारा वकारोत्तरवर्त्ती 'अ' और 'अन्ति' के 'अ' इन दोनों के स्थान पर पररूप एकादेश हो गया। भवन्ति।

'भू सिप्'-ऐसी स्थिति में 'भवति' की तरह समस्त प्रक्रिया होगी। भवसि। 'भू थस्'- ऐसी स्थिति में 'भवतः' की तरह प्रक्रिया होगी। भवथः। 'भू थ'-यहाँ पर पूर्ववत् क्रिया होकर 'भवथ' रूप बनेगा।

३९०. [६]**अतो दीर्घो** [१] **यञि**[७] (७/३/१०१)

अतोऽङ्गस्य दीर्घो यञादौ सार्वधातुके। भवामि, भवावः, भवामः।

स भवति, तौ भवतः, ते भवन्ति।

त्वं भवसि, युवां भवथः यूयं भवथ।

अहं भवामि, आवां भवावः, वयं भवामः।

अत इति- यञादि सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो। 'अलोऽन्त्यस्य' के अनुसार दीर्घादेश अन्त्य अच् को होगा। यञ् एक प्रत्याहार है।

'भू मिप्' ऐसी अवस्था में 'प्' की इत्संज्ञा हो गई। भू मि। 'कर्तरिशप्' के द्वारा शप् विकरण हुआ। अनुबन्ध लोप होकर भू शप् मि-भू अ मि। 'तिङ् शित्०' के द्वारा 'मि' प्रत्यय की सार्वधातुक संज्ञा हो गई। 'सार्वधातुकार्ध०' के द्वारा इगन्त अङ्ग को गुण हुआ। भो अ मि। अव् आदेश होकर 'भव् अ मि ' बन गया। तब अङ्ग संज्ञा होकर 'अतो दीर्घो यञि' के द्वारा अदन्त अङ्ग 'भव' को दीर्घ आदेश होकर 'भवामि' बन गया।

'भू वस्'-यहाँ 'भवावः' रूप सिद्ध होगा। भवामः।

---

१. इस सम्पूर्ण प्रकरण में तिङन्त पदों की सिद्धि करते समय छात्र सू० ३८८ पर 'भवति' शब्द की सिद्धि में प्रदर्शित (धातु संज्ञा से लेकर तिप् की उत्पत्ति पर्यन्त) विस्तृत प्रक्रिया अवश्य अपनाएँ। इस ग्रन्थ में आगे विस्तारभय से सर्वत्र सीधे धातु से तिप् आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति दिखाई गई है।

सः भवतीति-प्रथम-वह होता है, वे दो होते हैं, वे बहुत होते हैं।

मध्यम- तू होता है, तुम दो होते हो, तुम सब होते हो।

उत्तम- मैं होता हूँ, हम दो होते हैं, हम बहुत होते हैं।

लिट् लकार-

३९१. [७]**परोक्षे लिट्**[१] (३/२/११५)

भूतानद्यतनपरोक्षार्थवृत्तेर्धातोर्लिट् स्यात्। लस्य तिबादयः।

परोक्ष इति- भूत, अनद्यतन और परोक्ष क्रिया अर्थ में यदि धातु हो तो उससे 'लिट्' लकार हो। लिट् के इकार और टकार इत् हैं।

लस्येति- लकार को 'तिप्' आदि आदेश होंगे।

३९२. [६]**परस्मैपदानां णलतुसुस्-थलथुस- णल्वमाः**[१] (३/४/८२)

लिटस्तिबादीनां नवानां णलादयः नव स्युः। 'भू अ' इति स्थितौ-

परस्मा इति- लिट् के स्थान में परस्मैपद 'तिप्' आदि नौ प्रत्ययों को क्रमशः णल्, अतुस्, उस्, थल्, अथुस्, अ, णल्, व तथा म-ये नौ आदेश हों।

भू इति- भू लिट्— भू ल्— भू तिप्-भू णल्— चुट्, हलन्त्यम्। 'भू अ' ऐसा हो जाने पर।

३९३. [६]**भुवो वुग्**[१] **लुङ्लिटोः**[७] (६/४/८८)

भुवो वुगागमः स्यात् लुङ्लिटोरचि।

भुव इति-लुङ् और लिट् विषयक अच् परे रहते 'भू' धातु को 'वुक्' आगम हो। 'वुक्' के उकार व ककार इत्संज्ञक हैं। चूँकि वुक् कित् हैं। अतः 'आद्यन्तौ टकितौ' परिभाषा के बल पर धातु का अन्त्य अवयव होगा।

३९४. [७]**लिटि**[६]**धातोरनभ्यासस्य**[६] (६/१/८)

लिटि परे अनभ्यासधात्ववयवस्यैकाचः प्रथमस्य द्वे स्तः, आदि- भूतादचः परस्य तु द्वितीयस्य। 'भूव् भूव् अ' इति स्थिते-

लिटीति-लिट् परे रहते अभ्यास रहित (जिसे द्वित्व न हुआ हो) धातु के अवयव प्रथम एकाच् को द्वित्व हो, यदि धातु अजादि हो तो द्वितीय एकाच् को द्वित्व हो। एकाच् का अर्थ है- एक स्वर वाला समुदाय।

हलादि धातु चाहे एकाच् हो चाहे अनेकाच्, उसके प्रथम एकाच् को द्वित्व-होगा। पर ध्यान रहे कि यदि हलादि धातु एकाच् होगा तो उसमें धातु का अवयवत्व व्यपदेशिवद्भाव[१] से सिद्ध हो जायेगा।

'चकास्' धातु हलादि अनेकाच् है इसके प्रथम एकाच् 'च' को द्वित्व होगा। नी

---

१. किसी व्यक्ति का एक ही पुत्र है। उसे ही ज्येष्ठ और उसे ही कनिष्ठ माना जाएगा। इसे व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं।

धातु हलादि एकाच् है, इसके प्रथम एकाच् 'नी' को द्वित्व होगा। नी में प्रथम एकाच्त्व व्यपदेशिवद्भाव से माना जायगा अर्थात् अजादि एकाच् को व्यपदेशिवद्भाव से द्वित्व होगा और अनेकाच् के प्रथम एकाच् को ही होगा।

'ऊर्णुञ्' धातु अजादि अनेकाच् है अतः इसके द्वितीय एकाच् 'णु' को द्वित्व होगा। 'अत्' धातु अजादि एकाच् है, व्यपदेशिवद्भाव से इसके प्रथम एकाच् 'अत्' को ही द्वित्व होगा। 'अभ्यासरहित' कहने से एकबार द्वित्व करने पर पुनः द्वित्व नहीं होगा।

'भू लिट्' ऐसी स्थिति में प्रथम पुरुष एकवचन की विवक्षा में 'तिप्' की उत्पत्ति हुई। तब 'तिप्' को 'परस्मैपदानाम्-' के द्वारा 'णल्' आदेश हो गया। भू तिप्। भू ति। भू णल्। अनुबन्धों का लोप हो गया। भू अ। तब 'भुवो वुग्०' के द्वारा 'वुक्' आगम हुआ। भू व् अ। वकार 'भू' का ही अवयव है। अतः 'भू' के द्वारा 'भूव्' का ग्रहण होगा।

भू व् इति- इस के अनुसार प्रथम एकाच् 'भूव्' को द्वित्व हो गया। भूव् भूव् अ।

३९५. [१]**पूर्वोऽभ्यासः**[१] (६/१/४)

अत्र ये द्वे विहिते, तयोः पूर्वोऽभ्याससंज्ञः स्यात्।

पूर्व इति- यहाँ जो द्वित्व किया गया है, उनमें पूर्वरूप की अभ्याससंज्ञा हो।

'भू व् भूव् अ'- यहाँ प्रथम 'भूव्' की अभ्यास संज्ञा हुई।

३९६. [१]**हलाऽऽदिः शेषः**[१] (७/४/६०)

अभ्यासस्यादिर्हल् शिष्यते, अन्ये हलो लुप्यन्ते। इति वलोपे-

हलादिरिति- अभ्यास का आदि हल् शेष रहता है, अन्य हलों का लोप हो जाता है।

इति व लोपे- 'भूव् भूव् अ'-ऐसी अवस्था में प्रथम 'भूव्' पद की अभ्यास संज्ञा होकर उसका आदि हल् शेष रहगया, शेष हल् (वकार) का लोप हो गया। भू भूव् अ।

विशेष वक्तव्य- हलादि धातुओं के विषय में प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति स्पष्ट है, परन्तु 'अट्' जैसी अजादि तथा एकाच् धातुओं के आदि में हल् न होने से उक्त सूत्र की प्रवृत्ति में सन्देह होता है। यहाँ 'ह्रस्वो हलादिः शेषः' (पा० ७.४.५९-६०) इस प्रकार संहिता पाठ प्राप्त होता है। ऐसी अवस्था में प्रकृत सूत्र का योग विभाग (अहल् आदिशेषः) करने पर उक्त समस्या का समाधान हो जायेगा। तब 'अहल्' इस सूत्र का अर्थ होगा- अभ्यास हल् रहित हो। 'आदिः शेषः' सूत्र का अर्थ होगा- यदि आदि में हल् हो तो वह शेष रहता है। द्वितीय योग के अनुसार 'अट्' आदि अजादि धातुओं में अभ्यास के हल् रहित होने पर कोई दोष नहीं रहता।

३९७. [१]**ह्रस्वः** (७/४/५९)

अभ्यासस्याऽचो ह्रस्वः स्यात्।

ह्रस्व इति-अभ्यास के अच् को ह्रस्व आदेश हो।

३९८. [६]**भवतेरः**[१] (७/४/७३)

भवतेरभ्यासस्योकारस्य अः स्याल्लिटि।

भवतेरिति-'भू' धातु के अभ्यास के उकार को अकार हो लिट् परे होने पर।

'भू भूव् अ' ऐसी स्थिति में 'ह्रस्वः' सूत्र के द्वारा अभ्यास के अच् (ऊकार) को ह्रस्व हो गया। भु भू व् अ। प्रकृत सूत्र के द्वारा उकार को अकार हो गया। भ भू व् अ।

३९९. [७]**अभ्यासे चर्[१] चँ (८/४/५३)**

अभ्यासे झलां चरः स्युः, जशश्च। झशां जशः, खयां चर इति विवेकः। बभूव, बभूवतुः, बभूवुः।

अभ्यास इति-अभ्यास में झलों के स्थान में चर् हों और जश् भी।

झशामिति-झशों को जश् और खयों को चर् हों-यह निश्चय है। तात्पर्य यह है कि स्थानी - झल् हैं। आदेश हैं— चर् और जश्। उन में वर्गों के प्रथम और द्वितीय वर्ण तथा श ष स् ह आते हैं यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किस वर्ण के स्थान में कौन सा वर्ण आदेश हो। इसका निर्णय यह है—प्रथम वर्ण को प्रथम वर्ण, तृतीय वर्ण को तृतीय वर्ण तथा श, ष्, स् को श, ष्, स्, ही आदेश होंगे अर्थात् अपने स्थान में अपने आप होंगे च को च, ट को ट तथा ज को ज इत्यादि। द्वितीय वर्णों को प्रथम वर्ण होंगे तथा चतुर्थ वर्णों को तृतीय वर्ण होंगे। उदाहरण के लिए-'छिद् छिद् अ' ऐसा होने पर अभ्यास के 'छिद्' में चकार होकर 'चिच्छेद' रूप बनता है।

अब 'भ भूव् अ' ऐसी स्थिति में झल् (भकार) को जश् (बकार) हो गया। बभूव। 'भू तस्' में पूर्ववत् प्रक्रिया होकर 'बभूवतुः' रूप सिद्ध होगया। द्विवचन में-भू अतुस्-भूव् अतुस्-भूव् भूव् अतुस्-भू भूव् अतुस्-भु भूव् अतुस्-भ भृव् अतुस्-बभूवतुः। 'भू झि'- यहाँ पूर्वोक्त क्रिया होकर 'बभूवुः' सिद्ध हुआ। यथा- भू उस्-भूव् उस्, भूव् भूव् उस्-भ भूव् उस्-भु भूव उस्-भ भूव् उस्-बभूवुः।

४००. [१]**लिट् चँ (३/४/११५)**

लिडादेशस्तिङ् आर्धधातुकसंज्ञः।

लिडिति-लिट् के स्थान में होने वाले तिङ् आदेश की आर्धधातुक संज्ञा हो।

यह सूत्र 'तिङ् शित् सार्वधातुकम्' का अपवाद है। मध्यम पुरुष एकवचन की विवक्षा में 'भू' धातु से 'सिप्' की उत्पत्ति हुई। तब 'परस्मैपदानां णलथुसुस्-' के द्वारा सिप् के स्थान पर 'थल्' आदेश हुआ। अनुबन्ध लोप हो गया। भू थ। 'लिट् च' सूत्र के द्वारा 'थ' की आर्धधातुक संज्ञा हो गई। तिङ् के स्थान में होने के कारण स्थानिवद्भाव से थल् 'तिङ्' ही हो गया।

४०१. [६]**आर्धधातुकस्येड्[१] वलादेः[६] (७/२/३५)**

वलादेरार्धधातुकस्य 'इट्' आगमः स्यात्। बभूविथ, बभूवथुःबभूव। बभूव, बभूविव, बभूविम।

आर्धधातुकस्येति--वलादि आर्धधातुक को इट् हो।

'भू थ'-यहाँ 'थ' वलादि आर्धधातुक है। अत: इट् का आगम हो गया। इट् का टकार इत्संज्ञक है। तब अनुबन्ध लोप होकर 'भू इ थ' बन गया। तब 'भुवो वुग्-' के द्वारा वुक् का आगम हुआ। वकार की इत्संज्ञा और लोप हो गया। भू वुक् इथ-भूव् इथ। 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' के द्वारा प्रथम एकाच् को द्वित्व हो गया। भूव् भूव् इथ। 'पूर्वोऽभ्यास:' के द्वारा अभ्यास संज्ञा तथा 'हलादि: शेष:' से अभ्यास के वकार का लोप हो गया। 'ह्रस्व:' के द्वारा दीर्घ ऊकार को ह्रस्व हो गया। 'भवतेर:' से उकार को अकार हो गया। तब 'अभ्यासे चर्च' के द्वारा भकार के स्थान पर बकार हो गया। भू भूव्इथ-भुभूव् इथ- भभूविथ-बभूविथ।

ध्यान रहे कि इट् आगम पहले होता है और तब वुक् आगम होता है, क्योंकि वुक् अच् परे होने पर होता है 'इट्' होने पर ही अच् परे मिलता है। तब द्वित्व आदि कार्य होते हैं।

द्विवचन में—बभूव् अथुस्-बभूवथु:। बहुवचन-बभूव् अ-बभूव।

उत्तम के एकवचन में-बभूव् अ (णल्) बभूव।

द्विवचन में-'भू व' यहाँ वलादि आर्धधातुक होने से 'व' को इट् आगम होकर 'बभूविव' रूप बना।

बहुवचन में-'भू म' यहाँ भी पूर्ववत् इट् होकर 'बभूविम' रूप सिद्ध होता है।

'व' और 'म' में भी थल् के समान पहले 'इट्' करना चाहिये, तब अच् परे मिलने से वुक् आगम होगा और तभी द्वित्व आदि कार्य किये जायेंगे।

लुट् लकार—

४०२. **अनद्यतने लुट् (३/३/१५)**

भविष्यत्यनद्यतनेऽर्थे धातोर्लुट्।

अनद्यतन इति-अनद्यतन भविष्यत् क्रिया के लिए धातु से 'लुट्' लकार हो।

काल का अन्वय क्रिया ही में होता है। जब क्रिया का भविष्यत्काल में होना और आज न होना- अभीष्ट हो, तो 'लुट्' का प्रयोग होता है।

४०३. [१]**स्य-तासी लृ-लुटो:**[६] **(३/१/३३)**

धातो: स्यतासी एतौ प्रत्ययौ स्त:, लृलुटो: परत:। शबाद्यपवाद:। 'लृ' इति लृङ्लृटोर्ग्रहणम्।

स्येति- लृङ्, लृट् तथा लुट् परे रहते धातु से 'स्य' तथा 'तासि' प्रत्यय होते हैं।

लुट् में 'तासि' होता है तथा इसका इकार इत्संज्ञक है। लृट् तथा लृङ् में 'स्य' होता है।

शबादीति—यह विधि 'शप्' आदि की बाधक है।

लृ इति-सूत्र में 'लृ' यह पद कहा गया है, उससे लृङ् और लृट् दोनों का ग्रहण

होता है। कहा गया है-निरनुबन्धकग्रहणे सामान्यग्रहणम्' अर्थात् जहाँ अनुबन्ध रहित का पाठ किया गया हो, वहाँ सामान्य का ग्रहण होता है। उक्त सूत्र में 'लृ' अनुबन्ध रहित है। अतः इस पद के द्वारा सामान्य लृङ् तथा लृट् का ग्रहण होता है।

अनद्यतनता अर्थात् भविष्यत्- कालिकता की विवक्षा में 'भू' धातु से लुट् लकार की उत्पत्ति हुई। भू लुट्। अनुबन्धों का लोप होकर 'भू ल्' ऐसी स्थिति हुई। तब लकार को 'तिप्' आदेश हुआ। भू तिप्-भूति। 'कर्तरि शप्' के द्वारा 'शप्' विकरण की प्राप्ति हुई। तब 'स्यतासी लृलुटोः' के द्वारा 'तासि' हो गया— भू तासि ति-भू तास् ति।

४०४. [१]**आर्धधातुकं शेषः**[१] (३/४/११४)

तिङ्शिद्भ्योऽन्यः, 'धातोः' इति विहितः प्रत्यय एतत्संज्ञः स्यात्। इट्।

आर्धधातुकमिति—तिङ् और शित् प्रत्ययों से भिन्न प्रत्ययों की आर्धधातुक संज्ञा होती है। तास् प्रत्यय तिङ् नहीं और शित् भी नहीं। 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' सूत्र से इट् आगम हुआ। तब 'भू इ तास् ति' इस दशा में 'सार्वधातुकाऽर्धधातुकयोः' से 'ऊ' को गुण 'ओ' और 'ओ' को 'अव्' आदेश होकर 'भवि तास् ति' यह स्थिति हुई।

४०५. [६]**लुटः प्रथमस्य**[६] **डारौरसः**[१] (२/४/८५)

(लुटः प्रथमस्य डा रौ, रस् एते क्रमात्स्युः।) डित्त्वसामर्थ्याद् अभस्यापि टेर्लोपः-भविता।

लुट इति- लुट् के प्रथम (तीन प्रत्ययों) को क्रमशः डा, रौ तथा रस् आदेश हों। 'डा' का डकार इत्संज्ञक है। अतः यह 'डित्' है।

डित्वेति-यह स्वादि कप्रत्ययान्तों में नही आता, अतः इसके परे रहते 'यचि भम्' के द्वारा भसंज्ञा नहीं होती जिसके परिणाम स्वरूप 'टेः' सूत्र से टि का लोप नहीं प्राप्त होता। तथापि डित् करने के बल से भसंज्ञक न होने पर भी टि का लोप हो जाता है।

'भवितास् ति'-यहाँ 'लुटः प्रथमस्य०' सूत्र के द्वारा 'ति' को 'डा' आदेश हो गया तथा अनुबन्ध लोप हो गया। भवितास् डा-भवितास् आ। तब 'टि' का लोप हो गया। भवित् आ- भविता।

४०६. [६]**तासस्त्योर्लोपः**[१] (७/४/५०)

तासेरस्तेश्च लोपः स्यात् सादौ प्रत्यये परे।

तासस्त्योरिति—तास् और अस् धातु का लोप हो सकारादि प्रत्यय परे होने पर।

४०७. [७]**रि च** (७/४/५१)

रादौ प्रत्यये तथा। भवितारौ। भवितारः। भवितासि, भवितास्थः, भवितास्थ। भवितास्मि, भवितास्वः, भवितास्मः।

रि चेति-रकारादि प्रत्यय परे होने पर भी पूर्ववत् तास् और अस् का लोप हो।

'भू तस्'- यहाँ पूर्ववत् 'शप्' के स्थान पर 'तासि' प्रत्यय, इट् का आगम हुआ।

तब 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' के द्वारा गुण आदेश हुआ। 'एचोऽयवायावः' के द्वारा 'अव्' आदेश हो गया। भू तासि तस्-भू तास् तस्-भू इट् तास् तस्-भू इ तास् तस्-भो इ तास् तस्-भवितास् तस्। 'लुटः प्रथमस्य डारौरसः' के द्वारा 'तस्' के स्थान पर 'रौ' आदेश हो गया। तब 'रि च' के द्वारा सकार का लोप हो गया। भवितास् रौ-भविता रौ-भवितारौ।

'भवितास् झि' ऐसी स्थिति बन जाने पर झि को 'रस्' आदेश हुआ और तब प्रकृत सूत्र से तास् के सकार का लोप, सकार को रुत्व विसर्ग होने पर 'भवितारः' रूप बन गया। 'भवितास् सि' यहाँ सकारादि 'सि' प्रत्यय परे होने से 'तासस्त्योर्लोपः' सूत्र से तास् के सकार का लोप होने पर रूप बना। भवितासि। द्विवचन में-भवितास्थः। बहुवचन में—भवितास्थ।

उत्तम में-भवितास्मि, भवितास्वः, भवितास्मः-ये रूप बनते हैं। इन सभी में पूर्ववत् क्रिया होती है।

लृट् लकार

४०८. [१]लृट् शेषे[७] चँ (३/३/१३)

भविष्यदर्थाद् धातोर्लृट्, क्रियार्थायां क्रियायां सत्याम्, असत्याम् च। स्यः, इट्-भविष्यति, भविष्यतः, भविष्यन्ति। भविष्यसि, भविष्यथः, भविष्यथ। भविष्यामि, भविष्यावः, भविष्यामः।

लृडिति-भविष्यत् काल की विवक्षा में धातु से लृट् लकार होता है, क्रियार्थ क्रिया चाहे विद्यमान हो चाहे न हो। जब एक क्रिया दूसरी क्रिया के लिए की जाती है तो उसे 'क्रियार्थ क्रिया' कहते हैं। उदाहरण के लिए 'पठितुं गच्छति' में गमनक्रिया पढ़ने के लिए की जा रही है। अतः गमन क्रिया क्रियार्थ क्रिया है।

प्रकृत सूत्र में कहा गया है कि क्रियार्थ क्रिया का हुआ हो चाहे न हुआ हो, प्रधान क्रिया वाचक धातु से 'लृट्' लकार आयेगा। जैसे-क्रियार्थ क्रिया के अप्रयोग में 'पठिष्यति'। प्रयोग में 'पठिष्यति इति गच्छति' क्रियार्थ क्रिया की अवस्था में 'इति' शब्द का प्रयोग भी किया जाता है।

'तुमुन्' और 'ण्वुल्' प्रत्यय क्रियार्थ क्रिया के प्रयोग होने पर ही आते हैं,

लृट् लकार का अर्थ है— सामान्य भविष्यत् काल। जब भविष्यत् काल की क्रिया हो जो आज का न हो तब लुट् लकार का ही प्रयोग करना चाहिये, जैसे—'श्वो गन्तास्मि' इस वाक्य में क्रिया की अनद्यतनता 'श्वः' पद से स्पष्ट है, अतः यहाँ लुट् लकार का प्रयोग शुद्ध है। यहाँ कवि कालिदास का लोकप्रसिद्ध उदाहरण द्रष्टव्य है-'यास्यत्यद्य शकुन्तलेति०'। इस उदाहरण में अद्यतनता की स्पष्ट प्रतीति हो रही है। अतः लृट् लकार का प्रयोग हुआ है।

'भू लृट्'-ऐसा होने पर लृट् को तिप् आदेश हो गया। भू तिप्। 'स्यतासी लृलुटोः'

के द्वारा 'स्य' हुआ। 'आर्धधातुकं शेषः' के द्वारा 'स्य' की आर्धधातुक संज्ञा हुई। तब 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' के द्वारा 'इट्' आगम हुआ। भू स्य ति-भू इट् स्यति। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' के द्वारा गुण हो गया। 'एचोऽयवायावः' के द्वारा अव् आदेश हो गया। तब 'आदेशप्रत्यययोः' के द्वारा 'स्य' को मूर्धन्य आदेश हो गया। भू इस्यति-भो इस्यति- भविस्यति-भविष्यति। 'भू तस्'-में सम्पूर्ण क्रिया पूर्ववत् होगी। विसर्ग कार्य होकर 'भविष्यतः' रूप बनेगा। 'भू झि'-यहाँ 'झोऽन्तः' के द्वारा 'झ्' को 'अन्त्' आदेश होगा। शेष कार्य पूर्ववत् होंगे। भविष्यन्ति।

'भू सिप्'-भविष्यति की तरह रूप सिद्धि होगी। भविष्यसि। 'भविष्यथः' तथा 'भविष्यथ' में सभी कार्य पूर्ववत् होंगे।

'भू मि'-यहाँ 'स्य', इट् का आगम, गुण तथा अवादेश आदि सभी कार्य पूर्ववत् होंगे। 'अतो दीर्घो यञि' से अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो जाएगा। भविष्यामि। इसी प्रकार 'भविष्यावः' तथा 'भविष्यामः' में होगा।

लोट् लकार

४०९. [१]**लोट् च (३/३/१६२)**

विध्याद्यर्थेषु धातोर्लोट् स्यात्।

लोट् इति- विधि आदि अर्थों में धातु से लोट् हो।

विधि आदि आगे 'विधिनिमन्त्रणाऽऽमन्त्रणाधीष्टसंप्रश्न प्रार्थनेषु लिङ् (३/३/१६१) इस सूत्र में कहे गये हैं। ये छह अर्थ है-१.विधि, २.निमन्त्रण, ३. आमन्त्रण, ४. अधीष्ट, ५. सम्प्रश्न, ६. प्रार्थना।

विधि आदि इन छहों का अर्थ प्रेरणा है। यथा—

१. विधि-उस प्रेरणा को कहते हैं जिसे 'आज्ञा देना' कहा जाता है यह अपने से छोटों को कहा जाता है-भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम्। यथा- 'पुस्तकम् आनय'। यहाँ आदेश दिया जा रहा है। अतः यह 'विधि' रूप प्रेरणा है। यहाँ काम करना अनिवार्य होता है।

२. निमंत्रण- जो अपने समान के बन्धु-बान्धवों आदि को की जाती है उसे निमन्त्रण कहते हैं। इसमें 'आज्ञा' का भाव उतना प्रधान नहीं रहता, पर इसे टाला नहीं जा सकता। इसे आग्रह कह सकते हैं। इसीलिए कहा गया है-निमंत्रणं नियोग करणम्, जैसे— 'अमुत्र भवानु भुङ्क्ताम्'।

३. आमन्त्रण-उस प्रेरणा को कहते हैं जिसमें निमन्त्रण से कम बल रहता है। उस कार्य को करने में व्यक्ति स्वतन्त्र होता है। चाहे करे चाहे न करे। अतएव कहा गया है—आमन्त्रणं कामचारानुज्ञा अर्थात् आमन्त्रण की प्रेरणा में कामचार की गुञ्जायश रहती है। आमन्त्रित व्यक्ति का आना न आना उसकी इच्छा पर है। इसे 'अनुरोध' कहा जा सकता है। यथा— 'इह भवान् आगच्छतु।'

४. अधीष्ट— उस प्रेरणा को कहते हैं, जिसमें सत्कार हो। यह प्राय: अपने से बड़े लोगों से सम्बन्ध रखता है। अतएव कहा गया है 'अधीष्ट: सत्कारपूर्वको व्यापार:' सत्कार पूर्वक किसी को कार्य में लगाना। जैसे- 'श्रीमन्, भवान् मम पुत्रमध्यापयतु, अध्यापयेद् वा -' (मेरे पुत्र को पढ़ाइये)।

५. संप्रश्न- परामर्श लेने को सम्प्रश्न कहते हैं। संप्रधारणं संप्रश्न:-निश्चय के लिये कहना। जैसे-कि भो वेदमधीयीय, उत् तर्कम् (भगवन्, मैं वेद पढ़ूँ कि न्यायशास्त्र?) यहाँ भी प्रेरणा है, पर सलाह के लिये।

६. प्रार्थना-उस प्रेरणा को कहते हैं जो अपने से बड़ों से की जाती है। इसमें प्रार्थना का भाव रहता है। अतएव प्रार्थनम्-याचना, यह कहा गया है। यथा-भवति में प्रार्थना व्याकरणमधीयीय।' अर्थात् आपसे प्रार्थना है कि मुझे व्याकरण पढ़ने दीजिए।

इन अर्थों में लिङ् और लोट् दोनों लकार आते हैं। अत: यहाँ दोनों लकारों का उपयोग होता है।

४१०. [७]**आशिषि लिङ् लोटौ**[१] (३/३/१७३)

आशिषि धातोर्लिङ्लोटौ स्त:।

आशिषीति- आशीर्वाद अर्थ में भी लिङ् और लोट् लकार होते हैं।

आशीरिति-अप्राप्त इष्ट वस्तु की इच्छा को 'आशी:' कहते हैं। जैसे-पुत्रं ते भवतु, भूयाद् वा (तुम्हारा पुत्र हो।) इस वाक्य में पुत्रप्राप्ति की अभिलाषा प्रकट की गई है।

ध्यान रहे लोट् लकार में आशीर्वाद अर्थ में केवल प्रथम और मध्यम के एकवचन में 'तुह्योस्तातङ् आशिष्यन्यतरस्याम्' सूत्र से दो रूप बनते हैं। अन्य रूप समान ही रहते हैं।

भू धातु से विध्यादि अर्थों में लोट् लकार होने पर उसके स्थान में तिङ् आदेश होंगे।

'भू तिप्'-'तिङ् शित् सार्व०-' के द्वारा 'तिप्'की सार्वधातुक संज्ञा हो गई। तब 'कर्तरि शप्' के द्वारा 'शप्' विकरण हो गया। भू शप् तिप्। अनुबन्ध लोप हो गया। भू अति।

तब 'सार्वधातुकार्धधातुकयो:' के द्वारा गुण हो गया। 'एचोऽयवायाव:' के द्वारा 'अव्' आदेश हो गया। भो अति-भव् अति।

४११. [६]**एरु:**[१] (३/४/८६)

लोट इकारस्य उ:। भवतु।

एरिति-लोट् के इकार को उकार हो।

'भवति' यहाँ 'एरु:' के द्वारा उकार होकर 'भवतु' रूप सिद्ध हुआ।

४१२. [६]**तुह्योस्तातङ्**[१] **आशिष्य**[७]**न्यतरस्याम्** (७/१/३५)

आशिषि तुह्योस्तातङ् वा। परत्वात् सर्वादेश:-भवतात्।

तुह्योरिति-आशीर्वाद अर्थ में लोट् के 'तु' और 'हि' को विकल्प से तातङ् हो।

'तातङ्' के 'ङ्' की 'हलन्त्यम्' के द्वारा तथा अकार की 'उपदेशेऽजनु०' के द्वारा इत्संज्ञा होती है।

परत्वादिति-पर होने से सम्पूर्ण 'तु' और 'हि' के स्थान में 'तात्' आदेश होता है।

'तातङ्' ङित् होने से 'ङिच्च' (पा० १.१.५२) सूत्र से अन्त्य अल् के स्थान में प्राप्त है तथा अनेकाल् होने से सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर प्राप्त होता है। परन्तु 'अनेकाल् शित्०' सूत्र 'ङिच्च' सूत्र से पर है। अतः पर होने के कारण 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र से 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' (पा० १.१.५४) सूत्र से सम्पूर्ण स्थानी के स्थान में ही आदेश होता है।

'भू तिप्'- इस स्थिति में पूर्वोक्त रीति से 'भवतु' रूप सिद्ध हुआ। पक्ष में प्रकृत सूत्र के द्वारा 'तु' प्रत्यय को आशीर्वाद अर्थ में 'तातङ्' आदेश हो गया। भव तातङ्-भवतात्।

४१३. [६]**लोटो लङ्वत्** (३/४/८५)

लोटस्तामादयः, सलोपश्च।

लोट इति-लोट् के स्थान में लङ् के समान 'ताम्' आदि आदेश तथा सकार लोप हो।

४१४. [६]**तस्थस्थमिपां तांतंतामः**[१] (३/४/१०१)

ङितश्चतुर्णां तामादयः क्रमात्स्युः। भवताम्। भवन्तु।

तस्थस्थेति—ङित् लकारों के तस्, थस्, थ और मिप्-प्रत्ययों को क्रम से ताम्, तम्, त, और अम् आदेश हों। यथासंख्य आदेश होंगे।

'भू तस्'- ऐसी अवस्था में पूर्ववत् शप्, गुण तथा अवादेश होकर 'भव तस्' रूप बना। अब 'लोटो लङ्वत्' सूत्र के अतिदेश बल पर 'तस् थस् थमिपां तां०' के द्वारा 'तस्' के स्थान पर 'ताम्' आदेश होकर 'भवताम्' रूप बना।

'भू झि'- यहाँ पूर्ववत् 'भवतु' की तरह सभी कार्य होकर 'एरुः' के द्वारा उकार आदेश हो गया। भवन्तु।

४१५. [६]**सेर्ह्यपिच्च**[१] (३/४/८७)

लोटः सेर्हिः, सोऽपिच्च।

सेरिति-लोट् के 'सि' को 'हि' आदेश हो और वह 'अपित्' हो।

'अपित्' विधान करने से 'सार्वधातुकमपित्' सूत्र से वह ङिद्वत् हो जाता

४१६. [५]**अतो हेः**[६] (६/४/१०५)

अतः परस्य हेर्लुक्। भव, भवतात्। भवतम्, भवत।

अत इति- अदन्त अङ्ग से परे 'हि' का लोप हो।

भ्वादि गण में शप् (>अ), दिवादिगण में श्यन् (>य), तुदादिगण में श (>अ)

तथा चुरादिगण में शप् (>अ) विकरण होता है। इन विकरणों में ही अदन्त अङ्ग सम्भव है। इसलिये भ्वादि, दिवादि, तुदादि और चुरादि गणों की धातुओं से परे 'हि' का लोप इस सूत्र से हो जाता है।

मध्यम के एकवचन में 'भू सिप्' यहाँ 'सेर्ह्यपिच्च' सूत्र के द्वारा 'सि' को 'हि' आदेश हो गया। भवसि-भवहि। तब आशीर्वाद अर्थ में 'तुह्योस्तातङ्-' के द्वारा 'तातङ्' आदेश होकर 'भवतात्' बना। पक्ष में 'अतो हेः' के द्वारा 'हि' का लोप होकर 'भव' रूप बना।

'भू थस्'-यहाँ लङ्वत् 'तम्' आदेश होकर 'भवतम्' रूप बना। इसी प्रकार बहुव० में 'भवत' रूप सिद्ध होगा।

४१७. [६]**मेर्निः**[१] **(३/४/८९)**

लोटो मेर्निः स्यात्।

मेरिति-लोट् के 'मि' को 'नि' आदेश हो।

४१८. [१]**आड्** [६]**उत्तमस्य**[१] **पिच्च** **(३/४/९२)**

लोडुत्तमस्याट् स्यात्, पिच्च। हिन्योरुत्वं न, इत्वोच्चारणसामर्थ्यात्। भवानि।

आडिति-लोट् के उत्तम को आट् आगम हो और वह पित् हो। 'पित्' होने से गुण आदि कार्य होते हैं।

'भू मिप्' (लोट् स्थानिक)-ऐसी स्थिति में शप्, गुण, अवादि आदेश होकर 'भव मि' ऐसा रूप बन गया। तब 'मेर्निः' के द्वारा 'नि' आदेश हो गया। भव नि। 'आड् उत्तमस्य पिच्च' के द्वारा आडागम हो गया। भव आट् नि-भव आनि। तब 'अकः सवर्णे दीर्घः' होकर 'भवानि' रूप बना।

हिन्योरिति—'हि' और 'नि' के इकार को 'एरुः' सूत्र से उकार प्राप्त होता है। उच्चारण सामर्थ्य से उकार नहीं होता, अन्यथा आदेश विधान करते हुए इनमें इकार के उच्चारण का फल न हो। यदि उकार अभीष्ट होता तो 'हु' और 'नु' आदेश विधान किये जा सकते थे।

४१९. [१]**ते प्रॉग् धातोः**[५] **(१/४/७९)**

ते गत्युपसर्गसंज्ञका धातोः प्रागेव प्रयोक्तव्याः।

त इति-उपसर्ग और गति संज्ञक (प्र आदि) धातु के पूर्व आते हैं। यथा-प्रभवति और अनुभवति आदि प्रयोगों में 'प्र' तथा 'अनु' उपसर्गो का प्रयोग धातु 'भवति' से पूर्व हुआ है।

४२०. **आनि लोट् ८/४/१६/।**

उपसर्गस्थाद् निमित्तात् परस्य लोडादेशस्य 'आनि' इस्यस्य नस्य णः स्यात्। प्रभवाणि।

(वा०) दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः। दुःस्थितिः। दुर्भवानि।

(वा०) अन्तः शब्दस्याऽङ्किविधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्। अन्तर्भवाणि।

आनीति-उपसर्गस्थ निमित्त (रेफ, षकार) से परे लोट् सम्बन्धी 'आनि' के नकार के स्थान पर 'णकार' आदेश होता है।

प्र भू धातु से उत्तमपुरुष एकवचन में 'मिप्' प्रत्यय हुआ। शबादि कार्य होकर 'प्रभवानि' ऐसी स्थिति हुई। तब 'आनि लोट्' के द्वारा णकार होकर 'प्रभवाणि' बना।

विशेष— प्रकृति सूत्र के दोनों पदों में लुप्त षष्ठी का प्रयोग हुआ है।

दुर इति-'दुर्' को षत्व और णत्व के विषय में उपसर्गत्व का निषेध हो अर्थात् षत्व और णत्व विधि में 'दुर्' को उपसर्ग नहीं माना जाता।

उपसर्ग न होने से 'दुर्' को षत्व या णत्व कार्य नहीं हो पाते।

दुःस्थितः-यहाँ 'दुर्' उपसर्ग से परे 'स्था' के सकार को 'उपसर्गात् सुनोतिसुवतिस्यतिस्तोतिस्तोभतिस्थासेधसिचसञ्जाम्' इस सूत्र से षत्व प्राप्त है प्रकृत वार्तिक के द्वारा उपसर्गत्व का निषेध होने से षत्व नहीं होता।

दुर्भवानि—यहाँ 'आनि लोट्' सूत्र से 'दुर्' उपसर्ग में निमित्त रकार की स्थिति होने से उससे परे 'आनि' के नकार को णत्व प्राप्त है। पूर्ववत् णत्व का निषेध हो गया।

अन्तरिति—'अन्तर्' शब्द को अङ्, किविधि और णत्व के विषय में 'उपसर्ग' कहना चाहिये।

'अन्तर्' शब्द प्रादियों में नहीं है, अतः इसकी 'उपसर्गाः क्रियायोगे' से उपसर्ग संज्ञा नहीं होती है। प्रकृत वार्तिक के द्वारा इसकी उपसर्ग संज्ञा होने से 'अन्तर्' के द्वारा णत्व और अङ् प्रत्यय आदि कार्य होंगे।

अन्तर्भवाणि-यहाँ 'अन्तर्' शब्द की प्रकृत वार्तिक से उपसर्ग संज्ञा हो गई। तब रकार से परे 'आनि' के 'नकार' को 'आनि लोट्' से णत्व हुआ।

४२१. [१]नित्यं ङितः[६] (३/४/९९)

सकारान्तस्य ङिदुत्तमस्य नित्यं लोपः। 'अलोऽन्त्यस्य' इति सलोपः-भवाव, भवाम।

नित्यमिति-ङित् लकारों के सकारान्त उत्तम का नित्य लोप हो।

'अलोऽन्त्यस्य इति-इस परिभाषा के बल से अन्त्य अल् सकार का ही लोप होता है।

यद्यपि यह सूत्र ङित् लकारों के लिये विधान करता है, तथापि 'लोटो लङ् वत्' के अतिदेश से लोट् में भी प्रवृत्त होता है।

भू से लोट् स्थानिक 'वस्' प्रत्यय करने पर 'भूवस्' ऐसी स्थिति बनी। तब शबादि कार्य तथा आट् आगम होकर 'भवा वस्' अवस्था हुई। 'लोटो लङ्वत्' के अतिदेश से 'नित्यं ङितः' के द्वारा सकार का लोप हुआ। भवाव।

इसी प्रकार 'भू मस्' में पूर्ववत् कार्य होकर 'भवाम' रूप बनेगा।

लङ् लकार —

४२२. [७]अनद्यतने लङ्[१] (३/२/१११)

अनद्यतनभूतार्थवृत्तेर्धातोर्लङ् स्यात्।

अनद्यतन इति- अनद्यतन भूतकाल में होने वाली क्रिया के विषय में धातु से लङ् लकार हो। अनद्यतन का अर्थ है- जो आज न हो।

'ह्यो दिल्ल्याम् अभवम्-कल मैं दिल्ली में था' इस वाक्य में क्रिया का अनद्यतन भूतकाल में होना प्रकट होता है, अत एव लङ् लकार का प्रयोग किया गया है।

जहाँ क्रिया का अनद्यतन भूतकाल में होना स्पष्ट हो, वहाँ अवश्य 'लङ्' का प्रयोग करना चाहिये। जहाँ अनद्यतनता की स्पष्ट प्रतीति न हो, वहाँ सामान्य रूप से 'लुङ्' का ही प्रयोग करना चाहिये।

४२३. [७]लुङ्-लङ्-लृङ्क्ष्वड्[१] उदात्तः[१] (६/४/७१)

एष्वङ्गस्याट् स्यात्।

लुङ्लङिति-लुङ्, लङ् और लृङ् परे रहते अङ्ग को 'अट्' आगम हो तथा वह उदात्त हो।

'अट्' में टकार इत्संज्ञक है। अतः टित् होने से 'अट्' अङ्ग का आदि अवयव होगा। तिबादि आदेश होने के पूर्व ही 'अट्' आगम होता है। प्रयोग सिद्ध करते समय लकार लाने के समनन्तर अट् का उल्लेख कर देना चाहिये।

भू से लङ् लकार आने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा अट् आगम हुआ। भूलङ् > भूल्-अट् भूल्-अभूल्। तब लकार के स्थान में तिङ् की उत्पत्ति हुई। शप् विकरण, गुण, अव् आदेश होकर 'अभू तिप्-अभूति-अभूशप् ति-अभूअति-अभोअति-अभव् अति > अभवति' बन गया।

४२४. [६]इतश्च (३/४/१००)

ङितो लस्य परस्मैपदमिकारान्तं यत्, तदन्तस्य लोपः। अभवत्, अभवताम्, अभवन्। अभवः, अभवतम्, अभवत। अभवम्, अभवाव, अभवाम।

इतश्चेति-ङित् लकारों (लङ्, लिङ्, लुङ्, लृङ्) के स्थान में आदेश हुआ जो इकारान्त परस्मैपद, उसके अन्त का लोप हो।

पूर्वोक्त रीति से प्राप्त 'अभवति' ऐसी अवस्था में 'इतश्च' सूत्र के द्वारा 'ति' के इकार का लोप हो गया। तब 'अभवत्' रूप बना।

भू के साथ लङ् लकारस्थानिक 'तस्' की उत्पत्ति हुई। तब अट् आगम, शबादि अन्य कार्य होकर 'अभवतस्' बन गया। तब 'तस्' के स्थान पर 'ताम्' (तस्थस्थमिपां - - -) आदेश होकर 'अभवताम्' बना।

बहुवचन में 'भू झि' ऐसी अवस्था में अडागम, अन्त् आदेश, शप् विकरण, गुण

आदेश तथा अवादेश हो गया। अट् भू झि-अभूझि-अभू अन्ति-अभू शप् अन्ति-अभू अ अन्ति-अभो अ अन्ति- तब 'इतश्च' के द्वारा इकार का लोप हुआ। अभवन्त्— संयोगान्तस्य लोपः से तकार का लोप होकर 'अभवन्' हो गया।

मध्यम के एकवचन में-भू ल्-अभू ल्-अभू सि-अभू अ स्-अ भो अस्-अभव स्-अभवस्-अभवः। रुत्व तथा विसर्ग हो गया।

द्विवचन में 'अ भ व थस्-' इस दशा में थस् को तम् आदेश करने पररूप सिद्ध होता है। अभवतम्। (तस्थस्थमिपां०)।

मध्यम पुरुष के बहुवचन में अट्, शप्, गुण, अवादेश, 'थ' को 'त' आदेश कार्य होने पर रूप सिद्ध होता है। अ भू अ थ > अ भ व थ > अभवत।

'अभव मि' यहाँ 'तस्थस्थमिपां तांतंतामः' सूत्र से 'मिप्' को 'अम्' हुआ। तब 'अतो गुणे' से अकार पररूप होने पर 'अभवम्' रूप बना।

लङ् के उत्तम के द्विवचन में अट्, शप्, गुण, अवादेश, दीर्घ (अतो दीर्घो यञि) तथा सकार का लोप कार्य होने पर रूप सिद्ध हुआ। अभवाव।

अभवाम-इसकी सिद्धि 'अभवाव' के समान है।

विधिलिङ् लकार

४२५. [७]विधि निमन्त्रणाऽऽमन्त्रणाऽधीष्ट संप्रश्न प्रार्थनेषु लिङ्[१] (३/३/१६१)

एष्वर्थेषु धातोर्लिङ्।

विधीति-१ विधि, २ निमन्त्रण, ३ आमन्त्रण, ४ अधीष्ट, ५ संप्रश्न, ६ प्रार्थना— इन अर्थों में धातु से लिङ् लकार होता है। इन का अर्थ 'लोट्' लकार में कहा जा चुका है।

४२६. [१]यासुट् [७]परस्मैपदेषूदात्तो[१] [१]ङिच्च (३/४/१०३)

लिङः परस्मैपदानां यासुड् आगमः, (उदात्तो) ङिच्च।

यासुडिति-लिङ् के परस्मैपद प्रत्ययों को 'यासुट्' आगम हो और वह उदात्त और ङित् भी हो।

'यासुट्' को 'ङित्' करने का फल है- गुण आदि का निषेध करना।

४२७. [६]लिङः [१]सलोपोऽनन्त्यस्य[६] (७/२/७९)

सार्वधातुकलिङोऽनन्त्यस्य सस्य लोपः स्यात्। इति प्राप्ते-

लिङ इति- सार्वधातुक लिङ् के अनन्त्य सकार का लोप हो।

भू धातु से लिङ् के स्थान पर तिङ् प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई। प्रथम एकवचन में 'तिप्' हुआ। भू तिप्-भूति। 'इतश्च' सूत्र के द्वारा इकार का लोप हो गया। भूत्। शप् विकरण, 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण आदेश तथा अव् आदेश हो गया। भू शप् त्-भू अ त्- भो अत्-भव् अत्। तब लिङ् स्थानिक परस्मैपद 'तिप्' को 'यासुट् परस्मै०' के द्वारा 'यासुट्' आगम हुआ। भव यासुट् त्-भव यास् त्। यहाँ तिप् लिङ् के स्थान में हुआ , अतः स्थानिवद्भाव से लिङ् ही है। 'यासुट्' लिङ् स्थानिक तिप् को आगम हुआ है। तब

'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते (आगम जिसका हो, उसी का अवयव होता है और उसके ग्रहण से ग्रहण होता है) इस परिभाषा के बल से लिङ् के ग्रहण से तत्सहित 'यास्त्' का ग्रहण होता है। अत: 'यास् त्' यह सम्पूर्ण लिङ् है। प्रकृत सूत्र से सकार का लोप प्राप्त हुआ।

४२८. [५]अतो [६]येय:[१] (७/२/८०)

अत: परस्य सार्वधातुकावयवस्य 'यास्' इत्यस्य इय्। गुण:।

अत इति–अदन्त अङ्ग से परे सार्वधातुक के अवयव 'यास्' को 'इय्' आदेश हो।

'भव यास् त्'–यहाँ प्रकृत सूत्र से 'इय्' आदेश हुआ। अनेकाल् होने से सर्वादेश होगा। भव इय् त्।

गुण इति–उक्त अवस्था में 'आद् गुण:' के द्वारा गुण एकादेश होकर 'भवेय् त्' यह स्थिति बनी।

४२९. [१]लोपो [६]व्योर्वलि[७] (६/१/६४)

(वलि वकारयकारयोर्लोप:।) भवेत्। भवेताम्।

लोप इति–वल् परे रहते वकार और यकार का लोप हो।

लिङ् के प्रथम के एकवचन में पूर्वोक्त प्रकार से गुणादेश होकर 'भवेय् त्' इस स्थिति में वल् परे होने से यकार का लोप हुआ। भवेत्।

द्विवचन में–भू तस्–भू अ तस्–भव् अताम्–भव् अयास् ताम्–भव इय् ताम्–भवे य् ताम्–भवेताम्।

४३०. [६]झेर्जुस्[१] (३/४/१०८)

लिङो झेर्जुस् स्यात्। भवेयु:। भवे:, भवेतम्, भवेत। भवेयम्, भवेव, भवेम।

झेरिति—लिङ् के 'झि' को 'जुस्' आदेश हो।

लिङ् के प्रथम पु० बहुवचन में 'भू झि' इस स्थिति में 'झोऽन्त:' के द्वारा 'झ्' को 'अन्त्' आदेश प्राप्त होता है, परन्तु 'झेर्जुस्' के द्वारा इसका बाध होता है और 'जुस्' आदेश होता है। 'भू जुस्' ! अब 'चुटू' के द्वारा 'जुस्' के जकार की इत्संज्ञा होती है। शप्, गुण, अव् आदेश तथा यासुट् आगम होते हैं। भू उस्–भूशप् उस्–भो अ उस्– भव यासुट् उस्–भव यास् उस्। 'यासुट्' को 'अतो येय:' से 'इय्' आदेश हो गया। भव इय् उस्। तब गुण तथा विसर्ग आदि होकर 'भवेयु:' रूप सिद्ध हुआ।

'भू सिप्' यहाँ 'इतश्च' से इकार लोप हुआ। शप्, गुण, यासुट् आगम, इय् आदेश होकर 'भवेय् स्' बन गया। तब 'लोपो व्योर्वलि' के द्वारा यकार का लोप तथा विसर्गादि हो गया। भवे:।

भवेतम्–भवेय् तम्–भवेतम्। (लोपो व्यो० से यकार लोप)।

भवेत– भवेय् त–भवेत। भवेयम्– भवेय् मि–भवेय् अम्–भवेयम्।

भवेव- तिबादि की उत्पत्ति, शप्, गुणादि कार्य होकर— भवेय् वस् भवेय् व-भवेव। भवेम- पूर्ववत् शबादि कार्य होकर— भवेय् मस्-भवेय् म-भवेम। विशेष: 'नित्यं ङित:' से सकार का और 'लोपो व्योर्वलि' से वकार का लोप होता है।

आशीर्लिङ्

४३१. [१]**लिङ्-आशिषि**[७] (३/४/११६)

आशिषि लिङस्तिङ् आर्धधातुकसंज्ञः स्यात्।

लिङिति—आशीर्वाद अर्थ में लिङ् के स्थान में आदेश हुए 'तिङ्' आर्धधातुकसंज्ञक हो।

४३२. [१]**किद्-आशिषि**[७] (३/४/१०४)

आशिषि लिङो यासुट्। कित्। 'स्कोः संयोगाद्योः' इति सलोपः।

किदिति-आशीर्वाद अर्थ के लिङ् को जो यासुट् आगम होता है, वह कित् हो।

४३३. [७]**ग्क्ङिति चँ** (१/१/५)

गित्-कित्-ङित्-निमित्ते इग्लक्षणे गुणवृद्धी न स्तः। भूयात्, भूयास्ताम्, भूयासुः। भूयाः, भूयास्तम्, भूयास्त। भूयासम्, भूयास्व, भूयास्म।

ग्क्ङिति चेति-गित्, कित् और ङित् प्रत्ययों के परे रहते 'इग्लक्षण' गुण और वृद्धि कार्य नहीं होते।

जिन सूत्रो में 'इको गुणवृद्धी' (पा० १.१.३) के 'इकः'पद की अनुवृत्ति हो, उन सूत्रों से विहित गुण वृद्धि इग्लक्षणा कहलाती है। यथा-'सार्वधातुकार्ध-धातुकयोः' तथा 'पूगन्तलघूपधस्य च'। परन्तु 'वृद्धिरेचि' के द्वारा विहित वृद्धि कार्य इग्लक्षण नहीं है।

भू धातु से आशीर्वाद अर्थ में लिङ् आने पर इसके स्थान पर 'तिप्' आदि आदेश हुए। तब 'भू तिप्' यहाँ 'लिङ् आशिषि' के द्वारा इस की आर्धधातुक संज्ञा हो गई। तब 'यासुट्' आगम हुआ। यासुट् कित् है। अतः आर्धधातुक गुण का 'ग्किङति च' सूत्र से निषेध हो जाता है। भू यासुट् तिप्- भू यास् ति। 'इतश्च' के द्वारा इकार का लोप हो गया। भूयास् त्।

पूर्वोक्त रीति से 'भू यास् त्' ऐसी स्थिति हुई। सार्वधातुक न होने से 'लिङः सलोपो ऽनन्त्यस्य' से प्राप्त सकार लोप नहीं होगा। तब 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' के द्वारा 'स्त्' संयोग के आदिभूत सकार का लोप हो जाता है। 'भूयात्' यहाँ आर्धधातुक प्रत्यय 'यात्' परे होने पर गुण प्राप्त होता है, परन्तु 'किद् आशिषि' के द्वारा 'यासुट्' कित् है, अतः 'ग्क्ङति च' सूत्र के द्वारा गुण का निषेध हो गया।

स्कोरिति-यहाँ 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' सूत्र के द्वारा पदान्त संयोग 'स्' के आदि सकार का लोप होकर 'भूयात्' रूप बनेगा।

'भू तस्' में यासुट् आगम तथा तस् को ताम् आदेश हो गया। भूयास्ताम्।

'भू झि'-यहाँ (झेर्जुस्) जुस् आदेश, यासुट् आगम होकर 'भूयासु:' रूप बना।

'भू सिप्'-यहाँ 'इतश्च' के द्वारा इकार का लोप हो गया। यासुट् आगम होकर 'भूयास् स्' ऐसी स्थिति बनी। तब 'स्को: संयोगा०' के द्वारा प्रथम सकार का लोप होकर 'भूया:' रूप सिद्ध हुआ। द्विवचन में 'भूयास्तम्' तथा बहुवचन में 'भूयास्त' रूप सिद्ध हुआ।

उत्तम एकवचन में 'भू मिप्' यहाँ 'मिप्' को 'अम्' आदेश होगया। भू अम्। यासुट् आगम हो गया। भू यासुट् अम्-भूयासम्।

द्विवचन में 'भू यासुट् वस्' ऐसा होने पर 'नित्यं ङित:' के द्वारा अन्त्य सकार का लोप होकर 'भूयास्व' सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार बहुवचन में 'भूयास्म' रूप सिद्ध होगा।

लुङ् लकार

४३४. [1]**लुङ् (३/२/११०)**

भूतार्थे धातोर्लुङ् स्यात्।

लुङिति— भूतकाल में हो तो धातु से 'लुङ्' लकार आता है।

४३५. [7]**माङि लुङ्**[1] **(३/३/१७५)**

सर्वलकाराऽपवाद:।

माङीति- 'माङ्' उपपद रहते धातु से 'लुङ्' लकार हो।

यह सभी लकारों का अपवाद है। माङ् का योग होने पर सभी लकारों के विषय में लुङ् लकार ही होता है।

गीता का लोकप्रसिद्ध प्रयोग द्रष्टव्य है- 'क्लैब्यं मा गम:'। यहाँ 'माङ्' उपपद के योग में लुङ् लकार का प्रयोग हुआ है।

'माङ्' के समान ही 'मा' भी अव्यय पद है। प्रयोग में दोनों का एक ही रूप होता है। दोनों का अर्थ भी एक समान (निषेध) ही है। अत: जहाँ लुङ् का प्रयोग हो, वहाँ 'माङ्' समझना चाहिए तथा अन्यत्र 'मा' समझना चाहिए।

'मा वदेत्' इत्यादि वाक्यों में 'माङ्' नहीं है, अपितु निषेधार्थक 'मा' अव्यय पद है।

४३६. [7]**स्मोत्तरे** [1]**लङ् चँ (३/३/१७६)**

स्मोत्तरे (माङि) लङ् स्यात्, चात् लुङ्।

स्मोत्तर इति-स्मपरक माङ् उपपद रहते धातु से लङ् लकार हो तथा लुङ् भी हो। यथा-'मा स्म भवत्' यहाँ 'मा स्म' के रहते लङ् लकार का प्रयोग हुआ है। इस के स्थान पर 'मा स्म भूत्' ऐसा लुङ् का प्रयोग भी हो सकता है।

४३७. [1]**च्लि लुङि**[7] **(३/१/४३)**

शबाद्यपवाद:।

च्लि इति-लुङ् परे रहते धातु से 'च्लि' होता है।

शबादीति—यह 'च्लि' विधि शप्, श्यन् और श आदि विकरणों का अपवाद है।

४३८. [६]**च्ले: सिच्**[१] (३/१/४४)

इचावितौ।

च्लेरिति-'च्लि' को 'सिच्' आदेश हो।

इचाविति—'सिच्' में इकार और चकार इत्संज्ञक हैं। केवल 'स्' शेष रहता है।

४३९. [५]**गाति-स्था-घु-पा-भूभ्य: सिच:**[६] **परस्मैपदेषु**[७] (२/४/७७)

एभ्य: सिचो लुक् स्यात्। 'गा-पौ' इह 'इणादेश-पिबती' गृह्येते।

गातीति-गा, स्था, घुसंज्ञक, पा और भू धातुओं से परे सिच् का लुक् हो।

गा-पौ इति- यहाँ 'इण्' के स्थान में होनेवाला 'गा' आदेश लिया जाता है। 'इणो गा लुङि' सूत्र से 'इण्' को 'गा' आदेश होता है और 'पा' से पा (पाने) का ग्रहण होता है। अत एव कहा गया है-'गापोर्ग्रहणे इण्पिबत्योर्ग्रहणम्' अर्थात् 'गा' 'पा'से 'इण्' और 'पा पाने' धातुओं का ग्रहण करना चाहिये।

४४०. [६]**भूसुवोस्तिङि**[७] (७/३/८८)

'भू' 'सू' एतयो: सार्वधातुके तिङि परे गुणो न। अभूत्, अभूताम्, अभूवन्। अभू:, अभूतम्, अभूत। अभूवम्, अभूव, अभूम।

भू सुवोरिति-'भू' तथा 'सू' धातुओं को सार्वधातुक तिङ् परे रहते गुण न हो।

'भू' धातु से सामान्य भूतकाल की विवक्षा में लुङ् लकार आया। भूलुङ्- भूल्। लकार अवस्था में 'भू' अङ्ग को अट् आगम हुआ। अभूल्। लुङ् के स्थान में तिङ् की उत्पत्ति हुई। प्रथम के एकवचन में 'अभू तिप्' हुआ 'कर्तरि शप्' के द्वारा 'शप्' की प्राप्ति हुई। उसे बाधकर 'च्लि लुङि' के द्वारा 'च्लि' हुआ। अभू च्लि ति।

'च्लि' के स्थान में कहीं चङ्, कहीं अङ् और प्राय: सिच् हो जाता है। सिच् होने पर 'अ भू सिच् त्' यह स्थिति हुई।

भू धातु के लुङ् लकार में प्रथम पुरुष एकवचन में 'अभूसिच् ति' यह स्थिति हो गई अब 'इतश्च' द्वारा इकार का लोप तथा अनुबन्धों का लोप हो गया। अभू सिच् त्- अभूस् त्। तब 'गाति स्थाघुपाभू०' सूत्र के द्वारा 'सिच्' का लोप हो गया। तब 'अ भूत्' ऐसा बन गया। 'त्' प्रत्यय सार्वधातुक है, अत: इसके परे रहते 'सार्वधातु-कार्धधातुकयो:' के द्वारा गुण प्राप्त हुआ। 'भूसुवोस्तिङि' के द्वारा उस गुण का निषेध हो जाता है। अभूत्।

प्रथम के द्विवचन में 'अभूतस्' यह स्थिति हुई 'च्लि' तथा उसे 'सिच्' आदेश हुआ। 'सिच्' का लोप हो गया तथा सार्वधातुकगुण का प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध हो

गया। अभू च्लि तस्-अभू सिच्तस्-अभूतस्। 'तस्थस्थमिपाम्०' के द्वारा 'ताम्' आदेश होकर 'अभूताम्' बना।

लुङ् के प्रथम के बहुवचन में 'भू' धातु से 'झि' की उत्पत्ति हुई। तब अट् आगम हुआ। अभू झि। च्ले: सिच्। गातिस्थाघुपा० से सिच् लुक्। अ भू च्लि झि— अभू सिच् झि। 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' से जुस् आदेश प्राप्त। 'आत:' से जुस् न हुआ। 'झोऽन्त:' के द्वारा 'अन्त्' आदेश हुआ। 'इतश्च' के द्वारा इकार का लोप हो गया।[- अभू अन्त्। 'भुवो वुग् लुङ्०' के द्वारा धातु को वुक् आगम, अभू वुक् अन्त्। अभूव् अन्त्। तब 'संयोगान्तस्य लोप:' से संयोगान्त लोप होकर 'अभूवन्' रूप सिद्ध हुआ।

अभू सि-यहाँ 'इतश्च' से इकार लोप, सिजादेश, अनुबन्ध लोप, सिज् लोप व विसर्गादि होते हैं। यथा— अभू स्-अभू सिच् स्-अभू स्-अभू:।

अ भू मि-यहाँ अमादेश, सिच्, सिज् लोप, वुगागम आदि कार्य होते हैं। यथा— अ भू अम्-अभू स् अम्-अभू अम्-अभूव् अम्-अभूवम्।

अभूवन्, अभूवम्-इन प्रयोगों में अजादि प्रत्यय होने से 'भुवो वुक् लुङ्लिटो०' सूत्र से 'वुक्' आगम होता है।

४४१. **नॅ माङ्योगे**[७] (६/४/७४)

अडाटौ न स्त:। मा भवान् भूत्। मा स्म भवत्। मा स्म भूत्।

न माङिति—माङ् के योग में अट् और आट् आगम नहीं होते।

'मा भवान् भूत्'-यहाँ माङ् का योग होने से 'माङि लुङ्' के द्वारा लुङ् लकार हुआ तथा 'न माङ् योगे' के द्वारा अट् आगम की निवृत्ति हुई। इसी प्रकार 'मा स्म भवत्' लङ् लकार का प्रयोग है जिसमें अट् आगम नहीं हुआ। पक्ष में 'मा स्म भूत्' लुङ् का रूप है, जहाँ अट् आगम नहीं हुआ।

लृङ् लकार

४४२. [७]**लिङ्निमित्ते लृङ्**[१] **क्रियाऽतिपत्तौ**[७] (३/३/१३९)

हेतुहेतुमद्भावादिलिङ्निमित्तम्, तत्र भविष्यत्यर्थे लृङ् स्यात्, क्रियाया अनिष्पत्तौ गम्यमानायाम्। अभविष्यत्, अभविष्यताम्, अभविष्यन्। अभविष्य:, अभविष्यतम्, अभविष्यत। अभविष्यम्, अभविष्याव, अभिष्याम। सुवृष्टिश्चेद् अभविष्यत्, तदा सुभिक्षमभविष्यत्-इत्यादि ज्ञेयम्। अत सातत्य गमने।।२/। अतति।

लिङ् इति- हेतुहेतुमद्भाव आदि लिङ् के निमित्त होने पर भविष्यत् काल में क्रिया की अनिष्पत्ति गम्यमान होने पर लृङ् लकार हो।

लिङ् का निमित- हेतुहेतुमद्भाव आदि है। अनिष्पत्ति का अर्थ है- असिद्धि।

'कृष्णं नमेत् चेत् सुखं यायात्' इस वाक्य में नमस्कार-क्रिया सुख प्राप्ति क्रिया का हेतु है। इसलिये सुखप्राप्ति क्रिया को 'हेतुमत्' कहा जाता है। इस प्रकार यहाँ दोनों

क्रियाओं का हेतुहेतुमद्‌भाव सम्बन्ध है। तब 'लृङ्' हो गया।

'हेतुहेतुमद्‌भाव आदि के स्थल में भविष्यत् काल और क्रिया की असिद्धि प्रतीत होती हो तो दोनों क्रियाओं के लिये लृङ् लकार आता है। जैसे-'सुवृष्टिश्चेद् अभविष्यत्, तदा सुभिक्षमभविष्यत्। इस वाक्य में वृष्टि होना क्रिया सुभिक्ष होना क्रिया का हेतु है और यह भविष्यत् काल की है तथा इनकी असिद्धि यहाँ प्रतीत हो रही है। अतः दोनों से 'लृङ्' लकार आया है।

भू धातु से 'लृङ्' लकार आने पर सर्वप्रथम 'लुङ् लङ् लृङ् क्ष्वडुदात्तः' सूत्र से 'अट्' आगम हुआ। तब लकार को तिबादि आदेश होंगे। प्रथम के एकवचन में तिप्, इसके इकार का 'इतश्च' सूत्र के द्वारा लोप हुआ। 'कर्तरि शप्' के द्वारा 'शप्' की प्राप्ति हुई। 'शप्' को बाधकर 'स्यतासी लृलुटोः' के द्वारा 'स्य' प्रत्यय हुआ। यह 'आर्धधातुकं शेषः' के द्वारा आर्धधातुक संज्ञक हुआ। 'आर्धधातु-कस्येड् वलादेः' के द्वारा इट् आगम हुआ। तब 'सार्वधातुकार्ध-धातुकयोः 'के द्वारा 'भू' अङ्ग को गुण हो गया। भूलृङ्- भूल्-अट् भूल्-अभूल्-अभूतिप्-अभूति-अ भू त्-अ भू स्य त्-अ भू इट् स्य त्- अ भू इ स्य त्- अ भो इ स्य त्। 'एचोऽयवायावः' के द्वारा अव् आदेश होकर 'अभविष्यत्' रूप सिद्ध हुआ।

प्रथम पुरुष के द्विवचन में अट्, तस् को ताम् आदेश, स्य, इट्, गुण, अवादेश, षत्व आदि कार्य होकर सिद्ध हुआ। अभविष्यताम्।

प्रथम पुरुष के बहुवचन में अट्, झि, इकार का लोप, झ् को अन्त आदेश, स्य, इट्, गुण, अव् आदेश, तकार का संयोगान्त लोप तथा षत्व होकर रूप सिद्ध हुआ। अभविष्यन्।

मध्यम पुरुष के एकवचन में अट् आदि कार्य, रुत्व और विसर्ग होकर रूप बना। अभविष्यः। अभविष्यतम्-मध्यम पुरुष के द्विवचन में पूर्ववत् कार्य होंगे। मध्यम पुरुष के बहुवचन में 'थ' को 'त' आदेश, शेष प्रक्रिया पूर्ववत् होकर 'अभविष्यत' रूप बनेगा।

अभविष्यम्-उत्तम पुरुष के एक वचन में अट्, मिप्, 'अम्' आदेश, स्य, इट, गुण, अव् आदेश और षत्व आदि कार्य होकर रूप बना।

अभविष्याव, अभविष्याम- उत्तम पुरुष के द्विवचन और बहुवचन के रूपों में 'अतो दीर्घो यञि' से दीर्घ और 'नित्यं ङितः' से सकार का लोप ये दो कार्य अधिक होते हैं।

सुवृष्टिरिति-सुवृष्टि होती तो सुभिक्ष होता। यहाँ क्रिया की अनिष्पत्ति स्पष्ट दिखाई गई है।

विशेष- सिद्धि प्रक्रिया के अन्तर्गत कार्यों के पौर्वापर्य का ध्यान रखना चाहिए। यथा-

१. वुक् आगम करने से पूर्व 'झोऽन्त:' सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

२. ङित् लकारों में लकार को तिङ् आदेश करने से पूर्व अट् आगम करना चाहिए।

३. ङित् लकारों में तिङ् आदेश के शीघ्र पश्चात् 'इतश्च' के द्वारा इकार का लोप कर देना चाहिए।

४. संयोगान्त लोप, विसर्ग तथा षत्व आदि कार्य सदैव अन्त में करने चाहिए।

उपसर्ग के योग में धातुओं का अर्थ बदल जाता है। कहा है-

'उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।

प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्।।

अर्थात् उपसर्ग के द्वारा धातु का अर्थ बलपूर्वक बदल जाता है। यथा-प्रहार, आहार आदि में। अन्य उदाहरण—

प्रभवति-	समर्थ होता है।
पराभवति	तिरस्कार करता है।
परिभवति	,, ,,
अभिभवति	,, ,,
अनुभवति-	अनुभव करता है।

लकार दो प्रकार के हैं। सार्वधातुक तथा आर्धधातुक। 'लिट् च' के द्वारा लिट् लकार तथा 'लिङाशिषि' के द्वारा आशीर्लिङ् लकार शुद्ध आर्धधातुक लकार हैं। लुट् में तास् तथा लृ लकारों (लृट्, लृङ्) में स्य 'आर्धधातुकं शेष:' के द्वारा आर्धधातुक संज्ञक होते हैं। इसी प्रकार लुङ् लकार में सिच्, अङ् तथा चङ् आदि आदेश आर्धधातुक होते हैं। अत: इन लकारों को भी आर्धधातुक लकार कहा जाता है। शेष लट्, लङ् तथा विधिलिङ् लकार सार्वधातुक है।

इन लकारों के स्थान पर होने वाले तिप् आदि प्रत्ययों के परिनिष्ठित रूप आगे दिये जाते हैं।

सार्वधातुक लकार

	लट्			लङ्		
प्र० पु०	ति,	त:,	अन्ति।	त्,	ताम्,	अन्।
म० पु०	सि,	थ:,	थ।	स्,	तम्,	त।
उ० पु०	मि,	व:,	म:।	अम्,	व,	म।
	लोट्			**विधिलिङ्**		
प्र० पु०	तु-तात्	ताम्	अन्तु।	इत्	इताम्	इयु:
म० पु०	हि तात्	तम्	त।	इ:	इतम्	इत
उ० पु०	आनि	आव	आम।	इयम्	इव	इम

विधिलिङ् के ये रूप भ्वादि, दिवादि, तुदादि तथा चुरादि गणों में होंगे। शेष गणों के

रूप आगे बताये जायेंगे।

आर्धधातुक लकार-

लिट्

प्र० पु०-	अ	अतुस्	उस्।
म० पु०-	थल्	अथुस्	अ।
उ० पु०—	ण (अ)	व	म।

यदि धातु सेट् हो तो लुट्, लृट् और लृङ् के इन रूपों में अन्तर पड़ जायेगा, इट् होने से 'इ' बढ जायगा। 'इ' बढ़ने से सकार को मूर्धन्य भी होता है। लुङ् में 'सिच्' होगा तो इट् होगा अन्यथा नहीं। पूर्वोक्त तीनों लकारों के दो दो पक्ष दिखाए जा रहें हैं।

लुट् लकार

	इडभावपक्ष			इट्पक्ष		
प्र० पु०-	ता	तारौ	तारः।	इता	इतारौ	इतारः।
म० पु०-	तासि	तास्थः	तास्थ।	इतासि	इतास्थः	इतास्थ।
उ० पु०-	तास्मि	तास्वः	तास्मः।	इतास्मि	इतास्वः	इतास्मः।

लृट् लकार

	इडभाव पक्ष			इट्पक्ष		
प्र० पु०-	स्यति	स्यतः	स्यन्ति।	इष्यति	इष्यतः	इष्यन्ति।
म० पु०-	स्यसि	स्यथः	स्यथ।	इष्यसि	इष्यथः	इष्यथ।
उ० पु०-	स्यामि	स्यावः	स्यामः।	इष्यामि	इष्यावः	इष्यामः।

लुङ् लकार

प्र० पु०-	त्	ताम्	अन्।
म० पु०-	स्	तम्	त।
उ० पु०-	अम्	व	म।

लृङ् लकार

	इडभाव पक्ष			इट् पक्ष		
प्र० पु०-	स्यत्	स्यताम्	स्यन्।	इष्यत्	इष्यताम्	इष्यन्
म० पु०-	स्यः	स्यतम्	स्यत।	इष्यः	इष्यतम्	इष्यत
उ० पु०-	स्यम्	स्याव	स्याम।	इष्यम्	इष्याव	इष्याम

आशीर्लिङ्

प्र० पु०-	यात्	यास्ताम्	यासुः।
म० पु०-	याः	यास्तम्	यास्त।
उ० पु०-	यासम्	यास्व	यास्म।

निम्नलिखित पदद्वय में भू धातु के प्रथम पुरुष एकवचन (सभी लकारों में) के रूप

गुम्फित हैं—

धर्मात् सुखं भवति वत्स, यथा बभूव,
भक्तध्रुवस्य, भविता च तवापि तच्छ्रः।
लाभो भविष्यति, भवान् भवतु प्रवृत्तौ,
धर्मे, यथाऽभवदसौ भगवत्प्रपन्नः॥१॥
दैवाद् भवेच्च यदि ते क्वचिदन्तरायो,
भूयात् सदा तव विभरुर्भगवान् सहायः।
धर्मादभूदपि तस्य सुखं, त्वयाऽऽप्तो,
धर्मोऽभवतिष्यदिहचेत्सुखमाऽऽ-भविष्यत्॥२॥

अत इति- अत धातु का अर्थ है- निरन्तर जाना। 'अत' का अकार उदात्त तथा इत्संज्ञक है।

'शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्' से यह परस्मै पदी हुआ।

अत् से लट् लकार में 'तिप्' करने पर 'शप्' इत्यादि होकर 'अतति' रूप सिद्ध हुआ।

४४३. [६]अत आदेः[६] (७/४/७०)

अभ्यासस्याऽऽदेरतो दीर्घः स्यात्। आत, आततुः, आतुः। आतिथ, आतथुः आत। आत, आतिव, आतिम। अतिता, अतिष्यति, अततु।

अत इति-लिट् परे होने पर अभ्यास के आदि ह्रस्व अकार के स्थान पर दीर्घ होता है। अभ्यास के आदि अकार को दीर्घ का विधान न किया जाता तो 'अ अत्' इस अवस्था में 'अतो गुणे' से दोनों अकारों के स्थान पर एक ही ह्रस्व अकार रह जाता।

'अत् लिट्' ऐसी अवस्था में लकार के स्थान में तिङ् की उत्पत्ति हुई। प्रथम के एक वचन में 'तिप्' आया। अनुबन्ध लोप होकर 'अत् ल्- अत् तिप्-अत्ति ऐसी स्थिति हुई। तब 'लिटि धातोरनभ्या०' के द्वारा 'अत्' को द्वित्व हुआ। अभ्यास संज्ञा, हलादि शेष कार्य होकर 'अत् अत् ति- अ अत् ति' हुआ। 'अतो गुणे' के द्वारा पररूप प्राप्त हुआ। 'अत आदेः' के द्वारा पूर्व अकार को दीर्घ हुआ। आ अत् ति । तिप् के स्थान पर णल् आदेश (अ)। 'अत उपधायाः' से उपधा वृद्धि। आ आत् अ। पूर्व पर मिलकर सवर्ण दीर्घ होकर 'आत' रूप सिद्ध हुआ।

आततुः-लिट् के प्रथम पुरुष के द्विवचन में यह रूप पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध होता है। इसी प्रकार बहुव० में 'आतुः' होगा।

आतिथ-यहाँ वलादि आर्धधातुक होने से इट् आगम हो गया।

आतिव, आतिम-लिट् के उत्तम पुरुष के द्विवचन और बहुवचन में वलादि होने से इट् आगम होता है।

लुट् लकार में 'इट्' होकर निम्नलिखित रूप बनते हैं-

प्र० पु०	अतिता	अतितारौ	अतितार:
म० पु०	अतितासि	अतितास्थ:	अतितास्थ
उ० पु०	अतितास्मि	अतितास्व:	अतितास्म:

लृट् में भी इट् हो जाता है और 'स्य' के सकार को 'आदेशप्रत्यययो:' से मूर्धन्य षकार होकर निम्नलिखित रूप बनते हैं-

प्र० पु०	अतिष्यति	अतिष्यत:	अतिष्यन्ति।
म० पु०	अतिष्यसि	अतिष्यथ:	अतिष्यथ
उ० पु०	अतिष्यामि	अतिष्याव:	अतिष्याम:

लोट् के रूप निम्नलिखित बनते हैं-

प्र०	अततु-तात्	अतताम्	अतन्तु
म०	अत-तात्	अततम्	अतत
उ०	अतानि	अताव	अताम

४४४. [१]**आड् अजादीनाम्**[६] (६/४/७२)

अजादेरङ्गस्याऽऽट् लुङ्लङ्लृङ्क्षु। आतत्। अतेत्। अत्यात्, अत्यास्ताम्। लुङि सिचि इडागमे कृते-

आडिति-अजादि अङ्ग को आट् आगम हो लुङ्, लङ् और लृङ् परे होने पर।

यह सूत्र 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्त:' का बाधक है।

अत् धातु से भूतकाल में लङ् हुआ। अत् लङ्। अत् ल्। तब 'आड् अ जादीनाम्' के द्वारा आट् आगम हुआ। आट् अत् ल्। आ अत् ल्। लकार के स्थान पर प्रथम के एकवचन में 'तिप्' आया। आ अत् ति। 'इतश्च' के द्वारा इकार का लोप हो गया। आ अत् त्। 'आटश्च' के द्वारा 'आट्' के आकार और धातु के अकार को वृद्धि एकादेश हो गया। आत् त्। 'कर्तरि शप्' के द्वारा 'शप्' होकर 'आतत्' रूप सिद्ध हो गया।

लङ् के सम्पूर्ण रूप निम्नलिखित हैं।

प्र० पु०-	आतत्	आतताम्	आतन्
म० पु०-	आत:	आततम्	आतत
उ० पु०-	आतम्	आताव	आताम

विधिलिङ्-

प्र० अतेत्, अतेताम्, अतेयु:।
म० अते:, अतेतम्, अतेत।
उं० अतेयम्, अतेव, अतेम।

आशीर्लिङ्-

प्र० अत्यात्, अत्यास्ताम्, अत्यासु:।
म० अत्या:, अत्यास्तम्, अत्यास्त।
उ० अत्यासम्, अत्यास्व, अत्यास्म।

लुङीति-लुङ् में च्लि को 'सिच्' आदेश होगा। 'सिच्' का 'स्' शेष रहता है।

'सिच्' आर्धधातुक है और वलादि भी है। अत: 'आर्धधातुकस्येड् वलादे:' से इट् आगम हो जायगा।

४४५. [5]**अस्ति-सिचोऽपृक्ते**[7] **(७/३/९६)**

विद्यमानात् सिच:, अस्तेश्च परस्यापृक्तस्य हल ईडागम:।

अस्तीति-विद्यमान सिच् और अस् धातु से परे अपृक्त हल् को 'ईट्' आगम हो।

४४६. [5]**इट ईटि**[7] **(८/२/२८)**

इट: परस्य सस्य लोप: स्यात् ईटि परे।

(वा०) सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्य:।

आतीत्, आतिष्टाम्।

इट इति-इट् से परे सकार का लोप हो ईट् परे रहते।

अत् लुङ्-अत् ल्। अब 'आडजादी०' के द्वारा 'आट्' आगम, 'आटश्च' के द्वारा वृद्धि आदेश, लकार के स्थान पर 'तिप्' हुआ। आट् अत् ल्-आ अत् ल्-आत् ल्- आत् तिप्-आत् ति। 'इतश्च' के द्वारा इकार लोप. 'च्लि लुङि' के द्वारा 'च्लि' तथा 'च्ले: सिच्' के द्वारा 'सिच्' आदेश हो गया। आत् त्। आत् सिच्।

तब 'आर्धधातुकं शेष:' के द्वारा 'सिच्' की आर्धधातुक संज्ञा तथा 'आर्धधातुकस्येड् वलादे:' के द्वारा 'इट्' आगम हो गया। आत् इस् त्। 'अस्तिसि चोऽ पृक्ते' के द्वारा अपृक्त तकार को ईट् आगम हुआ। आत् इ स् ई त्। तब 'इट ई टि'(८.२.२८) के द्वारा सकार का लोप हो गया। आत् इ ई त्। तब 'अक: सवर्णे दीर्घ:' के द्वारा इकार व ईकार के स्थान पर दीर्घ एकादेश प्राप्त होता है। 'इट ईटि' के असिद्ध होने के कारण 'अक: सवर्णे दीर्घ:' (पा० ६.१.९७) के द्वारा दीर्घ नहीं होगा।

सिज्लोप इति-सिच् का लोप एकादेश के विषय में सिद्ध कहना चाहिये।

इस वार्तिक से सिच् लोप के सिद्ध रहने पर सवर्ण दीर्घ होकर 'आतीत्' रूप बनेगा।

आतिष्टाम्-द्विवचन में 'तस्' को 'ताम्' आदेश होता है। सकार को मूर्धन्य षकार हो जाता है।

झि में 'अत् इ स् झि' इस दशा के होने पर-

४४७. [5]**सिज्-अभ्यस्त-विदिभ्यश्च**[6] **(३/४/१०९)**

सिच:, अभ्यस्ताद्, विदेश्च परस्य ङित्सम्बन्धिनो झेर्जुस्। आतिषु:। आती:, आतिष्टम्, आतिष्ट। आतिषम्, आतिष्व, आतिष्म। आतिष्यत् षिध गत्याम्।।३/।

सिजभ्यस्तेति-सिच् प्रत्यय, अभ्यस्त संज्ञक जागृ आदि धातुओं और विद् धातु से परे ङित् लकार सम्बन्धी झि को 'जुस्' आदेश हो।

अत् लुङ्-अत् ल्-आट् अत् ल्- आ अत् ल्- आत् ल्-आत् झि-आत् च्लि झि-

आत् सिच् झि- आत् स् जुस्- आत् स् उस्-आत् इ स् उस्- आतिषुः।

आतीः-आदि शेष रूप भी इसी प्रकार सिद्ध होते हैं।

लृङ् में-प्र०	आतिष्यत्,	आतिष्यताम्,	आतिष्यन्।
म०	आतिष्यः,	आतिष्यतम्,	आतिष्यत।
उ०	आतिष्यम्,	आतिष्याव,	आतिष्याम।

षिध इति-षिध् धातु का अर्थ 'जाना' है।

४४८. [१] **ह्रस्वं लघु**[१] (१/४/१०)

ह्रस्वमिति- ह्रस्व लघुसंज्ञक होता है।

४४९. [७]**संयोगे गुरु**[१] (१/४/११)

संयोगे परे ह्रस्वं गुरु स्यात्।

संयोग इति- संयोग परे रहते ह्रस्व की गुरु संज्ञा हो।

४५०. [१]**दीर्घं चँ** (१/४/१२)

गुरु स्यात्।

दीर्घमिति-दीर्घ की गुरु संज्ञा हो।

४५१. [६]**पुगन्त-लघूपधस्य चँ** (७/३/८६)

पुगन्तस्य लघूपधस्य चाङ्गस्येको गुणः सार्वधातुकार्धधातुकयोः। 'धात्वादेः-' इति-सः। सेधति। षत्वम्-सिषेध।

पुगिति-पुगन्त और लघूपध अङ्ग के इक् को गुण हो सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते। जिसके अन्त में पुक् आगम हो उसे 'पुगन्त' कहते हैं। जिसकी उपधा में ह्रस्व संज्ञकस्वर (अ, इ, उ, ऋ) हों उसे लघूपध कहते हैं।

धात्वादेरिति-'धात्वादेः षः सः' सूत्र के द्वारा धातु के आदि षकार के स्थान पर सकार हो जाता है।

'सिध्' से लट् के प्रथम एक वचन में तिप् होने पर शप् आया। सिध् ल्-सिध् तिप्-सिध् शप् ति। तब 'पुगन्तलघूप०' के द्वारा उपधा को गुण हो गया। सिध् अ ति। सेधति।

लट् के निम्नलिखित शेष रूप भी इसी प्रकार सिद्ध होते है।

प्र०	सेधति	सेधतः	सेधन्ति
म०	सेधसि	सेधथः	सेधथ
उ०	सेधामि	सेधावः	सेधामः

सिषेध-लिट् में तिप् को णल् आदेश, धातु को द्वित्व, अभ्यास कार्य, उपधा को गुण होकर 'सिसेध' ऐसी स्थिति बनी। तब उत्तर खण्ड के सकार को 'आदेशप्रत्यययोः' से मूर्धन्य षकार होकर रूप बना।

४५२. [५]असंयोगाल्लिट्[१] कित्[१] (१/२/५)

असंयोगात् परोऽपित् लिट् कित् स्यात्। सिषिधतु:, सिषिधु:। सिषेधिथ, सिषिधथु:, सिषिध। सिषेध, सिषिधिव सिषिधिम। सेधिता। सेधिष्यति। सेधतु। असेधत्। सेधेत्। सिध्यात्। असेधीत्। असेधिष्यत्। एवम्-चिती संज्ञाने।।४/। शुच शोके।।५/। गद व्यक्तायां वाचि।।६/। गदति।

असंयोगादिति—संयोग भिन्न से परे अपित् लिट् कित् हो।

तिप् ,सिप् तथा मिप् तिप् हैं। अत: इनके स्थान पर होने वाले णल् आदि आदेश स्थानिवद्भाव से पित् हैं। इनसे अतिरिक्त तिङ् कित् हो जायेंगे।

'सिध् अतुस्' द्वित्व, हलादि शेष कार्य होकर 'सिसिध् अतुस्' हो गया। तब 'असंयोगाल्लिट् कित्' के द्वारा 'अतुस्' कित् हो गया। अत: 'पुगन्तलघूपधस्य' के द्वारा प्राप्त गुण नहीं होगा। मूर्धन्य आदेश होकर 'सिषिधतु:' रूप सिद्ध हुआ।

लिट् के अन्य रूप इसी प्रकार होंगे। शेष लकारों के रूप यहाँ लिखे जाते है। इनकी रूप सिद्धि साधारणत: 'अत्' धातु के रूपों के समान होगी।

लुट्

प्र०	सेधिता	सेधितारौ	सेधितार:
म०	सेधितासि	सेधितास्थ:	सेधितास्थ
उ०	सेधितास्मि	सेधितास्व:	सेधितास्म:

लृट्

प्र०	सेधिष्यति	सेधिष्यत:	सेधिष्यन्ति
म०	सेधिष्यसि	सेधिष्यथ:	सेधिष्यथ
उ०	सेधिष्यामि	सेधिष्याव:	सेधिष्याम:

लोट्

प्र०	सेधतु-तात्	सेधताम्	सेधन्तु
म०	सेध	सेधताम्	सेधत
उ०	सेधानि	सेधाव	सेधाम

लङ्

प्र०	असेधत्	असेधताम्	असेधन्
म०	असेध:	असेधतम्	असेधत
उ०	असेधम्	असेधाव	असेधाम

विधिलिङ्

प्र०	सेधेत्	सेधेताम्	सेधेयु:
म०	सेधे:	सेधेतम्	सेधेत

उ०	सेधेयम्	सेधेव	सेधेम

आशीर्लिङ्

प्र०	सिध्यात्	सिध्यास्ताम्	सिध्यासुः
म०	सिध्याः	सिध्यास्तम्	सिध्यास्त
उ०	सिध्यासम्	सिध्यास्व	सिध्यास्म

लुङ्

प्र०	असेधीत्	असेधिष्टाम्	असेधिषुः
म०	असेधीः	असेधिष्टम्	असेधिष्ट
उ०	असेधिषम्	असेधिष्व	असेधिष्म

लृङ्

प्र०	असेधिष्यत्	असेधिष्यताम्	असेधिष्यन्
म०	असेधिष्यः	असेधिष्यतम्	असेधिष्यत
उ०	असेधिष्यम्	असेधिष्याव	असेधिष्याम्

एवमिति—इसी प्रकार चिती (होश में आना) और शुच (चिन्ता या शोक करना) धातुओं के रूप बनते हैं।

इन दोनों धातुओं के प्रत्येक लकार का एक एक रूप नीचे दिया जाता है-

चिती-चेतति। चिचेत।चेतिता। चेतिष्यति। चेततु। अचेतत्। चेतेत्। चित्यात्। अचेतीत्। अचेतिष्यत्।

शुच्- शोचति। शुशोच। शोचिता। शोचिष्यति। शोचतु। अशोचत्। शोचेत्। शुच्यात्। अशोचीत्। अशोचिष्यत्।

गद इति-गद धातु व्यक्त बोलने अर्थ में आता है। स्पष्ट बोलना मनुष्यों का होता है। पशु पक्षी आदि का बोलना अस्पष्ट होता है।

इसके रूप लट् में पूर्ववत् बनेंगे-

प्र० पु०	गदति	गदतः	गदन्ति
म० पु०	गदसि	गदथः	गदथ
उ० पु०	गदामि	गदावः	गदामः

४५३. [६]**नेर्गद-नद-पत-पद-घु-मा-स्यति-हन्ति-याति-वाति-द्राति- प्साति-वपति-वहति-शाम्यति-चिनोति-देग्धिषु[७] च (८/४/१७)**

उपसर्गस्थात् निमित्तात् परस्य नेर्णो स्यात् गदादिषु परेषु। प्रणिगदति।

नेरिति-उपसर्ग में स्थित निमित्त से परे 'नि' उपसर्ग के नकार को णकार होता है 'गद' आदि धातु परे रहते।

गदादि धातुएँ ये हैं-

१. गद्- स्पष्ट बोलना। २. नद्- अस्पष्ट बोलना।

३. पत्- गिरना।	४. पद्- चलना।
५. घु संज्ञक धातुएँ-	डुदाञ्, दाण्, दो, देङ्, डुधाञ्, धेट्।
६. मा- नापना।	७. षो- नाश करना।
८. हन्- मारना।	९. या- जाना।
१०. वा- बहना।	११. द्रा- चलना।
१२. प्सा- खाना।	१३. वप्-बोना।
१४. वह्- ले जाना।	१५. शम्- शान्त होना।
१६. चि- चयन करना।	१७. दिह्- लीपना।

'नि' परक उपसर्ग जिसमें णत्व का निमित्त रेफ होगा तो इस सूत्र से 'नि' उपसर्ग के नकार को णकार होगा।

'प्र नि गति' इस में समानपद न होने से 'अट्कुप्वाङ्नुम्०' सूत्र से णत्व प्राप्त नहीं था। अत: इस सूत्र के द्वारा णत्व का विधान किया गया। प्रणिगदति-यहाँ उपसर्ग 'प्र' में निमित्त रकार स्थित है। उससे परे 'नि' उपसर्ग है, उसके नकार को णत्व हुआ।

इसी प्रकार-प्रणिनदति, प्रणिपतति, प्रणिपद्यते, प्रणिदधाति, प्रणिददाति, प्रणियच्छति, प्रणिद्यति, प्रणिदयते, प्रणिमाति, प्रणिष्यति, प्रणिहन्ति, प्रणियाति, प्रणिवाति, प्रणिद्राति, प्रणिप्साति, प्रणिवपति, प्रणिवहति, प्रणिशाम्यति , प्रणिदेग्धि और प्रणिचिनोति रूप होगें।

४५४. [६]**कुहोश्चु:**[१] (७/४/६२)

अभ्यासकवर्ग-हकारयोश्चवर्गादेश:।

कुहोरिति-अभ्यास के कवर्ग तथा हकार को चवर्ग आदेश हो।

कवर्ग के ५ वर्ण हैं तथा चवर्ग के भी ५ वर्ण हैं। अत: आदेश क्रमश: होंगे। हकार के स्थान पर आन्तरतम्य के बल पर झकार होगा।

विशेष— रूप सिद्धि करते समय 'अभ्यासे चर्च (८.४.५३) से पहले 'कुहोश्चु:' सूत्र की प्रवृत्ति होगी, क्योंकि यह सूत्र (७.४.६२) सपादसप्ताध्यायी का है तथा 'कुहोश्चु:' की दृष्टि में चर्त्व असिद्ध है।

४५५. [६]**अत उपधाया:**[६] (७/२/११६)

उपधाया अतो वृद्धि: स्यात् ञिति णिति च प्रत्यये परे। जगाद, जगदतु:, जगदु:। जगदिथ, जगदथु:, जगद।

अत इति-ञित् और णित् प्रत्यय परे रहते उपधा में स्थित अकार को वृद्धि हो।

गद् धातु के लिट् लकार में प्रथम के एकवचन में 'तिप्' की उत्पत्ति हुई। द्वित्व हुआ। गद् गद् तिप्। 'तिप्' को 'णल्' आदेश हुआ। अनुबन्धों का लोप हुआ। गद् गद् णल्-गद् गद् अ। हलादि शेष करने पर 'कुहोश्चु:' के द्वारा अभ्यास के गकार को जकार हो गया। ग गद् अ-जगद् अ। अब 'अत उपधाया:' के द्वारा उपधा को दीर्घ होकर 'जगाद' रूप बना।

'गद् अतुस्' में पूर्ववत् क्रिया होकर 'जगदतुः' रूप सिद्ध हुआ। 'गद् झि' इस स्थिति में 'झेर्जुस्' से 'उस्' आदेश होकर शेष कार्य पूर्ववत् होंगे। जगदुः।

इसी प्रकार जगदिथ, जगदथुः तथा जगद रूपों की सिद्धि समझें।

४५६. [१]**णलुत्तमो वा** (७/१/९१)

उत्तमो णल् वा णित् स्यात्। जगाद, जगद। जगदिव। जगदिम। गदिता। गदिष्यति। गदतु। अगदत्। गदेत्। गद्यात्।

णलिति-उत्तम का णल् विकल्प से णित् हो। 'णित्' होने पर 'अत उपधायाः' के द्वारा वृद्धि कार्य होगा।

उत्तम पुरुष एकवचन में 'गद्' से 'णल्' हुआ। द्वित्व कार्य, हलादि शेष तथा श्चुत्व होकर- गद् गद् णल्- गद् गद् अ-स्थिति हुई। तब 'णल् उत्तमो वा' सूत्र के द्वारा 'णल्' के 'णित्' होने पर 'अत उपधायाः' के द्वारा वृद्धि होकर 'जगाद' रूप बना तथा णल् के 'णित्' न होने की दशा में 'जगद' रूप बना।

'गद् वस्' की दशा में शेष सभी कार्य पूर्ववत् होंगे। 'आर्धधातुकस्येड्०' के द्वारा 'इट्' होकर 'जगदिव' रूप बना। इसी प्रकार 'जगदिम' रूप बना।

लुट् में 'गदिता', लृट् में 'गदिष्यति' लोट् में 'गदतु', लङ् में 'अगदत्', विधिलिङ् में 'गदेत्' तथा आशीर्लिङ् में 'गद्यात्' रूप पूर्ववत् होंगे।

४५७. [६]**अतो** [६]**हलादेर्लघोः**[६] (७/२/७)

हलादेर्लघोरकारस्य वृद्धिर्वा इडादौ परस्मैपदे सिचि। अगादीत्, अगदीत्। अगदिष्यत्। णद अव्यक्ते शब्दे॥७॥

अत इति- परस्मैपद के विषय में इडादि सिच् परे रहते हलादि अङ्ग के अवयव स्वरूप लघु अकार को विकल्प से वृद्धि हो।

'गद् लुङ्' तब लकारावस्था में 'अट्' आगम हुआ। लकार के स्थान पर प्रथम के एकवचन में 'तिप्' की उत्पत्ति हुई। गद् ल्-अट् गद् ल्- अगद्ल्- अगद् तिप्- अगद् ति। 'इतश्च' के द्वारा इकार लोप, 'च्लि लुङि' से च्लि प्रत्यय, 'च्लेः सिच्' से सिच् आदेश, 'आर्धधातुकस्येड्०' से सिच् को इट् आगम हुआ। अगद् त्-अगद् च्लि त्-अगद् सिच् त्- अगद् स् त्-अगद् इट् स् त्-अगद् इस् त्। अब अपृक्त तकार को 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से 'ईट्' आगम। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'गद्' अङ्ग के अकार को दीर्घ हो गया। 'इट् ईटि' से सकार का लोप हो गया। अ गद् इस् ईट् त्- अ गाद् इस् ईत्- अगाद् इ ई त्- अगादीत्।

लुङ् के शेष रूप पूर्ववत् बनेंगे-

प्र० पु०— अगादीत्- अगदीत्; अगादिष्टाम्-अगदिष्टाम्; अगादिषुः- अगदिषुः। म० पु०— अगादीः-अगदीः; अगादिष्टम्-अगदिष्टम्; अगादिष्ट-अगदिष्ट। उ० पु०— अगादिषम्-अगदिषम्; अगादिष्व-अगदिष्व; अगादिष्म, अगदिष्म।

अगदिष्यत् आदि-लृङ् के रूप भी पूर्ववत् सिद्ध होंगे।

णद इति-णद धातु का अर्थ— अस्पष्ट शब्द-अर्थात् पशु आदियों का शब्द है।

४५८. [६]**णो नः**[१] (६/१/६३)

धात्वादेर्णस्य नः। णोपदेशास्तु अनद-नाटि-नाथ्-नाध्-नन्द्-नक्क-नॄ-नृतः।

ण इति- धातु के आदि णकार को नकार हो।

इस सूत्र से सभी णकारादि धातु नकारादि बन जाते हैं। प्रयोग में सब नकारादि ही रहेंगे। कौन सी धातु णकारादि है और कौन नकारादि- इसके लिये भाष्य के अनुसार निम्न निर्णय दिया जाता है—

णोपदेशा इति-१ नर्द शब्दे (भ्वादि) अस्पष्ट बोलना, २ नट अवस्कन्दे (चुरादि) नाचना, ३ नाथृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीषु (भ्वादि) मांगना आदि, ४ नाधृ याच्ञादिषु मांगना आदि, ५ टुनदि समृद्धौ (भ्वादि) आनन्दित होना, ७ नक्क नाशने (चुरादि) नाश करना, ७ नॄ नये (भ्वादि, क्र्यादि) ले जाना, ८ नृती गात्रविक्षेपे (दिवादि) नाचना-इन आठ धातुओं को छोड़कर शेष नकारादि धातु णोपदेश हैं अर्थात् उनका नकार णकार से बना हुआ है।

४५९. [५]**उपसर्गाद्** [७]**असमासेऽपि णोपदेशस्य**[६] (८/४/१४)

उपसर्गस्थात् निमित्तात् परस्य णोपदेशस्य धातोर्नस्य णः। प्रणदति। प्रणिनदति। नदति। ननाद।

उपसर्गादिति-उपसर्ग में स्थित निमित्त से पर णोपदेश धातु के नकार को णकार हो।

प्र पूर्वक नद् धातु से तिप् करने पर 'प्रनदति' इस अवस्था में प्रकृत सूत्र के द्वारा णत्व हो कर 'प्रणदति' रूप बना।

प्र तथा नि पूर्वक नद् धातु से 'तिप्' करने पर 'प्रनिनदति' ऐसी स्थिति में 'नेर्गदनदं०' सूत्र के द्वारा 'नि' उपसर्ग को णत्व हो गया। प्रणिनदति।

'नद्' धातु से लिट् लकार में 'तिप्' की उत्पत्ति हुई। तिप् को णल् आदेश हुआ। तब द्वित्व तथा हलादिशेष कार्य होकर-नद् लिट्-नद्ल्-नद् तिप्- नद्णल् -नद्अ-नद नद् अ-ननद् अ- ऐसी अवस्था हुई। तब 'अत उपधायाः' के द्वारा उपधावृद्धि होकर 'ननाद' रूप सिद्ध हुआ।

४६०. [६]**अत** [७]**एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि** (६/४/१२०)

लिण्निमित्तादेशादिकं न भवति यदङ्गम्, तदवयवस्याऽसंयुक्तहल् मध्यस्थस्यात एत्वम्, अभ्यासलोपश्च किति लिटि। नेदतुः, नेदुः।

अत इति- जिस अङ्ग के आदि वर्ण के स्थान में लिट् को निमित्त मान कर आदेश न हुआ हो, उसके अवयव स्वरूप संयोग रहित हल् के साथ वर्तमान ह्रस्व अकार को एकार हो तथा अभ्यास का लोप हो कित् लिट् परे रहते।

इस सूत्र के अनुसार चार शर्तें आवश्यक हैं- १. कित् लिट् परे हो, २. अङ्ग के आदि वर्ण को लिट् को निमित्त मान कर आदेश न हुआ हो, ३. ह्रस्व अकार हो तथा ४. संयोग न हो।

'जगदतुः' यहाँ लिट् निमित्तक श्चुत्व आदेश हुआ है, अतः प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हुई।

'सिषिधतुः' इस स्थिति में 'सिध्' में ह्रस्व अकार नहीं है। अतः एकार नहीं हुआ। इसी प्रकार 'ररासे' में ह्रस्व अकार नहीं है।

'तत्सरतुः' में संयोगरहित न होने से पूर्वोक्त कार्य नहीं हो पाया।

'नद्' से लिट् लकार में 'अतुस्' करने पर द्वित्व, अभ्यास कार्य तथा अभ्यास को एत्व इत्यादि हो गया। नद् नद् अतुस्-ननद् अतुस्-नद् अतुस्-नेदतुस्-नेदतुः।

'नद् झि'-यहाँ पूर्ववत् कार्य होकर 'नेदुः' यह रूप बना।

४६१. [7]थलि चॅ सेटि[7] (६/४/१२१)

प्रागुक्तं स्यात्। नेदिथ, नेदथुः, नेद। ननाद-ननद, नेदिव, नेदिम। नदिता। नदिष्यति। नदतु। अनदत्। नदेत्। नद्यात्। अनादीत्, अनदीत्। अनदिष्यत्! टुनदि समृद्धौ॥८॥

थलीति- इट् युक्त थल् परे रहते पूर्वोक्त (अर्थात् एत्व तथा अभ्यास लोप) कार्य हों।

'नद् सिप्'-यहाँ सिप् को थल् आदेश हुआ, जो पित् है। इट् आगम होने से थल् सेट् हो गया। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा एत्वादि होकर- नद् नद् थल्-ननद् थल्-ननद् इथ-नेदिथ बना।

'नद् थस्'-यहाँ थस् को 'अथुस्' आदेश हुआ। यह अपित् है। अतः 'असंयोगात् लिट् कित् 'से 'अथुस्' कित् हो गया। तब 'अत एक हल्मध्ये-' के द्वारा एत्व तथा अभ्यास लोप हो गया। नद् अथुस्-नद् नद् अथुरा- न नद् अथुस्- नद् अथुस्-नेदथुस्-नेदथुः।

'नद् थ'-थ को 'अ' आदेश। द्वित्व, अभ्यास कार्य तथा 'असंयोगात् लिट् कित्' के द्वारा कित् हो कर 'अत एकहल्०' के द्वारा एत्वादि कार्य हो गए। नद्नद्अ- ननद् अ-नेद् अ-नेद।

'नद् मिप्'यहाँ 'मिप्' के स्थान पर 'णलथुसुस्०' के द्वारा णल् आदेश हुआ जो णित् है। 'णलुत्तमो वा' के द्वारा विकल्प से णित् हुआ। नद् मिप्-नद्णल्-नद्नद् णल्-ननद् णल्- ननद् अ। णित् होने की दशा में 'अतः उपधायाः' के द्वारा उपधा को वृद्धि हो जाती है। ननाद। णित् न होने की दशा में 'ननद' रूप बना।

'नद् वस्' यहाँ द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर 'नद् नद् व-न नद् व' बन गया।

'आर्धधातुकस्येड्०' के द्वारा 'इट्' हो गया। तब 'एकहल् मध्ये०' के द्वारा एत्व आदि होकर 'नेदिव' रूप बना।

'नद् मस्' में पूर्ववत् कार्य होकर 'नेदिम' रूप बना।

नदिता आदि रूपों की सिद्धि पूर्ववत् होती है।

अनादीत्-अनदीत्-ये लुङ् के प्रथम के एकवचन हैं। यहाँ 'अतो हलादेर्लघो:' से वृद्धि विकल्प से होती है। वृद्धिपक्ष में अनादीत् और पक्ष में अनदीत् रूप बनते हैं।

इस धातु का प्रयोग जोर से शब्द करने में होता है। जैसे-बैल, मेघ और सिंह आदि का शब्द। वृषभो नदति। मेघा नदन्ति। सिंहो नदति।

टुनदि इति-टुनदि धातु समृद्धि अर्थ में आता है। यहाँ समृद्धि से तात्पर्य आनन्द से है।

४६२. [१]आदिर्ञि-टु-डव:[१] (१/३/५)

उपदेशे धातोराद्या एते इत: स्यु:।

आदिरिति-उपदेश में धातु के आदि (अवयव) ञि, टु तथा डु की इत्संज्ञा होती है।

'टुनदि' के उपदेश अवस्था में 'टु' की इत्संज्ञा हुई। तब लोप हुआ।

४६३. [६]इदितो [१]नुम् धातो:[६] (७/१/५८)

नन्दति। ननन्द। नन्दिता। नन्दिष्यति। नन्दतु। अनन्दत्। नन्देत्। नन्द्यात्। अनन्दीत्। अनन्दिष्यत्। अर्च पूजायाम्॥ ९॥ अर्चति।

इदिति-इदित् धातु को 'नुम्' आगम हो। नुम् मित् है, अत: 'मिदचोऽन्त्यात्पर:' के द्वारा अन्त्य अच् से परे होगा।

'टुनदि' धातु का इकार इत्संज्ञक है। अत: प्रकृत सूत्र के द्वारा 'नुम्' आगम हो गया। नुमागम निर्निमित्तक है। अत: प्रक्रिया दशा में इसे सर्वप्रथम करना चाहिए। न नुम् द्— अनुबन्ध लोप। नश्चाऽपदान्तस्य० से अनुस्वार तथा अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण:। नंद्— 'नन्द्' यह रूप बना। लट् में 'तिप्' होकर 'नन्दति' रूप बना।

लिट् में नुम् हो जाने के अनन्तर संयोग हो जाने से एत्व और अभ्यास का लोप न होकर निम्नलिखित रूप बनते हैं-

प्र० पु०	ननन्द	ननन्दतु:	ननन्दु:
म० पु०	ननन्दिथ	ननन्दथु:	ननन्द
उ० पु०	ननन्द	ननन्दिव	ननन्दिम

संयोग से पूर्व होने के कारण 'संयोगे गुरु' से अकार गुरु हो जाता है, अत: 'अत उपधाया:' से वृद्धि नहीं होती।

'नद् तिप्' लुट् लकार में 'डा' आदि आदेश होकर 'नन्दिता' रूप बना।

'नद् तिप्' लोट् लकार में 'नन्दतु' बना। इसी प्रकार लिङ् लकार में 'नन्देत्' तथा

'नन्द्यात्' रूप बनेंगे।

'अनन्दीत्' में संयोग परे होने से गुरु हो जाने से 'अतो हलादेर्लघोः' से वैकल्पिक वृद्धि नहीं हुई। लृङ् के प्र० पु० एकव० में 'अनन्दिष्यत्' बनेगा।

अर्च् इति-अर्च् धातु पूजा अर्थ में है।

अर्चति-लट् के प्र० पु० एकवचन तिप् में शप् होकर रूप सिद्ध हो गया। इसी प्रकार अन्य रूप भी सिद्ध होते हैं।

४६४. [५]तस्माद् नुड्[१] द्विहलः[६] (७/४/७१)

द्विहलो धातोर् दीर्घीभूताद् अकारात् परस्य 'नुट् स्यात्। आनर्च, आनर्चतुः। अर्चिता। अर्चिष्यति। अर्चतु। आर्चत्। अर्चेत्। अर्च्यात्। आर्चीत्। आर्चिष्यत्।

व्रज गतौ॥१०॥ व्रजति। वव्राज। व्रजिता। व्रजिष्यति। व्रजतु। अव्रजत्। व्रजेत्। व्रज्यात्।

तस्मादिति-दो हल् जिस धातु में हों, उसके दीर्घ हुए आकार से पर अङ्ग को 'नुट्' हो।

दो हल् से तात्पर्य है कि एक से अधिक हल् होने चाहिये। 'दीर्घ हुए अकार' का तात्पर्य यह है कि 'अत आदेः' से अकार को दीर्घ हुआ हो।

अर्च् धातु के लिट् लकार के णल् में द्वित्व होकर अभ्यास कार्य होने पर 'अ अर्च् अ' इस दशा में 'अत आदेः' से अभ्यास के अकार को दीर्घ होता है। तब 'आ अर्च् अ' इस स्थिति में अकार को 'नुट्' आगम होता है। तस्मान्नुड् द्विहलः। मिदचोऽन्त्यात्०। अकार के पहले 'नुट्' होगा। इस प्रकार रूप सिद्ध हुआ। आनर्च। लिट् के अन्य रूपों में भी 'नुट्' होगा। ये रूप बनेंगे-

उ० पु० आनर्च, आनर्चिव, आनर्चिम।

अन्य लकारों के रूप पूर्ववत् ही बनेंगे।

व्रज गतौ १०. व्रज् धातु का अर्थ है— जाना।

'व्रज् तिप्' लट् लकार में 'व्रजति' बना।

लिट् में संयोग होने से अभ्यास लोप न होकर निम्नलिखित रूप बनेंगे।

प्र० पु०— वव्राज, वव्रजतुः वव्रजुः। म० पु०— वव्रजिथ, वव्रजथुः, वव्रज। उ० पु०— वव्राज-वव्रज, वव्रजिव, वव्रजिम। उ० पु० एकव० में वैकल्पिक रूप होता है।

'व्रज् तिप्' लुट् लकार में 'डा' आदेश तथा इट् आगम होकर 'व्रजिता' बन गया।

'व्रज् तिप्' लृट् लकार में पूर्ववत् स्य तथा इट् होकर'व्रजिष्यति' रूप सिद्ध हुआ।

'व्रज् तिप्' लोट् लकार में 'व्रजतु' बना।

लङ् लकार में 'व्रज् तिप्' होकर अट् आगम, शप् विकरण हुआ। अव्रजत्।

इसी प्रकार 'व्रजेत्' तथा 'व्रज्यात्' रूप सिद्ध होंगे।

४६५. [६]वद-व्रज हलन्तस्याच:[६] (७/२/३)

एषामचो वृद्धिः सिचि परस्मैपदेषु। अव्राजीत्। अव्रजिष्यत्। कटे वर्षावरणयोः॥११॥ कटति। चकाट, (चकटतु:)। कटिता। कटिष्यति। कटतु। अकटत्। कटेत्। कटेत्। कट्यात्।

वदव्रजेति-वद्, व्रज् और हलन्त धातुओं के अच् को वृद्धि हो परस्मैपदपरक सिच् परे रहते।

वद् और व्रज् हलन्त धातु हैं वहाँ 'नेटि' सूत्र से प्राप्त वृद्धि-निषेध प्राप्त होता है। उस के बाध के लिये यहाँ इनका ग्रहण किया गया है।

लुङ् लकार में 'व्रज् लुङ्' यहाँ अट् आगम, तिप् की उत्पत्ति, इकार का लोप, च्लि तथा च्लि को सिच् आदेश हुआ। व्रज् ल्- अट् व्रज् ल्-अ व्रज् तिप्-अव्रज् त्-अ व्रज् च्लि त्-अ व्रज् सिच् त्। अ व्रज् स् त्। आर्धधातुक इट् तथा ईट् आगम हो गया। अव्रज् इसिच् ईट्त् -अव्रज् इस् ई त्। इस अवस्था में सिच् लोप, सवर्ण दीर्घ तथा 'व्रज्' धातु के अच् को वृद्धि होकर 'अव्राजीत्' रूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार अन्य रूप भी बनेंगे।

उपसर्ग के योग में-प्रव्रजति, परिव्रजति-संन्यास लेता है। अनुव्रजति-पीछे चलता है।

कटे वर्षावरणयो: ११. कटे धातु का अर्थ वर्षा और ढक देना है।। इसका एकार इत् है। इसके रूप भी पूर्व धातुओं के समान बनते हैं।

लट् लकार में 'कटति' बनेगा। लिट् लकार में अभ्यास को चुत्व होकर तथा 'अत उपधाया:' के द्वारा उपधा वृद्धि तथा 'कुहोश्चु' से चुत्व होकर 'चकाट' रूप बनेगा। द्विवचन में 'चकटतु:' रूप होगा। लुट् लकार में 'कटिता' होगा।

लृट् लकार के प्रथम के एकवचन में 'कट् तिप्' ऐसी स्थिति में 'स्य' तथा 'इट्' होकर 'कटिष्यति' रूप बनेगा। लोट् लकार में 'एरु:' के द्वारा उत्व होकर 'कटतु' रूप सिद्ध होगा।

लङ् लकार में 'शप्' विकरण, इकार का लोप इत्यादि कार्य होंगे। कट् लङ्-कट् ल्-अट् कट् ल्-अ कट् ल्- अकट् तिप्- अकट् शप् तिप्- अकट् शप् त्-अकट् अ त्- अकटत्। इतश्च से इकार लोप होता है। लिङ् लकार में 'कटेत्' तथा 'कट्यात्' रूप बनेंगे।

४६६. [६]ह्म्यन्त-क्षण-श्वस-जागृणि-श्व्येदिताम् (७/२/५)

हमयान्तस्य क्षणादेर्ण्यन्तस्य श्वयतेरेदितश्च वृद्धिर्नेडादौ सिचि। अकटीत्। अकटिष्यत्। गुपू रक्षणे॥१२॥

ह्म्यन्तेति-हकारान्त, मकारान्त और यकारान्त तथा क्षण, श्वस, जागृ, ण्यन्त, श्वि, एवं एदित् धातुओं के अच् को परस्मैपदपरक इडादि सिच् परे रहते वृद्धि न हो।

इनके उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं-

हकारान्त- मह पूजायाम् (पूजा करना) अमहीत्।

मकारान्त- क्रमु पादविक्षेपे (चलना) अक्रमीत्।

यकारान्त- हय गतौ (जाना) अहयीत्

क्षणु हिंसायाम् (हिंसा करना) अक्षणीत्।

श्वस् प्राणने (सांस लेना, जीना) अश्वसीत्।

जागृ निद्राक्षये (जागना) अजागरीत्।

ण्यन्त-इन धातुओं से परे च्लि को 'णिश्रिद्रुस्रुभ्य: कर्तरि चङ्' से आदेश हो जाता है। ऐसी दशा में ण्यन्त से परे सिच् मिलता ही नहीं, फिर सिच् परे रहते निषेध करना व्यर्थ प्रतीत होता है। इसका उदाहरण केवल वेद में है। जब 'नोनयतिध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्य:' सूत्र से चङ् का निषेध हो जाता है, तब सिच् होकर इसका उदाहरण बनता है। यथा- मा भवान् ऊनयीत्।

एदित्-इसका उदाहरण 'कटे' धातु ही है। यह एदित् है। अत: इसके अच् को वृद्धि का निषेध होकर 'अकटीत्' रूप सिद्ध होगा।

(टुओ) श्वि गतिवृद्ध्यो:-(चलना और बढ़ना)-अश्वयीत्।

गुप् इति-गुपू धातु का अर्थ 'रक्षा करना' है इसका ऊकार इत् है।

४६७. [५]**गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आय:**[१] (३/१/२८)

एभ्य: आय प्रत्यय: स्यात् स्वार्थे।

गुपू इति- गुपू (रक्षा करना), धूप् (तप्त करना), विच्छ् (जाना) और पण् तथा पन् (व्यवहार और स्तुति) धातुओं से 'आय' प्रत्यय स्वार्थ में हो। यह स्वार्थिक प्रत्यय है। जो प्रत्यय प्रकृति के अर्थ में कोई विशेषता पैदा नहीं करता उसे 'स्वार्थिक' कहते हैं।

'आय' प्रत्यय स्वार्थिक होने से निर्निमित्तिक है। अत: यह सब से पहले आयगा। 'आय' प्रत्यय अकारान्त है। 'आय' प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा है। अत: 'गुप्' के उकार को 'पुगन्तलघूपधस्य च' सूत्र से गुण ओकार हुआ। तब 'गोपाय' बना।

४६८. [१]**सनाऽऽद्यन्ता धातव:**[१] (३/१/३२)

सनाऽऽदय: कमेर्णिङन्ता: प्रत्यया अन्ते येषां ते धातुसंज्ञका:। धातुत्वाल्लडादय:-गोपायति।

सनाद्यन्तेति-'सन्' से लेकर 'कमेर्णिङ्' सूत्र से विहित 'णिङ्' तक जो बारह प्रत्यय हैं, वे जिनके अन्त में हों, वे धातुसंज्ञक हों। 'सन्' आदि बारह प्रत्यय ये हैं-

'सन्-क्यच्-काम्यच्-क्यङ्-क्यषोऽथाचारक्विब्-णिज् -यङस्तथा।

यगायेयङ् णिङ्चेति द्वादशामी सनादय:।' इति।।

ये प्रत्यय भिन्न भिन्न सूत्रों से विहित होते हैं।

'आय' प्रत्यय अन्त में होने से 'गोपाय' की धातु संज्ञा हुई।

धातुत्वादिति-धातु संज्ञा होने से लकारों की उत्पत्ति होती है।

'गुप्' धातु से पूर्वसूत्र के द्वारा स्वार्थ में 'आय' प्रत्यय हुआ। 'सनाद्यन्ता: धातव:' के द्वारा इसकी धातु संज्ञा हुई। तब 'ल: कर्मणि-' के द्वारा लट् आदि की उत्पत्ति हुई। लट् लकार का 'तिप्' प्रत्यय करने पर शप् विकरण, 'अतो गुणे' के द्वारा पररूप होकर 'गोपाय शप् तिप्-गोपायति' रूप सिद्ध हुआ।

प्र० पु०— गोपायति, गोपायत:, गोपायन्ति। म० पु०— गोपायसि, गापायथ:, गोपायथ। उ० पु०— गोपायामि, गोपायाव:, गोपायाम:।

४६९. [१]**आयादय आर्धधातुके[७] वॉ (३/१/३१)**

आर्धधातुकविवक्षायामायादयो वा स्यु:।

(वा०) कास्यनेकाच आम् वक्तव्य:। लिटि आस्कासोराम् विधानान् मस्य नेत्त्वम्।

आयादय इति-आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में धातु से 'आय' आदि प्रत्यय विकल्प से हों।

कास्यनेकाच इति- कास् (चमकना) और अनेकाच् धातुओं से आम् प्रत्यय कहना चाहिये।

आस्कासोरिति-आस् और कास् को आम् विधान करने से उसके मकार की इत् संज्ञा नहीं होती है।

यदि 'आम्' के मकार की इत्संज्ञा होगी तो यह अन्त्य अच् (अकार) के आगे होगा। पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर 'आस्' तथा 'कास्' ज्यों के त्यों रह जाएँगे। तब 'आम्' का विधान व्यर्थ है। उक्त विधान से यह ज्ञापित होता है कि 'आम्' के मकार की इत्संज्ञा नहीं होती।

४७०. [६]**अतो लोप:[१] (६/४/४८)**

आर्धधातुकोपदेशे यददन्तं तस्याऽतो लोप आर्धधातुके।

अत इति-आर्धधातुक के उपदेश काल में जो अदन्त अङ्ग, उसके ह्रस्व अकार का लोप हो आर्धधातुक परे रहते।

४७१. **आम:[५] (२/४/८१)**

आम: परस्य लुक्।

आम इति-'आम्' से परे लुक् हो।

४७२. [१]**कृञ् चॉऽनुप्रयुज्यते लिटि[७] (३/१/४०)**

आमन्तात् लिट्परा: कृभ्वस्तयोऽनुप्रयुज्यन्ते। तेषां द्वित्वादि।

कृञिति— जिसके अन्त में 'आम्' है उससे परे लिट् परक कृ, भू और अस् धातुओं

का अनुप्रयोग होता है। 'कृञ्' यह प्रत्याहार है। इसके अन्दर कृ, भू और अस् धातुएँ आती है।

तेषामिति-उन (अनुप्रयुक्त कृ आदि) को द्वित्व आदि कार्य होते हैं।

४७३. [६]**उरत्**[१] (७/४/६६)

अभ्यासस्य ऋवर्णस्याऽत् प्रत्यये। रपरः। हलादि शेषः। वृद्धिः-गोपायाञ्चकार। द्वित्वात् परत्वाद् यणि प्राप्ते-

उरदिति- अभ्यास के अवयव 'ऋ' को अत् हो, प्रत्यय परे रहते।

लिट् लकार की 'लिट् च' के द्वारा आर्धधातुक संज्ञा होती है। 'आयादय आर्धधातुके वा' के द्वारा 'आय' आगम विकल्प से होगा।

'आय' पक्ष में 'गुप् आय' इस अवस्था में धातु संज्ञा होकर लकार की उत्पत्ति हुई। यह अनेकाच् है, अतः लिट् लकार में 'आम्' हुआ। गुप् आय ल्-गोपाय ल्- गोपाय आम् ल्। आर्धधातुक संज्ञा हो गई।

'गोपाय आम् ल्' इस अवस्था में 'लिट्' तथा 'आम्' इन आर्धधातुक संज्ञकों के उपदेश काल में 'गोपाय' यह अदन्त अङ्ग है, अतः 'आम्' आर्धधातुक परे रहते इसके अवयव अकार का लोप हुआ। 'गोपाय् आम् ल्' यह स्थिति हुई। 'आमः' सूत्र के द्वारा 'लिट्' का लुक् हुआ। 'गोपायाम्'। तब 'कृञ् चाऽनु०' के द्वारा 'कृ' का प्रयोग हुआ। 'तिप्' आदि हुआ। तिप् को णल् आदेश हुआ। अब 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' के द्वारा द्वित्व हुआ। गोपायाम् कृ-गोपायाम् कृ तिप्-गोपायाम् कृ णल्- गोपायाम् कृ अ-गोपायाम् कृ कृ अ 'उरत्' से अभ्यास के अवयव 'ऋ' को 'अत्' हुआ यह 'उरण् रपरः' के द्वारा रपर होगा। गोपायाम् कर् कृ अ। तब 'हलादि शेषः' के द्वारा रेफ का लोप हुआ। अभ्यास को चुत्व, गुण 'सार्वधातु० पा० ७.३.८४' तथा 'अत उपधायाः' के द्वारा वृद्धि आदेश हुआ (कुछ लोग 'गोपायाम् चकृ अ' इस अवस्था में सीधे वृद्धि आदेश (अचोञ्णिति पा० ७.२.११५) करते है। गोपायाम् ककृ अ- गोपायाम् चकृअ-गोपायाम् च कार् अ)। ''मोऽनुस्वारः' के द्वारा अनुस्वार तथा उसे 'वा पदान्तस्य' के द्वारा विकल्प से परसवर्ण आदेश हुआ। गुणवृद्धि से पूर्व द्वित्व होगा। गोपायाम् च कर् अ। गोपायाम् च कार् अ-गोपायांचकार-गोपायाञ्चकार।

द्वित्वादिति-द्विवचन में 'अतुस्' आदेश होने पर 'गोपायाम् कृ अतुस्' इस अवस्था में धातु के एकाच् को द्वित्व (लिटि धातोः पा० ६.१.८) और ऋकार को 'यण्' (इको यणचि पा० ६.१.७४) एक साथ प्राप्त हुआ। द्वित्व की अपेक्षा 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' से 'यण्' प्रबल है। अतः यण् प्राप्त होता है (अग्रिम सूत्र 'द्विर्वचनेऽचि' से 'यण्' का निषेध हो जाता है)

४७४. [७]**द्विर्वचनेऽचि**[७] (१/१/५८)

द्वित्वनिमित्तेऽचि अच् आदेशो न द्वित्वे कर्तव्ये। गोपायाञ्चक्रतुः। गोपायाञ्चक्रुः।

द्विर्वचने इति-द्वित्व निमित्तक अच् के परे रहते अच् के स्थान में आदेश न हो द्वित्व अपेक्षित होने पर। 'गोपायाम् कृ अतुस्' यहाँ 'अतुस्' द्वित्व का निमित्त अजादि प्रत्यय है, जो लिट् के स्थान में आदेश हुआ है अत: स्थानिवद्भाव से लिट् है। अत: इस द्वित्वनिमित्तक 'अतुस्' परे रहते अच् के स्थान पर कोई आदेश न होगा। चूँकि यण् अच् के स्थान पर ही होता है, अत: प्रकृत सूत्र के द्वारा उसका निषेध हो गया। तब पूर्वोक्त रीति से प्राप्त 'यण्' द्वित्व करने से पहले न होगा। यदि द्वित्व होने के पूर्व यण् आदेश हो जाय तो ऋकार को रकार हो जाने से 'कृर्' बन जायगा, तब 'एकाच्' नहीं रहेगा। फिर द्वित्व न हो सकेगा। द्वित्व होने के अनन्तर यथा प्राप्त अजादेश हो सकते हैं। द्वित्व, अभ्यासकार्य, पूर्वोक्त यण्, अनुस्वार, परसवर्ण हुआ। गोपायाम् कृ अतुस्- गोपायाम् कृ कृ अतुस्। गोपायाम् चक्रतुस्। तब रुत्व विसर्ग होने पर 'गोपायाञ्चक्रतु:' रूप सिद्ध होता है।

गोपायाञ्चक्रु:-लिट् के प्रथम पुरुष के बहुवचन 'उस्' में रूप पूर्ववत् सिद्ध होता है।

४७५. ५एकाच ७उपदेशेऽनुदात्तात्५ (७/२/१०)

उपदेशे यो धातुरेकाज् अनुदात्तश्च तत आर्धधातुकस्येण् न।

ऊद्-ॠदन्तैर्यौति रु-क्ष्णु-शी-स्नु-नुक्षु-श्वि-डीङ्-श्रिभि:। वृङ्-वृञ्भ्यां च विनैकाचोऽजन्तेषु निहता: स्मृता:।

कान्तेषु-शक्लृ (१) एक:।

चान्तेषु-पच् १, मुच् २, रिच् ३, वच् ४, विच् ५, सिच: ६, षट्। छान्तेषु-पृच्छि १ एक:।

जान्तेषु-त्यज् १, निजिर् २ भज् ३, भञ्ज् ४, भुज् ५, भ्रस्ज् ६, मस्ज् ७, यज् ८, युज् ९, रुज् १०, रञ्ज् ११, विजिर् १२, स्वञ्ज् १३, सञ्ज १४, सृज: १५ पञ्चदश।

एकाच इति-उपदेश अवस्था में जो धातु एकाच् और अनुदात्त हो, उससे परे आर्धधातुक को इट् आगम न हो।

'धातुपाठ' को देखने से पता चल जाता है कि वह एकाच् है कि नहीं। पर अनुदात्त मालूम करना कठिन है। शायद पहले कोई चिह्न रहा हो। अब तो भाष्यकार आदि पूर्व आचार्यो के कथनानुसार ही निर्णय हो सकता है उसी के अनुसार यहाँ परिगणन किया गया है।

अनुदात्तेत् और अनुदात्त-ये दो भिन्न बाते हैं। अनुदात्तेत् का फल आत्मनेपद विधान है और अनुदात्त का इट् निषेध। अनुदातेत् का निर्देश 'एधादय: कत्थन्ता: षट्त्रिंशत् अनुदात्तेत: ('एध्' आदि 'कत्थ' पर्यन्त छत्तीस धातुएँ अनुदात्तेत् हैं'), इत्यादि वचनों के द्वारा धातुपाठ में किया है। यह कोई आवश्यक नहीं कि जो धातु अनुदात्त हो, वह अनुदात्तेत् हो। 'शक्लृ' धातु अनुदात्त है पर अनुदात्तेत् नहीं, एध धातु अनुदात्तेत् है पर

अनुदात्त नहीं।

मूल में अनुदात्त एकाच् धातुओं की सूची दी गई है अजन्तों में अनुदात्त अधिक हैं और उदात्त कम। इसलिये उदात्तों को गिनकर बता दिया है, उनसे भिन्न अनुदात्त हैं। हलन्तों में अनुदात्त अल्प हैं, उनका स्पष्ट उल्लेख कर दिया गया है।

ऊदिति-ऊकारान्त और ॠकारान्त धातु तथा यु आदि बारह १२ धातुओं को छोड़कर शेष अजन्त एकाच् धातु अनुदात्त हैं।

कारिकास्थ 'निहता' शब्द का अर्थ अनुदात्त है।

यु आदि बारह धातुएँ नीचे दी जा रही हैं।

१. यु मिश्रणामिश्रणयोः (अदादि) = मिलाना, अलग करना।

२. रु शब्दे (अदादि) = शब्द करना।

३. क्ष्णु तेजने = तेज करना।

४. शीङ् स्वप्ने = सोना।

५. स्नु प्रस्रवणे = चूना, गाय आदि का पसमाना।

६. नु स्तुतौ (अदादि) = स्तुति करना

७. टुक्षु शब्दे = शब्द करना, छींकना।

८. टुओ श्वि गतिवृद्ध्योः (भ्वादि) = जाना, बढ़ना।

९. डीङ् विहायसा गतौ (दिवादि) = उड़ना।

१०. श्रिञ् सेवायाम् (भ्वादि) = सेवा करना, आश्रय लेना।

११. वृङ् संभक्तौ (क्र्यादि) = सेवा करना।

१२. वृञ् वरणे (स्वादि, चुरादि) = स्वीकार करना।

हलन्त एकाच् धातुओं का संग्रह—

ककारान्त— १. शक्लृ शक्तौ (स्वादि)-समर्थ होना।

चकारान्त— १. पच् पाके (भ्वादि)-पकाना। २. मुच् मोक्षणे (तुदादि)-छोड़ना। ३. रिच् विरेचने (रुधादि)-दस्त होना। ४. वच् परिभाषणे (अदादि)-निन्दा करना। ५. विच् पृथग्भावे (रुधादि)-अलग होना। ६. सिच् क्षरणे (तुदादि)-सींचना, चूना।

छकारान्त— १. प्रच्छ् ज्ञीप्सायाम् (तुदादि)-पूछना।

जकारान्त— १. त्यज् हानौ (भ्वादि)-त्यागना। २. निज् शौचपोषणयोः (जुहोत्यादि)-शुद्ध करना, बढाना। ३. भज् सेवायाम् (भ्वादि) सेवा करना। ४. भञ्ज् आमर्दने-(रुधादि) तोड़ना। ५. भुज् पालनाभ्यवहारयोः (रुधादि)-पालन करना, खाना। ६. भ्रस्ज् पाके (तुदादि) -भूनना। ७. मस्ज् शुद्धौ (तुदादि)-शुद्धि करना, डुबकी लगाना। ८. यज् देवपूजादिषु (भ्वादि)-यज्ञ करना आदि। ९. युज् योगे (रुधादि)-तोड़ना, समाधौ (दिवादि)-समाधि लगाना। १०. रुज् भङ्गे (तुदादि)-तोड़ना, रोगी

करना। ११. रञ्ज् रागे (दिवादि, भ्वादि)-रंगना, अनुरक्त होना। १२. विज् पृथग्भावे (जुहोत्यादि)-अलग होना। १३. स्वञ्ज् परिष्वङ्गे (भ्वादि)-आलिङ्गन करना। १४. सञ्ज् सङ्गे (भ्वादि)-मिलना। १५. सृज् विसर्गे (दिवादि, तुदादि)- छोड़ना।

दान्तेषु-अद् १, क्षुद् २, खिद् ३, छिद् ४, तुद् ५, नुद् ६, पद्य ७, भिद् ८, विद्यति ९, विनद् १०, विन्द् ११, शद् १२, सद् १३, स्विद्य १४, स्कन्द १५, हद: ६ षोडश।

धान्तेषु-क्रुध् १, क्षुध् २, बुध् ३, बन्ध् ४, युध् ५, रुध् ६, राध् ७, व्यध् ८, शुध् ९, साध् १०, सिध्या: ११ एकादश। नान्तेषु-मन्य १, हनौ २ द्वौ।

पान्तेषु-आप् १, क्षुप् २, क्षिप् ३, तप् ४, तिप् ५, तृप्य ६, दृप्य ७, लिप् ८, लुप् ९, वप् १०, शप् ११, स्वप् १२, सृप: १३ त्रयोदश।

भान्तेषु-यभ् १, रभ् २, लभ: ३ त्रय:।

मान्तेषु-गम् १ नम् २, यम् ३, रम: ४ चत्वार:।

शान्तेषु-क्रुश् १, दंश् २, दिश् ३, दृश् ४, मृश् ५, रिश् ६, रुश् ७ लिश् ८ विश्९, स्पृश: १० दश।

दकारान्त— १. अद् भक्षणे (अदादि)-खाना। २. क्षुद् संपेषणे (रुधादि)-पीस देना, कूटना। ३. खिद् दैन्ये (दिवादि)-खेद करना। ४. छिद् द्वैधीभावे (रुधादि) टुकड़े करना, काटना। ५. व्यथने (तुदादि)-पीड़ा पहुँचाना। ६. नुद् प्रेरणे (तुदादि)-प्रेरित करना। ७. गतौ (दिवादि)- जाना। ८. भिद् विदारणे (रुधादि)- तोड़ना। ९. विद् सत्तायाम् (दिवादि)- होना। १०. विन्द् विचारणे (तुदादि)-विचार करना। ११. विन्द् लाभे (तुदादि)-प्राप्त करना। १२. शद् शातने (भ्वादि)-नष्ट होना। १३. सद् विशरणादिषु (भ्वादि)-नष्ट होना, जाना आदि। १४. स्विद्य गात्रप्रक्षरणे (दिवादि)-पसीना होना। १५. स्कन्द गतिशोषणयो: (भ्वादि)-जाना, सुखाना। १६. हद् पुरीषोत्सर्गे (भ्वादि)-मल त्याग करना।

धकारान्त— १. क्रुध् क्रोधे (दिवादि)-क्रोध करना। २. क्षुध् बुभुक्षायाम् (दिवादि) भूख लगना। ३. बुध् अवगमने (दिवादि)-जानना। ४. बन्ध् बन्धने (क्र्यादि)-बांधना। ५. युध् संप्रहारे (दिवादि)-युद्ध करना। ६. रुध् आवरणे (रुधादि)-रोकना। ७. राध् संसिधौ (दिवादि)-सिद्ध करना। ८. व्यध् ताडने (तुदादि)-बेधना, मारना। ९. शुध् शौचे (दिवादि)—शुद्ध होना। १०. साध् संसिद्धौ (दिवादि)-सिद्ध करना। ११. सिध्य संराद्धौ (दिवादि)-सिद्ध होना।

नकारान्त— १. मन् ज्ञाने (दिवादि)-जानना, मानना। २. हन् हिंसागत्यो: (अदादि)-मारना और जाना।

पकारान्त— १. आप् व्याप्तौ (स्वादि)-प्राप्त करना। २. क्षुप् स्पर्शे (तुदादि) छूना। ३. क्षिप् प्रेरणे (तुदादि)-फेंकना। ४. तप् सन्तापे (भ्वादि)-तपना। ५. तिप् क्षरणार्थे

(भ्वादि)-चूना, टपकना। ६. तृप् प्रीणने (दिवादि)-प्रसन्न करना या होना। ७. दृप्य दृप्तौ (दिवादि)-घमंड में आना। ८. लिप् उपदेहे (तुदादि०)-लीपना। ९. लुप् छेदने (तुदादि)-काटना, लोप करना। १०. वप् बीजसन्ताने (भ्वादि)-बोना। ११. शप् उपालम्भे (भ्वादि)-शाप देना, शपथ लेना। १२. स्वप् शये (अदादि)- सोना। १३. सृप् गतौ (भ्वादि)-चलना, सरकना।

भकारान्त— १. यभ् मैथुने (भ्वादि)-मैथुन करना। २. रभ् राभस्ये (भ्वादि)-आरम्भ करना। ३. लभ् प्राप्तौ (भ्वादि)-प्राप्त करना।

मकारान्त— १. गम् गतौ (भ्वादि) जाना। २ नम् प्रह्वत्वे शब्दे च (भ्वादि)-झुकना, प्रणाम करना और शब्द करना। ३ यम् उपरमे (भ्वादि) शान्त होना। ४ . रम् क्रीडायाम् (भ्वादि) क्रांडा करना, रमण करना।

शकारान्त— १. क्रुश् आक्रोशे (भ्वादि)-जोर से रोना, चिल्लाना। २. दंश् दशने (भ्वादि)-डँसना। ३. दिश् अतिसर्जने (तुदादि)-दान करना। ४. दृश् प्रेक्षणे (भ्वादि)-देखना। ५. स्पर्श् आमर्शने (तुदादि)-स्पर्श करना, मालूम करना। ६. रिश् ७. रुश् हिंसायाम् (तुदादि)-हिंसा करना। ८. लिश् अल्पीभावे (तुदादि)-घटना। ९. विश् प्रवेशने (तुदादि, दिवादि)-प्रवेश करना। १०. स्पृश् संस्पर्शे (तुदादि)- स्पर्श करना, छूना।

षान्तेषु-कृष् १, त्विष् २, तुष् ३, द्विष् ४, दुष्, ५, पुष्य ६ पिष् ७, विष् ८, शिष् ९, शुष् १०, श्लिषः ११ एकादश।

सान्तेषु- घस १, वसती २ द्वौ। हान्तेषु–दह् १, दिह् २, दुह् ३, नह् ४, मिह् ५, रुह् ६, लिह् ७, वहः ८, अष्टौ।

अनुदात्ता हलन्तेषु धातवस्त्र्यधिकं शतम्।

गोपायाञ्चकर्थ, गोपायाञ्चक्रथुः, गोपायाञ्चक्र। गोपायाञ्चकार-गोपायाञ्चकर-गोपायाञ्चकृव, गोपायाञ्चकृम। गोपायाम्बभूव। गोपायामास। जुगोप, जुगुपतुः, जुगुपुः।

षकारान्त— १. कृष् विलेखने (भ्वादि, तुदादि)-हल जोतना, खींचना। २. त्विष् कान्तौ (भ्वादि)-चमकना। ३. तुष् तृप्तौ (दिवादि)-तृप्त होना। ४. द्विष् अप्रीतौ (अदादि)- द्वेष करना। ५. दुष् वैकृत्ये-(दिवादि)-दूषित होना। ६. पुष्य पुष्टौ (दिवादि)-पुष्ट होना। ७. पिष् संचूर्णने (रुधादि)-पीसना। ८. विष् सेचने (भ्वादि) सींचना। विप्रयोगे (क्र्यादि)-अलग होना। व्याप्तौ (जुहोत्यादि)-व्याप्त होना। ९. शिष् असर्वोपयोगे (रुधादि)- बच रहना। १०. शुष् शोषणे (दिवादि)- सूखना। ११. श्लिष् आलिङ्गने (दिवादि)- आलिङ्गन करना।

सकारान्त— १. घस् अदने (भ्वादि)-खाना। २. वस् निवासे (भ्वादि)-रहना।

हकारान्त- १. दह् भस्मीकरणे (भ्वादि)-जलाना। २. दिह् उपचये (अदादि)-वृद्धि होना। ३. दुह् प्रपूरणे (अदादि)-दुहना। ४. नह् बन्धने (दिवादि)-बाँधना। ५. मिह्

सेचने (भ्वादि)-सींचना। ६. रुह् बीजप्रादुर्भावे (भ्वादि)-जमना, उगना। ७. लिह् आस्वादने (आदि)-चाटना। ८. वह् प्रापणे (भ्वादि)-ले जाना। अनुदात्ता इति-हलन्त धातुओं में अनुदात्त ये १०३ हैं। इनको अनुदात्त होने से इट् नहीं होता।

थल् में अन्य यथाप्राप्त सब कार्य होने पर 'गोपायाञ्चकृ थ' इस दशा में वलादि आर्धधातुक होने से थल् को इट् आगम प्राप्त है।

'गोपायाञ्चकृ थ' यहाँ 'कृ धातु है, जो उपदेश अवस्था में एकाच् और अनुदात्त भी है। इसलिये इट् का निषेध हो जायगा। तब गुण होकर 'गोपायाम् चकर् थ' ऐसी स्थिति हुई। मकार को अनुस्वार तथा अनुस्वार को परसवर्ण हुआ गोपायांचकर्थ- गोपायाञ्चकर्थ।

'गोपाय' धातु से लिट् में 'थस्' होने पर उसे 'अथुस्' आदेश, आम् कृ अनुप्रयोग, द्वित्व, अभ्यास कार्य। गोपायथस्-गोपाय अथुस्- गोपाय आम् कृअथुस्-गोपायाम् कृ अथुस्- गोपायाम् कृ कृ अथुस्- गोपायाम् कर् कृ अथुस्- गोपायाम् क कृ अथुस्-गोपायाम् चकृ अथुस्। अब 'सार्वधातुकार्ध०' 'गुण' प्राप्त हुआ, परन्तु 'असंयोगात् लिट् कित्' से 'अथुस्' कित् हो गया। अतः 'ग्क्ङिति च' से गुण का निषेध हुआ। तब 'यण्' आदेश होकर 'गोपायाम् चक्रथुस्' बना। अनुस्वार, परसवर्ण तथा विसर्ग कार्य होकर-गोपायांचक्रथुस्-गोपायाञ्चक्रथुः बना। इसी प्रकार 'गोपायाञ्चक्र' रूप बनेगा।

उ० पु० एकव० में 'गोपायाम् णल्' यहाँ 'णलुत्तमो वा' के द्वारा णल् विकल्प से णित् होता है। णित् पक्ष में उपधा को वृद्धि हो जाती है। गोपायाञ्चकार। णित् अभाव पक्ष में वृद्धि न होकर 'गोपायाञ्चकर' बनेगा।

द्विवचन में 'गोपायाम् वस्' इस स्थिति में वलादि इट् की प्राप्ति होती है जिसकापूर्व सूत्र से निषेध हो गया। 'असंयोगात् लिट् कित्' के द्वारा 'वस्' कित् हो गया। अतः गुण नहीं होगा। शेष कार्य पूर्ववत्। गोपायाञ्चकृव। 'गोपायाञ्चकृम' रूप इसी प्रकार सिद्ध होगा।

'गोपायाञ्चकार' आदि रूप 'कृ' धातु के अनुप्रयोग में बने हैं।

गोपायाम्बभूव—'गोपायाम्' के साथ 'भू' के लिट् के रूप जोड़ देने मात्र से रूप बन जायँगे।

गोपायामास-अस् के अनुप्रयोग में 'अस्' के लिट् के रूप जोड़ देने से रूप बन जायँगे। अस् के रूप 'अत्' के समान बनेंगे-

प्र० पु०	गोपायामास	गोपायामासतुः	गोपायामासुः
म० पु०	गोपायामासिथ	गोपायामासथुः	गोपायामास
उ० पु०	गोपायामास	गोपायामासिव	गोपायामासिम

उपर्युक्त सभी रूप 'आय' पक्ष में बनते हैं। आगे 'आय' के अभाव पक्ष के रूप दिये जा रहे हैं।

आय अभाव पक्ष— 'गुप्' धातु से 'आय' न होने की दशा में 'गुप् लिट्' ऐसा

हुआ। द्वित्व, अभ्यास कार्य तथा उपधा को गुण हो गया। गुप् ल्-गुप् तिप्- गुप् णल्-गुप् गुप् णल्-गुगुप् णल्- जुगुप् णल्- जुगुप् अ- जुगोप् अ- जुगोप।

'तस्' परे रहते कित् होने से गुण का निषेध हुआ। 'तस्' को 'अतुस्' आदेश तथा शेष कार्य पूर्ववत् होकर 'जुगुपतुः' बना।

इसी प्रकार बहुवचन में 'जुगुपुः' बना।

४७६. [५]**स्वरति-सूति-सूयति-धूञ्-ऊदितो वा (७/२/४४)**

स्वरत्यादेरूदितश्च परस्य वलादेरार्धधातुकस्येड् वा। जुगोपिथ, जुगोप्थ।

गोपायिता, गोपिता, गोप्ता। गोपायिष्यति; गोपिष्यति; गोप्स्यति, गोपायतु। अगोपायत्। गोपायेत्, गोपाय्यात्, गुप्यात्। अगोपायीत्।

स्वरतीति-स्वृ (शब्द करना और दुःख देना), षूङ् (पैदा करना,), षूङ् पैदा करना), धूञ् (हिलाना) और ऊदित् (जिनका दीर्घ ऊकार इत् हुआ हो) धातुओं से पर वलादि आर्धधातुक को इट् विकल्प से हो।

'गुपू' धातु का 'ऊकार' इत् हुआ है। अतः 'ऊदित्' होने से इसके आगे वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् होगा।

'गुप्' से लिट् स्थानिक 'सिप्' करने पर सिप् को थल् आदेश, आय अभाव पक्ष में 'गुप्' को द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' के द्वारा इट् आगम की प्राप्ति हुई। गुप् लिट्-गुप् गुप् सिप्-गुप् गुप् थल्-गु गुप् थल्-जुगुप् थ। तब 'स्वरति सूति०' के द्वारा विकल्प से 'इट्' की प्रवृत्ति हुई। इट् होकर गुण (सार्वधातुका०) हुआ। जुगोपिथ। इट् अभाव में केवल गुण होकर 'जुगोप्थ' बना। इसी प्रकार उत्तम के द्विवचन तथा बहुवचन में दो दो रूप बनेंगे। जुगुपिव, जुगुप्व; जुगुपिम, जुगुप्म।

लुट् लकार में 'तास्' होता है, जो आर्धधातुक संज्ञक है। 'आय' विकल्प से होगा। 'आय' होने की अवस्था में 'गोपाय' धातु बनता है। यह अनेकाच् होने से सेट् है। इट् होकर 'अतो लोपः' से 'आय' के अन्त्य अकार का लोप होकर 'गोपायिता' रूप बनता है। 'आय' के अभाव पक्ष में ऊदित् होने से इट् विकल्प से होता है। 'गोपिता' और 'गोप्ता' ये दो दो रूप बनते है। दो विकल्पों से तीन रूप बनते हैं। गोपायिता, गोपिता, गोप्ता।

इसी प्रकार अन्य आर्धधातुक लकारों में लुट् लकार की तरह 'आय' और 'इट्' दोनों के विकल्प से तीन-तीन रूप सिद्ध होंगे। लृट् में —गोपायिष्यति, गोपिष्यति, गोप्स्यति।

लोट् में-गोपायतु आदि। लङ् में-अगोपायत् आदि। विधिलिङ् में-गोपायेत् इत्यादि।

गोपाय्यात्, गुप्यात्-आशीर्लिङ् में यासुट् होता है और वह वलादि नहीं है। आशीर्लिङ् का यासुट् कित् होता है। अतः आय पक्ष में 'अतो लोपः' से आय के अन्त्य अकार का लोप होकर 'गोपाय्यात्' और आय के अभावपक्ष में 'गुप्यात्' रूप बनते हैं।

लुङ् में आय पक्ष में लकार अवस्था में अट् आगम हुआ। अट् गोपाय ल्। तिप् की उत्पत्ति, इकार का लोप, च्लि, सिच्, इट् आगम, ईट् आगम हो गया, आय के अकार का लोप। अगोपाय तिप्-अगोपाय ति- अगोपाय त्- अगोपाय च्लि त्- अगोपाय सिच् त्- अगोपाय स्त्- अगोपाय् इट् स् ईट् त्-अगोपाय् इ स् ई त्। सिच् का लोप, सवर्ण दीर्घ हुआ। अगोपायीत्।

४७७. [७]**नेटि** (७/२/४)

इडादौ सिचि हलन्तस्य वृद्धिर्न। अगोपीत्। अगौप्सीत्।

नेति-इडादि सिच् परे रहते हलन्त धातु के अच् को वृद्धि न हो।

आय के अभाव पक्ष में-'गुप् लुङ्' यहाँ अट्, च्लि, सिच् तथा विकल्प से इडागम। अट् गुप् तिप्-अगुप्त्-अगुप् च्लि त्-अगुप् सिच् त्। इट् पक्ष में अगुप् इस्त्। तब ईट् आगम तथा 'वदव्रज०' के द्वारा उकार को वृद्धि प्राप्त हुई। 'नेटि' के द्वारा निषेध हुआ। सिच् का लोप, गुण। अगोपीत्। इट् अभाव पक्ष में वृद्धि होगी। अगौप्सीत्।

४७८. [५]**झलो झलि** [७] (८/२/२६)

झल: परस्य सस्य लोपो झलि। अगौप्ताम्, अगौप्सु:। अगौप्सी:, अगौप्तम्, अगौप्त। अगौप्सम्, अगौप्स्व, अगौप्स्म। अगोपायिष्यत्, अगोपिष्यत्, अगौप्स्यत्। क्षि क्षये॥१३/। क्षयति। चिक्षाय, चिक्षियतु:, चिक्षियु:। 'एकाच:-' इति निषेधे प्राप्ते-

झल इति-झल् से परवर्त्ती सकार का लोप होता है, झल् परे रहते।

द्विवचन में 'अगौप् स् ताम्' इस स्थिति में झल् (पकार) से परवर्त्ती 'स्' है। इससे परे झल् (तकार) है। अत: इस सूत्र के द्वारा सकार का लोप होकर 'अगौप्ताम्' रूप बनेगा।

'गुप् झि' इस स्थिति में अट्, च्लि, सिच्, वृद्धि आदि कार्य होकर 'अगौप् स् झि' हो गया। तब 'सिजभ्यस्तविदिभ्य:०' के द्वारा 'झि' को 'जुस्' आदेश हो गया। विसर्ग कार्य होकर 'अगौप्सु:' रूप बना।

मध्यम के एकवचन में 'सिप्' प्रत्यय हुआ। अट्, इकार लोप, ईट् आगम, वृद्धि आदेश तथा विसर्ग होकर 'अगौप्सी:' बना।

'थस्' तथा 'थ' प्रत्ययों में पूर्ववत् कार्य होगा। प्रकृत सूत्र के द्वारा सिच् के सकार का लोप तथा 'थस्' व 'थ' को क्रमश: 'तम्' व 'त' आदेश होकर 'अगौप्तम्' व 'अगौप्त' रूप बनेगा।

उत्तम पु० के एकव० में अट् 'मिप्' प्रत्यय को 'अम्' आदेश, च्लि, सिच् तथा वृद्धि होकर 'अगौप्सम्' रूप बनेगा। द्विवचन तथा बहुवचन में क्रमश: 'अगौप्स्व' तथा 'अगौप्स्म' रूप होंगे।

'नेटि' से वृद्धि का निषेध होने पर 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण हो जाता

है। निम्नलिखित रूप बनते हैं-

प्र०	अगोपीत्	अगोपिष्टाम्	अगोपिषुः
म०	अगोपीः	अगोपिष्टम्	अगोपिष्ट
उ०	अगोपिषम्	अगोपिष्व	अगोपिष्म

लृङ् लकार में आर्धधातुक संज्ञा होने के कारण 'आय' की विकल्प से प्रवृत्ति होगी। धातु ऊदित् है, अतः इट् की विकल्प से प्राप्ति होगी। 'आय' पक्ष में 'अगोपायिष्यत्' बना, (अतो लोपः)। 'आय' अभाव पक्ष में तथा इट् पक्ष में 'अगोपिष्यत्' तथा इडभाव पक्ष में 'अगौप्स्यत्' होगा।

क्षि-'क्षि' धातु का अर्थ 'नाश होना है।' इसकी साधन प्रक्रिया लट् लकार में 'भू' की तरह होगी। 'क्षयति' इत्यादि।

'क्षि लिट्'-यहाँ प्रथम पुरुष एकवचन में 'तिप्' प्रत्यय आया। इसे 'णल्' आदेश, धातु को द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होकर-क्षि तिप्-क्षि णल्—क्षि क्षि णल्- क्षि क्षि अ- कि क्षि अ-चि क्षि अ- बन गया। (हलादिः शेषः, कुहोश्चुः) 'अचो ञ्णिति' सूत्र के द्वारा वृद्धि हुआ तथा 'एचोऽयवायावः' से 'आय' आदेश होकर 'चिक्षाय' रूप बना।

द्विवचन में 'अतुस्' में 'कित्' (असंयोगाल्लिट्०) होने से गुण नहीं हुआ। तब 'अचिश्नुधातु०' के द्वारा 'इयङ्' आदेश हुआ। 'चिक्षियतुः'। बहुवचन में पूर्ववत् प्रक्रिया होती है। चिक्षियुः।

एकाच् इति— 'थल्' में 'एकाच उपदेशऽनुदात्तात्'- सूत्र के द्वारा इट् (आगम) का निषेध प्राप्त होता है।

४७९. **[५]कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि[७]** (७/२/१३)

क्रादिभ्य एव लिट इट् न स्यात्, अन्यस्मादनिटोऽपि स्यात्।

कृ इति-कृ आदि (सृ, भृ, वृ, स्तु, द्रु, स्रु, श्रु) धातुओं से परवर्त्ती 'लिट्' को 'इट्' न हो, इनसे अतिरिक्त धातु से इट् हो, चाहे वह अनिट् व अनुदात्त भी हो।

'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' सूत्र के द्वारा इन धातुओं से परे 'इट्' निषेध पहले ही सिद्ध है। प्रकृत सूत्र के द्वारा उसका पुनः विधान किया गया है इसका समाधान यह है कि 'सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमार्थो भवति'-अर्थात् सिद्ध होने पर भी जिस काम का पुनः विधान किया जाता है, वह विधान नियमार्थ ही हुआ करता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन्हीं ८ धातुओं से परे 'इट्' का निषेध होता है।

४८०. **[५]अचस्तास्वत्[१] [७]थल्यनिटो[५] नित्यम्[१]** (७/२/६१)

उपदेशेऽजन्तो यो धातुस्तासौ नित्याऽनिट्, ततः थल् इट् न।

अच इति-उपदेश अवस्था में जो धातु अजन्त है तथा 'तास्' प्रत्यय परे रहते नित्य अनिट् है, उस से परवर्त्ती 'थल्' को 'इट्' न हो।

'क्षि' धातु उपदेश में अजन्त भी है और 'तास्' में नित्य अनिट् भी है। 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् के द्वारा 'इट्' का निषेध होता है। इसे पूर्व सूत्र 'कृसृ भृ०' के द्वारा पुनः 'इट्' की प्राप्ति हुई जिसका प्रकृत सूत्र के द्वारा बाध हो गया।

४८१. [७]उपदेशेऽत्वतः[५] (७/२/६२)

उपदेशेऽकारवतस्तासौ नित्यानिटः परस्य थल इट् न स्यात्।

उपदेश इति-उपदेश में ह्रस्व अकार वाली धातु यदि 'तास्' प्रत्यय परे रहते नित्य अनिट् हो तो उससे परे 'थल्' को 'इट्' न हो।

'पच्' से लिट् स्थानिक 'थल्' होने पर द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर 'पपच् थ' ऐसी स्थिति हुई। 'पच्' धातु हलन्त अनुदात्त है। अतः 'तास्' में नित्य 'अनिट्' है। उपदेश में अकारवान् भी है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा 'इट्' का निषेध होकर 'पपक्थ' रूप बना।

४८२. [५]ऋतो भारद्वाजस्य[६] (७/२/६३)

तासौ नित्याऽनिट ऋदन्तादेव थलो नेड् भारद्वाजस्य मतेन। तेन अन्यस्य स्यादेव।

अयमत्र संग्रहः-

अजन्तऽकारवान् वा यस्तास्यनिट्-थलि वेड् अयम्।

ऋदन्त ईदृङ् नित्यानिट्, क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत्।

चिक्षयिथ-चिक्षेथ,चिक्षियथुः, चिक्षिय।

चिक्षाय-चिक्षय, चिक्षियिव, चिक्षियिम।

क्षेता। क्षेष्यति। क्षयतु। अक्षयत्। क्षयेत्।

ऋत इति- भारद्वाज के मत से जो ऋकारान्त धातु 'तास्' प्रत्यय में नित्य अनिट् हो, उससे परे 'थल्' को 'इट्' न हो।

इस सूत्र के अनुसार ऋदन्त भिन्न (अजन्त व हलन्त) धातुओं से परे 'थल्' को 'इट्' होगा। पाणिनि के अनुसार सभी अजन्त व हलन्त अकारवान् धातु से 'इट्' निषेध होता है। अतः ऋकारान्त से भिन्न अजन्त व हलन्त अकारवान् धातुओं से परे 'थल्' को विकल्प से 'इट्' होगा।

उपर्युक्त चारों सूत्रों का विषय एक ही कारिका में संग्रह कर दिया है।

अजन्त इति-अजन्त या अकारवान् धातु जो 'तास्' प्रत्यय परे रहते अनिट् धातु हो, उसे 'थल्' में 'इट्' विकल्प से हो। 'कृ' आदि से अतिरिक्त 'अनिट्'

धातु को लिट् में (अर्थात् वस्, मस्) इट् हो।

'थल्' के निर्णय के पश्चात् 'वस्' तथा 'मस्' प्रत्यय बचते हैं। उनके लिए क्रादि नियम है। उन आठ धातुओं को छोडकर सभी अनिट् धातुओं को 'वस्','मस्' में 'इट्' होगा।

विशेष-अनेकाच् धातु सेट् होती हैं। अतः वहाँ 'इट्' अवश्य हो जाएगा। एकाच् धातु के विषय में ध्यान देने योग्य यह है कि वह धातु 'अनिट्' है या नहीं। 'ऊदृदन्तैः—' कारिका से उक्त निर्णय हो सकेगा। चूँकि 'अनिट्' का विचार 'लिट्' के सम्बन्ध में ही होता है। यदि धातु 'कृ' आदि में से हो तो उसे सारे लिट् (थल्, वस्, मस्) में 'इट्' निषेध समझे। इनसे भिन्न हों तो केवल 'थल्' में निषेध कर देवें। शेष 'वस्' तथा 'मस्' में इट् हो जायेगा।

यदि ऋकारान्त धातु हो तो 'थल्' में 'इट्' नहीं होगा। अजन्त अथवा अकारवान् हो तो 'थल्' को विकल्प से 'इट्' होगा। इससे अतिरिक्त को 'थल्' में 'इट्' होगा।

'क्षि' से लिट् स्थानिक 'थल्' करने पर द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर 'चिक्षिथल्' ऐसी स्थिति बन गई। 'क्षि' धातु अनिट् है और अजन्त भी है। अतः 'ऋतो भारद्वाजस्य' के द्वारा विकल्प से 'इट्' की प्रवृत्ति होगी। हलादिः शेषः। कुहोश्चुः। 'इट्' पक्ष में अयादेश होकर 'चिक्षयिथ' रूप बनेगा। 'इट्' अभाव पक्ष में 'चिक्षेथ' बना।

'क्षि थस्' में द्वित्व, अभ्यास-कार्य, तथा थस् को 'अथुस्' आदेश हो गया। 'अथुस्' अपित् है। अपित् लिट् 'कित्' होता है। तब 'चिक्षियथुः' रूप बना। असंयोगाल्लिट् कित्। क्ङिति च।

मध्यम के बहुवचन में 'थ' को 'अ' आदेश हो गया। गुण न होकर 'इयङ्' आदेश होगा। चिक्षिय।

उत्तम पुरुष के एकवचन में 'णल् उत्तमो वा' के द्वारा 'णल्' को विकल्प से 'णित्' होता है। 'णित्' पक्ष में वृद्धि होकर 'चिक्षाय' तथा अभाव पक्ष में गुण होकर 'चिक्षय' रूप होगा।

द्विवचन तथा बहुवचन में 'इट्' की प्राप्ति होगी। तब इयङ् आदेश होकर क्रमशः 'चिक्षियिव' तथा 'चिक्षियिम' रूप बनेंगे।

लुट् लकार में 'तास्' हो गया। 'एकाच उपदेश०' के द्वारा 'इट्' का निषेध हो गया। तब आर्धधातुक गुण होकर 'क्षेता' रूप बना।

लृट् लकार में पूर्ववत् 'इट्' का निषेध तथा गुण आदेश होकर 'क्षेष्यति' बना। लोट् में 'शप्' विकरण, सार्वधातुक गुण होकर 'क्षयतु' सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार लङ् में 'अक्षयत्' तथा विधिलिङ् में 'क्षयेत्' बन गया।

४८३. [७]**अकृत् सार्वधातुकयोदीर्घः। (७/४/२५)**

अजन्ताङ्गस्य दीर्घः स्याद्यादौ प्रत्यये परे न तु कृत्सार्वधातुकयोः। क्षीयात्।

अकृदिति- कृत् तथा सार्वधातुक प्रत्ययों को छोड़ कर यकारादि प्रत्यय परे रहते अजन्त अङ्ग को दीर्घ हो।

'क्षि' से लिङ्लकार में 'यासुट्' होने पर 'अकृत् सार्वधातुकयोः' के द्वारा दीर्घ होकर 'क्षीयात्' रूप बना।

४८४. [७]सिचि वृद्धि:[१] परस्मैपदेषु[७] (७/२/१)

इगन्ताङ्गस्य वृद्धि: स्यात् परस्मैपदे सिचि। अक्षैषीत्। अक्षेष्यत्।

तप सन्तापे॥१४॥ तपति। तताप, तेपतु: तेपु:। तेपिथ, ततप्थ। तप्ता। तप्स्यति। तपतु। अतपत्। तपेत्। तप्यात् अताप्सीत्। अताप्ताम् अतप्स्यत्। क्रमुपाद विक्षेपे॥५॥

सिचीति-परस्मैपद जिससे परे है, ऐसे 'सिच्' के परे रहते इगन्त अङ्ग को वृद्धि हो।

लुङ् लकार में 'क्षि तिप्' यहाँ पर इकार लोप, अट् आगम, सिच् तथा ईट् आगम होकर 'अ क्षि स् ई त्' ऐसा बन गया। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा वृद्धि होकर 'अक्षैषीत्' रूप बना।

प्र० अक्षैषीत्, अक्षैष्टाम्, अक्षैषु:। म० अक्षैषी: अक्षैष्टम्, अक्षेष्ट। उ० अक्षैषम्, अक्षैष्व, अक्षैष्म।

अक्षेष्यत्-लृङ् में गुण होकर 'अक्षेष्यत्' आदि रूप बनते है।

१४ तप इति-तप् धातु का अर्थ जलना है।

'तप्' से लट् लकार में 'तिप्' करने पर 'शप्' विकरण हुआ। तपति।

'तप्' से लिट् स्थानिक 'तिप्' को 'णल्' आदेश, द्वित्व, अभ्यास कार्य तथा उत्तर-खण्ड की उपधा को 'अत उपधाया:' के द्वारा दीर्घ हो गया। तप्णल्-ततप् णल्-ततप् अ- ततापू अ-तताप।

'तप् तस्' में पूर्ववत् द्वित्व तथा अभ्यासकार्य हुआ। 'तस्' को 'अतुस्' आदेश हुआ जो 'कित्' है। तब 'अत एक हल्मध्ये-' के द्वारा एत्व आदेश तथा अभ्यास लोप हो गया। तप् तप् अतुस्-ततप् अतुस्- तेप् अतुस्-तेपतु:।

बहुवचन में इसी प्रकार प्रक्रिया होकर 'तेपु:' रूप बना।

'तप्' से 'थल्' करने पर 'एकाच उपदेशेऽनुना०' से इट् निषेध। क्रादिनियम से इट्। 'उपदेशेऽत्वत:' से इट् निषेध। 'ऋतो भारद्वाज०' से विकल्प से 'इट्' की प्राप्ति होती है। 'तप्' धातु एकाच् है, अकारवान् है तथा 'तास्' में नित्य अनिट् है। 'इट्' पक्ष में 'तेपिथ' तथा इट् अभाव पक्ष में 'ततप्थ' रूप बनेगा। लुट् में 'तप्ता', लृट् में 'तप्स्यति', लोट् में 'तपतु' तथा लङ् में 'अतपत्' बनेगा। विधिलिङ् में 'तपेत्' तथा आशीर्लिङ् में 'तप्यात्' होगा।

लुङ् लकार में अट् आगम, सिच् आदेश, इकार लोप, ईट् आगम, 'वदव्रज-' के द्वारा अङ्ग अकार को वृद्धि हो गई। तप्लुङ्-तप् ल्- अट् तप् तिप्- अ तप् तिप्-अतप् सिच् त्- अतप् स् ईट् त्- अताप् स् ईट् त्-अताप्सीत्।

लृङ् लकार में 'अतप्स्यत्' होगा।

५ क्रमु इति-क्रमु धातु का अर्थ 'चलना' है।

४८५. **वॉ भ्राश-भ्लाश-भ्रमु-क्रमु-त्रसि-त्रुटि-लषः**[५] **(३/१/७०)**

एभ्यः श्यन् वा कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे। पक्षे-शप्।

वा भ्राशेति-भ्राश् (चमकना), भ्लाश् (चमकना), भ्रम् (घूमना), क्रम् (चलना), क्लम् (खिन्न होना), त्रस् (डरना), त्रुट् (टूटना) और लष् (इच्छा करना), इन धातुओं से कर्तृवाच्य सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते विकल्प से 'श्यन्' प्रत्यय हो। पक्ष में 'शप्' होगा।

४८६. [६]**क्रमः परस्मैपदेषु**[७] **(७/३/७६)**

क्रमो दीर्घः परस्मैपदे शिति। क्राम्यति, क्रामति। चक्राम। क्रमिता। क्रमिष्यति। क्राम्यतु, क्रामतु। अक्राम्यत्, अक्रामत्। क्राम्येत् क्रामेत्। क्रम्यात्। अक्रमीत्। अक्रमिष्यत्। पा पाने।।१६/।

क्रम इति-परस्मैपदपरक 'शित्' प्रत्यय परे रहते 'क्रम्' धातु (के अच्) को दीर्घ हो।

'क्रम् तिप्' में पूर्व सूत्र के द्वारा 'श्यन्' विकल्प से होगा। तब 'क्रमः पर स्मैपदेषु' के द्वारा दीर्घ आदेश हुआ। अच् ही दीर्घ होता है। अतः यहाँ अच् (अकार) को ही दीर्घ होगा। क्रम् श्यन् तिप्-क्राम् श्यन् तिप्-क्राम्यति। 'श्यन्' के अभाव पक्ष में दीर्घ हा`कर 'क्रामति' रूप बना।

आत्मनेपद में उक्त सूत्र से दीर्घत्व नहीं होगा। अतः 'क्रमते' बनेगा।

जहाँ जहाँ 'क्रम्' धातु आत्मनेपदी है, वहाँ वहाँ दीर्घ नहीं होगा। 'अकर्मकाच्च' सूत्र से तथा 'प्र' व 'उप' उपसर्ग के योग में 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' सूत्र से आत्मनेपदी हो जाता है।

'क्रम् लिट्' यहाँ द्वित्व, अभ्यासकार्य होकर 'चक्राम' रूप बनता है। कुहोश्चुः। क्रम् क्रम् अ। क क्रम अ—चक्रम् अ— चक्राम् अ—अत उपधायाः।

लिट् में-प्र० चक्राम-चक्रमतुः, चक्रमुः,। म० चक्रमिथ, चक्रमथुः, चक्रम। उ० चक्राम-चक्रम, चक्रमिव, चक्रमिम।

लोट् लकार, लङ् लकार तथा विधि लिङ् लकार में 'श्यन्' विकल्प से होगा। अतः दो दो रूप बनेंगे।

लुङ् लकार में 'अट्', सिच् आदि होकर 'अक्रम् इ स् ई त्' इस स्थिति में (वदव्रजहल०) हलन्त लक्षणा वृद्धि प्राप्त होती है। 'नेटि' से निषेध। 'अतो हलादेर्लघोः' से वैकल्पिक वृद्धि। 'ह्म्यन्तक्षणश्वस-' के द्वारा उक्त वृद्धि का निषेध हो जाता है। अक्रमीत्। उपसर्ग के योग में-

प्रक्रमते-	आरम्भ करना है।
उपक्रमते-	आरम्भ करता है।
पराक्रमति-	पराक्रम करता है।

'पा' धातु का अर्थ 'पीना' है।

४८७. [६]**पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छ-पश्यर्च्छधौशीयसीदाः**[१] (७/३/७८)

पादीनां पिबादयः स्युरित्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये परे। पिबादेशोऽदन्तः, तेन न गुणः-पिबति।

पेति-इत्संज्ञक शकारादि प्रत्यय परे रहते 'पा' आदि धातुओं को क्रमशः 'पिब' आदि आदेश हों।

चूकि आदेश भी ११ हैं तथा स्थानी भी ११ हैं। अतः 'यथा संख्यमनुदेशः' के अनुसार आदेश क्रमशः होंगे। सभी आदेश अनेकाल् हैं। अतः 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' के बल पर सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होंगे।

ये आदेश निम्नलिखित प्रकार से होंगे-

धातु	आदेश	अर्थ	धातु	आदेश	अर्थ
पा	पिब	पीना	दाण्	यच्छ	देना
घ्रा	जिघ्र	सूंघना	दृश्	पश्य	देखना
ध्मा	धम	फूँकना, शंख	ऋ	ऋच्छ	जाना
		का बजना।	सृ	धौ	दौड़ना
स्था	तिष्ठ	ठहरना, रहना।	शद	शीय	नष्ट होना
म्ना	मन	अभ्यास करना।	सद	सीद	जाना

पिबादेश इति- पिब आदेश अकारान्त है तब बकार की उपधा संज्ञा होगी। अतः 'पुगन्तलघूपध-' के द्वारा गुण नहीं होगा।

'पा लट्' यहाँ 'तिप्' होकर 'पिब' आदेश हुआ। शप्' होकर 'अतो गुणे' के द्वारा पररूप हो गया। पा तिप्-पिब शप् तिप्-पिबति।

'पा झि'- यहाँ 'झोऽन्तः' के द्वारा 'अन्त' आदेश, 'पा ' को 'पिब' आदेश 'शप्' होने पर इस प्रकार स्थिति बनी- पा झि- पा अन्ति-पिब अन्ति- पिब शप् अन्ति-पिब अ अन्ति। अब पहले 'अतो गुणे' के द्वारा 'पिब' के अकार और 'शप्' के अकार का पररूप हुआ। पिब अन्ति -'अन्ति' के अकार के साथ पररूप होकर 'पिबन्ति' रूप बना।

प्र०— पिबति, पिबतः, पिबन्ति। म०— पिबसि, पिबथः पिबथ। उ०— पिबामि, पिबावः, पिबामः।

४८८. [५]**आत औ**[१] **णलः**[६] (७/१/३४)

आदन्ताद्धातोर्णल औकारादेशः स्यात्। पपौ।

आत इति- आकारान्त (धातु) से उत्तरवर्त्ती 'णल्' (प्रत्यय) के स्थान पर 'औ' आदेश हो। 'पा' से लिट् स्थानिक 'तिप्' हुआ। इसे 'णल्' आदेश हुआ। द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होकर 'प पा णल्' बना। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'णल्' को 'औ' आदेश हो

गया। प पा औ। 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि आदेश होकर 'पपौ' बना।

४८९. [६]आतो [१]लोप [७]इटि चँ (६/४/६४)

अजाद्योरार्धधातुकयोः क्ङिदिटोः परयोरातो लोपः स्यात्। पपतुः पपुः। पपिथ-पपाथ, पपथुः पप। पपौ, पपिव, पपिम। पाता। पास्यति। पिबतु। पिबेत्।

आत इति— जिस के आदि में कोई स्वर वर्ण हो ऐसे आर्धधातुक संज्ञक कित्, ङित् या इट् परे होने पर दीर्घ **आ** का लोप हो।

पा पा अतुस्— प पा अतुस्— पपतुः बना। लिट् च।

बहुवचन में पूर्ववत् कार्य होकर 'पपुः' बना।

'थल्' में एकाच 'उपदेशेऽनु०' से इट् का निषेध। 'कृसृभृवृ०' से नित्य इट्। 'अचस्तास्व०' से निषेध। 'ऋतो भारद्वाजस्य' से 'इट्' विकल्प से होता है। 'पा' अजन्त, अनिट् है। 'इट्' पक्ष में 'आतो लोप इटि च' से आकार का लोप होकर 'पपिथ' रूप बनेगा। इट् अभाव पक्ष में 'पपाथ' बनेगा।

पाता लुट्, पास्यति लृट् पिबतु लोट्, अपिबत् लङ्, पिबेत् विधिलिङ् में प्रथम के एकवचन के रूप हैं। इनकी सिद्धि में कोई विशेष कार्य नहीं। इसी प्रकार अन्य वचनों और मध्यम तथा उत्तम पुरुष के रूप बनते हैं।

४९०. [१]एर्लिङि[७] (६/४/६७)

घुसंज्ञकानां मा-स्थाऽऽदीनां च एत्वं स्यात्, आर्धधातुके किति लिङि। पेयात्।

'गातिस्था०' इति सिचो लुक्-अपात्, अपाताम्।

एरिति— आर्धधातुक कित् लिङ् परे रहते 'घु' संज्ञक धातु, मा, स्था, गा, पा, हा तथा सन् धातु को एत्व हो।

'पा' से आशीर्लिङ् में 'तिप्' होने पर इकार का लोप हो गया। 'लिङाशिषि' से आर्धधातुक होने से तथा 'किदाशिषि' से 'यासुट्' आगम 'कित्' हो गया। धातु के आकार को एकार हो गया। पेयात्। इसी प्रकार पेयास्ताम्, पेयासुः रूप बनेंगे। मध्यम पु० में पेयाः, पेयास्तम्, पेयास्त बनेंगे। उत्तम में पेयासम्, पेयास्व तथा पेयास्म होंगे।

गाति इति— 'गाति स्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' के द्वारा 'सिच्' का लोप होकर —लुङ् लकार में 'पा' धातु से अट् आगम, इकार लोप, सिच् आदि हो गया। अ पा स् त्। तब 'गातिस्थाघु०' के द्वारा 'सिच्' का लोप हो गया। 'अपात्' रूप सिद्ध हुआ इसी प्रकार 'अपाताम्' बना।

४९१. [५]आतः (३/४/११०)

सिज्लुकि आदन्तादेव झेर्जुस्।

आत इति— जहाँ 'सिच्' का लोप हुआ हो, वहाँ आकारान्त धातु से परे ही 'झि' को 'जुस्' हो तथा अन्य से न हो।

४९२. [७]उस्यपदान्तात्[५] (६/१/९६)

अपदान्तादकाराद् उसि पररूपमेकादेशः। अपुः। अपास्यत्। ग्लै हर्षक्षये॥ १७॥ ग्लायति।

उसीति— अपदान्त अवर्ण से उस् (का अच्) परे रहते (पूर्व अवर्ण तथा पर अच्) दोनों के स्थान पर पररूप एकादेश हो।

अपु

अ पा झि— लुङ् लकार, अट् आगम, झि प्रत्यय, सिच् तथा सिच् का लुक्।

अ पा उस्— आतः से 'जुस्' आदेश, अनुबन्ध लोप।

अपुः— 'आद् गुणः' से गुण की प्राप्ति, 'उस्यपदान्तात्' से पररूप, विसर्ग आदेश।

लृङ् लकार में 'अपास्यत्' बना। 'ग्लै' का अर्थ है— हर्ष का नाश होना। लट् लकार में 'शप्', 'आय्' आदेश 'एचोयवायावः' से होकर 'ग्लायति' रूप बनता है।

४९३. [१]आद् एच[६] [७]उपदेशेऽशिति[७] (६/१/४५)

उपदेशे एजन्तस्य धातोरात्वम्, न तु शिति। जग्लौ। ग्लाता। ग्लास्यति। ग्लायतु। अग्लायत्। ग्लायेत्।

आदिति— शित् प्रत्यय को छोड़ कर अन्य के परे रहते उपदेश में एजन्त धातु को आत्व हो।

'ग्लै' धातु उपदेश में एजन्त है। अतः इस सूत्र के द्वारा इसे आकार हो जायेगा, परन्तु शित् प्रत्यय (लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ्ग में) के कारण उक्त आकार आदेश नहीं होगा।

जग्लौ

ग्लै लिट्— लिट् की उत्पत्ति।

ग्ला णल्— शित् भिन्न होने से आत्व, तिप्, णल् आदेश (णलतुसुस्०)।

ज ग्ला औ— 'आत औ णलः' से 'औ', द्वित्व, अभ्यास ह्रस्व, चुत्व।

जग्लौ— 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि।

प्र०— जग्लौ, जग्लतुः जग्लुः। म०— जग्लिथ-जग्लाथ, जग्लथुः, जग्ल। उ०— जग्लौ, जग्लिव, जाग्लिम।

लुट् में ग्लाता, लृट् में ग्लास्यति, लोट् में ग्लायतु, लङ् में अग्लायत् और विधिलिङ् में ग्लायेत् रूप बनते हैं।

४९४. वॉऽन्यस्य[६] संयोगाऽदेः[६] (६/४/६८)

घुमास्थादेरन्यस्य संयोगादेर्धातोरात् एत्वं वाऽऽर्धधातुके किति लिङि। ग्लेयात्, ग्लायात्।

वेति— आर्धधातुक कित् लिङ् परे रहते पूर्वोक्त घु, मा, स्था आदि से अतिरिक्त संयोगादि धातु के आकार को विकल्प से एकार हो।

'ग्लै' से आशीर्लिङ् में 'तिप्' हुआ, इकार का लोप तथा यासुट् हुआ, किदाशिषि लिङाशिषि। 'ग्लै' धातु पूर्वोक्त 'घुमा०' से भिन्न है और संयोगादि भी है। अतः कित् लिङ् (यात्) परे रहते 'एत्व' होगा। ग्लै तिप्। ग्ला तिप्। ग्ला त्। ग्ला यासुट् त्। ग्लेयात्। पक्ष में 'ग्लायात्'।

४९५. [५]**यम-रम-नम्-आतां सक्**[१] **चॅ (७/२/७३)**

एषां सक् स्याद्, एभ्यः सिच इट् स्यात् परस्मैपदेषु। अग्लासीत्। अग्लास्यत्। ह्वृ कौटिल्ये॥ १८॥ ह्वरति।

यमेति— यम् (निवृत्त होना), रम् (रमण करना), नम् (प्रणाम करना) और आकारान्त धातुओं को सक् आगम हो तथा इनसे पर सिच् को इट् हो, यदि परस्मैपद परक सिच् परे हो।

'ग्लै' को लुङ् लकार में 'आदेच उपदेशे०' के द्वारा आकार अन्तादेश हुआ। अट्, सिच् तथा ईट् आगम हुआ। ग्लै लुङ्। ग्ला लुङ्। ग्लाल्। अट् ग्ला तिप्। अग्ला त्। अग्ला च्लि त्। अग्ला सिच् त्। अग्ला स् ईट् त्। अ ग्ला स् ई त्। तब 'यमरम०' सूत्र के द्वारा धातु को 'सक्' तथा 'सिच्' को 'इट्' आगम हुआ। 'सक्' के 'क्' की इत्संज्ञा है तथा अकार उच्चारणार्थ है। अग्ला स् इ स् ई त्। 'इट ईटि' से 'सिच्' का लोप, सवर्णदीर्घ होकर 'अग्लासीत्' बना।

अपि च, प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति के बिना भी 'अग्ला स् ईट् त्' इस स्थिति में 'अग्लासीत्' रूप सिद्धि हो जाती है, परन्तु 'अग्लासिष्टाम्' आदि की सिद्धि के लिए प्रकृत सूत्र की आवश्यकता होती है। अतः सम्पूर्ण प्रक्रिया 'अग्लासीत्' के प्रकरण में दिखा दी गई है। चूँकि 'ग्लै' धातु अनिट् है, अतः 'सिच्' को 'इट्' प्राप्त नहीं था।

द्विवचन में 'अग्लास् ताम्' इस अवस्था में प्रकृत सूत्र के द्वारा 'सक्' तथा इट् होते हैं। तब सिच् के सकार को मूर्धन्य आदेश होकर 'अग्लासिष्टाम्' रूप बना। बहुवचन में 'झि' प्रत्यय को 'जुस्' आदेश होगा। शेष प्रक्रिया 'अग्लासिष्टाम्' की तरह समझें। 'अग्लासिषुः'।

इसी प्रकार— म०— अग्लासीः, अग्लासिष्टम्, अग्लासिष्ट।

उ०— अग्लासिषम्, अग्लासिष्व अग्लासिष्म। ये रूप बनते हैं।

लृङ् लकार में अट् आगम, तिप्, इकार लोप, स्य प्रत्यय तथा धातु को आत्व आदि कार्य होकर—

ग्लै लृङ्। ग्लै ल्। अट् ग्लै तिप्। अ ग्लै स्य त्। अग्ला स्यत्। अग्लास्यत्।

ह्वृ का अर्थ है— कुटिल आचरण करना।

लट् लकार में 'शप्' होकर 'ह्वरति' जैसे रूप बनेंगे।

४९६. [६]ऋतश्च [६]संयोगाऽऽदेर्गुणः[१] (७/४/१०)

ऋदन्तस्य संयोगाऽऽदेरङ्गस्य गुणो लिटि। उपधाया वृद्धिः– जह्वार, जह्वरतु, जह्वरुः। जह्वर्थ, जह्वरथुः, जह्वर। जह्वार-जह्वर, जह्वरिव, जह्वरिम्। ह्वर्ता।

ऋत इति— लिट् परे होने पर ऋदन्त संयोगादि अङ्ग को गुण हो।

'ह्वृ लिट्' यहाँ 'तिप्' प्रत्यय होने पर 'तिप्' को 'णल्' आदेश हुआ। ह्वृ णल्। द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर— ह्वृ ह्वृ णल् उरत्, हलादिः शेषः। ह ह्वृ अ—कुहोश्चुः। झ ह्वृ अ— अभ्यासे चर्च। ज ह्वृ णल्- 'अचो ञ्णिति' के द्वारा वृद्धि प्राप्त है, परन्तु इसे बाध कर प्रकृत सूत्र के द्वारा गुण हुआ। तब 'अत उपधायाः' के द्वारा उपधा को वृद्धि आदेश हुआ। यथा— जह्वर् अ। जह्वार।

'अचो ञ्णिति' के द्वारा पहले ही वृद्धि आदेश करने पर इष्ट सिद्धि तथा कार्य लाघव होता है। तब गुण करके पुनः वृद्धि करने का औचित्य क्या है? समाधान यह है कि 'जह्वृ णल्' इस अवस्था में प्राप्त वृद्धि का बाध 'ऋतश्च' सूत्र से होता है। अतः सूत्र की प्राप्ति होने से शास्त्रानुसार कार्य करना पड़ता है। शास्त्रमर्यादा की रक्षा के लिए सम्पूर्ण बाध्य बाधकभाव को दिखाया जाना आवश्यक होता है।

द्विवचन में 'अतुस्' अपित् होने से 'असंयोगाल्लिट् कित्' से कित्। आर्धधातुक् गुण का निषेध होने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा गुण होकर 'जह्वरतुः' रूप बना।

'ह्वृ' से (लिट्) 'सिप्' आदेश करने पर 'सिप्' को 'थल्' आदेश, द्वित्व तथा अभ्यास कार्य करने पर— ह्वृ सिप्। ह्वृथल्। ह्वृ ह्वृ थल्। ज ह्वृ थल्— बना स्थानिवद्भाव से 'थल्' पित् है। अतः 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (पा० ७/३/८४) के द्वारा गुण प्राप्त हुआ। अपि च, 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' (पा० ७/४/१०) के द्वारा भी गुण की प्राप्ति हुई। तब पर होने से 'ऋतश्च०' के द्वारा गुण होकर 'जह्वर्थ' रूप बना। द्विवचन में पूर्ववत् क्रिया होकर 'जह्वरथुः' तथा बहुवचन में 'जह्वर' बना।

लिट् के उत्तम पुरुष एकवचन में 'णल्' के विकल्प से 'णित्' होने से दो रूप बनेंगे। यथा— ह्वृ मिप्। ह्वृ णल्। ह्वृ ह्वृ णल्। ज ह्वृ अ। जह्वार तथा जह्वर।

द्विवचन तथा बहुवचन में 'कृसृ०' के द्वारा 'इट्' होकर क्रमशः 'जह्वरिव' तथा 'जह्वरिम' रूप बनेंगे।

लुट् लकार में 'ह्वर्ता' रूप होगा। यह धातु अजन्त है तथा अजन्त सेट् कारिका (ऊदृदन्तैः) में पाठ न होने से अनुदात्त है। अतः वलादि इट् की प्राप्ति नहीं होगी 'सार्वधातुकार्ध०' के द्वारा गुण हो जायेगा।

४९७. [६]ऋद्धनोः [७]स्ये (७/२/७०)

ऋतो हन्तेश्च सयस्येट्। ह्वरिष्यति। ह्वरतु। अह्वरत्। ह्वरेत्।

ऋदिति— ह्रस्व ऋकारान्त और हन् धातु से परे 'स्य' को 'इट्' हो।

हृ से लृट् के प्रथम के एकवचन में 'स्य' होगा तथा इसे प्रकृत सूत्र के द्वारा 'इट्' होगा। 'हृ' धातु का 'ऊद्‌ऋदन्तैः०' में पाठ न होने से अनिट् है। हृ स्य तिप्। हृ इ स्य ति। हरिष्यति।

लोट् में हरतु, लङ् में अहरत् तथा विधिलिङ् में हरेत् रूप होंगे।

यहाँ पञ्चम्यर्थ में षष्ठी तथा षष्ठ्यर्थ में सप्तमी है।

४९८. [१]गुणोऽर्ति-संयोगाऽऽद्योः[६] (७/४४/२९)

अर्तेः संयोगादेर्ऋदन्तस्य च गुणः स्यात्, यकि यादावार्धधातुके लिङि च। ह्रियात्। अहार्षीत्। अहरिष्यत्। श्रु श्रवणे॥ १९॥

गुण इति— यक् तथा यकारादि आर्धधातुक लिङ् परे रहते 'ऋ' (गतौ) तथा संयोगादि ऋदन्त धातु को गुण हो।

'यक्' तथा यकारादि लिङ् दोनों 'कित्' हैं। अतः गुण निषेध हो जाता है। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा वह गुण होता है।

'हृ तिप्' आशीर्लिङ् में प्रकृत सूत्र के द्वारा गुण होकर 'ह्रियात्' रूप सिद्ध हुआ।

अहार्षीत्— लुङ् प्र० पु० एकव०।

अट् हृ तिप्— लुङ्, अट्, तिप्।

अ हृ स् ई त्— इकार लोप, सिच्, ईट्, अनुबन्ध लोप।

अहार्षीत्— 'सिचि वृद्धिः परस्मै०' से वृद्धि। मूर्धन्य।

लृङ् में 'अहरिष्यत्' होगा।

'श्रु' धातु का अर्थ है— सुनना।

४९९. [६]श्रुवः [१]शृ चँ (३/१५७४)

श्रुवः 'शृ' इत्यादेशः स्यात्, 'श्नु' प्रत्ययश्च। शृणोति।

श्रुव इति— 'श्रु' धातु को 'शृ' आदेश हो तथा 'श्नु' प्रत्यय हो। कर्त्रर्थक सार्वधातु परे रहते।

'श्नु' शित् है। यह सार्वधातुक है। चूँकि 'शप्' कर्त्रर्थ सार्वधातुक है। अतः 'शप्' का बाधक होने के कारण 'श्नु' की प्रवृत्ति लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् में ही होती है। 'शृ' आदेश भी वहीं प्रवृत्त होगा।

'श्रु' धातु से लट् में 'तिप्' हुआ जो कर्तृवाचक सार्वधातुक प्रत्यय है, अतः प्रकृत सूत्र से 'श्रु' को 'शृ' आदेश तथा 'शप्' के स्थान पर 'श्नु' हो गया। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' के द्वारा गुण हो गया। तब 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' के द्वारा नकार को णत्व होकर— श्रु तिप्। शृ श्नु तिप्। शृ नु ति। शृणोति।

५००. [१]सार्वधातुकमपित्[१] (१/२/४)

अपित् सार्वधातुकं ङिद्वत्। शृणुतः।

सार्व० इति— अपित् सार्वधातुक ङित् के समान होता है।

'श्रु तस्' में 'श्रुव:' सूत्र के द्वारा 'शृ' आदेश तथा 'श्नु' प्रत्यय, प्रकृत सूत्र के द्वारा 'श्नु' ङित् हो गया। तब 'ग्क्ङिति' से सार्वधातुक गुण का निषेध, णत्व इत्यादि होकर 'शृणुत:' रूप सिद्ध हुआ।

५०१. [६]हु-श्नुवो: सार्वधातुके[७] (६/४/८७)

हुश्नुवोरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्योवर्णस्य यण् स्यादचि सार्वधातुके। शृण्वन्ति। शृणोषि, शृणुथ:, शृणुथ शृणोमि।

हु इति— अजादि सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते हु धातु तथा अनेकाच् श्नु प्रत्ययान्त अङ्ग के असंयोगपूर्व उवर्ण को 'यण्' आदेश हो।

प्रथम पुरुष के बहुवचन में 'झि' प्रत्यय होने पर 'शृ श्नु झि' यह स्थिति बन गई। झ को 'अन्त्' आदेश होने पर 'अचिश्नु०' के द्वारा 'उ' को 'उवङ्' आदेश प्राप्त होता है। 'शृ नु' यह अनेकाच् तथा 'श्नु' प्रत्ययान्त अङ्ग है जिसके उकार से पूर्व में संयोग भी नहीं है। अत: असंयोगपूर्व हो गया। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा 'यण्' होकर 'शृण्वन्ति' बना।

श्रु सिप्— यहाँ पूर्ववत् कार्य होगा। तब मूर्धन्य होकर 'शृणोषि' बनेगा।

'थस्' में अपित् सार्वधातुक है। अत: 'अपित् सार्वधातुकम्' के द्वारा ङित्-वत् है। गुण का निषेध होकर 'शृणुथ:' बनेगा।

'श्रु थ' में पूर्ववत् प्रक्रिया होगी। शृणुथ। उत्तम पुरुष में 'शृणोमि', 'शृणुव:' तथा 'शृणुम:' रूप बनेंगे।

५०२. [१]लोपश्चाऽस्या[६]ऽन्यतरस्यां म्वो:[७] (६/४/१०७)

असंयोगपूर्वस्य प्रत्ययोकारम्य लोपो वा म्वो: परयो:। शृण्व:शृणुव: शृण्म:-शृणुम:। शुश्राव, शुश्रुवतु:, शुश्रुवु:। शुश्रोथ, शुश्रुवथु: शुश्रुव। शुश्राव-शुश्रव, शुश्रुव, शुश्रुम। श्रोता। श्रोष्यति। शृणोतु-शृणुतात्, शृणुताम्, शृण्वन्तु।

लोप इति— मकार और वकार परे रहते प्रत्यय के असंयोगपूर्व उकार का विकल्प से लोप हो।

'श्रु वस्' में 'श्नु' तथा 'शृ' होकर 'शृ नु वस्' ऐसी स्थिति हुई। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प से उकार का लोप होकर 'शृण्व:', 'शृणुव:' तथा 'शृण्म:' 'शृणुम:' रूप बने।

लिट् लकार में 'श्रु लिट्' यहाँ तिप्, णल् आदेश, द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर— श्रु तिप्। श्रु णल्। श्रु श्रु णल्। शु श्रु अ— बना। तब वृद्धि तथा आव् आदेश होकर 'शुश्राव' बन गया।

'तस्' प्रत्यय में सभी कार्य पूर्ववत् होंगे। वृद्धि के स्थान पर 'उवङ्' आदेश होगा।

'शुश्रुवतुः'। इसी प्रकार 'झि' प्रत्यय में होगा— तब 'शुश्रुवुः' रूप बनेगा।

'सिप्' का 'थल्' आदेश हुआ। 'थल्' पित् है। अतः 'सार्वधातुकार्ध०' के द्वारा गुण होगा। 'शुश्रोथ'। शेष कार्य पूर्ववत्।

'थस्' तथा 'थ' को क्रमशः 'अथुस्' तथा 'अ' आदेश होंगे। पूर्ववत् क्रिया होगी। गुण का निषेध (अपित् लिट् होने से) होगा। तब 'उवङ्' आदेश होकर 'शुश्रुवथः' तथा 'शुश्रुव' रूप बनेंगे। ध्यान रहे 'कृसृः भृ वृस्तु०' सूत्र में पाठ होने के कारण 'श्रु' धातु को 'थल्', वस् तथा 'मस्' में इट् नहीं होगा।

लुट् में 'श्रोता', लृट् में 'श्रोष्यति', लोट् में 'शृणोतु' बनेगा। पक्ष में 'तातङ्' होगा जो ङित् है। अतः गुण नहीं होगा। शृणुतात्।

लोट् के 'तस्' में अपित् सार्वधातुक होने से गुण निषेध हो गया। शृणुताम्।

'झि' में 'अन्त' आदेश होकर 'शृ श्नु अन्ति' इस स्थिति में 'इको यणचि' से गुण प्राप्त हुआ। जिसे बाध कर 'अचि श्नुधातु०' के द्वारा उवङ् आदेश प्राप्त हुआ। तब 'हुश्नुवोः०' के द्वारा 'यण्' होकर 'शृण्वन्तु' रूप बना।

५०३. उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् (६/४/१०९)

असंयोगपूर्वात् प्रत्ययाद् हेर्लुक्। शृणु, शृणुतात्। शृणुतम्, शृणुत। गुणावादेशौ- शृणवानि, शृणवाव, शृणवाम। अशृणोत्, अशृणुताम्, अशृण्वन्। अशृणोः, अशृणुतम्, अशृणुत। अशृणवम्, अशृण्व-अशृणुव, अशृण्म-अशृणुम। शृणुयात्, शृणुयाताम्, शृणुयुः। शृणुयाः, शृणुयातम्, शृणुयात। शृणुयाम्, शृणुयाव, शृणुयाम। श्रूयात्। अश्रौषीत्। अश्रोष्यत्। गम्लृ गतौ॥ २०॥

उत इति— जिसके पूर्व संयोग नहीं है, ऐसा प्रत्यय का अवयव जो उकार, उससे परे हि का लुक् होता है।

'सिप्' को 'हि' आदेश हुआ। अब 'शृणु' में प्रत्यय का अवयव उकार है तथा इससे पूर्व कोई संयोग भी नहीं है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा 'हि' का लोप होकर 'शृणु' रूप बना। पक्ष में 'शृणुतात्' बन गया।

'तम्' और 'त' में 'शृणुतम्' तथा 'शृणुत' रूप बनेंगे।

'मिप्' को 'मेर्नि' के द्वारा 'नि' आदेश तथा 'आट्' का आगम हुआ। तब 'श्नु' के उकार को गुण होकर— श्रु मिप्। शृ श्नु मिप्। शृ श्नु नि। शृ नो आट् नि। शृणवानि द्विव० तथा बहु० में क्रमशः— शृणवाव। शृणवाम।

अशृणोत्, अशृणोः, शृणवम्— इन तीन रूपों (प्रथम पुरुष एकव०, मध्यम पुरुष एकव० तथा उत्तम पुरुष एकव०) में गुण होता है। अन्यत्र 'सार्वधातुकमपित्' से ङिद्भाव होने के कारण गुण का निषेध होता है। 'अशृण्वन्' में अट्, अन्त आदेश, शृ आदेश, श्नु प्रत्यय, अनुबन्ध लोप तथा 'इतश्च' से इकार लोप, यण् होकर 'अशृण्वन्त्'

बना। संयोगान्त लोप तथा 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' से णत्व हो गया। 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' से यण् होता है। वस् तथा मस् प्रत्यय में लोपश्चान्यतरस्याम्' से उकार का वैकल्पिक लोप होता है। तब दो दो रूप इस प्रकार बनेंगे— अशृण्व, अशृणुवः; अशृण्म, अशृणुम।

वि० लिङ् में सर्वत्र श्नु प्रत्यय तथा 'शृ' आदेश होगा। यासुट् के ङित् होने से श्नु के उकार को गुण नहीं होगा। आशीर्लिङ् में 'अकृत् सार्वधातुकयोः' से दीर्घ होता है। श्रूयात्।

अश्रौषीत् – अ श्रु सिच् ईट त्— लुङ्, अट्, तिप्, इकार लोप, सिच्, ईट्, अनुबन्ध लोप, 'एकाच उपदेशेऽनुदा०' से इट् का निषेध। अश्रौषीत्- 'सिचि वृद्धिः०' से वृद्धि, मूर्धन्य।

लृङ् लकार में स्य तथा गुण होकर 'अश्रोष्यत्' होगा।

'गम्' धातु का अर्थ है— 'जाना'

५०४. [६]**इषु-गमि-यमां छः**[१] (७/३/७७)

एषां छः स्यात् शिति। गच्छति। जगाम।

इष्विति— इष्, गम्, तथा यम् को शित् प्रत्यय परे रहते 'छ' आदेश हो।

'गम्' से लट् स्थानिक 'तिप्' होने पर 'शप्' आया। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा 'छ' आदेश हुआ। 'छे च' के द्वारा तुक् आगम, उसे श्चुत्व होकर 'गच्छति' रूप बना। इसी प्रकार 'गच्छतः' आदि रूप होंगे।

लिट् स्थानिक 'तिप्' में णल्, द्वित्व, अभ्यास कार्य, उपधा वृद्धि होकर 'जगाम' बन गया।

५०५. [६]**गम-हन-जन-खन-घसां लोपः**[१]**क्ङित्यनङि** (६/४/९८)

एषामुपधाया लोपोऽजादौ क्ङिति, न त्वङि। जग्मतुः, जग्मुः। जगमिथ-जगन्थ, जग्मथुः, जग्म। जगाम-जगम, जग्मिव, जग्मिम। गन्ता।

गमहनेति— गम्, हन्, जन् खन् और घस् धातुओं की उपधा का लोप हो, अजादि कित् और ङित् प्रत्यय परे होने पर, परन्तु अङ् परे रहते न हो।

द्विवचन में 'ज गम् अतुस्' इस स्थिति में असंयोगाल्लिट् कित् से अतुस् कित् है। 'गमहनजन०' से उपधा लोप हो गया। जग्मतुः।

इसी प्रकार 'जग्मुः' रूप बना।

'सिप्' प्रत्यय में पूर्ववत् कार्य होकर 'जगम् थल्' यह स्थिति बनी। 'गम्' धातु अनिट् है। अकारवान् भी है। अतः 'एकाच उपदेशेऽनु०' से इट् का निषेध। कृसृभृवृ० से इट् प्राप्त। 'उपदेशेऽत्वतः' से इट् निषेध। 'ऋतो भारद्वाजस्य' से 'थल्' में विकल्प से 'इट्' होगा। इट् पक्ष में 'जगमिथ' बनेगा तथा इट् अभाव में मकार को अनुस्वार, पुनः परसवर्ण होकर 'जगन्थ' रूप बना।

उत्तम के एकवचन में 'णल्' के विकल्प से णित् होने से 'जगाम' तथा 'जगम' दो रूप बनेंगे।

उत्तम के द्विवचन तथा बहुवचन में 'कृसृमृ०' के द्वारा 'इट्' होगा। वस् तथा मस् अपित् सार्वधातुक है। अतः ङिद्वत् होंगे। 'गमहन०' के द्वारा उपधा लोप होगा। जग्मिव। जग्मिम।

लुट् में 'गम्' धातु के अनुदात्त होने से 'एकाच उपदेशेऽनु०' के द्वारा इट् का निषेध होकर 'गन्ता' रूप बनेगा।

५०६. [५]**गमेरिट्**[१] **परस्मैपदेषु**[७] (७/२/५८)

गमेः परस्य सादेरार्धधातुकस्येट् स्यात् परस्मैपदेषु। गमिष्यति। गच्छतु। अगच्छत्। गच्छेत्। गम्यात्।

गमेरिति— परस्मैपद प्रत्यय परे रहते 'गम्' धातु से परवर्त्ती सकारादि आर्धधातुक को 'इट्' हो।

लृट् लकार में 'गम् स्यति' यह स्थिति बनी। 'तिप्' परस्मैपद प्रत्यय है। 'गम्' धातु से परे सकारादि 'स्य' आर्धधातुक है। अतः इसे 'इट्' हुआ। तब मूर्धन्य होकर 'गमिष्यति' रूप बना।

लोट् लकार में 'गच्छतु', लङ् लकार में 'अगच्छत्', विधिलिङ् लकार में 'गच्छेत्' तथा आशीर्लिङ् में 'गम्यात्' बनेगा। सिद्धि अत्यन्त सरल है।

५०७. [५]**पुषादि-द्युतादि-लृदितः परस्मैपदेषु**[७] (३/१/५५)

श्यन्विकरणपुषादेः, द्युतादेः, लृदितश्च परस्य च्लेरङ् परस्मैपदेषु। अगमत्। अगमिष्यत्। इति परस्मैपदिनः।

पुषादीति— परस्मैपद के विषय में पुष् आदि, द्युत् आदि तथा लृदित् धातुओं से परे 'च्लि' को 'अङ्' हो।

अगमत्

गम् तिप्—	लुङ्, तिप् की उत्पत्ति।
अ गम् त्—	अट् आगम, इकार लोप।
अ गम् अङ् त्—	च्लि, 'पुषादि०' से 'अङ्'।
अगमत्—	अनुबन्ध लोप।

अगमिष्यत्

अ गम् त्—	लृङ्, अट् आगम, तिप्, इकार लोप।
अ गम् इ स्य त्—	स्य, 'गमेरिट्' से 'इट्'।
अगमिष्यत्—	मूर्धन्य।

उपसर्ग के योग में—

अनुगच्छति— पीछे चलता है। अवगच्छति— जानता है।
निर्गच्छति— निकलता है। आगच्छति— आता है।
अधिगच्छति— जानता है, प्राप्त करता है। उद्गच्छति— ऊपर को जाता है।

अथ आत्मनेपदिनो धातव:।

एध वृद्धौ॥ १॥

५०८. [६]टित [६]आत्मनेपदानां [६]टेरे (३/४/७९)

टितो लस्यात्मनेपदानां टेरेत्वम्। एधते।

टित इति— टित् लकारों के विषय में आत्मनेपद प्रत्ययों की 'टि' को एकार आदेश हो। जिनका टकार इत् होता है, उन्हें टित् कहते हैं। इस प्रकार लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट् तथा लोट् को टित् लकार कहते हैं।

अब आत्मनेपदी धातु (प्रारम्भ होती) हैं। 'एध' का अर्थ है— वृद्धि।

'एध्' धातु से कर्त्ता अर्थ में लट् के स्थान पर आत्मनेपदसंज्ञक 'त' प्रत्यय आया। एध् का अकार अनुदात्त तथा इत्संज्ञक है। अत: यह आत्मनेपदी धातु है। 'तिङ् शित्०' के द्वारा 'त' की सार्वधातुक संज्ञा हुई। 'शप्' होकर 'एध् शप् त' ऐसी स्थिति बनी। प्रकृत सूत्र के द्वारा एकार आदेश होकर 'एधते' रूप बना।

द्विवचन में आताम्' प्रत्यय हुआ। शप् हुआ। 'आताम्' अपित् है। अत: 'सार्वधातुकम् अपित्' के द्वारा ङिद्वत् हो गया।

५०९. [६]आतो ङित:[६] (७/२/८१)

अत: परस्य ङितामाकारस्य 'इय्' स्यात्। एधेते। एधन्ते।

आत इति— अदन्त अङ्ग से उत्तरवर्त्ती ङित् प्रत्ययों के आकार को 'इय्' आदेश हो।

जिनका ङकार इत् है, उन्हें ङित् कहते हैं। इस प्रकार लङ्, लिङ्, लुङ् तथा लृङ् को ङित् लकार कहते हैं।

'एध् अ आताम्' इस स्थिति में 'आताम्' ङित् प्रत्यय के 'आ' के स्थान पर 'इय्' आदेश हो गया। एध् अ इय्ताम्। 'आद्गुण:' से गुण हुआ। एध् एय्ताम्। 'लोपो व्योर्वलि' के द्वारा यकार का लोप हुआ। एध् एय् ताम्। एधेताम्। तब 'टित आत्मनेपदानाम्०' के द्वारा 'टि' (आम्) को 'ए' होकर 'एधेते' बना।

बहुवचन में पूर्ववत् सभी कार्य होकर 'एधन्ते' रूप बना। सन्दर्भ सूत्र झोऽन्त:। कर्तरि शप्। अतो गुणे। टित आत्मनेपदानां टेरे।

५१०. [६]थास: से[१] (३/४/८०)

टितो लस्य थास: से स्यात्। एधसे। एधेथे, एधध्वे। अतो गुणे-एधे, एधावहे,

एधामहे।

थास इति— टित् लकारों के 'थास्' के स्थान पर 'से' आदेश हो।

अनेकाल् होने के कारण 'से' आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होगा।

'एध्' से लट् स्थानिक 'थास्' करने पर 'शप्' तथा 'थासः से' के द्वारा 'से' आदेश होकर 'एधसे' बन गया।

'एध्' से 'आथाम्' करने पर 'शप्' हुआ, 'आतो ङित:' से 'इय्' आदेश,गुण,यकार का लोप तथा टि को एत्व होकर 'एधेथे' बना।

'एध् ध्वम्' इस स्थिति में शप् तथा 'टि' को एत्व होकर 'एधध्वे' बन गया।

'एध् इट्' यहाँ पूर्ववत् शप्, 'टि' को एत्व तथा 'अतोगुणे' के द्वारा पररूप होता है। एध् इ। एध् शप् ए। एध् अ ए। एधे। इसी प्रकार एधावहे, एधामहे। यहाँ 'अतो दीर्घो०' के द्वारा दीर्घ होता है।

५११. [५]**इजाऽऽदेश्च गुरुमतोऽनृच्छः**[५] (३/१/३६)

इजाऽऽदिर्यो धातुर्गुरुमान् ऋच्छत्यन्यः, तत आम् स्याल्लिटि।

इजिति— 'ऋच्छ्' धातु को छोड़कर गुरु वर्ण वाले इजादि धातु से 'आम्' हो लिट् परे होने पर।

'एध् लिट्' होने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा 'आम्' होगा। 'एध्' इजादि धातु है तथा गुरु वर्ण वाली भी है। 'आमः' से लिट् का लोप हो जायेगा। तब 'कृञ् चानुप्रयुज्यते लिटि' के द्वारा 'कृ' आदि का अनुप्रयोग होगा। 'कृ' की अवस्था में—

एध् लिट्। एध् आम् लिट्। एध् आम्। एधाम् कृ (लादेश)।

५१२. [१]**आम्प्रत्ययवत्** [५]**कृञोऽनुप्रयोगस्य**[६] (१/३/६३)

आम् प्रत्ययो यस्माद् इति-अतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः।

आमिति— जिस (धातु) से 'आम्' प्रत्यय हुआ है, 'आम्' प्रकृतिभूत उस (धातु) के समान अनुप्रयुज्यमान 'कृञ्' से भी (आत्मनेपद) हो।सूत्र में पञ्चम्यर्थ में षष्ठी है। सूत्रस्थ 'वत्' पद 'इव' के अर्थ में आया है। 'आम्प्रत्यय' यह बहुव्रीहि है। यह समास 'अतद्गुण संविज्ञान' है। इसका विग्रह होगा 'आम् प्रत्ययो यस्मात् इति'।

कृञ् धातु उभयपदी है। अतः प्रश्न उठता है। कि लादेश 'तिप्' या 'त' होगा। उसकी यह सूत्र व्यवस्था करता है कि जिस धातु से आम् हुआ है वह धातु जिस पद से सम्बन्ध रखती है, अनुप्रयुज्यमान के साथ भी उसी पद का प्रत्यय होगा। 'आम्' आत्मनेपदी है। अतः 'एधाम्कृ' इस स्थिति में 'त' आया।

५१३. [६]**लिटस्त-झयोरेशिरेच्**[१] (३/४/८१)

लिडादेशयोस्तझयोः 'एश्' 'इरेच्' एतौ स्तः। एधाञ्चक्रे, एधाञ्चक्राते, एधाञ्चक्रिरे। एधाञ्चकृषे, एधञ्चक्राथे—

लिट इति— लिट् के 'त' तथा 'झ' को 'एश्' तथा 'इरेच्' आदेश हों। ये आदेश यथासंख्य होंगे। 'एश्' का शकार इत्संज्ञक है। शित् होने से सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होगा। 'इरेच्' का 'च' इत्संज्ञक है। यह भी अनेकाल् होने से सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होगा।

'एधाम् कृ त' में 'त' को 'एश्' हो गया। तब द्वित्व, अभ्यास कार्य (चुत्व) होकर— एधाम् कृत। एधाम् कृ ए। एधाम् कृ कृ ए। एधाम् कर् कृ ए। एधाम् क कृ ए। एधाम् चकृए। यण् हुआ, मकार को अनुस्वार तथा उसे परसवर्ण हुआ। एधाम् चक्रे। एधां चक्रे। एधाञ्चक्रे।

'एध् आताम्' यहाँ पूर्ववत् सभी कार्य होंगे। 'आताम्' के 'टि' को 'एत्व' होता है। 'एधाञ्चक्राते।

'एध् झ' यहाँ 'लिटस्त०' के स्थान पर 'झ' के द्वारा 'इरेच्' आदेश हुआ। 'आम्, कृ का अनुप्रयोग, अभ्यासकार्य तथा यण् होकर रूप बना— एधाञ्चक्रिरे।

'एध् थास्' यहाँ 'थास: से' के द्वारा 'से' होकर 'एधाञ्चकृषे' बन गया। वलादि आर्धधातुक। 'इट्' का क्रादि नियम से निषेध हो गया।

'एधाञ्चक्राथे' की 'एधाञ्चक्राते' की तरह रूप सिद्धि होगी।

५१४. [५]**इण: षीध्वं-लुङ् लिटां** [६]**धोऽङ्गात्**[५] (८/३/७८)

इण्णन्ताद् अङ्गात् परेषां षीध्वं-लुङ् लिटां धस्य ढ: स्यात्। एधाञ्चकृढ्वे। एधाञ्चक्रे एधाञ्चकृवहे। एधाञ्चकृमहे। एधाम्बभूव। एधामास। एधिता, एधितारौ, एधितार:। एधितासे, एधितासाथे–

इण इति— इण्णन्त अङ्ग से परे षीध्वम्, लुङ् तथा लिट् के धकार के स्थान पर ढकार हो।

'एध्' के मध्यम के बहुवचन में पूर्ववत् कार्य होकर 'एधाञ्चकृध्वम्' ऐसी स्थिति बन गई। तब 'टित आत्मनेपदानां टेरे' के द्वारा एत्व होकर 'एधाञ्चकृध्वे' बना। यहाँ 'एधाञ्चकृ' इण्णन्त अङ्ग है। उससे परे 'ध्वे' का धकार है। अत: प्रकृत सूत्र के द्वारा ढकार होकर 'एधाञ्चकृढ्वे' बन गया।

उत्तम के एकवचन में 'इट्' को 'एत्व' हुआ। यण् होकर 'एधाञ्चक्रे' बना।

उत्तम के द्विवचन तथा बहुवचन में 'कृसृभृवृस्तु०' के द्वारा 'इट्' का निषेध होता है। तब 'टित आत्मनेपदानाम्०' के द्वारा एत्व होकर क्रमश: 'एधाञ्चकृवहे' तथा 'एधाञ्चकृमहे' रूप बनेंगे।

'भू' के अनुप्रयोग पक्ष में 'एधाम्बभूव' तथा 'अस्' के पक्ष में 'एधामास' बनेगा।

लुट् लकार में आर्धधातुक वलादि 'इट्' होकर 'एधिता', 'एधितारौ' तथा 'एधितार:' रूप बनेंगे।

लुट् के मध्यम में 'थास: से' के द्वारा 'से' आदेश तथा 'तासस्त्योर्लोप:' के द्वारा 'तास्' के सकार का लोप होकर 'एधितासे' बनेगा।

'एधितासाथे' पूर्ववत् कार्य होंगे।

५१५. [७]धि च॑ (८/२/२५)

धादौ प्रत्यये परे सस्य लोपः। एधिताध्वे।

धीति— धकारादि प्रत्यय परे रहते सकार का लोप हो।

लुट् के 'ध्वम्' में 'एधितास्ध्वे' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र के द्वारा सकार का लोप होकर 'एधिताध्वे' रूप बना।

५१६. [१]ह एति[७] (७/४/५२)

तासस्त्योः सस्य हः स्याद् एति परे। एधिताहे, एधितास्वहे, एधितास्महे। एधिष्यते, एधिष्येते, एधिष्यन्ते। एधिष्यसे,एधिष्येथे, एधिष्यध्वे। एधिष्ये, एधिष्यावहे, एधिष्यामहे।

ह इति— एकार परे रहते 'तास्' और 'अस्' धातु के सकार को हकार हो।

'एधितास् इट्' इस अवस्था में इकार को एकार हो गया। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा सकार को हकार हो गया। एधिताहे। द्विवचन तथा बहुवचन में 'एधितास्वहे' तथा 'एधितास्महे' रूप बनेंगे।

लृट् लकार में 'त' होने पर 'स्य' प्रत्यय, वलादि आर्धधातुक 'इट्' तथा टि को एकार होकर 'एधिष्यते' बनेगा।

'आताम्' में 'आतो ङितः' के द्वारा 'इय्' आदेश, 'लोपो व्यो॰' के द्वारा यकार लोप तथा शेष कार्य पूर्ववत् होकर 'एधिष्येते' रूप बनेगा। 'झ्' को 'अन्त्' आदेश तथा पूर्ववत् कार्य होकर 'एधिष्यन्ते' बनेगा।

'थास्' में 'से' आदेश होकर 'एधिष्यसे' बनेगा। द्विवचन में सभी कार्य 'एधिष्येते' की तरह होकर 'एधिष्येथे' बनेगा। बहुवचन में 'एधिष्यध्वे' बन गया। उत्तम के एकवचन में 'एधिष्ये' हुआ। द्विवचन तथा बहुवचन में 'अतो दीर्घो यञि' के द्वारा दीर्घ होकर 'एधिष्यावहे' तथा 'एधिष्यामहे' बन गया।

५१७. [१]आमेतः[६] (३/४/९०)

लोट एकारस्याम् स्यात्। एधताम् एधेताम्, एधन्ताम्।

आमीति— लोट् के एकार को 'आम्' हो।

लोट् के 'त' प्रत्यय में 'टि' को एत्व होकर 'एध् शप् ते' बना। तब प्रकृत सूत्र से 'आम्' होकर 'एधताम्' बना। द्विवचन में 'एधेते' इस स्थिति में 'आम्' करने पर 'एधेताम्' रूप बन गया। बहुवचन में पूर्ववत् सभी कार्य होकर 'एधन्ताम्' बन गया।

५१८. [५]स-वाभ्यां वाऽमौ[१] (३/४/९१)

स-वाभ्यां परस्य लोडेतः क्रमाद् वाऽमौ स्तः। एधस्व, एधेथाम्, एधध्वम्।

सवाभ्यामिति— सकार और वकार से परे लोट् के एकार को क्रमशः 'व' तथा 'अम्' आदेश हों।

'एध्' से लोट् स्थानिक 'थास्' होने पर उसे 'से' आदेश किया। एध से। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा सकारोत्तरवर्त्ती एकार को 'व' आदेश हो गया। एधस्व। 'एध् (लोट् स्थानिक) आथाम्' इस स्थिति में टि को 'ए' तथा 'ए' को 'आम्' होकर 'एधेताम्' बन गया। 'एध्' से 'ध्वम्' करने पर 'एधध्वे' बना। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'अम्' होकर 'एधध्वम्' बना।

५१९. [६]एत ऐ[१] (३/४/९३)

लोडुत्तमस्य एत ऐ स्यात्। एधै,, एधावहै, एधामहै। आटश्च-ऐधत, ऐधेताम्, ऐधन्त। ऐधथा:, ऐधेथाम्, ऐधध्वम्। ऐधे, ऐधावहि, ऐधामहि।

एत इति— लोट् के उत्तम के एकार को ऐकार हो

एधै

एध् शप् इट्—	लोट्, इट्, शप्।
एध ए—	एकार।
एध ऐ—	'एत ऐ' से ऐकार आदेश।
एध आ ऐ—	'आडुत्तमस्य पिच्च' से 'आट्'।
एध ऐ—	'आटश्च' से (आ ऐ के मध्य) वृद्धि।
एधै—	'वृद्धिरेचि' से वृद्धि एकादेश।

एधावहै

एध् शप् आट् वहि—	पूर्ववत् शप् आदि, वहिङ् प्रत्यय।
एध आ वहै—	टि को एत्व, 'आमेत:' से 'आम्', 'एत ऐ' ऐत्व।
एधावहै—	सवर्ण दीर्घ।

लङ् में 'आड् अजादीनाम्' से आट् आगम हुआ। 'आटश्च' के द्वारा वृद्धि एकादेश होकर एकवचन में 'ऐधत' बना। सभी कार्य पूर्ववत् होकर द्विवचन में 'ऐधेताम्' बहुवचन में 'ऐधन्त' तथा 'थास्' में 'ऐधथा:' बनेगा। द्विवचन आदि में क्रमश: 'ऐधेथाम्' 'ऐधे', 'ऐधावहि' तथा 'ऐधामहि' बनेंगे।

५२०. [६]लिङ: सीयुट्[१] (३/४/१०२)

(लिङात्मनेपदस्य सीयुडागम: स्यात्।) सलोप: एधेत, एधेयाताम्।

लिङ इति— लिङ् को होने वाले आत्मनेपदी आदेश को 'सीयुट्' आगम हो। इसके टकार तथा उकार इत्संज्ञक हैं। विधिलिङ् में सार्वधातुक संज्ञक होने से 'लिङ: सलोपो०' के द्वारा 'सीयुट्' के सकार का लोप होता है।

'एध्' से लिङ् स्थानिक 'त' तथा शप् हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'सीयुट्' आगम हुआ। एध् अ सीयुट् त। तब सकार का लोप हुआ। एध् अ सीय् त। एध् अ ईय् त। 'लोपो व्योर्वलि' के द्वारा यकार का लोप हुआ। एध् अ ई त। गुण हुआ। एधेत। 'आताम्' में पुन: 'सीयुट्' आगम, उसके सकार का लोप तथा गुण हुआ। एध् शप् सीयुट् आताम्।

एध् अ सीय् आताम्। एध ईयाताम्। एधे याताम्।

५२१. [६]**झस्य रन्**[१] (३/४/१०५)

लिङो झस्य रन् स्यात्। एधेरन्। एधेथाः, एधेयाथाम्, एधेध्वम्।

झस्येति— लिङ् लकार के 'झ' को 'रन्' हो।

'एध् झ'— यहाँ शप्, सीयुट्, झ को 'रन्' आदेश,सीयुट् के सकार का लोप, गुण तथा यकार लोप होकर 'एधेरन्' बनेगा।

मध्यम पु० एकव० में थास्, शप्, सीयुट्, यकार का लोप तथा गुणादेश आदि कार्य होते हैं। यथा— 'एध् थास्। एध् शप् थास्। एध्अ सीयुट् थास्। एध ईय् थास्। एध ई थास् एधेथास्। एधेथाः।

इसी प्रकार 'एधेध्वम्' होगा।

५२२. [६]**इटोऽत्**[१] (३/४/१०६)

लिङादेशस्य इटोऽत् स्यात्। एधेय, एधेवहि, एधेमहि।

इट इति— लिङ् के 'इट्' को 'अत्' आदेश हो। 'अत्' का तकार इत्संज्ञक है।

'एध् शप् सीयुट् इट्' इस स्थिति में सकार लोप, इट् को अत् आदेश तथा गुण करने पर— एध् अ सीयुट् इट्। एध् अ ईय् इट्। एध ईय् अत्। एध ईय। एधेय। द्विवचन में यकार लोप होकर 'एधेवहि' बन गया। इसी प्रकार 'एधेमहि' बना।

५२३. [१]**सुट् तिथोः**[६] (३/४/१०७)

लिङस्तथोः सुट्। यलोपः। आर्धधातुकत्वात् सलोपो न। एधिषीष्ट, एधिषीयास्ताम्, एधिषीरन् एधिषीष्ठाः, एधिषीयास्थाम्, एधिषीध्वम्। एधीषीय, एधिषीवहि, एधिषीमहि। ऐधिष्ट, ऐधिषाताम्–

सुडिति— लिङ् में तकार और थकार को 'सुट्' आगम होता है।

य लोप इति— 'सुट्' आगम होने से यकार का लोप होगा तथा आर्धधातुक होने से सलोप न होगा।

आशीर्लिङ् में 'एध् त'— यहाँ 'सीयुट्' आगम, उसे आर्धधातुक इट् आगम तथा आर्धधातुक होने से 'लिङः सलोपो०' की प्रवृत्ति न होने से सलोप का अभाव होता है। एध् इट् सीयुट् त। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा 'सुट्' आगम हुआ। 'लोपो व्य०' के द्वारा यकार का लोप हुआ। प्रत्यय के अवयव स्वरूप दोनों सकारों को मूर्धन्य आदेश तथा ष्टुत्व हो गया। एध् इ सीय् सुट् त। एध् इ सी स् त। एधि षीष् त। एधिषीष्ट।

'आताम्' में पूर्ववत् कार्य होकर 'एधिषीयास्ताम्' तथा 'झ' में 'रन्' होकर 'एधिषीरन्' बन गया।

'एध् थास्' यहाँ पूर्ववत् कार्य होकर 'थास्' के थकार को 'सुट्' आगम, मूर्धन्य आदेश तथा ष्टुत्व होकर 'एधिषीष्ठाः' बना।

'एध् इट् सीयुट् ध्वम्' यहाँ 'इट्' (इण्) से परे 'षीध्वम्' है, परन्तु अङ्ग इण्णन्त नहीं है। क्योंकि इट् आगम 'सीयुट्' को हुआ है। अतः उसी का अवयव माना जायेगा। यहाँ वस्तुतः 'एध्' अङ्ग है तथा उस से परे 'इषीध्वम्' है। अतः 'इणः षीध्वम्०' की प्रवृत्ति नहीं होगी। तब 'एधिषीध्वम्' होगा।

उ० पु० एक० में— एध् इट्। एध् सीयुट् इट्। एध् इट् सीय् इ। एध् इ सीय् अ। एधिषीय।

द्विवचन में— एध् वहिङ्। एध् सीयुट् वहि। एध् इट् सीय् वहि। एधि सी वहि। एधिषीवह। इसी प्रकार 'एधिषीमहि' होगा।

लुङ् लकार में आट् आगम, वृद्धि, 'त' लादेश, च्लि, उसे 'सिच्' आदेश, इट् आगम, षत्व, तथा ष्टुत्व होकर 'ऐधिष्ट' होगा।

'एध् आताम्' में पूर्ववत् कार्य होकर 'ऐधिषाताम्' बनेगा।

५२४. [७]**आत्मनेपदेष्वनतः**[५] (७/१/५)

अनकारात् परस्यात्मनेपदेषु झस्य 'अत्' इत्यादेशः स्यात्। ऐधिषत। ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम्,ऐधिढ्वम्। ऐधिषि, ऐधिष्वहि,ऐधिष्महि। ऐधिष्यत ऐधिष्येताम्, ऐधिष्यन्त। ऐधिष्यथाः, ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम्। ऐधिष्ये, ऐधिष्यावहि, ऐधिष्यामहि। कमु कान्तौ॥ २॥

आत्मने० इति— अकार को छोड़कर शेष किसी वर्ण से पर आत्मनेपद में 'झ्' को 'अत्' आदेश हो।

'एध् झ'— यहाँ आट् आगम, वृद्धि आदेश, च्लि, सिच्, इट्, 'झ्' को अत् आदेश आदि कार्य होंगे। प्रक्रिया निम्नलिखित अनुसार है—

एध् झ। आट् एध् झ। आट् एध् च्लि झ। ऐध् सिच् झ। ऐध् इट् सिच् झ। ऐध् इ स् झ। ऐधि स् अत् अ। ऐधिषत।

ऐधिष्ठाः— एध् से लुङ्, आट्, वृद्धि, च्लि, सिच्, थास्, इट्, षत्व और ष्टुत्व (ठकार) होकर यह रूप सिद्ध होता है।

ऐधिढ्वम्— एध् से लुङ्, आट्, वृद्धि, ध्वम्, च्लि, सिच्, इट्, सलोप और ढत्व होकर रूप सिद्ध होता है। 'धिच' सूत्र के द्वारा सकार का लोप हो जायेगा तथा 'इणः षीध्वम्०' के द्वारा 'ढत्व' हो जायेगा। उत्तम पुरुष में 'ऐधिषि', 'ऐधिष्वहि' तथा 'ऐधिष्महि' रूप बनेंगे।

लृङ् लकार में आट् आगम, स्य प्रत्यय तथा इट् आगम होकर रूप बनेंगे। सभी रूप मूल में दिखाए गए हैं।

कमु धातु का अर्थ है— इच्छा करना।

५२५. [५]**कमेर्णिङ्**[१] (३/१/३०)

स्वार्थे। ङित्वात् तङ्-कामयते।

कमेरिति— 'कम्' धातु से स्वार्थ में 'णिङ्' हो।

चूँकि 'णिङ्' स्वार्थ में होता है। अतः प्रकृति के अर्थ में कोई परिवर्त्तन नहीं होता है। 'णिङ्' के 'ण' तथा 'ङ्' की इत्संज्ञा होती है।

कम् णिङ्। क म् इ। कामि। 'अत उपधायाः' से उपधा वृद्धि हो गई। तब 'सनाद्यन्ताः धातवः' के द्वारा 'कामि' की धातु संज्ञा हो गई। लकार की उत्पत्ति हुई। ङित् होने से 'अनुदात्तङित०' सूत्र के द्वारा आत्मनेपद, लादेश होंगे। कामि त। कामि शप् त। कामे अ त। कामयत। कामयते।

आगे भी इसी प्रकार रूप बनते हैं— कामयते, कामयेते, कामयन्ते। कामयसे, कामयेथे,कामयध्वे। कामये, कामयावहे, कामयामहे।

५२६. [१]**अय् आमन्ताऽऽल्वाऽऽय्येत्न्विष्णुषु**[७] (६/४/५५)

आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु-एषु णेरयादेशः स्यात्। कामयाञ्चक्रे। 'आयादयः' इति णिङ् वा-चकमे चकमाते, चकमिरे। चकमिषे, चकमाथे, चकमिध्वे। चकमे, चकमिवहे, चकमिमहे। कामयिता, कमिता, कामयितासे। कामयिष्यते, कमिष्यते। कामयताम्। अकामयत। कामयिषीष्ट। कमिषीष्ट।

अय् इति— आम्, अन्त,आलु, आय्य, इत्नु, और इष्णु इन प्रत्ययों के परे रहते 'णि' को 'अय्' आदेश हो।

'कम् णिङ्' से लिट् लकार में 'आम्' होकर प्रकृत सूत्र के द्वारा 'अय्' आदेश हो गया।

कामि आम्— कामयाम्। 'कृ' के अनुप्रयोग की अवस्था में 'कामयाञ्चक्रे' रूप बनेगा। शेष कार्य 'एधाञ्चक्रे' की तरह समझें। यथा—

कामयाञ्चक्रे,	कामयाञ्चक्राते,	कामयाञ्चक्रिरे।
कामयाञ्चकृषे,	कामयाञ्चक्राथे,	कामयाञ्चकृढ्वे।
कामयाञ्चक्रे,	कामयाञ्चकृवहे,	कामयाञ्चकृमहे।

'आयादय आर्धधातुके वा' सूत्र के द्वारा 'णिङ्' विकल्प से होगा। तब 'णिङ्' अभाव पक्ष में—

'कम् त' यहाँ द्वित्व, अभ्यास कार्य, एकार आदेश होकर 'चकमे' बन गया। 'चकमाते' इत्यादि की सिद्धि 'चकमे' की तरह समझें। थास्, ध्वम्, वहिङ् तथा महिङ् प्रत्ययों में वलादि आर्धधातुक 'इट्' होगा।

लुट् लकार में 'णिङ्' पक्ष में 'कामयिता' तथा अभाव पक्ष में 'कमिता' बनेगा। लुट् के 'थास्' में 'कामयितासे' बनेगा।

लृट् लकार में 'कामयिष्यते' बनेगा। 'णिङ्' अभाव पक्ष में 'कमिष्यते' होगा।

लोट् में 'कामयताम्' तथा लङ् में 'अकामयत' बनेगा। लिङ् में 'कामयेत' होगा।

आशीर्लिङ् में 'कामयिषीष्ट' बनेगा। उक्त सभी रूपों की प्रक्रिया 'एध्' की तरह जानें।

५२७. विभॉषेट:[५] (८/३/७९)

इण: परो य इट् तत: परेषां षीध्वं-लुङ्-लिटां धस्य वा ढ। कामयिषीढ्वम्, कामयिषीध्वम्। कमिषीष्ट, कमिषीध्वम्।

विभाषेति— 'इण्' से उत्तरवर्ती 'इट्' से पर षीध्वम्, लुङ् तथा लिट् के धकार को विकल्प से ढकार आदेश होता है।

आशीर्लिङ् में 'णिङ्' पक्ष में 'ध्वम्' करने पर— कम् णिङ् ध्वम्— काम् इध्वम्-कामि सीयुट् ध्वम्--कामि इट् सीय् ध्वम्-कामे इ सीय् ध्वम्-कामय् इषी ध्वम्। इस स्थिति में इण् (यकार) से परे इट् है तथा उससे परे 'षीध्वम्' के धकार को विकल्प से ढकार होकर 'कामयिषीढ्वम्' तथा 'कामयिषीध्वम्' ये दो रूप बनेंगे।

'णिङ्' के अभाव पक्ष में 'एध्' की तरह 'कमिषीष्ट' बनेगा। 'कमिषीध्वम्' में ढकार आदेश नहीं होगा।

५२८. [५]णि-श्रि-द्रु-स्रुभ्य: कर्तरि[७] चङ् (३/१/४८)

ण्यन्तात् श्र्यादिभ्यश्च च्लेश्चङ् स्यात् कर्त्रर्थे लुङि परे। 'कामि अ त' इति स्थिते।

णीति— कर्तृवाचक लुङ् परे रहते ण्यन्त, श्रि, द्रु तथा स्रु धातु से परे 'च्लि' को 'चङ्' हो।

५२९. [६]णेरनिटि[७] (६/४/५१)

अनिडादावार्धधातुके परे णेर्लोप: स्यात्।

णेरिति— 'इट्' जिसके आदि में नहीं है, ऐसे आर्धधातुक परे रहते 'णि' का लोप होता है।

५३०. [७]णौ [७]चङ्युपधाया [६]ह्रस्व:[१] (७/४/१)

चङ्परे णौ यदङ्गम्, तस्योपधाया ह्रस्व: स्यात्।

णाविति— चङ् परक 'णि' के परे रहते 'अङ्ग' की उपधा को ह्रस्व हो।

५३१. [७]चङि (६/१/११)

चङि परे अनभ्यासस्य धात्ववयवस्यैकाच: प्रथमस्य द्वे स्त: अजादेर्द्वितीयस्य।

चङीति— चङ् के परे रहते अभ्यास रहित धातु के अवयव एकाच् को द्वित्व हो। अजादि धातु के द्वितीय एकाच् को (द्वित्व) हो।

५३२. [१]सन्वत्[७] लघुनि चङ् परेऽनग्लोपे[७] (७/४/९३)

चङ्परे णौ यदङ्गम्, तस्य योऽभ्यासो लघुपर:, तस्य सनीव कार्यं स्यात्, णावग्लोपेऽसति।

सन्वदिति— यदि 'णि' परे रहते 'अक्' का लोप न हुआ हो तो जिसके आगे 'चङ्' हो ऐसा 'णि' परे होने पर अङ्ग के अवयव स्वरूप अभ्यास को जिसससे परे लघु वर्ण हो,

सन् परे रहने के समान कार्य होता है।

५३३. [७]सन्यतः[१] (७/४/७९)

अभ्यासस्यात इत् स्यात् सनि।

सनीति— सन् परे रहते अभ्यास के अकार को इकार होता है।

५३४. [१]दीर्घो लघोः (७/४/९४)

लघोरभ्यासस्य दीर्घः स्यात् सन्वद्भावविषये। अचीकमत। णिङभावपक्षे—

(वा०) कमेश्च्लेश्चङ् वाच्यः। अचकमत। अकामयिष्यत। अकमिष्यत। अय गतौ॥ ३॥ अयते।

दीर्घ इति— सन्वद्भाव के विषय में अभ्यास के लघु वर्ण को दीर्घ हो।

लुङ् में अट्, णिङ्, च्लि होकर 'अकाम् इ च्लि त' इस अवस्था में 'च्लि' को 'चङ्' हो गया। 'ङ्' तथा 'च्' इत्संज्ञक हैं। चङ् की आर्धधातुक संज्ञा है। अ काम् इ चङ् त।

अ काम् इ चङ् त—	इस अवस्था में एरनेकाच० को बाधकर 'णेरनिटि' से णि लोप।
अ कम् कम् अ त—	अनुबन्ध लोप, उपधा ह्रस्व, व्यपदेशिवद्भाव से धातु के अवयव प्रथम एकाच् 'कम्' को द्वित्व हो गया।
अ च कम् अ त—	हलादि शेष, चुत्व।
अ च कम् अ त—	(स्थानिवद्भाव से चङ् परक 'णि' है। इसके परे रहते 'अचकम्' यह अङ्ग है। इसका अवयवस्वरूप तथा अभ्यास संज्ञक अंश 'च' है। अतः इसे 'सन्वत् लघुनि०' से सन्वद्भाव हुआ।
अ चि कम् अत—	'सन्यतः' से अकार के स्थान पर इकार।
अचीकमत—	'दीर्घो लघोः' से दीर्घ।

'णिङ्' के अभाव पक्ष में 'चङ्' होगा। तब पूर्ववत् द्वित्व तथा अभ्यास कार्य करके 'अचकमत' रूप बना।

अचीकमत, अचीकमेताम्, अचीकमन्त। अचीकमथाः, अचीकमेथाम्, अचीकमध्वम्। अचीकमे, अचीकमावहि, अचीकमामहि।

णिङ् के अभावपक्ष में—

(वा०) कमेरिति— कम् धातु से परे 'च्लि' को चङ् हो।

'अ कम् च्लि त'— यहाँ प्रकृत वार्तिक से चङ् हुआ। अ कम् चङ् त। द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर 'अचकमत' बना।

लृङ् लकार में 'णिङ्' पक्ष में 'अकामयिष्यत' तथा अभाव पक्ष में 'अकमिष्यत' रूप बनेंगे।

अय् धातु का अर्थ है— जाना। लट् लकार में शप् करके 'अयते' रूप बनेगा।

५३५. [६]उपसर्गस्याऽयतौ[७] (७/२/१९)

अयतिपरस्योपसर्गस्य यो रेफः, तस्य लत्वं स्यात्। प्लायते। पलायते।

उपसर्गस्येति— 'अय्' धातु के परे रहते उपसर्ग के रेफ को लकार हो।

'अय्' के साथ 'प्र' तथा 'परा' का योग होने पर इनके रेफ के स्थान पर लकार हो जाता है। यथा— प्र अयते— प्रायते > प्लायते (भागता है)।

परा अयते— परायते > पलायते (भागता है)।

५३६. [५]दयाऽयाऽऽसश्च (३/१/३७)

दय्, अय्, आस् एभ्य आम् स्यात् लिटि। अयाञ्चक्रे। अयिता। अयिष्यते। अयताम्। आयत। अयेत। अयिषीष्ट। विभाषेटः। अयिषीढ्वम् अयिषीध्वम्। आयिष्ट। आयिढ्वम्, आयिध्वम्। आयिष्यत। द्युत दीप्तौ। द्योतते।

दयेति— लिट् परे रहते दय्, अय् तथा आस् धातुओं को 'आम्' हो।

'अय्' से प्रकृत सूत्र के द्वारा 'आम्' होकर लिट् का लोप हो गया। 'कृ' का अनुप्रयोग हुआ 'त' को 'एश्' आदेश होकर 'अयाञ्चक्रे' बना।

'भू' के अनुप्रयोग के पक्ष में 'अयाम्बभूव' बना तथा 'अस्' के प्रयोग में 'अयामास' बनता है।

'अय्' से लुट् में 'इट्' होकर 'अयिता' बनेगा। 'तास्' की 'टि' का लोप हो होगा।

लृट् लकार में स्य, इट्, टि को एत्व आदि होकर 'अयिष्यते' बन गया।

लोट् में टि को एत्व, पुनः 'आमेतः' के द्वारा 'आम्' आदेश होकर 'अयताम्' बना।

लङ् में आट्, शप्, वृद्धि आदि होकर 'आयत' बनेगा।

लिङ् लकार में शप्, सीयुट्, सकार का (सार्वधातुक में) लोप, गुण, यकार लोप होकर 'अयेत' बना।

आशीर्लिङ् में सीयुट्, इट्, सुट् आगम तथा दो बार मूर्धन्य आदेश, ष्टुत्व आदि होकर— अय् त। अय् सीयुट् त। अय् इट् सीय् त। अय् इ सीय् सुट् त। अयि सीय् स् त। अयिसी स् त। अयि षीष् त। अयिषीष्ट। रूप बना।

आशीर्लिङ् में 'ध्वम्' में 'विभाषेटः' के द्वारा विकल्प से ढत्व होकर 'अयिषी ढ्वम्' तथा 'अयिषीध्वम्' दो रूप बनेंगे। लुङ् प्रथम एकव० में 'आयिष्ट' बनेगा। इसी प्रकार लुङ् में 'आयिढ्वम्' तथा 'आयिध्वम्' बनेंगे।

नीचे अभ्यास के लिए सम्पूर्ण रूप दिखाए गए हैं।

लुट्— प्र० अयिता, अयितारौ, अयितारः। म०— अयितासे, अयितासाथे, अयिताध्वे। उ०— अयिताहे, अयितास्वहे, अयितास्महे।

लोट्— प्र०— अयताम्, अयेताम्, अयन्ताम्। म०— अयस्व, अयेथाम्, अयध्वम्।

उ०— अयै, अयावहै, अयामहै।

लङ्— प्र०— आयत, आयेताम्, आयन्त। म०— आयथाः, आयेथाम् आयध्वम् उ०— आये,आयावहि, आयामहि।

विधिलिङ्— प्र०— अयेत, अयेयाताम्, अयेरन्। म०— अयेथाः, अयेयाथाम्, अयेध्वम्। उ०— अयेय, अयेवहि, अयेमहि।

आशीर्लिङ्— प्र०— अयिषीष्ट, अयिषीयास्ताम्, अयिषीरन्। म०— अयिषीष्ठाः, अयिषीयास्थाम्, अयीषीढ्वम् अयिषीध्वम्। उ०— अयिषीय, अयीषीवहि, अयिषीमहि।

लुङ्— प्र०— आयिष्ट, आयिषाताम्, आयिषत। म०— आयिष्ठाः, आयिषाथाम्, आयिढ्वम्, आयिध्वम्। उ०— आयिषि, आयिष्वहि, आयिष्महि।

द्युत्— चमकना।

'द्युत्' से लट् में 'त' करने पर शप्, उपधा को गुण होकर 'द्योतते' बन गया।

५३७. [६]**द्युति-स्वाप्योः संप्रसारणम्**[१] (७/४/६७)

अनयोः अभ्यासस्य सम्प्रसारणं स्यात्। दिद्युते।

द्युतीति— द्युत् और स्वप् धातु के अभ्यास को सम्प्रसारण हो।

लिट् में द्वित्व होकर प्रकृत सूत्र के द्वारा (अभ्यास के) यकार को सम्प्रसारण हो गया।

द्युत् द्युत् ए। द्यु द्युत् ए। दि उ द्युत् ए। तब 'सम्प्रसारणाच्च' के द्वारा पूर्वरूप होकर 'दिद्युते' बन गया।

शेष रूप निम्नप्रकार होंगे।

प्र०— दिद्युते, दिद्युताते, दिद्युतिरे। म०— दिद्युतिषे, दिद्युताथे, दिद्युतिध्वे। उ०— दिद्युते, दिद्युतिवहे, दिद्युतिमहे।

लुट्— द्योतिता। लृट्— द्योतिष्यते। लोट्— द्योतताम्। लङ् अद्योतत। विधिलिङ्— द्योतेत। आशीर्लिङ्— द्योतिषीष्ट।

५३८. [५]**द्युद्भ्यो लुङि**[७] (१/३/९१)

द्युतादिभ्यो लुङ् परस्मैपदं वा स्यात् लुङि 'पुषादि०' इत्यङ्-अद्युतत्, अद्योतिष्ट। अद्योतिष्यत। एवम्- श्विता वर्णे॥५॥ ञिमिदा स्नेहने॥६॥ ञिष्विदा स्नेहन-मोचनयोः॥७॥ 'मोहनयोः' इत्येके। 'ञिक्ष्विदा' चेत्येके। रुच दीप्तौ, अभिप्रीतौ च॥८॥ घुट परिवर्तने॥९॥ शुभ दीप्तौ॥१०॥ क्षुभ संचलने॥११॥ णभ हिंसायाम्॥१२॥ तुभ हिंसायाम्॥१३॥ स्रंसु॥१४॥ भ्रंसु॥१५॥ ध्वंसु अवस्रंसने॥१६॥ ध्वंसु गतौ च॥१७॥ स्रम्भु विश्वासे॥१८॥ वृतु वर्तने॥१९॥ वर्तते। ववृते। वर्तिथा।

द्युद्भ्य इति— द्युत् आदि धातुओं से लुङ् में विकल्प से परस्मैपद होता है।

'द्युत्' से लुङ् स्थानिक परस्मै० का 'तिप्' होने पर अट्, इकार लोप, च्लि तथा च्लि को 'पुषादि०' के द्वारा 'अङ्' आदेश हो गया। अद्युत् च्लि > अङ् त्। तब ङित् होने से गुण निषेध हो गया। अद्युतत्।

पक्ष में आत्मनेपद का 'त' प्रत्यय हुआ। तब अट्, सिच् आदेश, इट् आदि होते हैं। अद्योतिष्ट।

प्र० अद्योतिष्ट, अद्योतिषाताम्, अद्योतिषत। म० अद्योतिष्ठा:, अद्योतिषाथाम्, अद्योतिध्वम्। उ० अद्योतिषि, अद्योतिष्वहि, अद्योतिष्महि।

एवमिति— द्युतादिगण में १४ धातुएँ हैं। इन के रूप द्युत् के समान ही बनते हैं। सुविधा के लिये यहाँ इनके आवश्यक रूप दिये जाते हैं।

५. श्विता (रंग में रंगना) श्वेतते। शिश्विते। श्वेतिता। श्वेतिष्यते। श्वेतताम्। अश्वेतत। श्वेतेत। श्वेतिषीष्ट। अश्वितत, अश्वेतिष्ट। अश्वेतिष्यत।

६. मिद् (चिकना होना)— मेद्यते। मिमिदे। मेदिता। मेदिष्यते। मेदताम्। अमेदत। मेदेत। मेदिषीष्ट। अमिदत्, अमेदिष्ट। अमेदिष्यत।

७. स्विद् (पसीना होना, छोड़ना)— स्वेदते। सिष्विदे। स्वेदिता। स्वेदिष्यते। स्वेदताम्। अस्वेदत। स्वेदिषीष्ट। अस्विदत्, अस्वेदिष्ट। अस्वेदिष्यत।

मोहनयोरिति— कुछ विद्वान् इसका अर्थ 'मोहित होना' कहते हैं।

ञिक्ष्विदा इति— कोई 'ञिष्विदा' के स्थान पर 'ञिक्ष्विदा' पाठ बताते हैं।

८. रुच् (चमकना, पसन्द आना)— रोचते। रुरुचे। रोचिता। रोचिष्यते। रोचताम्। अरोचत। रोचेत। रोचिषीष्ट। अरुचत् अरोचिष्ट। अरोचिष्यत।

९. घुट् (घोंटना)— घोटते। जुघुटे। घोटिता। घोटिष्यते। घोटताम्। अघोटत। घोटेत। घोटिषीष्ट। अघुटत्, अघोटिष्ट। अघोटिष्यत।

१०. शुभ् (शोभा होना)— शोभते। शुशुभे। शोभिता। शोभिष्यते। शोभताम्। शोभेत। शोभिषीष्ट। अशुभत्, अशोभिष्ट। अशोभिष्यत।

११. क्षुभ् (व्याकुल होना)— क्षोभते। चुक्षुभे। क्षोभिता। क्षोभिष्यते। क्षोभताम्। क्षोभेत। क्षोभिषीष्ट। अक्षुभत्। अक्षोभिष्ट। अक्षोभिष्यत।

१२. णभ (हिंसा करना)— नभते। नेभे। नेभिता। नभिष्यते। नभताम्। अनभत। नभेत। नभिषीष्ट। अनभत्, अनभिष्ट। अनभिष्यत।

१३. तुभ (हिंसा करना)— तोभते। तुतुभे। तोभिता। तोभिष्यतिं। तोभताम्। अतोभत। तोभेत। तोभिषीष्ट। अतुभत। अतोभिष्ट। अतोभिष्यत।

१४. स्रंसु (गिरना)— स्रंसते। सस्रंसे। स्रंसिता। स्रंसिष्यते। स्रंसताम्। अस्रंसत स्रंसेत। स्रंसिषीष्ट। अस्रसत्, अस्रंसिष्ट। अस्रंसिष्यत।

१५. भ्रंसु (गिरना)— भ्रंसते। बभ्रंसे। भ्रंसिता। भ्रंसिष्यते। भ्रंसताम्। अभ्रंसत।

भ्रंसेत। अभ्रसत्, अभ्रंसिष्ट। अंभ्रसिष्यत।

१६. ध्वंस् (नाश होना)— ध्वंसते। दध्वंसे। ध्वंसिता। ध्वंसिष्यते। ध्वंसताम्। अध्वंसत। ध्वंसेत। ध्वंसिषीष्टा। अध्वसत्, अध्वंसिष्ट। अध्वंसिष्यत।

१७. ध्वंसु का अर्थ 'जाना' भी है।

१८. स्रम्भ (विश्वास करना)— स्रम्भते। सस्रम्भे। स्रम्भिता। स्रम्भिष्यते।स्रम्भताम्। अस्रम्भत। स्रम्भेत। स्रम्भिषीष्ट। अस्रभत्, अस्रम्भिष्ट। अस्रम्भिष्यत।

स्रम्भ् धातु के साथ प्राय: 'वि' उपसर्ग रहता है।

'वृतु' का अर्थ है— होना।

वृत् से लट् लकार में 'त' होने पर शप् लघूपध गुण तथा 'टि' को एत्व होकर 'वर्तते' रूप बना।

'वृत्' लिट्— यहाँ द्वित्व, अभ्यास कार्य होते हैं। व वृत् त। 'त' प्रत्यय को 'एश्' आदेश होता है। 'ऋदुपदेभ्य: लिट: कित्वं गुणात्पूर्व विप्रतिषेधेन' वार्तिक के द्वारा लिट् कित् हो गया। तब 'क्ङिति च' के द्वारा गुण का निषेध हो गया। व वृत् एश्। व वृते।

लुट् में इट् व गुण होकर 'वर्तिथा' बना।

५३९. [५]**वृद्भ्य: स्य-सनो:**[७] **(१/३/९२)**

वृतादिभ्य: पञ्चभ्यो वा परस्मैपदं स्यात् स्ये सनि च।

वृद्भ्य इति— स्य तथा सन् के विषय में 'वृत्' आदि धातुओ से विकल्प से परस्मैपद हो।

५४०. **नॅ वृद्भ्यश्चतुर्भ्य:**[५] **(७/२/५९)**

वृतु-वृधु-शृधु-स्यन्दूभ्य: सकारादेरार्धधातुकस्येण् न स्यात्, तङानयोरभावे। वर्त्स्यति, वर्तिष्यते। वर्तताम्। अवर्तत। वर्तेत।वर्तिषीष्ट। अवृतत् अवर्तिष्ट। अवर्त्स्यत्, अवर्तिष्यत। दद दाने॥ २०॥ ददते।

नेति— वृत्, वृध्, शृध् तथा स्यन्द धातुओं से परवर्त्ती सकारादि आर्धधातुक 'इट्' आगम नहीं होता। यह तङ् तथा आन (शानच्, कानच्) के अभाव में हो।

'वृत्' से लृट् स्थानिक 'त' प्रत्यय आया। तब स्य, इट् तथा गुण होकर 'वर्तिष्यते' बना।

'वृद्भ्य: स्यसनो:' के द्वारा पक्ष में परस्मैपद का 'तिप्' हुआ। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा 'इट्' का निषेध, गुण होकर 'वर्त्स्यति' बना।

लोट् में 'वर्तताम्', लङ् में 'अवर्तत', विधिलिङ् में 'वर्तेत' तथा आशीर्लिङ् में 'वर्तिषीष्ट' रूप होंगे। लुङ् में 'अवर्तिष्ट' बना।

लृङ् लकार में 'स्य' आने के कारण विकल्प से परस्मैपद होगा। तब दो रूप बनेंगे। यथा— अवर्त्स्यत् तथा अवर्तिष्यत। परस्मैपद में प्रकत सूत्र के द्वारा इट् का निषेध होगा।

उपसर्ग के योग में—

प्रवर्तते =	प्रवृत्त होता है।	परावर्तते =	लौटता है।
अनुवर्तते =	पीछे चलता है।	निर्वर्तते =	समाप्त करता है।
विवर्तते =	बदलता है।	परिवर्तते =	बदलता है।
आवर्तते =	आवृत्ति होती है।	निवर्तते =	लौटता है।
प्रत्यावर्तते =	लौटता है।		

दद अर्थात् देना।

लट् लकार में 'शप्' होकर 'ददते' बना।

५४१. नँ शस-दद-वाऽऽदि-गुणानाम्[६] (६/४/१२६)

शसेर्ददेर्वकारादीनां गुणशब्देन विहितो योऽकारः, तस्य च एत्वाभ्यासलोपौ न। ददते, दददाते, दददिरे। ददिता। ददिष्यते। ददताम्। अददत। ददेत। ददिषीष्ट। अददिष्ट। अददिष्यत। त्रपूष् लज्जायाम्॥२१॥ त्रपते।

नेति— शस्, दद्, वकारादि धातुओं को तथा गुण शब्द से विहित जो अकार उसके स्थान पर एत्व तथा अभ्यास का लोप नहीं होता है।

'दद्' से लिट् स्थानिक 'त' होने पर द्वित्व आदि हुआ। तब 'अत एकहल्मध्ये०' के द्वारा एत्व और अभ्यास लोप प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा इसका बाध हो गया। तब 'त' को 'एश्' आदेश होकर 'ददद' रूप बना।

द्विवचन तथा बहुवचन में क्रमशः 'दददाते' तथा 'दददिरे' रूप बनेंगे।

लुट् आदि में रूप सिद्धि साधारण हैं। अतः पूर्ववत् प्रक्रिया समझें।

त्रपूष् का अर्थ है— लज्जित होना।

५४२. तॄ-फल-भज-त्रपश्चँ (६/४/१२२)

एषामत एत्वमभ्यासलोपश्च स्यात् किति लिटि सेटि थलि च। त्रेपे। त्रपिता, त्रप्ता। त्रपिष्यते, त्रप्स्यते। त्रपताम्। अत्रपत। त्रपेत। त्रपिषीष्ट, त्रप्सीष्ट। अत्रपिष्ट, अत्रप्त। अत्रपिष्यत, अत्रप्स्यत। इत्यात्मनेपदिनः।

अथ उभयपदिनः।

श्रिञ् सेवायाम्॥१॥ श्रयति, श्रयते। शिश्राय, शिश्रिये। श्रयिता। श्रयिष्यति, श्रयिष्यते। श्रयतु, श्रयताम्। अश्रयत्, अश्रयत। श्रयेत्, श्रयेत, श्रीयात्, श्रयिषीष्ट। चङ्— अशिश्रियत्, अशिश्रियत। अश्रयिष्यत्, अश्रयिष्यत। भृञ् भरणे॥२॥ भरति, भरते। बभार, बभ्रतुः, बभ्रुः, बभर्थ, बभृव, बभृम। बभ्रे, बभृषे। भर्तासि। भर्तासे। भरिष्यति, भरिष्यते। भरतु, भरताम्। अभरत्, अभरत। भरेत्, भरेत।

तॄ इति— कित् लिट् और सेट् थल् परे होने पर तॄ, फल्, भज् और त्रप् के अकार को एत्व हो तथा अभ्यास लोप भी हो।

त्रप् त। त्रप् त्रप् ए। त्रेप् ए। त्रेपे। इसी प्रकार 'त्रेपाते', 'त्रेपिरे' इत्यादि।

लुट् में विकल्प से 'इट्' होगा। त्रपिता। इट् अभाव में 'त्रप्ता' बनेगा। लृट् में भी दो रूप होंगे। त्रपिष्यते, त्रप्स्यते। लोट् में त्रपताम्। लङ् में 'अत्रपत'।

वि० लिङ् में 'त्रपेत'। आशीर्लिङ् में 'इट्' पक्ष में 'त्रपिषीष्ट' तथा पक्ष में 'त्रप्सीष्ट'।

आत्मने पदी धातु समाप्त हुए। अब **उभयपदी धातु** प्रारम्भ होते हैं।

श्रिञ्— सेवा करना।

चूँकि 'श्रिञ्' ञित् धातु है। अतः 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये०' के द्वारा दोनों प्रकार से इसका व्यवहार होता है।

लट् लकार में 'श्रि तिप्' शप् करके 'श्रयति' बना। 'त' प्रत्यय करने पर पूर्ववत् कार्य, टि को एत्व हुआ। श्रयते।

लिट् लकार में 'श्रि तिप्'— यहाँ द्वित्व, अभ्यास कार्य, णल् आदेश तथा वृद्धि होकर 'शिश्राय' बना। 'श्रि त' यहाँ पूर्ववत् कार्य; 'त' को 'एश्' आदेश तथा इयङ् आदेश हुआ। 'शिश्रिये'।

लुट् लकार में परस्मैपद तथा आत्मनेपद दोनों स्थानों में 'श्रयिता' रूप होगा। अभ्यास के लिए लिट् तथा लुट् के समस्त रूप नीचे दिखाए जा रहे हैं।

लिट् परस्मैपद में— प्र०— शिश्राय, शिश्रियतुः, शिश्रियुः। म०— शिश्रयिथ, शिश्रियथुः, शिश्रिय। उ०— शिश्राय, शिश्रियिव, शिश्रियिम।

आत्मनेपद में— प्र०— शिश्रिये, शिश्रियाते, शिश्रियिरे। म०— शिश्रिषे, शिश्रियाथे, शिश्रियिध्व। शिश्रिये, शिश्रियिवहे, शिश्रियिमहे।

लुट्— परस्मैपद व आत्मनेपद प्र०— श्रयिता, श्रयितारौ, श्रयितारः। म०— श्रयितासि, श्रयितास्थः, श्रयितासे, श्रयितासाथे श्रयितास्थ। उ० श्रयितास्मि, श्रयिताहे, श्रयितास्वः, श्रयितास्वहे, श्रयितास्मः श्रयितास्महे।

लुङ् लकार में 'णिश्रि द्रुस्रुभ्यः०' के द्वारा 'चङ्' होकर 'अशिश्रियत्' तथा 'अशिश्रियत' रूप होंगे।

भृ धातु का अर्थ है— भरण करना।

लट् लकार में शप् तथा गुण होकर 'भरति', 'भरते' रूप बनेंगे।

लिट् लकार में 'भृ तिप्'— यहाँ द्वित्व, अभ्यास कार्य, णल् आदेश तथा वृद्धि होकर 'बभार' रूप बना। 'भृ तस्' में 'बभृ अतुस्' ऐसी स्थिति बनी। तब यण् होकर 'बभ्रतुः' रूप बना। बहुवचन में पूर्ववत् कार्य होगा। बभ्रुः।

मध्यम के एक वचन में 'थल्' प्रत्यय परे रहते 'कृसृभृवृ०' के द्वारा 'इट्' का निषेध होगा। गुण होकर 'बभर्थ' रूप बना। उत्तम द्विवचन तथा बहुवचन में 'बभृव' तथा 'बभृम' रूप बनेंगे।

आत्मनेपद में— प्र०— बभ्रे, बभ्राते, बभ्रिरे। म०— बभृषे, बभ्राथे, बभृध्वे। उ०— बभ्रे, बभृवहे, बभृमहे।

लुट् लकार मध्यम के एकवचन में तास्, गुण, तास् के सकार का लोप होता है। भर्तासि। आत्मनेपद में 'थास्' को 'से' आदेश, तास् आदि होकर 'भर्तासे' हो गया।

लृट् लकार में स्य, इट्, गुण तथा मूर्धन्य आदेश होकर 'भरिष्यति', 'भरिष्यते' बनेंगे।

लोट् में 'भरतु', भरताम् बनेंगे। लङ् में 'अभरत्', 'अभरत' बनेंगे । वि० लिङ् में 'भरेत्', 'भरेत्' बनेंगे ।

५४३. [१]रिङ् श-यग्-लिङ्क्षु[७] (७/४/२८)

णे यकि यादावार्धधातुके लिङि च ऋतो रिङ् आदेशः स्यात्। रीङि प्रकृते रिङ्विधानसामर्थ्याद् दीर्घो न– भ्रियात्।

रिङ् इति— श प्रत्यय, यक्, यकारादि आर्धधातुक लिङ् परे रहते 'ऋ' को 'रिङ्' आदेश होता है। 'रिङ्' का 'ङ' इत्संज्ञक है।

'रीङ् ऋत: ' सूत्र से 'रीङ्' की अनुवृत्ति करने पर भी काम चल सकता था। सूत्र में पुन: 'रिङ्' का पाठ यह सिद्ध करता है कि 'अकृत्सार्वधातुकयो: ' के द्वारा दीर्घ न हो।

आशीर्लिङ् में 'भृ तिप्' यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा 'रिङ्' करने पर 'भ्रियात्' बन गया।

५४४. [५]उश्च (१/२/१२)

ऋवर्णात् परौ (झलादी) लिङ्सिचौ कितौ स्तस्तङि भृषीष्ट, भृषीयास्ताम्। अभार्षीत्।

उरिति— आत्मनेपद में ऋवर्ण से परे झलादि लिङ् और सिच् कित् होते हैं।

आत्मनेपद में आशीर्लिङ् स्थानिक 'त' प्रत्यय होने पर सीयुट्, सिच् होकर—

भृ सीयुट् सुट् त। भृ सीय् स् त। भृ सीस् त— इस अवस्था में प्रकृत सूत्र के द्वारा 'कित्' हो गया। अत: प्राप्त गुण का 'क्ङिति' के द्वारा निषेध हो गया। तब दोनों सकारों को मूर्धन्य आदेश तथा ष्टुत्व होकर 'भृषीष्ट' बन गया।

लुङ् में— भृ तिप्। अट् भृ सिच् तिप्। अट् भृ स् त्। अ भृ स् ई त्— इस स्थिति में 'सिचि वृद्धि: परस्मैपदेषु' के द्वारा वृद्धि आदेश होकर 'अभार्षीत्' बन गया।

अन्य रूप इस प्रकार होंगे।

प्र०—	अभार्षीत्,	अभार्ष्टाम्,	अभार्षु:।
म०—	अभार्षी:,	अभार्ष्टम्,	अभार्ष्ट।
उ०—	अभार्षम्,	अभार्ष्व,	अभार्ष्म।

५४५. [५]ह्रस्वादङ्गात् (८/२/२७)

सिचो लोपो झलि। अभृत, अभृषाताम्, अभरिष्यत्, अभरिष्यत। हृञ् हरणे॥३॥ हरति, हरते। जहार, जहर्थ, जह्रिव, जह्रिम। जह्रे, जह्रिषे। हर्ता। हरिष्यति, हरिष्यते। हरतु, हरताम्। अहरत्, अहरत। हरेत्, हरेत। ह्रियात्, हृषीष्ट, हृषीयास्ताम्। अहार्षीत्, अहृत। अहरिष्यत्, अहरिष्यत। धृञ् धारणे॥४॥ धरति, धरते। णीञ् प्रापणे॥५॥ नयति, नयते। डुपचष् पाके॥६॥ पचति, पचते। पपाच, पेचिथ-पपक्थ। पेचे। पक्ता। भज सेवायाम्॥७॥ भजति, भजते। बभाज, भेजे। भक्ता। भक्ष्यति, भक्ष्यते। अभाक्षीत्। अभक्त, अभक्षाताम्। यज देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु॥८॥ यजति, यजते।

ह्रस्वादिति— ह्रस्व अंग से पर सिच् का लोप हो झल् परे रहते।

अ भृ त— लुङ् लकार, तङ् प्रत्यय, अट् आगम। अनिट् होने से आर्धधातुक इट् नहीं होगा।

अ भृ स् त— सिच्, 'उश्च' के द्वारा सिच् कित् हुआ, 'सार्वधातुकार्धातु०' से प्राप्त गुण नहीं हुआ।

अभृत— 'ह्रस्वादंगात्' से सिच् लोप।

'अभृषाताम्' में 'सिच्' का लोप नहीं हुआ। लृङ् लकार में 'अभरिष्यत्' तथा अभरिष्यत' बनेंगे।

'हृ' का अर्थ है— चुराना।

'हृ' धातु के सभी रूप 'भृ' धातु के रूपों की तरह बनते हैं। अन्तर यह है कि लिट् के व, म, से, वहि, महि प्रत्ययों में क्रादिनियम के द्वारा 'इट्' हो जायेगा जो 'भृ' धातु को नहीं होता है।

उपसर्ग के योग में—

प्रहरति— प्रहार करता है। आहरति— लाता है।

अपहरति— चुराता है। परिहरति— छोड़ता है।

संहरते— नाश करता है।

'धृञ्' का अर्थ है— धारण करना।

इसके रूप 'हृ' के रूपों की तरह होंगे। धरति— लट् लकार में शप्, गुण हो गया। इसी प्रकार 'धरते'।

'णीञ्' का अर्थ है— ले जाना। यह अनिट् है। लट् लकार में शप् तथा गुण होकर 'नयति' बनेगा। आत्मनेपद में 'टि' को एकार होकर 'नयते' रूप बनेगा।

'नी' धातु के लिट् लकार के समस्त रूप अभ्यास के लिए नीचे दिए जा रहे हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि 'थल्' में 'ऋतो भारद्वाजस्य' से विकल्प से 'इट्' होता है तथा व, म, से, ध्वम्, वहि, महि में क्रादि नियम से नित्य 'इट्' होता है।

परस्मै०— प्र०— निनाय, निन्यतुः, निन्युः। म०— निनयिथ-निनेथ,निन्यथुः, निन्य। उ०— निनाय-निनय, निन्यिव, निन्यिम।आत्मने०— प्र०— निन्ये, निन्याते, निन्यिरे। म०— निन्यिषे, निन्याथे, निन्यिध्वे, निन्ये, निन्यिवहे, निन्यिमहे।लुट्— नेता। लृट्— नेष्यति, नेष्यते। लोट्— नयतु, नयताम्। लङ्— अनयत्, अनयत। विधिलिङ्— नयेत्, नयेत। आशीर्लिङ्— नीयात्, नेषीष्ट। लुङ्— अनैषीत्, अनैष्ट। लृङ्— अनेष्यत्, अनेष्यत।

'डुपचष्' का अर्थ है— पकाना।

इस धातु का अकार स्वरित है तथा इत्संज्ञक है। अतः 'स्वरितञितः कर्त्रभि०' के द्वारा यह दोनों पदों में व्यवहृत होगी। 'ष्' की 'हलन्त्यम्' के द्वारा तथा 'डु' की 'आदिर्ञिटुडवः' के द्वारा इत्संज्ञा होती है।

पचति— शप् हो गया।पचते— शप् तथा एत्व हो गया।पपाच— णल्, द्वित्व, हलादि शेष।पच् सिप् (लिट्) में 'थल्' आदेश, द्वित्व, अनिट् अकारवान् होने से विकल्प से 'इट्' की प्राप्ति। इट् होने पर 'थलि च सेटि' के द्वारा एत्व तथा अभ्यास लोप होता है। पच् पच् थ। पेचिथ। इट् के अभाव पक्ष में 'चोः कुः' से कुत्व होकर 'पपक्थ' बना।उत्तम के द्विवचन तथा बहुवचन में क्रादिनियम से नित्य 'इट्' होता है। पेचिव, पेचिम।आत्मनेपद प्रथम एकव० में 'पेचे' बन गया।

लुट् लकार में 'पक्ता' बनेगा।लृट्— पक्ष्यति, पक्ष्यते। लोट्— पचतु। आत्मनेपद में प्र०— पचताम्, पचेताम्, पचन्ताम्। म०— पचस्व, पचेथाम्, पचध्वम्। उ०— पचै, पचावहै, पचामहै।लङ्— अपचत्, अपचत। विधिलिङ्— पचेत्, पचेत। आशीर्लिङ्— पच्यात्, पक्षीष्ट।लुङ्— प्र०— अपाक्षीत्, अपाक्ताम्, अपाक्षुः। म०— अपाक्षीः, अपाक्तम् अपाक्त। उ०— अपाक्षम्, अपाक्ष्व, अपाक्ष्म।

इन रूपों में 'पच्' के चकार को 'चोः कुः' के द्वारा कुत्व हो जाता है। 'सिच्' के सकार को मूर्धन्य आदेश हो जाता है। तब 'क्ष' बनता है। 'वदव्रजहलन्तस्य०' सूत्र के द्वारा वृद्धि होती है। सकार का लोप 'झलो झलि' से होता है।लुङ् में आत्मनेपद के रूप ये हैं—प्र०— अपक्त, अपक्षाताम्, अपक्षत। म०— अपक्थाः, अपक्षाथाम्, अपग्ध्वम्। उ०— अपक्षि, अपक्ष्वहि, अपक्ष्महि।लृङ् में— अपक्ष्यत्, अपक्ष्यत।

'भज्' का अर्थ है— सेवा करना।

इसके रूप 'पच्' के रूपों की तरह होंगे। जिस स्थल पर 'चोः कुः' के द्वारा कुत्व (गकार) होगा, वहाँ 'खरि च' के द्वारा गकार को ककार होता है। 'भज्' धातु भी अनिट् है।

लट् लकार में— भजति, भजते। लिट् में प्रथम के एकव० में—भज् तिप्। भज् णल्। भज् भज् अ। भ भज् अ। ब भज् अ। ब भाज् अ। बभाज। (परस्मै०)

भज् त। भज् एश्। भज् भज् ए। भ भज् ए। ब भज् ए। भेजे। तॄफलभज० (आत्मने०)

लुट् में भक्ता, लृट् में भक्ष्यति, भक्ष्यते, लोट् में भजतु, भजताम्, लङ् में अभजत्, अभजत, लिङ् में भजेत्, भजेत; आशीर्लिङ् में भज्यात्, भक्षीष्ट; लुङ् में अभाक्षीत्, अभक्त होगा।

'यज्' धातु का अर्थ है— देवपूजा करना।

५४६. [७]**लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्**[६] **(६/१/१७)**

वच्यादीनां ग्रह्यादीनां चाऽभ्यासस्य संप्रसारणं लिटि। इयाज।

लिटीति— लिट् परे रहते 'वच्' आदि और ग्रह् आदि (दोनों गण की धातुओं) के अभ्यास को सम्प्रसारण होता है।

वच् आदि 'वचिस्वपियजादीनां किति' सूत्र में और ग्रह आदि 'ग्रहिज्या-वयिव्यधिवष्टिविचिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च' सूत्र में कहे गये हैं।

'यज् तिप्' (लिट् स्थानिक)— यहाँ णल्, द्वित्व हलादि शेष होकर— यज् णल्। यज् यज् णल्। य यज् अ स्थिति बनी।

तब प्रकृत सूत्र के द्वारा सम्प्रसारण तथा 'सम्प्रसारणाच्च' के द्वारा पूर्वरूप हो गया। इ अ याज् अ। इयाज् अ। इयाज।

५४७. [६]**वचि-स्वपि-यजादीनां किति**[७] **(६/१/१५)**

वचिस्वप्योर्यजादीनां च संप्रसारणं स्यात् किति। ईजतुः, ईजुः। इयजिथ, इयष्ठ। ईजे। यष्टा।

वचीति— वच्, स्वप्, यज् आदि को सम्प्रसारण हो कित् परे रहते।

निम्नलिखित पद्य में यज् आदि धातुएँ गिनाई गई हैं—

'यजिर्वपिर्वहिश्चैव वसिर्वेञ् व्येञ् इत्यपि।

ह्वेञ्वदी श्वयतिश्चेति यजाद्याः स्युरिमे नव॥'

द्विवचन में 'यज् तस्' इस स्थिति में 'सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत्०' अर्थात् सम्प्रसारण और तदाश्रय कार्य बलवान् होता है। इस वचन के अनुसार द्वित्व कार्य से पूर्व सम्प्रसारण होगा। चूँकि 'तस्' अपित् है। 'असंयोगाल्लिट् कित्' से कित् है। यहाँ इसे 'अतुस्' आदेश हुआ, सम्प्रसारण, पूर्वरूप, द्वित्व, अभ्यास कार्य, सवर्णदीर्घ तथा विसर्ग कार्य हुआ। यथा— यज् अतुस्। इ अ ज् अतुस्। इज् अतुस्। इज् इज् अतुस्। ईजतुः। इसी प्रकार 'ईजुः' बनेगा।

'यज् सिप् > थल्' यहाँ अकारवान् होने के कारण 'ऋतो भारद्वाजस्य' से विकल्प से इट् की प्राप्ति होती है। इट् पक्ष में 'लिट्यभ्यासस्योभये०' से अभ्यास को सम्प्रसारण तथा 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप होकर 'इयजिथ' बनेगा। इट् अभाव पक्ष में जकार को 'व्रश्चभ्रस्ज सृज०' के द्वारा मूर्धन्य षकार, थकार को ष्टुत्व होकर 'इयष्ठ' रूप बनेगा।

परस्मै०— प्र०— इयाज, ईजतुः, ईजुः,। म०— इयजिथ, ईजथुः, ईज। उ०— इयाज-इयज, ईजिव, ईजिम।

आत्मनेपद के सारे प्रत्यय कित् होते हैं, अत: द्वित्व से पूर्व सम्प्रसारण होगा। यथा— आत्मने०— प्र०— ईजे, ईजाते, ईजिरे। म०— ईजिषे, ईजाथे, ईजिध्वे। उ०— ईज, ईजिवहे, इजिमहे। लुट् में 'यष्टा' बनेगा। व्रश्चभ्रस्जसृज० से षकार होता है।

५४८. [६]**षढो: क: सि**[७] (८/२/४१)

यक्ष्यति, यक्ष्यते। इज्यात्, यक्षीष्ट। अयाक्षीत्, अयष्ट। वह प्रापणे॥ ९॥

वहति, वहते। उवाह, ऊहथु:, ऊहु:। उवहिथ।

षढोरिति— सकार परे रहते 'ष' तथा 'ढ' को ककार हो।

लृट् में— यज् तिप्। यज् स्य ति। य ष् यक् स्यति। यक्ष्यति। आत्मनेपद में 'यक्ष्यते' होगा।

लोट् में यजतु, यजताम्; लङ् में अयजत्, अयजत; विधिलिङ् में यजेत्, यजेत। आशीर्लिङ् में इज्यात्, यक्षीष्ट। यज् तिप् (आशीर्लिङ् परस्मैपद) यज् यासुट् त्। इज् यास् त्। इज्यात्। 'किदाशिषि' के द्वारा यासुट् कित् तथा 'वचिस्वपियजादीना०' से सम्प्रसारण हो गया।

लुङ् में 'वदव्रजहलन्तस्या०' से वृद्धि आदेश, अयाक्षीत्, द्विवचन में झलो झलि से सकार लोप होकर अयाष्टाम्। आत्मने पद में अ यज् स त— झलो झलि। अ यज् त— व्रश्चभ्रस्ज० से ष्। अ यष् त—ष्टुना ष्टु:। अयष्ट।

'वह्' का अर्थ है— ले जाना। लट् में वहति, वहते रूप होते हैं।

इसके रूप 'यज्' के रूपों की तरह होंगे। लिट् के 'थल्' में अनिट् अकारवान् होने से विकल्प से इट् होगा। उवहिथ।

५४९. [५]**झषस्तथोर्धोऽध:**[६] (८/२/४०)

झष: परयोस्तथोर्ध: स्यात्, न तु दधाते:।

झष इति— झष् से परवर्त्ती तकार और थकार को धकार हो, परन्तु (जुहोत्यादिगण की) 'धा' धातु से न हो।

लिट् के 'थल्' प्रत्यय में इडभाव में- लिट्यभ्यासस्यो०। 'उ वह् थ' इस स्थिति में हकार को 'हो ढ:' से ढकार हो गया। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा थकार को धकार हो गया। उवढ् ध। ष्टुत्व से ढकार हो गया। उ वढ् ढ।

५५०. [६]**ढो ढे**[७] **लोप:**[१] (८/३/१३)

(ढस्य लोप: स्यात् ढे परे।)

ढ इति— ढकार परे रहते ढकार का लोप हो।

५५१. [६]**सहि-वहोरोद्**[१] **अवर्णस्य**[६] (६/३/११२)

अनयोरवर्णस्य ओत् स्यात् ढलोपे। उवोढ। ऊहे। वोढा। वक्ष्यति अवाक्षीत्, अवोढाम्, अवाक्षु:। अवोढ, अवक्षाताम्, अवक्षत। अवाक्षी:, अवोढम्, अवोढ।

अवोढा:, अवक्षाथाम्, अवोढ्वम्। अवाक्षम्, अवाक्ष्व, अवाक्ष्म। अवक्षि, अवक्ष्वहि, अवक्ष्महि। अवक्ष्यत्, अवक्ष्यत।

॥ इति भ्वादय: ॥

सहीति— ढ का लोप होने पर सह् तथा वह् धातु के अकार को ओकार होता है।

उ वढ् ढ— उ व ढ-उवोढ।

आत्मनेपद में— ऊहे बनेगा।

लुट् लकार में 'वोढा'।

लुङ् में अट्, ढत्व, कुत्व होकर 'अवाक्षीत्' रूप बनेगा। इसी प्रकार 'अवोढाम्' होगा। यहाँ 'सहिवहोरोदवर्णस्य' के द्वारा ओकार हो गया। 'झलो झलि' से 'सिच्' का लोप हो गया। 'ढो ढे लोप: ' के द्वारा एक ढकार का लोप हो जाता है। इसी प्रकार अन्य रूप बनेंगे।

॥ भ्वादिगण समाप्त हुआ ॥

॥२॥ अथ अदादिगण:

अद भक्षणे॥ १॥

१. अद का अर्थ 'खाना' है।

५५२. [५]**अदि-प्रभृतिभ्य: शप:**[६] **(२/४/७२)**

लुक् स्यात्। अत्ति, अत्त:, अदन्ति। अत्सि, अत्थ:, अत्थ। अद्मि, अद्व:, अद्म:।

अदीति— अद् आदि धातु से 'शप्' का लुक् (लोप) हो।

'अद्' से लट् स्थानिक 'तिप्' हुआ। तब 'कर्तरि शप्' से 'शप्' आया। 'अदिप्रभृतिभ्य: शप:' से उसका लोप हो गया। अद् शप् तिप्। अद् तिप्। 'खरि च' के द्वारा तकार हो गया। अत् ति। अत्ति। इसी प्रकार 'अत्त:' बनेगा। बहुवचन में 'झ्' को 'अन्त्' आदेश होकर 'अदन्ति' सिद्ध होगा। 'सिप्' में 'अत्सि', 'थस्' में 'अत्थ:' तथा 'थ' में 'अत्थ' बनता है। उत्तम पुरुष में 'खरि च' की प्रवृत्ति नहीं होगी।

५५३. [७]**लिट्यन्यतरस्याम् (२/४/४०)**

अदो घस्लृ वा स्यात् लिटि। जघास। उपधालोप:।

लिटीति— लिट् परे रहते 'अद्' धातु को 'घस्लृ' आदेश विकल्प से हो। इसका 'लृ' इत्संज्ञक है।

'अद् लिट्' में प्रकृत सूत्र के द्वारा 'घस्' आदेश हो गया। तब 'तिप्' को 'णल्' आदेश, द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर—

घस् तिप्। घस् घस् णल्। घ घस् अ। कुहोश्चु, अभ्यासे चर्च। ज घस् अ। अब 'अत उपधाया:' के द्वारा उपधादीर्घ होकर 'जघास' बन गया।

५५४. [६]**शासि-वसि-घसीनां च (८/३/६०)**

इण-कुभ्यां परस्यैषां सस्य ष: स्यात। घस्य चर्त्वम्– जक्षतु:, जक्षु:। जघसिथ, जक्षथु:, जक्ष। जघास-जघस, जक्षिव, जक्षिम। आद, आदतु: आदु:।

शासीति— इण् और कवर्ग से उत्तरवर्त्ती 'शास्', 'वस्' तथा 'घस्' धातुओं के अवयव सकार को मूर्धन्य (षकार) आदेश हो।

'अद्' से लिट् का 'अतुस्' होने पर 'घस्' आदेश, द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होकर— 'जघस् अतुस्' इस स्थिति में 'अतुस्' के कित् होने के कारण 'गमहनजन खन०' के द्वारा उपधा का लोप हो गया। ज घ् स् अतुस्। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'घस्' के सकार को मूर्धन्य आदेश हो गया। जघ् ष् अतुस्। 'खरि च' के द्वारा घकार को ककार हुआ। ज क् ष् अतुस्। जक्षतु:। इसी प्रकार 'जक्षु:' बन गया।

'अद् सिप्'— यहाँ 'थल्' आदेश, 'घस्' आदेश, द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर नित्य इट् होगा। चूँकि ' घस्' आदेश लिट् तथा लुङ् लकार में ही होता है। 'तास्' (लुट्) में

इसका अभाव होने से अनिट् का प्रश्न ही नहीं उठता। जघसिथ। अतः क्रादि नियम से इट् हो जाएगा। इसी प्रकार जक्षथुः, जक्ष रूप बनेंगे।

उत्तम के एकवचन में 'णल्' के वैकल्पिक 'णित्' होने के कारण 'जघास' व 'जघस' ये दो रूप बनेंगे। द्विवचन तथा बहुवचन में 'जक्षिव' तथा 'जक्षिम' रूप बनेंगे।

लिट् में 'घस्' आदेश के अभाव पक्ष में द्वित्व आदि कार्य होंगे। अद् अद् अ। अ अद् अ। 'अत आदेः'। आद। आदतुः। आदुः। रूप बनेंगे।

५५५. [१]इडत्यर्ति-व्ययतीनाम्[६] (७/२/६६)

अद्, ऋ, व्येञ् एभ्यस्थलो नित्यमिट् स्यात्। आदिथ। अत्ता। अत्स्यति। अत्तु। अत्तात्। अत्ताम्। अदन्तु।

इडिति— अद्, ऋ तथा व्येञ् धातुओं से परे 'थल्' को नित्य 'इट्' होता है। यहाँ पञ्चम्यर्थ में षष्ठी आई है।

'अद् सिप्'— यहाँ थल् आदेश, द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर—

अद् थल्। अद् अद् थ। अ अद् थ— इस स्थिति में

'अजन्तो अकारवान् वा यः' के द्वारा 'इट्' की विकल्प से प्रवृत्ति होती है। प्रकृत सूत्र के द्वारा नित्य 'इट्' होकर 'आदिथ' रूप बना। उत्तम के द्विवचन तथा बहुवचन में क्रादि नियम से नित्य 'इट्' की प्राप्ति होती है। आदिव। आदिम।

लुट् में 'इट्' न होकर 'अत्ता' बनेगा। लृट् में इसी प्रकार 'अत्स्यति' होगा। लोट् लकार में 'अत्तु' व तातङ् में 'अत्तात्' रूप बनेगा। द्विवचन में 'अत्ताम्' तथा बहुवचन में 'अन्त' आदेश होकर 'अदन्तु' बनेगा।

५५६. हु-झल्भ्यो[६] हेर्धिः[१] (६/४/१०१)

होर्झलन्तेभ्यश्च हेर्धिः स्यात्। अद्धि-अत्तात्, अत्तम्, अत्त। अदानि, अदाव, अदाम।

ह्विति— हु तथा झलन्त धातुओं से परे 'हि' को 'धि' आदेश होता है।

'अद् सिप्' (लोट् स्थानिक) में 'सि' को 'हि' आदेश हुआ। चूँकि 'अद्' एक झलन्त धातु है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा 'धि' आदेश हुआ। अद्धि। पक्ष में— अत्तात्। इसी प्रकार 'अत्तम्' तथा 'अत्त'।

'अद् मिप्' यहाँ 'नि' आदेश, 'आडुत्तमस्य पिच्च' के द्वारा 'आट्' आगम हुआ। तब 'अदानि' रूप सिद्ध हुआ। इसी प्रकार द्विवचन तथा बहुवचन में 'अदाव' तथा 'अदाम' रूप बनेंगे।

५५७. [५]अदः सर्वेषाम्[६] (७/३/१००)

अदः परस्यापृक्तसार्वधातुकस्य अट् स्यात् सर्वमतेन। आदत्, आत्ताम्, आदन्। आदः, आत्तम्, आत्त। आदम्, आद्व, आद्म। अद्यात्, अद्याताम्, अद्युः। अद्यात्,

अद्यास्ताम्, अद्यासुः।

अद इति— सभी (विद्वानों) के मत से अद् धातु से परवर्त्ती अपृक्त सार्वधातुक को 'अट्' आगम हो।

'अद् तिप्' (लङ् स्थानिक) में इकार का लोप, आट् आगम तथा प्रकृत सूत्र के द्वारा अपृक्त सार्वधातुक तकार को अट् आगम हुआ। आदत्।

इसी प्रकार 'आत्ताम्' तथा 'आदन्' बनेंगे।

मध्यम पुरुष एकवचन में 'स्' को अट् आगम तथा सकार को विसर्ग होकर 'आद् अट् स्' इस स्थिति में 'आदः' रूप बना। द्विवचन में 'आत्तम्' तथा बहुवचन में 'आत्त' बना। 'मिप्' में पूर्वोक्त रीति से 'अट्' आगम हुआ। आदम्। इसी प्रकार 'आद्व' तथा 'आद्म' बनेंगे।

विधिलिङ् में 'यासुट्' होगा। उसके सकार का लोप होगा। तब 'अद् या त्' से 'अद्यात्' बना। द्विवचन में भी सकार लोप होकर 'अद्याताम्' रूप बनेगा। बहुवचन में 'अद्युः' बनेगा।

आशीर्लिङ् चूँकि आर्धधातुक है। अतः 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' की प्रवृत्ति नहीं होगी। परन्तु 'स्कोः संयोगा०' के द्वारा सकार का लोप हो जायेगा। तब 'अद्यात्' रूप बनेगा। अन्यत्र सकार का लोप न होने से 'अद्यास्ताम्' तथा 'अद्यासुः' रूप बनेंगे।

म०— (वि०) अद्याः, अद्यातम्, अद्यात। (आ०) अद्याः, अद्यास्तम्, अद्यास्त। उ०— (वि०) अद्याम्, अद्याव, अद्याम,। (आ०) अद्यासम्, अद्यास्व, अद्यास्म।

५५८. [७]लुङ्सनोर्घस्लृ[१] (२/४/३७)

अदो घस्लृ स्यात् लुङि सनि च। लृदित्वादङ्— अघसत्। आत्स्यत्। हन हिंसागत्योः॥ २॥ हन्ति।

लुङिति— लुङ् और सन् परे रहते 'अद्' को 'घस्लृ' आदेश होता है।

अद् तिप् (लुङ्)— यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा 'घस्' आदेश, अट् आगम, इकार लोप, च्लि तथा 'पुषादि०' के द्वारा 'अङ्' आदेश होकर 'अ घस् अ त्' बन गया। अघक्षत्।

लृङ् लकार में स्य, इकार लोप आदि होकर 'आत्स्यत्' बनेगा।

'हन्' का अर्थ है— हिंसा करना, गति करना।

लट् लकार में 'शप्' का लुक होकर 'हन्ति' बना। यहाँ नकार को अनुस्वार तथा अनुस्वार को पुनः परसवर्ण करना आवश्यक है।

५५९. [६]अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनाम् अनुनासिकलोपो झलि[७] क्ङिति (६/४/३७)

अनुनासिकान्तानामेषां वनतेश्च लोपः स्यात्, झलादौ किति ङिति च परे। यमि-

रमिनमि-गमि-हनि-मन्यतयोऽनुदात्तोपदेशाः। 'तनु-षणु-क्षणु-क्षिणु-ऋणु-तृणु-घृणु-वनु-मनु' तनोत्यादयः। हतः, घ्नन्ति। हंसि, हथः हथ। हन्मि, हन्वः, हन्मः। जघान, जघ्नतुः, जघ्नुः।

अनु० इति— झलादि कित् तथा ङित् प्रत्यय परे रहते वन् का, अनुनासिकान्त, अनुदात्तोपदेश तथा तन् धातुओं का लोप हो।

यम् उपरमे (निवृत्त होना)	णम् प्रह्वत्वे (नमस्कार करना)
रम् क्रीडायाम् (क्रीडा करना)	गम् गतौ (जाना)
हन् हिंसागत्योः (हिंसा करना, जाना)	मन् (दिवादि) ज्ञाने (मानना, जानना)

तनु इति— तन् आदि निम्नलिखित आठ अनुनासिकान्त धातु हैं—

तन् विस्तारे (फैलना)	तृण् अदने (खाना)
क्षण् हिंसायाम् (हिंसा करना)	घृण् दीप्तौ (चमकना)
क्षिण् हिंसायाम् (हिंसा करना)	वनु याचने (मांगना)
ऋण् गतौ (जाना)	मनु अवबोधने (ज्ञान करना)

'हन् तस्' यहाँ 'हन्' धातु अनुनासिकान्त अनुदात्तोपदेश भी है। 'तस्' झलादि तथा ङित् है। अतः नकार का लोप हो गया। हतः।

'हन् झि' में 'अन्त' आदेश, ङिद्वत् होने से 'गमहन०' के द्वारा उपधा लोप, 'हो हन्ते०' के द्वारा हकार को घकार आदेश हुआ। हन् अन्ति। ह् न् अन्ति। घ् न् अन्ति। घ्नन्ति।

'सिप्' में 'नश्चापदान्तस्य०' के द्वारा अनुस्वार होकर 'हंसि' बन गया। द्विवचन तथा बहुवचन में प्रकृत सूत्र के द्वारा अनुनासिक लोप होकर 'हथः' तथा 'हथ' रूप बने।

'हन् तिप्' (लिट्)— इस स्थिति में णल्, द्वित्व, हलादि शेष करने पर 'हहन् अ' बन गया। तब 'कुहोश्चुः' के द्वारा चुत्व करने पर 'झहन् अ' बना। जश्, उपधा को दीर्घ किया। जहान् अ। 'हो हन्ते०' के द्वारा हकार को घकार हो गया। जघान।

'हन् अतुस्' इस अवस्था में पूर्ववत् कार्य होकर 'जघन् अतुस्' बन गया। तब 'गमहनजन०' के द्वारा उपधा का लोप हो गया। जघ्नतुः। 'जघ्नुः' में पूर्ववत् प्रक्रिया होगी।

५६०. [५]**अभ्यासाच्च (७/३/५५)**

अभ्यासात् परस्य हन्तेर्हस्य कुत्वं स्यात्। जघनिथ-जघन्थ, जघ्नथुः, जघ्न। जघान-जघन, जघ्निव, जघ्निम। हन्ता। हनिष्यति। हन्तु, हतात्, हताम्, घ्नन्तु।

अभ्यासादिति— अभ्यास से पर 'हन्' के हकार को कुत्व हो।

'हन् सिप्' (लिट्)— यहाँ द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर 'जहन् थ' ऐसी स्थिति बनी। 'ऋतो भारद्वाजस्य' के द्वारा विकल्प से 'इट्' होगा। तब 'इट्' के पक्ष में प्रकृत सूत्र

के द्वारा कुत्व होकर 'जघनिथ' तथा इडभाव में 'जघन्थ' होगा। 'जघ्नथुः' 'जघ्न' में उपधा लोप होगा।

उत्तम के एकवचन में 'णित्' के विकल्प होने से दो रूप बनेंगे। जघान। जघन। द्विवचन तथा बहुवचन में क्रादिनियम से नित्य 'इट्' होगा। उपधा लोप होने पर 'हो हन्तेः०' के द्वारा कुत्व होकर 'जघ्निव', 'जघ्निम' रूप बनेंगे।

लुट् में 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात०' के द्वारा 'इट्' का निषेध होता है। हन्ता।

लृट् लकार में 'ऋद्धनोः स्ये' के द्वारा 'इट्' होकर 'हनिष्यति' रूप बनेगा।

लोट् में 'हन्तु' तथा पक्ष में 'हतात्' बनेगा। लोट् के द्विवचन में अनुनासिक लोप होकर 'हताम्' रूप बन गया। प्रथम के बहुवचन में उपधा लोप, अन्त आदेश होकर 'घ्नन्तु' बन गया।

५६१. [६]हन्तेर्जः[१] (६/४/३६)

हौ परे।

हन्तेरिति— 'हि' परे रहते 'हन्' धातु को 'ज' आदेश हो।

५६२. असिद्धवदत्राऽऽभात्[५] (६/४/२२)

इत ऊर्ध्वमापादसमाप्तेराभीयम्। समानाश्रये तस्मिन् कर्तव्ये तद् असिद्धम्। इति जस्याऽसिद्धत्वान्न हेर्लुक्– जहि-हतात्, हतम्, हत। हनानि, हनाव, हनाम। अहन्, अहताम्, अघ्नन्। अहन्, अहतम्, अहत। अहनम्, अहन्व, अहन्म। हन्यात्। हन्याताम्।

यहाँ से आगे पाद की समाप्ति पर्यन्त (६.४.२२ से पादान्त तक) विहित कार्य 'आभीय' कहलाता है। समानाश्रय (आभीय) कार्य के विषय में पूर्वकृत आभीय कार्य असिद्ध हो।

जिन कार्यों का आश्रय (अर्थात् निमित्त) समान हो, उन्हें समानाश्रय कहते हैं।

'हन् सिप्' (लोट्) इस स्थिति में 'हि' आदेश होकर पूर्व सूत्र के द्वारा 'हन्' को 'ज' आदेश हुआ। तब 'ज हि' इस स्थिति में 'अतो हेः' के द्वारा 'हि' का लुक् प्राप्त हुआ। ये 'लुक्' आभीय कार्य हैं। दोनों ('ज' आदेश तथा 'लुक्') का निमित्त भी समान है। दोनों अवस्था में 'हन्' प्रकृति है तथा 'हि' प्रत्यय है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा पहले ('ज' आदेश) किया हुआ कार्य 'हि लुक्' के प्रति असिद्ध है। अतः लोप नहीं हुआ।

'तातङ्' के पक्ष में उपधा लोप होकर 'हतात्' बन गया। द्विवचन में 'हतम्' तथा बहुवचन में 'हत' बनता है।

उत्तम के एकवचन में 'नि' आदेश, 'आट्' आगम होकर 'हनानि' होगा।

इसी प्रकार द्विवचन तथा बहुवचन में 'हनाव' तथा 'हनाम' रूप बनेंगे।

लङ् में अट्, हलङ्याब्भ्यो० से अपृक्त तकार का लोप होकर— अहन्। द्विवचन में अनुनासिक लोप होगा। अहताम्। बहुवचन में 'अन्त्' आदेश, 'गमहन०' के द्वारा उपधा का लोप, 'हो हन्ते०' के द्वारा कुत्व होकर— अट् हन् झि। अ हन् अन्ति। अ ह् न् अन्ति। अघ्नन्। रूप बना।

मध्यम के एकवचन में 'सिप्' के इकार का लोप, अपृक्त हल् (सकार) का लोप होकर। अहन्। द्विवचन में 'अहतम्', बहुवचन में 'अहत' होगा।

उत्तम के एकवचन में 'मिप्' को अम् आदेश होकर 'अहनम्' रूप बना।

द्विवचन तथा बहुवचन में 'अहन्व' तथा 'अहन्म' बनेगा।

विधिलिङ् में 'यासुट्' हुआ। उसके 'स्' का लोप होकर 'हन्यात्' बना।

५६३. [७]**आर्धधातुके (२/४/३५)**

इत्यधिकृत्य।

आर्धधातुक इति— आर्धधातुक में हो ऐसा अधिकार जानें।

५६४. [६]**हनो वध**[१] **लिङि**[७] (२/४/४२)

(हनो 'वध' इत्यादेशः स्यात् आर्धधातुके लिङि।)

हन इति— आर्धधातुक लिङ् के विषय में 'हन्' को 'वध' आदेश हो।

५६५. [७]**लुङि च** (२/४/४३)

वधादेशोऽदन्तः। अर्धधातुके इति विषयसप्तमी। तेनार्धधातुकोपदेशेऽदन्तत्वाद् अतो लोपः-वध्यात्, वध्यास्ताम्। अवधीत्। अहनिष्यत्। यु मिश्रणाऽ-मिश्रणयोः॥ ३॥

लुङीति— लुङ् के विषय में भी 'हन्' को 'वध' आदेश हो। यह 'वध' आदेश अदन्त है।

'आर्धधातुके'— यहाँ विषय सप्तमी है तथा पर सप्तमी (पर अर्थ में) नहीं है। आशीर्लिङ् आर्धधातुक है। अतः उसके विषय में अर्थात् उसके आने से पूर्व ही 'वध' आदेश होगा। यदि यहाँ परसप्तमी मान ली जाये तो लिङ् परे रहते ही 'वध' के न होने से 'अतो लोपः' के द्वारा अकार लोप न हो सकेगा।

इससे आर्धधातुक के उपदेश काल में अदन्त होने से 'अतो लोपः' के द्वारा अकार लोप होता है।

'हन्' को लिङ् के विषय में 'वध' आदेश हो गया। लिङाशिषि। वध ल्। यासुट्, अकार लोप होकर 'वध्यात्' बना। द्विवचन में 'वध्यास्ताम्' बना।

लुङ् में 'वध' आदेश, अट् आगम, सिच्, इट्, ईट्, सिच् का लोप तथा अकार का लोप होकर 'अवधीत्' बना।

लृङ् में 'अहनिष्यत्' बनेगा।

'यु' का अर्थ है— मिलाना तथा अलग करना।

५६६. [६]उतो वृद्धिर्लुकि हलि[७] (७/३/८९)

लुग्विषये उतो वृद्धिः पिति हलादौ सार्वधातुके, न त्वभ्यस्तस्य। यौति, युतः, युवन्ति। यौषि, युथः, युथ। यौमि, युवः, युमः। युयाव। यविता। यविष्यति। यौतु-युतात्। अयौत्, अयुताम् अयुवन् युयात्-इह उतो वृद्धिर्न, भाष्ये 'ङिच्च पिन्न, पिच्च ङिन्न इति व्याख्यानात्ः, युयाताम् युयुः। यूयात्, यूयास्ताम्। यूयासुः अयावीत्। अयविष्यत्। या प्रापणे।।४।। याति, यातः, यान्ति। ययौ। याता। यास्यति। यातु। अयात्, अयाताम्।

उत इति— 'लुक्' के विषय में पित् हलादि सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते उदन्त अङ्ग को वृद्धि हो, अभ्यस्त संज्ञक धातु के उकार को नहीं हो।

'लुकि' में विषय सप्तमी है, परसप्तमी नहीं; क्योंकि 'लुक्' अभाव को कहते हैं। अतः वह परे कैसे रह सकता है।

लट् लकार में शप्, लुक्, वृद्धि होकर 'यौति' बना। 'तस्' में 'युतः', 'झि' में उवङ् आदेश होकर 'युवन्ति' बना। 'सिप्' में 'यौषि', 'थस्' में 'युथः' तथा 'थ' में 'युथ' बनता है। उत्तम में क्रमशः 'यौमि', 'युवः' तथा 'युमः' बनते हैं।

लिट् लकार में द्वित्व, णित् के कारण वृद्धि होकर—

यु तिप्। यु यु णल्। यु यौ अ। युयाव बना।

'अतुस्' आदि 'कित्' प्रत्ययों के परे रहते 'ग्क्ङिति च' के द्वारा गुण का निषेध होकर 'उवङ्' होता है। चूँकि 'यु' धातु सेट् है। अतः सिप् (> थल्) को इट् हो जायेगा।

लुट् लकार में इट्, गुण होकर 'यविता' बनता है।

इसी प्रकार लृट् में इट्, गुण, मूर्धन्य तथा अव् आदेश होकर 'यविष्यति' बनेगा।

लोट् में वृद्धि होकर 'यौतु' बनेगा। 'तातङ्' के पक्ष में गुण, वृद्धि का निषेध हो जाता है। युतात्।

लङ् में अट्, वृद्धि तथा इकार लोप होकर 'अयौत्' बनेगा। द्विवचन में गुण तथा वृद्धि का निषेध होकर 'अयुताम्' हो गया। बहुवचन में अट्, इकार लोप, अन्त आदेश, उवङ् आदेश होकर 'अयुवन्' सिद्ध हो गया।

उत्तम के एकवचन में 'मिप्' को 'अम्' आदेश हो गया। तब 'अम्' के हलादि न होने से वृद्धि न हुई। अयुवम्।

विधिलिङ् में 'यासुट् परस्मैपदे०' के द्वारा 'यासुट्' हुआ। 'यासुट्' ङित् है। अतः वृद्धि नहीं होगी। 'युयात्। भाष्यकार कहते हैं— ङित् पित् नहीं होता तथा पित् ङित् नहीं होता।

आशीर्लिङ् में 'अकृत्सार्वधातुकयोः' के द्वारा दीर्घ हो जाएगा। यूयात्।

लुङ् में अट्, इकार लोप, सिच् होकर 'अ यु सिच् त्' ऐसा स्वरूप बना। तब इट् आगम, ईट् आगम तथा सिच् का लोप हुआ। अब 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' के द्वारा वृद्धि हो गई। अ यु इ स् ई त्। अ यौ ई त्। अयावीत्।

लृङ् लकार में स्य, इट् तथा अव् आदेश होकर 'अयविष्यत्' बनेगा।

'या' का अर्थ है— पहुँचना।

लट् लकार में 'शप्' लुक् होकर 'याति' हुआ। इसी प्रकार 'यातः' तथा 'यान्ति' रूप सिद्ध होंगे।

लिट् लकार में 'तिप्' को णल् आदेश, द्वित्व तथा अभ्यास को ह्रस्व होकर 'य या णल्' ऐसी स्थिति बन गई। तब 'आत औ णलः' के द्वारा 'औ' आदेश हो गया। वृद्धि होकर 'य या औ-ययौ' बन गया।

अजादि कित् प्रत्ययों में 'आतो लोप इटि च के द्वारा आकार लोप होगा। लुट् लकार में 'याता', लृट् लकार में 'यास्यति', लोट् लकार में 'यातु' तथा लङ् लकार में 'अयात्' बन गया। द्विवचन में 'अयाताम्' बनेगा।

५६७. [६]लङः [६]शाकटायनस्यैव (३/४/१११)

आदन्तात् परस्य लङो झेर्जुस् वा स्यात्। अयुः, अयान्। यायात्, यायाताम्, यायुः। यायात्, यायास्ताम्, यायासुः। अयासीत्। अयास्यत्। वागतिगन्धनयोः॥५॥ भा दीप्तौ॥६॥ ष्णा शौचे॥७॥ श्रा पाके॥८॥ द्रा कुत्सायां गतौ॥९ प्सा भक्षणे॥१०॥ रा दाने॥११॥ ला आदाने॥१२॥ दाप् लवने॥१३ पा रक्षणे॥१४॥ ख्या प्रकथने॥१५॥ अयं सार्वधातुके एव प्रयोक्तव्यः। विद ज्ञाने॥१६॥

लङ इति— आकारान्त धातु से परे लङ् के 'झि' को विकल्प से 'जुस्' हो।

'अ या झि' यहाँ प्रकत सूत्र के द्वारा विकल्प से 'जुस्' हुआ। 'जुस्' पक्ष में 'उस्यपदान्ता०' के द्वारा आकार को पररूप आदेश हुआ। अयुः। 'जुस्' अभाव पक्ष में 'अन्त्' आदेश होकर 'अयान्' रूप सिद्ध हो गया। झोऽन्तः। संयोगान्तस्य लोपः।

विधिलिङ् में 'यासुट्' होकर 'यायात्', द्विवचन में 'यायाताम्' तथा बहुवचन में 'यायुः' रूप बनेगा।

आशीर्लिङ् में एकवचन में 'स्' का लोप होकर 'यात्' बनेगा। द्विवचन में सकार का लोप न होने से 'यायास्ताम्' तथा बहुवचन में 'यायासुः' बन गया।

लुङ् में अट्, इकार लोप तथा 'यमरमनमातां लुक् च' के द्वारा 'इट्' तथा 'सक्' हुआ। अयासीत्।

लृङ् लकार में 'अयास्यत्' बनेगा।

'वा' का अर्थ है— चलना, सूचित करना।

'वा' धातु का प्रयोग केवल वायु के चलने में ही होता है।

वृत्ति में दिखाई गई 'वा' आदि सभी आकारान्त धातुओं के रूप 'या' धातु की तरह होंगे। सम्पूर्ण प्रक्रिया विस्तार भय से दिखाई नहीं गई है। केवल परिनिष्ठित रूप दिखाए गए हैं जो वृत्ति में नहीं हैं।

वाति। ववौ। वाता। वास्यति। वातु। अवात्, अवु:— अवान्। वायात्। वायात्। अवासीत्। अवास्यत्।

'भा' का अर्थ है— चमकना।

भाति। बभौ। भाता। भास्यति। भातु। अभात्, अभु:— अभान्। भायात्। भायात्। अभासीत्। अभास्यत्।

'ष्णा' का अर्थ है— स्नान करना। 'धात्वादे: ष:' के द्वारा दन्त्य सकार होता है। ष्णा > स्णा। तब निमित्त (षकार) के न रहने से कार्य (णत्व) भी नहीं रहता है। स्णा > स्ना।

ष्णा (नहाना)— स्नाति। सस्नौ। स्नाता। स्नास्यति। स्नातु। अस्नात्। स्नायात्। स्नेयात्,स्नायात्। अस्नासीत्। अस्नास्यत्।

अन्य धातुओं के रूप इस प्रकार हैं—

८. श्रा (पकाना)— श्राति। शश्रौ। श्राता। श्रास्यति। श्रातु। अश्रात्। श्रायात्। श्रेयात्, श्रायात्। अश्रासीत्। अश्रास्यत्।

९. द्रा (बुरी चाल चलना)— द्राति। दद्रौ। द्राता। द्रास्यति। द्रातु। अद्रात्। द्रायात्। द्रेयात्, द्रायात्। अद्रासीत्। अद्रास्यत्।

'नि' उपसर्ग के योग में इसका अर्थ 'सोना' होता है। यथा— निद्राति = सोता है। उदाहरण— 'निद्राति नान्त:शुचा' 'तदा निदद्रावुपपल्वलं खग:'।

१०. प्सा (खाना)— प्साति। पप्सौ। प्साता। प्सास्यति। प्सातु। अप्सात्। प्सायात्। प्सेयात्, प्सायात्। अप्सासीत्। अप्सास्यत्।

११. रा (देना)— राति। ररौ। राता। रास्यति। रातु। अरात्। रायात्। रायात्। अरासीत्। अरास्यत्।

१२. ला (लेना)— लाति। ललौ। लाता। लास्यति। लातु। अलात्। लायात्। लायात्। अलासीत्। अलास्यत्।

१३. दाप् (काटना)— दाति। ददौ। दाता। दास्यति। दातु। अदात्। दायात्। दायात्। अदासीत्। अदास्यत्।

१४. पा (रक्षा करना)— पाति। पपौ। पाता। पास्यति। पातु। अपात्। पायात्। पायात्। अपासीत्। अपास्यत्।

१५. ख्या (कहना)— ख्याति। चख्यौ। ख्याता। ख्यास्यति। ख्यातु। अख्यात्। ख्यायात्। ख्यायात्। अख्यासीत्। अख्यास्यत्।

इस धातु का सार्वधातुक में ही प्रयोग करना चाहिए।

'विद्' का अर्थ है— जानना।

५६८. [५]विदो [६]लटो वॉ (३/४/८३)

वेत्तेर्लटः परस्मैपदानां णलादयो वा स्युः। वेद, विदतुः, विदुः। वेत्थ, विदथुः, विद। वेद-विद, विद्व, विद्म। पक्षे- वेत्ति, वित्तः, विदन्ति।

विद इति— विद् (अदादि गण) धातु से लट् के परस्मैपद प्रत्ययों को विकल्प से 'णल्' आदि आदेश हों।

'विद् लट्'— यहाँ 'तिप्' हुआ जिसे 'विदो लटो वा' के द्वारा विकल्प से 'णल्' आदेश हुआ। 'णल्' के पक्ष में लघूपध गुण होकर 'वेद' रूप बना। 'णल्' के अभाव पक्ष में गुण तथा 'खरि च' से तकार होकर 'वेत्ति' रूप बना। द्विवचन में 'अतुस्' पक्ष में गुण का निषेध होकर 'विदतुः' तथा दूसरे पक्ष में 'वित्तः' बन गया। बहुवचन में 'उस्' आदेश पक्ष में पूर्वोक्त रीति से 'विदुः' तथा दूसरे पक्ष में 'विदन्ति' बन गया।

मध्यम के एकवचन में 'सिप्' के 'पित्' होने से लघूपध गुण होकर 'वेत्सि' बना। पक्ष में 'सिप्' को 'थल्' आदेश होकर 'वित्थ' बन गया। 'थस्' में 'अथुस्' आदेश होकर 'विदथुः' तथा पक्ष में 'वित्थः' बना। बहुवचन में 'अ' आदेश होकर 'विद' रूप बना।

उत्तम के एकवचन में 'णल्' के वैकल्पिक 'णित्' होने से 'वेद' तथा 'विद' ये दो रूप बनेंगे। 'णल्' अभाव पक्ष में 'वेद्मि' बनेगा। द्विवचन में 'व' आदेश होकर पक्ष में 'विद्व' तथा अभाव पक्ष में 'विद्वः' बनेगा। इसी प्रकार बहुवचन में 'विद्म' तथा विद्मः' रूप बनेंगे।

५६९. [५]उष-विद-जागृभ्योऽन्यतरस्यॉम् (३/१/३८)

एभ्यो लिटि आम् वा स्यात्। विदेरदन्तप्रतिज्ञानाद् आमि न गुणः- विदाञ्चकार। विवेद। वेदिता। वेदिष्यति।

उषेति— लिट् परे रहते उष् (जलाना), विद् (जानना) और जागृ (जागना) के बाद 'आम्' विकल्प से हो।

लिट् में—

विद् लिट्। विद् आम् लिट्। विद् आम्। आर्धधातुकं शेषः। विद् आम् कृ। विदाम् कृ तिप् > णल्। विदाम च कृ अ। विदाञ्चकार। पक्ष में 'आम्' नहीं होगा। तब द्वित्व, अभ्यास कार्य तथा गुण होकर 'विवेद' रूप बना।

लुट् तथा लृट् में 'इट्' होकर 'वेदिता' तथा 'वेदिष्यति' रूप होंगे।

५७०. विदाङ्कुर्वन्तु इॅत्यन्यतरॅस्याम् (३/१/४१)

वेत्तेर्लोटि आम्, गुणाभावो, लोटो लुक्, लोडन्तकरोत्यनुप्रयोगश्च वा निपात्यते। पुरुषवचने न विवक्षिते।

विदा० इति— लोट् परे होने पर 'विद्' धातु से 'आम्' हो, लघूपध गुण न हो, लोट् का लुक् हो तथा लोट् परक 'कृ' का अनुप्रयोग हो— ये चारों कार्य विकल्प से निपातित हैं।

'विदाङ्कुर्वन्तु' में पुरुष और वचन विवक्षित नहीं हैं। अत: बहुवचन के निर्देश के द्वारा यह न समझ लेना चाहिए कि प्रथम के बहुवचन में ही उक्त कार्य होगा। अपितु यह कार्य लोट् के सभी नौ प्रत्ययों में होगा।

५७१. [५]तनाऽऽदि-कृञ्भ्य उ:[१] (३/१/७९)

तनादे: कृञश्च उ: प्रत्यय: स्यात्। शपोऽपवाद:, गुणौ। विदाङ्करोतु।

तनादीति— (कर्तृवाची सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते) 'कृञ्' और 'तन्' आदि धातुओं से 'उ' प्रत्यय हो। यह 'शप्' का अपवाद है।

लोट् लकार में 'तिप्' आने पर 'विदाम् कृ ति' यह अवस्था बन गई। तब 'शप्' की प्राप्ति हुई जिसे बाध कर प्रकृत सूत्र के द्वारा 'उ' हुआ। 'ति' के इकार को उकार, गुण, अनुस्वार, पररूप होकर—

विदाम् कृ उ ति। विदाम् कृ उ तु। विदाम् कर् उ तु। विदाम् कर् ओतु। विदांकरोतु। विदाङ्करोतु।

तातङ् के पक्ष में 'कृ' के ऋकार को गुण होगा। सार्वधातुकार्धधातुकयो:। उकार को गुण नहीं होगा। तब 'विदाम् करुतात्' इस अवस्था में—

५७२. [६]अत उत्[१] सार्वधातुके[७] (६/४/११०)

'उ' प्रत्ययान्तस्य कृञोऽत उत् सार्वधातुके क्ङिति। विदाङ्कुरुतात्, विदाङ्कुरुताम्, विदाङ्कुर्वन्तु। विदाङ्कुरु। विदाङ्करवाणि। अवेत्, अवित्ताम्, अविदु:।

अत इति— सार्वधातुक कित् और ङित् परे रहते 'उ' प्रत्ययान्त 'कृ' धातु के अकार को 'उत्' हो।

'विदाम् कर् उतात्' इस अवस्था में ककारोत्तरवर्ती अकार के स्थान पर 'उत्' हो गया। विदाङ्कुरुतात्। द्विवचन में प्रकृत सूत्र के द्वारा 'उत्' आदेश होकर 'विदाङ्कुरुताम्' बन गया। बहुवचन में 'अन्त' आदेश, उत्व तथा 'उ' प्रत्यय आदि होकर—

विदाम् कृ उ झि। विदाम् क र् उ अन्तु। विदाम् कुर् वन्तु। विदाङ्कुर्वन्तु।

'सिप्' को अपित् 'हि' आदेश होगा। अपित् होने से 'ङित्' हो गया। 'उतश्चाप्रत्ययाद०' से लोप होगा। सम्पूर्ण प्रक्रिया इस प्रकार है—

विदाम् कृ सिप् > हि। विदाम् कृ उ हि। विदाम् कर् उ हि। विदाम् कुर् उ हि। विदाम् कुरु। विदाङ्कुरु।

'विदाम् कृ मिप्'— इस स्थिति में 'आट्' आगम तथा 'उ' प्रत्यय हुआ। तब 'मि' को 'नि' आदेश, ऋकार को गुण, उकार को गुण, अव् आदेश तथा णत्व हो गया।

विदाम् कृ उ मिप्। विदाम् कर् उ आट् नि। विदाम् कर् ओ आनि। विदाम्क रवानि। विदाङ्करवाणि। इसी प्रकार 'विदाङ्करवाव' तथा 'विदाङ्करवाम' बनेंगे।

'विदाङ्कुर्वन्त्वित्य० सूत्र में कथित निपातन कार्य विकल्प से होते हैं।

इन चार कार्यों के अभाव पक्ष में— प्र०— वेत्तु-वित्तात्, वित्ताम्, विदन्तु। म०— विद्धि-वित्तात्, वित्तम्, वित्त। उ०— वेदानि, वेदाव, वेदाम।

लङ् लकार में 'अट्' आगम, 'तिप्' के इकार का लोप, 'हल्ङ्याब्भ्य:०' के द्वारा 'त्' का लोप हो गया। 'वाऽवसाने' के द्वारा दकार को विकल्प से तकार होगा। अवेद्, अवेत्। द्विवचन में अपित् सार्वधातुक होने के कारण गुण नहीं होगा। अवित्ताम्।

'अ विद् झि'— यहाँ 'सिजभ्यस्तविदिभ्य:०' के द्वारा 'जुस्' आदेश हो गया अविदु:। 'सिप्' के अपृक्त 'स्' का पूर्ववत् लोप होकर 'अवेद्' रूप बना।

५७३. [६]**दश्च (८/२/७५)**

धातोर्दस्य पदान्तस्य सिपि परे रुर्वा। अवे:- अवेत्। विद्यात्, विद्याताम्। विद्यास्ताम्। अवेदीत्। अवेदिष्यत्। अस् भुवि॥ १७॥ अस्ति।

द इति— 'सिप्' परे रहते धातु के पदान्त दकार को विकल्प से 'रु' हो।

'अवेद्' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र के द्वारा 'रु' होकर 'अवे:' रूप सिद्ध हुआ। अभाव पक्ष में 'अवेद्' तथा 'अवेत्' रूप बनेंगे।

विधिलिङ् में 'विद्यात्' बनेगा। द्विवचन में 'विद्याताम्' बनेगा।

आशीर्लिङ् एकव० में 'विद्यात्' तथा द्विवचन में 'विद्यास्ताम्' बनेगा।

लुङ् में अट्, इकार लोप, सिच्, इट्, ईट्, सिच् लोप करके 'अवेदीत्' बना।

लृङ् लकार में 'अवेदिष्यत्' बना।

'अस्' का अर्थ है— होना।

५७४. [६]**श्नसोरल्लोप:**[१] **(६/४/१११)**

श्नस्य अस्तेश्च अतो लोप: सार्वधातुके किति ङिति। स्त:, सन्ति। असि, स्थ:, स्थ। अस्मि, स्व:, स्म:।

श्नसोरिति— सार्वधातुक कित् व ङित् प्रत्यय परे रहते 'श्ना' तथा 'अस्' धातु के अकार का लोप हो।

'अस् तिप्'— यहाँ पित् होने से अकार का लोप नहीं होगा। अस्ति। 'अस् तस्'— अपित् होने से ङित् हो गया। तब अकार का लोप होकर 'स्त:' रूप बना। 'अस् झि' में अकार लोप तथा अन्त आदेश होकर 'सन्ति' रूप बना।

'अस् सिप्'— यहाँ 'तासस्त्योर्लोप:' के द्वारा 'अस्' के सकार का लोप हुआ। असि।

५७५. [५]**उपसर्ग-प्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्पर:**[१] **(८/३/८७)**

उपसर्गेण: प्रादुसश्चास्ते: सस्य षो यकारेऽचि च परे। निष्यात्। प्रनिषन्ति। प्रादु:षन्ति। यच्पर:किम्– अभिस्त:।

उप० इति– यकार और अच् परे रहते उपसर्ग के इण् और 'प्रादुस्' (अव्यय) से परवर्त्ती 'अस्' (धातु) के सकार को षकार हो। 'अच्पर:' में प्रथमा षष्ठी के अर्थ में आई है।

नि पूर्वक 'अस्' धातु से विधिलिङ् होने पर 'नि अस् यासुट् तिप्' इस अवस्था में इकार लोप, 'अस्' का अकार का लोप, यासुट् के सकार का लोप तथा प्रकृत सूत्र के द्वारा सकार को षकार हुआ। यथा– नि अ स् या त्। नि स् यात्। निष्यात्।

'प्र नि अस् झि'– इस अवस्था में अकार लोप, अन्त् आदेश तथा षकार होकर 'प्रनिषन्ति' रूप बना।

इसी प्रकार 'प्रादुस् अस् झि'– यहाँ पूर्ववत् क्रिया होकर 'प्रादु: षन्ति' रूप बना।

यच्पर इति– 'यकार या अच् परे हो' ऐसा क्यों कहा? 'अभि अस् तस्' इस अवस्था में अकार लोप होकर 'अभिस्त:' रूप बना। यदि प्रकृत सूत्र में 'अच् परे रहते' ऐसा न कहा जाता तो यहाँ मूर्धन्य आदेश होकर 'अभिष्त:' ऐसा अनिष्ट रूप हो जाता।

५७६. [६]**अस्तेर्भू:**[१] **(२/४/५२)**

आर्धधातुके। बभूव। भविता। भविष्यति। अस्तु-स्तात्, स्ताम्, सन्तु।

अस्तेरिति– आर्धधातुक के विषय में 'अस्' को 'भू' आदेश हो।

लिट् लकार के विषय में 'भू' आदेश होकर 'बभूव' बना।

लुट् में 'भू' आदेश, इट् व गुण होकर 'भविता' रूप बनेगा। लृट् में 'अस् तिप्'– यहाँ 'भू' आदेश, स्य, इट्, गुण तथा अन् आदेश होकर 'भविष्यति' रूप बनेगा। लोट् में 'अस् तिप्' इस दशा में इकार को उकार होकर 'अस्तु' बनेगा 'तातङ्' पक्ष में अकार का लोप होकर 'स्तात्' बनेगा। द्विवचन में 'स्ताम्' तथा बहुवचन में 'सन्तु' रूप बनेंगा।

५७७. [६]**घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च (६/४/११९)**

घोरस्तेश्च एत्वं स्याद् हौ परे अभ्यासलोपश्च। एत्वस्याऽसिद्धत्वाद् हेर्धि:। 'श्नसो:' इत्यल्लोप:। तातङ्पक्षे एत्वं न, परेण तातङा बाधात्। एधि-स्तात्, स्तम्, स्त। असानि, असाव, असाम। आसीत्, आस्ताम्, आसन्। स्यात्, स्याताम्, स्यु:। भूयात्। अभूत्। अभविष्यत्। इण् गतौ।।७।। एति, इत:।

घ्वसोरिति– 'हि' परे रहते 'घु' संज्ञा वाली तथा 'अस्' धातु को एकार आदेश तथा अभ्यास लोप होता है।

अलोऽन्त्य परिभाषा के बल पर 'अस्' के अन्त्य वर्ण सकार को तथा घुसंज्ञक धातुओं के अन्त्य वर्ण आकार को उक्त कार्य होगा। अभ्यास का लोप 'अस्' के सम्बन्ध में नहीं होता।

एत्वस्येति— प्रकृत सूत्र के द्वारा विहित एत्व कार्य आभीय है। अतः असिद्ध होता है। तब झल् (एकार जो 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' की दृष्टि में असिद्ध है) से परे होने पर 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' के द्वारा 'धि' आदेश होता है।

'श्नसोः०' के द्वारा अकार लोप होता है। 'तातङ्' के पक्ष में एकारादेश नहीं होगा।

'अस् सिप् (लोट् स्थानिक)'— यहाँ 'सिप्' के स्थान पर अपित् 'हि' आदेश हुआ। अतः ङित् हो गया। तब 'श्नसोरल्लोपः' के द्वारा अकार का लोप होता है। अस् हि स् हि। प्रकृत सूत्र के द्वारा सकार को एकार आदेश हो गया। ए हि। एकारादेश के असिद्ध होने से 'हि' को 'धि' आदेश हो गया। एधि। पक्ष में तातङ् होगा। तातङ् आदेश परकार्य है। अतः एकारादेश (६/४/११९) का बाध करता है। 'तातङ्' होने के पश्चात् 'हि' के अभाव में एकार आदेश नहीं होगा। अकार लोप होकर 'स्तात्' बना।

'अस् मिप्'— यहाँ 'नि' आदेश हुआ। 'आट्' आगम हुआ। पित् आगम के कारण अकार का लोप नहीं हुआ। अस् आ मि। अस् आ नि। असानि। इसी प्रकार 'असाव' तथा 'असाम' रूप बनेंगे।

लङ् में 'आट् अ स् तिप् > त्' इस अवस्था में 'अस्तिसिचोऽपृक्ते०' के द्वारा 'ईट्' आगम होगा। आ अस् ईट् त्। आसीत्।

'आट् अस् सिप् > स्'— यहाँ पूर्वोक्त रीति से कार्य हुआ। आसीः।

'आट् अस् तस् > ताम्'— इस स्थिति में धातु के अकार का लोप होकर 'आस्ताम्' बना।

शेष रूप— आसीः, आस्तम्, आस्त। आसम्, आस्व, आस्म।

विधिलिङ्— स्यात्, स्याताम्, स्युः। स्याः,स्यातम्, स्यात। स्याम्, स्याव, स्याम।

विधिलिङ् में 'यासुट्' ङित् है। अतः 'श्नसोरल्लोपः' के द्वारा अकार का लोप होता है।

'इण्' का अर्थ है— गति।

'इ तिप्'— यहाँ गुण होकर 'एति' बना।

'इ तस्'— अपित् सार्वधातुक (ङित्) होने के कारण गुण का निषेध हो गया। इतः।

५७८. [६]**इणो यण्**[१] (६/४/८१)

अजादौ प्रत्यये परे। यन्ति।

इण इति— अजादि प्रत्यय परे रहते 'इण्' धातु के इकार को 'यण्' होता है।

'इ झि'— यहाँ अन्त् आदेश तथा प्रकृत सूत्र के द्वारा यण् होकर 'यन्ति' होगा। यहाँ सर्वप्रथम 'इको यणचि' के द्वारा सामान्य 'यण्' प्राप्त था जिसे 'अचिश्नु धातु०' के द्वारा बाधकर 'इयङ्' आदेश प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'यण्' हुआ।

शेष रूप—	म० पु०	एषि	इथः	इथ
	उ० पु०	एमि	इवः	इमः

५७९. [६]अभ्यासस्याऽसवर्णे[७] (६/४/७८)

(अभ्यासस्य) इवर्णोवर्णयोरियङुवङौ स्तोऽसवर्णेऽचि। इयाय।

अभ्या० इति— असवर्ण अच् परे रहते अभ्यास के इकार तथा उकार को क्रमश: इयङ् तथा उवङ् आदेश होते हैं।

'इ तिप् > णल्'— यहाँ द्वित्व तथा अभ्यास कार्य हुआ। इ इ णल्। 'अचो ञ्णिति' के द्वारा अभ्यास के उत्तरखण्ड को वृद्धि होगी। इ ऐ अ। इ आय् अ। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'इयङ्' आदेश। इयाय।

इ तस्। इ इ अतुस्— इस अवस्था में कित् होने से गुण का निषेध होता है। उत्तर खण्ड के इकार को 'इणो यण्' के द्वारा 'यण्' हो जाता है। इय् अतुस्।

५८०. [१]दीर्घ इण:[६] किति[७] (७/४/६९)

इणोऽभ्यासस्य दीर्घ: स्यात् किति लिटि। ईयतु:। इययिथ, इयेथ। एता। एष्यति। एतु। ऐत्, ऐताम्, आयन्। इयात्। ईयात्।

दीर्घ इति— कित् लिट् परे रहते 'इण्' के अभ्यास को दीर्घ हो।

'इय् अतुस्' इस स्थिति में अभ्यास को दीर्घ होकर 'ईयतु:' बन गया।

'इ सिप् > थल्' यहाँ द्वित्व तथा गुण होकर 'इ ए थ' स्थिति बन गई। 'इण्' धातु अनिट् अजन्त है। अत: विकल्प से 'इट्' आगम होता है। 'इट्' पक्ष में 'इ ए इथ' बना। असवर्ण अच् परे रहते अभ्यास को 'इयङ्' आदेश हुआ। इय् ए इथ। इय् अ य् इथ। 'ऋतो भारद्वाजस्य' से वैकल्पिक इट्। इययिथ। 'इट्' के अभाव पक्ष में 'इयेथ' बना।

लुट् में 'एता', लृट् में 'एष्यति', लोट् में 'एतु' बनेंगे।

लङ् में आट् आगम, वृद्धि, इकार लोप हुआ। आट् इ ति। आ इ त्। ऐत्।

द्विवचन में 'ऐताम्' बनेगा।

'आट् इ झि > अन्ति' इस स्थिति में इकार लोप, संयोगान्त 'त्' का लोप हुआ। आ इ अन्। 'इको यणचि' से यण् प्राप्त हुआ। तब उसे बाध कर 'इयङ्' प्राप्त हुआ। उसे बाधकर 'इणो यण्' से यण् हुआ। आय् अन्। आयन्।

विधिलिङ् में 'इयात्' बनेगा।

आशीर्लिङ् में 'अकृत्सार्वधातुकयो:' के द्वारा दीर्घ होकर 'ईयात्' रूप बना।

५८१. [६]एतेर्लिङि[७] (७/४/२४)

उपसर्गात् परस्य इणोऽणो ह्रस्व आर्धधातुके किति लिङि निरियात्। (प०) 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्०' अभीयात्। अण: किम्– सम् गात्।

एतेरिति— आर्धधातुक कित् लिङ् परे रहते उपसर्ग से परवर्त्ती 'इण्' धातु के 'अण्' को ह्रस्व आदेश हो।

'निर् ईयात्'— यहाँ आशीर्लिङ् में प्रकृत सूत्र के द्वारा 'इण्' धातु के ईकार को ह्रस्व

होकर 'निरियात्' बन गया।

उभयत इति— दोनों ओर से आश्रयण करने में अन्तादिवद्भाव नहीं होता। इसका अभिप्राय है कि पूर्ववद्भाव तथा अन्तवद्भाव दोनों एक साथ नहीं होते।

'अभि ईयात्' इस स्थिति में दीर्घ होकर 'अभीयात्' बन गया। यदि 'अन्तादिवच्च' के द्वारा पूर्ववद्भाव से 'अभी' में उपसर्गत्व धर्म उत्पन्न किया जाये तो इससे आगे 'यात्' रह जाता है जो 'इण्' धातु नहीं है। अत: ह्रस्व कैसे होगा? यदि परादिवद्भाव के द्वारा 'ईयात्' में इण्त्व उत्पन्न किया जाये तो केवल 'अभ्' शेष रहता है जो उपसर्ग नहीं है। अत: ह्रस्व नहीं होगा। यदि 'अभी' में उपसर्गत्व तथा 'भीयात्' में 'इण्त्व' लाये जाएं तो ह्रस्व हो सकता है। अत: कहा गया है कि दोनों एक न हों। ये दोनों परस्पर विरोधी हैं।

अण इति— 'अण् को ह्रस्व हो'— ऐसा क्यों कहा गया? 'सम् आ ईयात्'— इस अवस्था में गुण होगा। समेयात्। 'सम्' उपसर्ग है और एकादेशविशिष्ट 'एयात्' में 'अन्तादिवच्च' के द्वारा परादिवद्भाव से इण् धातुत्व है, परन्तु पूर्व 'अण्' नहीं मकार है। अत: यहाँ ह्रस्व नहीं हुआ यदि 'अण्' का पाठ न किया होता तो यहाँ ह्रस्व हो जाता।

५८२. [६]**इणो गा**[१] **लुङि**[७] **(२/४/४५)**

'गातिस्था०' इति सिचो लुक्- अगात्। ऐष्यत्। शीङ् स्वप्ने॥ १८॥

इण इति— लुङ् के विषय में 'इण्' धातु को 'गा' आदेश हो।

चूँकि लुङ् में 'अट्' आगम दिखाई पड़ता है। अत: उक्त 'गा' आदेश लावस्था में ही होगा। तब हलादि होने से 'आट्' न होकर 'अट्' होगा। यदि आगम को 'गा' आदेश से पूर्व कर दिया जायेगा तो 'अट्' के स्थान पर 'आट्' हो जायेगा, जो इष्ट नहीं है। 'गातिस्था०' के द्वारा सिच् का लुक् हो जायेगा।

'इण् > गा (लुङ्) तिप्' — यहाँ अट् आगम, सिच् आदेश, इकार लोप, सिच् का लोप होता है। अ गा स् त्। अगात्।

लृङ् लकार में आट् आगम, वृद्धि, स्य, इकार लोप तथा मूर्धन्य आदेश होता है। आट् इण् तिप्। आ इ स्य त्। ऐ स्यत्। ऐष्यत्।

उपसर्ग के योग में—

अपैति— हटता है। अन्वेति— पीछे चलता है, सम्बन्ध करता है।

अवैति— जानता है। अभ्येति— जानता है।

ऐति— आता है। प्रत्येति— विश्वास करता है।

उदेति— उदय होता है। उपैति— पास जाता है।

अभ्युपैति— स्वीकार करता है।

'शीङ्' का अर्थ है— सोना।

ङित् होने से आत्मनेपदी है। यह धातु 'सेट्' भी है।

५८३. **शीङ: सार्वधातुके गुण: (७/४/२१)**

शीङो गुण: स्यात्सार्वधातुके। क्ङिति चेत्यस्यापवाद:। शेते, शयाते।

शीङ इति— सार्वधातुक प्रत्यय परे होने पर शीङ् धातु के स्थान पर गुण होता है।

'शी त'— यहाँ गुण तथा एत्व होकर 'शेते' बना। 'शी आताम्' में गुण, अच् आदेश तथा टि को एकार आदेश हो गया। शयाते।

५८४. **[५]शीङो रुट्[१] (७/१/७)**

शीङ: परस्य झादेशस्याऽतो रुडागम: स्यात्। शेरते; शेषे, शयाथे, शेध्वे; शये, शेवहे, शेमहे। शिश्ये, शिश्याते, शिश्यिरे। शयिता। शयिष्यते। शेताम्, शयाताम्, शेरताम्। अशेत, अशयाताम्, अशेरत। शयीत, शयीयाताम्, शयीरन्। शयिषीष्ट। अशयिष्ट। अशयिष्यत। इङ् अध्ययने॥१९॥ इङिकावध्युपसर्गतो न व्यभिरचत:। अधीते, अधीयाते, अधीयते।

शीङ इति— 'शी' धातु से परवर्ती 'झ' के आदेश भूत 'अत्' को 'रुट्' आगम होता है।

'शी झ'— यहाँ 'आत्मनेपदे०' के द्वारा 'अत्' आदेश हुआ। 'टि' को एकारादेश तथा 'शीङ: सार्वधातुके०' के द्वारा गुण हुआ। 'शीङो रुट्' के द्वारा 'अत्' को 'रुट्' आगम हुआ। शी अत। शी अते। शे अते। शे रुट् अते। शेरते।

'शी थास्'— यहाँ 'से' आदेश, मूर्धन्य आदेश तथा गुण होकर 'शेषे' रूप बना। द्विवचन में 'शयाते' की तरह 'शयाथे' रूप बन गया। बहुवचन में गुण, एकारादेश होकर 'शेध्वे' रूप बना।

'शी इट्'— यहाँ धातु को गुण, 'इट्' को एकारादेश, अय् आदेश हुआ, शे ए। शये। 'शी वहिङ्'— शे व हे। शेवहे। इसी प्रकार 'शेमहे' बनेगा।

लिट् लकार में 'एश्' आदेश, द्वित्व, अभ्यास को ह्रस्व आदेश तथा उत्तर खण्ड में यण् आदेश हो गया। शी त। शी एश्। शी शीए। शि शी ए। शिश्ये।

इसी प्रकार 'आताम्' की 'टि' को एकारादेश होकर 'शिश्याते' बन गया।

'शी झ'— यहाँ 'इरेच्' आदेश, द्वित्व, अभ्यास को ह्रस्व आदेश, इयङ् हो गया। शी इरेच्। शी शी इरे। शि शी इरे। शिश्यिरे।

लुट् में 'इट्' होकर 'शयिता' होगा।

लृट् लकार में इट्, स्य तथा मूर्धन्य आदेश होकर 'शयिष्यते' बन गया।

लोट् लकार में 'त' को 'आम्' तथा गुण आदि होकर 'शेताम्' बन गया।

द्विवचन में गुण, अय् आदेश होकर 'शयाताम्' बनेगा। बहुवचन में 'रुट्' आगम होकर 'शेरताम्' रूप सिद्ध होगा।

लङ् में अशेत, अशयाताम्, अशेरत रूप बनेंगे।

विधिलिङ् में 'शयीत' रूप होगा।

आशीर्लिङ् में 'सीयुट्' आदि होकर 'शयिषीष्ट' रूप बनेगा।

आशीर्लिङ्— प्र०— शयिषीष्ट, शयिषीयास्ताम्, शयिषीरन्।

म०— शयिषीष्ठा:, शयिषीयास्ताम्, शयिषीढ्वम्-शयिषीध्वम्।

उ०— शयिषीय, शयिषीवहि, शयिषीमहि।

लुङ् में सिच्, इट् आगम, मूर्धन्य आदेश तथा ष्टुत्व होकर 'अशयिष्ट' रूप सिद्ध हुआ।

लुङ्— प्र० अशयिष्ट, अशयिषाम्, अशयिषत।

म० अशयिष्ठा:, अशयिषाथाम्, अशयिढ्वम्-अशयिध्वम्।

उ० अशयिषि, अशयिष्वहि, अशयिष्महि।

लृङ् प्र० एकव० में— स्य, इट्, गुण तथा अय् आदेश होकर 'अशयिष्यत' बनेगा।

'इङ्' का अर्थ है— पढ़ना।

यह अनिट् धातु है। ङित् होने से आत्मनेपदी है।

इङि-इति— 'इङ्' तथा 'इक्' धातु 'अधि' उपसर्ग के बिना प्रयोग में नहीं आते हैं।

'इ त'— यहाँ 'टि' को एकारादेश होकर 'इते' बना। तब 'अधि' के योग में सवर्णदीर्घ होकर 'अधीते' बन गया। 'अधि इ आताम्'— इस स्थिति में 'इयङ्' आदेश होकर 'अधीयाते' बना। बहुवचन में 'अधीयते' (आत्मनेपदेष्वनत:)। ये तीनों प्रत्यय अपित् हैं। अत: गुण नहीं होगा।

५८५. [१]गाङ् लिटि[७] (२/४/४९)

इङो गाङ् स्यात् लिटि। अधिजगे, अधिजगाते, अधिजगिरे। अध्येता। अध्येष्यते। अधीताम्, अधीयाताम्, अधीयताम्। अधीष्व, अधीयाथाम् अधीध्वम्। अध्ययै, अध्ययावहै, अध्ययामहै। अध्यैत, अध्यैयाताम्, अध्यैयत। अध्यैथा:, अध्यैयाथाम्, अध्यैध्वम्। अध्यैयि, अध्यैवहि, अध्यैमहि। अधीयीत, अधीयीयाताम्। अधीयीरन्। अध्येषीष्ट।

गाङि इति— लिट् के विषय में 'इङ्' को 'गाङ्' आदेश होता है। 'गाङ्' आदेश लावस्था में ही होता है।

'अधि इङ् > गाङ् त'— इस अवस्था में तकार को 'एश्' आदेश हो गया। द्वित्व तथा अभ्यास कार्य हुआ। अधि गा गा ए। अधि ग गा ए। अधि जगा ए। 'आतो लोप इटि' से आकारलोप। अधि ज ग् ए। अधि जगे।

लिट् लकार में से, ध्वम्, वहि तथा महि प्रत्ययों को 'इट्' (क्रादि नियम) हो जाता है। अत: लिट् लकार के 'त' से लेकर 'महिङ्' तक सभी प्रत्यय अजादि बन जाते हैं। तब 'आतो लोप इटि च' के द्वारा आकार का लोप हो जाता है।

लुट् में 'इट्' नहीं होगा। गुण तथा यण् होकर 'अध्येता' रूप होगा।

लृट् लकार में इसी प्रकार 'अध्येष्यते' रूप बनेगा।

लोट् में सवर्ण दीर्घ होकर 'अधीताम्' रूप बनेगा। अजादि प्रत्ययों में 'इयङ्' आदेश होगा। तब सवर्ण दीर्घ होगा। 'आताम्' में पूर्ववत् कार्य होकर 'अधीयाताम्' बनेगा। बहुवचन में 'अधीयताम्' रूप होगा।

'अधि इ थास्'— यहाँ होकर 'अधीष्व' रूप बना।

द्विवचन में 'अधीयाताम्' की तरह 'अधीयाथाम्' की रूप सिद्धि होगी। बहुवचन में 'अधीध्वम्' होगा।

'अधि इ इट्'— यहाँ आट् आगम, 'आडुत्तमस्य पिच्च'। धातु को गुण तथा वृद्धि आदेश हो गया। अधि इ आ इ। अधि ए आ ए। अधि ए ऐ। अधि अयै। अध्ययै।

द्विवचन में पूर्ववत् कार्य होगा। यथा— अधि ए आट् वहि। अधि य् आ व है। अध्ययावहै।

इसी प्रकार बहुवचन में— अधि इ आट् महिङ्। अधि ए आ महै। अधि अया महै। अध्ययामहै।

लङ् में आट्, 'आटश्च' के द्वारा वृद्धि होकर— अधि आट् इ त। अधि ऐत। अध्यैत। 'अधि आट् इ आताम्'— इस स्थिति में वृद्धि आदि होकर 'अध्यैयाताम्' बना। बहुवचन में 'अध्यैयत' रूप बना।

'अधि आट् इ थास्'— इस स्थिति में वृद्धि तथा यण् होकर 'अध्यैथा:' बनेगा। द्विवचन में 'अध्यैयाथाम्' तथा बहुवचन में 'अध्यैध्वम्' रूप बनेगा।

उत्तम में अध्यैयि, अध्यैवहि तथा अध्यैमहि रूप बनेंगे।

विधिलिङ् में सीयुट्, सुट्, दोनों सकारों का लोप, यकार का लोप, धातु को इयङ् आदेश तथा सवर्ण दीर्घ आदि कार्य होंगे। यथा— अधि इ त। अधि इ सीयुट् सुट् त। अधि इ ईय् त। अधि इ ईय् त। अधि इ ई त। अधि इयङ् ई त। अधि इय् ई त। अधीयीत। द्विवचन में 'सीयुट्' के यकार का लोप नहीं होता है। शेष कार्य पूर्ववत् होंगे। अधीयीयाताम्। बहुवचन में 'झ' को 'झस्य रन्' से 'रन्' आदेश हुआ। यकार का लोप होगा। शेष कार्य पूर्ववत् होंगे। अधीयीरन्।

आशीर्लिङ् में सीयुट्, सुट्, गुण, यकार लोप, यण्, मूर्धन्य तथा ष्टुत्व होता है। यथा— अधि इ त। अधि इ सीयुट् स् त। अधि इ सीय् स् त। अधि ए षी ष् ट। अध्येषीष्ट।

आशीर्लिङ्—	प्र०—	अध्येषीष्ट	अध्येषीयास्ताम्	अध्येषीरन्।
	म०—	अध्येषीष्ठा:	अध्येषीयास्थाम्	अध्येषीढ्वम्।
	उ०—	अध्येषीय	अध्येषीवहि	अध्येषीमहि।

५८६. विभॉषा लुङ्-लृङो[७] (२/४/५०)

इङो गाङ् वा स्यात्।

विभाषेति—लुङ् और लृङ् की विवक्षा में 'इङ्' को विकल्प से 'गाङ्' आदेश होता है।

५८७. [५]गाङ्-कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्[१] (१/२/१)

गाङादेशात् कुटादिभ्यश्च परेऽञ्णितः प्रत्ययाः ङितः स्युः।

गाङ् इति - 'गाङ्' तथा 'कुट्' आदि धातुओं से परे ञित् और णित् से अतिरिक्त प्रत्यय ङित् होते हैं।

५८८. [६]घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि[७] (६/४/६६)

एषामात ईत् स्यात् हलादौ क्ङिति आर्धधातुके। अध्यगीष्ट, अध्यैष्ट। अध्यगीष्यत, अध्यैष्यत। दुह प्रपूरणे॥ २०॥ दोग्धि, दुग्धः, दुहन्ति; धोक्षि। दुग्धे, दुहाते, दुहते; धुक्षे, दुहाथे, धुग्ध्वे; दुहे, दुह्वहे, दुह्महे। दुदोह, दुदुहे। दोग्धा। धोक्ष्यति, धोक्ष्यते। दोग्धु-दुग्धात्, दुग्धाम्, दुहन्तुः दुग्धि-दुग्धात्, दुग्धम्, दुग्ध; दोहानि, दोहाव, दोहाम। दुग्धाम्, दुहाताम्, दुहताम्। धुक्ष्व, दुहाथाम्, धुग्ध्वम्। दोहै, दोहावहै, दोहामहै। अधोक्, अदुग्धाम्, अदुहन्। अदोहम्, अदुग्ध, अदुहाताम्, अदुहत। अधुग्ध्वम्। दुह्यात्, दुहीत।

घ्विति— हलादि कित् ङित् आर्धधातुक परे रहते घु संज्ञक धातु, मा, स्था, गा, पा, ओहाक् तथा षो धातुओं के आकार को ईकार आदेश होता है।

'इङ्' से लुङ् की विवक्षा में विकल्प से 'गाङ्' आदेश हुआ। तब 'गाङ्' के पक्ष में 'अट् गा सिच् त' इस अवस्था में 'सिच्' के ङित् होने से प्रकृत सूत्र के द्वारा ईकार आदेश हो गया। अधि अगा स् त। अधि अगी षत्। अधि अगीष्ट। अध्यगीष्ट।

लुङ् के सम्पूर्ण रूप गाङ् पक्ष में—

प्र०	अध्यगीष्ट	अध्यगीषाताम्	अध्यगीष्ट
म०	अध्यगीष्ठाः	अध्यगीषाथाम्	अध्यगीढ्वम्
उ०	अध्यगीषि	अध्यगीष्वहि	अध्यगीष्महि

'गाङ्' के अभाव पक्ष में 'अध्यैष्ट' बनेगा। यथा—

प्र०	अष्ट	अषाताम्	अषत
म०	अध्यैष्ठाः	अध्यैषाथाम्	अध्यैढ्वम्
उ०	अध्यैषि	अध्यैष्वहि	अध्यैष्महि

लृङ् में 'गाङ्' आदेश होकर ईकार आदेश हुआ। तब अध्यगीष्यत' बना।

लृङ् लकार गाङ् पक्ष में सम्पूर्ण रूप—

प्र०	अध्यगीष्यत	अद्यगीष्येताम्	अध्यगीष्यन्त

म०	अध्यगीष्यथा:	अध्यगीष्येथाम्	अध्यगीष्यध्वम्
उ०	अध्यगीष्ये	अध्यगीष्यावहि	अध्यगीष्यामहि

लृङ् में गाङ् आदेश के अभावपक्ष में—

प्र०	अध्यैष्यत	अध्यैष्येताम्	अध्यैष्यन्त
म०	अध्यैष्यथा:	अध्यैष्येथाम्	अद्यैष्यध्वम्
उ०	अध्यैष्ये	अध्यैष्यावहि	अध्यैष्यामहि

'दुह्' का अर्थ है— दुहना। यह स्वरितेत् है। अत: उभयपदी है।

दोग्धि

दुह् तिप्— लट्, तिप् की उत्पत्ति।

दुघ् ति— शप्, शप् का लुक्, 'दादेर्धातोर्घ:' से घकार।

दुघ् धि— 'झषस्तथोर्धोऽध:' से धकार।

दोग्धि— 'झलां जश्०' से गकार, लघूपध गुण।

'दुह् तस्' पूर्ववत् कार्य होकर 'दुग्ध:' 'दुह् झि'— अन्त आदेश होकर 'दुहन्ति' रूप बना।

'दुह् सिप्'— यहाँ दादेर्धातोर्घ:' के द्वारा हकार को घकार आदेश। दुघ् सि। 'एकाचो बशोभष्०' के द्वारा 'धुघ् सि' ऐसी स्थिति बनी। तब 'खरि च' के द्वारा चर् (ककार) हुआ। सकार को मूर्धन्य हो गया। धोक्षि।

आत्मने० में 'दु ह् त' इस स्थिति में एकार आदेश, घकार आदेश, उसे जश्त्व, झषस्तथोर्धोऽध: से तकार को धकार होकर 'दुग्धे' बना। द्विवचन में 'दुहाते' तथा बहुवचन में 'दुहते' बना। आत्मनेपदेष्वनत:।

'दुह् थास्' में 'से' आदेश, धकार आदेश, घकार आदेश, उसे ककारादेश (चर्त्व), मूर्धन्य आदि होकर 'धुक्षे' रूप सिद्ध हुआ। द्विवचन में 'दुहाथे' बना। 'दुह् ध्वम्'— यहाँ दकार को धकार, हकार को घकार तथा एकारादेश होकर 'धुग्ध्वे' बना।

'दुह् इट्' में 'दुहे', द्विवचन में 'दुह्वहे' तथा बहुवचन में 'दुद्महे' बनेगा।

लिट् में 'दुह् तिप्' यहाँ णल्, द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर 'दुदोह' बनेगा।

आत्मनेपद में 'एश्' आदेश होकर 'दुदुहे' बनेगा। 'असंयोगाल्लिट् कित्' से लिट् कित्। 'पुगन्तलघूपधस्य' च से प्राप्त लघूपध गुण का निषेध। दुदुहतु:।

लुट् लकार में 'दोग्धा' रूप होगा।

लृट् लकार में दोनों पदों में क्रमश: 'धोक्ष्यति' तथा 'धोक्ष्यते' रूप बनेंगे।

लोट् तथा लङ् में पूर्ववत् कार्य होंगे। दुह् तिप् (लोट् स्थानिक)। दुघ् तु। दोग् धु। दोग्धु। दुह् त (लोटस्थानिक)। दुघ् ताम्। दुग्धाम्।

अट् दुह् तिप् (लङ् स्थानिक)। अ धुघ् त्। अधोक् त्। अधोक्।

विधिलिङ् में 'दुह्यात्' तथा 'दुहीत' रूप होंगे।

५८९. [१]लिङ्सिचावात्मनेपदेषु[७] (१/२/११)

इक्समीपाद् हलः परौ झलादी लिङ्सिचौ कितौ स्तः, तङि धुक्षीष्ट।

लिङिति— इक् के समीप स्थित हल् से परवर्त्ती झलादि लिङ् और सिच् कित् होते हैं, तिङ् परे रहते।

चूँकि 'दुह्' धातु अनिट् है। अतः इससे परे झलादि लिङ् और सिच् मिलेंगे।

आशीर्लिङ् में आत्मनेपद में झलादि लिङ् मिलता है। अतः 'धुक्षीष्ट' बन जायेगा।

सम्पूर्ण रूप—

प्र०	धुक्षीष्ट	धुक्षीयास्ताम्	धुक्षीरन्।
म०	धुक्षीष्ठाः	धुक्षीयास्थाम्	धुक्षीध्वम्।
उ०	धुक्षीय	धुक्षीवहि	धुक्षीमहि।

५९०. [५]शल[५] इगुपधाद् [५]अनिटः क्सः[१] (३/१/४५)

इगुपधो यः शलन्तः, तस्मादनिटश्च्लेः 'क्स' आदेशः स्यात्। अधुक्षत्।

शल इति— इगुपध, शलन्त तथा अनिट्— ऐसी धातु से 'च्लि' को 'क्स' आदेश होता है। 'क्स' का ककार 'लशक्वतद्धिते' से इत्संज्ञक है।

लुङ् में अट्, घकार आदेश, धकार आदेश, जशत्व, क्स आदेश, मूर्धन्य आदेश आदि कार्य होंगे। अट् दुह त। अदुघ् त। अधुघ् त। अधुघ् क्सत। अधुक् सत। अधुक् षत। अधुक्षत। क्स का वैकल्पिक लुक्। लुक् अभाव पक्ष में दाऽऽदेर्धातोर्घः से 'घ'। अ दुघ् त— एकाचो बशो भष्० अ धुघ् स त— आदेश प्रत्यययोः। खरि च। अ धु क् ष त।

५९१. [१]लुग् वॉ दुह-दिह-लिह [६]गुहामात्मनेपदे[७] दन्त्ये[७] (७/३/७३)

एषां क्सस्य लुग्वा स्यात्, दन्त्ये तङि अदुग्ध-अधुक्षत।

लुगिति— दुह, दिह, लिह् तथा गुह् धातुओं के 'क्स' का लुक् विकल्प से होता है, दन्त्य तङ् परे रहते।

'दुह्' से लुङ् में 'क्स' का विकल्प से लुक् होकर 'अदुग्ध' तथा 'अधुक्षत' रूप बनेंगे।

५९२. [६]क्सस्याऽचि[७] (७/३/७२)

अजादौ तङि क्सस्य लोपः ('अलोऽन्त्यस्य' इत्यकारलोपः।) अधुक्षाताम्, अधुक्षन्त; अदुग्धाः अधुक्षथाः, अधुक्षाथाम्, अधुग्ध्वम् अधुक्षध्वम्। अधुक्षि, अदुह्वहि-अधुक्षावहि, अधुक्षामहि। अधोक्ष्यत्, अधोक्ष्यत। एवम्- दिह उपचये॥२१॥ लिह आस्वादने॥२२॥ लेढि, लीढः, लिहन्ति। लेक्षि। लीढे, लिहाते, लिहते; लिक्षे, लिहाथे, लीढ्वे। लिलेह, लिलिहे। लेढासि, लेढासे। लेक्ष्यति, लेक्ष्यते। लेढु, लीढात्, लीढाम्, लिहन्तु; लीढि; लेहानि। लीढाम्। अलेट्-अलेड्। अलिक्षत्,

अलिक्षत-अलीढ। अलेक्ष्यत्, अलेक्ष्यत। ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि॥ २३॥

क्सस्येति— अजादि तङ् परे रहते 'क्स' का लोप होता है।

'अलोऽन्त्य०' के बल पर अकार का लोप होता है। 'अधुक्ष आताम्' इस स्थिति में आकार को 'आतो ङित:' के द्वारा 'इय्' आदेश प्राप्त होता है। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा 'क्स' के अकार का लोप होता है। अधुक्षाताम्।

बहुवचन में सर्वप्रथम 'अन्त' आदेश, 'क्स' के अकार का लोप होकर 'अधुक्षन्त' बना। इसी प्रकार अन्य रूपों की सिद्धि होगी।

इसी प्रकार 'दिह्' (अर्थात् वृद्धि होना) के रूप बनेंगे। 'लिह्' का अर्थ है— चाटना। इसके हकार को 'हो ढ:' के द्वारा ढकार आदेश होता है। तकार तथा थकार प्रत्ययों को 'झषस्तथोर्धो०' के द्वारा धकार आदेश होगा।

लेढि

लिह् तिप्— लट् तिप्, शप्, शब् लुक्।

लेढ् धि— अनुबन्ध लोप, 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपधगुण, 'हो ढ:' से ढकार, 'झषस्तथोऽर्धोऽध:' से धकार। लेढि— 'ष्टुना ष्टु:' से ढकार, 'ढो ढे लोप:' से पूर्ववर्त्ती 'ढ' का लोप।

'लिह् सिप्' में ढकार होकर 'षढो: क: सि' के द्वारा ककार आदेश होगा। तब मूर्धन्य होकर रूप बनेगा। लिढ् सि। लिक् सि। लिक् षि। लेक्षि।

आत्मनेपद में 'से' आदेश होकर पूर्ववत् कार्य होते हैं। लिक्षे।

मध्यम के बहुवचन में 'ध्वम्' परे रहते 'लिढ्ध्वे' ऐसी स्थिति बनी। तब ष्टुत्व, ढकार लोप तथा पूर्व वर्ण दीर्घ होकर 'लीढ्वे' रूप बना।

परस्मै० लिट् लकार में द्वित्व, अभ्यासकार्य तथा गुण होकर 'लिलेह' रूप बना।

लुट् प्र० पु एकव० में 'लिह् ति' यहाँ ढकार, गुण, प्रत्यय के तकार को ढकार, पूर्ववर्त्ती ढकार का लोप होकर 'लेढा' रूप बना।

लुट् मध्यम में 'लेढासि' तथा 'लेढासे' रूप बनेंगे।

लृट् में लेक्ष्यति, लेक्ष्यते बनेंगे।

लोट् में— लिहित। लिढ् तु। लेढ् ढु। लेढु।

लिह् तस्। लिढ ताम्। लिढ् ढाम्। लि ढाम्। लीढाम्।

लीढि

लिह् सिप्— लोट्, सिप्।

लिह् हि— हि आदेश (सेर्ह्यपिच्च)।

लिढ् धि— धि (हेर्धि:), ढकार।

लीढि— ष्टुत्व, ढलोप, ढोढे लोप:। ढ्रलोपे पूर्वस्य० से दीर्घादेश।

उत्तम पु० एकवचन में 'आट्' के पित् होने से गुण हो जाता है। लेहानि

अलेट्, ड्

लिह् त्— लङ्, अट्, तिप्, इकारलोप (इतश्च), शप्, शब्लुक्।

अलेह्त्— लघूपध गुण।

अ लेढ्— अपृक्त तकार का लोप, हकार को ढकार।

अलेड्, अलेट्— जश्त्व, चर्त्व।

द्विवचन में ताम्, ढत्व, धत्व, ष्टुत्व, ढलोप, दीर्घ कार्य होकर 'अलीढाम्' बनेगा।

लोट्— आत्मनेपद में— प्र०— लीढाम्, लिहाताम्, लिहताम्। म०— लिक्ष्व, लिहाथाम्, लीढ्वम्। उ०— लेहै, लेहावहै, लेहामहै।

लङ् परस्मै०— प्र०— अलेट्—ड्, अलीढाम्, अलिहन्। म०— अलेट्-ड् अलीढम्, अलीढम्, अलीढ। उ०— अलेहम्, अलिह्व, अलिह्म।

आत्मने० प०— प्र०— अलीढ, अलिहाताम्, अलिहत। म०— अलीढाः, अलिहाथाम्, अलीढ्वम्। उ०— अलिहि, अलिह्वहि, अलिह्महि।

विधिलिङ् परस्मैपद में— लिह्यात्, लिह्याताम्, इत्यादि और आत्मनेपद में— लिहीत, लिहीयाताम्, लिहीरन् आदि रूप बनते हैं।

वि० लिङ् के दोनों पदों में कहीं झल् या पदान्त नहीं मिलता है। अतः ढत्व आदि कार्य नहीं होंगे। आत्मनेपद में 'लिङ् सिचावा०' से कित्त्व होने के कारण लघूपध गुण का निषेध हो जाता है।

आशीर्लिङ् परस्मैपद में— लिह्यात्, लिह्याताम् इत्यादि और आत्मनेपद में— लिहीत, लिहीयाताम्, लिहीरन् आदि रूप बनते हैं।

अलिक्षत्

लिह् त्— लुङ्, अट्, तिप्, पकारलोप, इकार लोप।

लिह् च्लि त्— च्लि। 'शल इगुपधादनिटः क्सः' से क्स।

अ लिढ् स त्— ढत्व, ककार लोप। कित्त्व के कारण गुणनिषेध।

अलिक्षत्— कुत्व, मूर्धन्य।

आत्मने पद के दन्त्यादि प्रत्ययों (त, थास्, ध्वम्, वहि) में 'लुग्वा दुहादिहलिह० से 'क्स' का वैकल्पिक लुक् होता है।

लुङ् में— परस्मै० प्र०— अलिक्षत्, अलिक्षताम्, अलिक्षन्। म०— अलिक्षः, अलिक्षतम्, अलिक्षत। उ०— अलिक्षम्, अलिक्षाव, अलिक्षाम।

आत्म० प० प्र० अलिक्षत-अलीढ, अलिक्षाताम्, अलिक्षन्त। म०— अलिक्षथाः-अलीढाः, अलिक्षाथाम्, अलिक्षध्वम्-अलीढ्वम्। उ०— अलिक्षि, अलिक्षावहि-अलिह्वहि, अलिक्षामहि अलिक्ष्महि।

लृङ् में— परस्मै० अलेक्ष्यत्। आत्मने० अलेक्ष्यत।

'ब्रूञ्' का अर्थ है— व्यक्त अर्थात् स्पष्ट वाणी।

इसका अर्थ है— स्पष्ट बोलना जो मनुष्यों के सम्बन्ध में ही होता है।

५९३. [५]**ब्रुवः** [६]**पञ्चानामादित आहो**[१] **ब्रुवः**[६] **(३/४/७४)**

ब्रुवो लटस्तिबादीनां पञ्चानां णलादयः पञ्च वा स्युः, ब्रुवश्चाहादेशः। आह, आहतुः, आहुः।

ब्रुव इति— 'ब्रू' धातु से लट् स्थानिक 'तिप्' आदि पाँच प्रत्ययों को 'णल्' आदि आदेश विकल्प से होते हैं तथा धातु को 'आह्' आदेश होता है।

ब्रू तिप् (लट्)। आह् णल्। आह।

इसी प्रकार 'आहतुः' तथा 'आहुः' रूप बनेंगे।

५९४. [६]**आहस्थः**[१] **(८/२/३५)**

झलि परे। चर्त्वम्– आत्थ, आहथुः।

आह इति- झल् परे रहते 'आह्' को थकार आदेश होता है।

'ब्रू सिप्'— यहाँ 'थल्' आदेश हुआ। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा हकार को थकार हो गया। आह् थ। आथ् थ। 'खरि च' के द्वारा 'त्' होकर 'आत्थ' बना। द्विवचन में 'आहथुः' होगा।

५९५. [५]**ब्रुव ईट्**[१] **(७/३/९३)**

ब्रुवः परस्य हलादेः पित ईट् स्यात्। ब्रवीति, ब्रूतः, ब्रुवन्ति। ब्रूते, ब्रुवाते, ब्रुवते।

ब्रुव इति— 'ब्रू' से पर हलादि 'पित्' को 'ईट्' आगम हो।

'ब्रू तिप्' में णल् आदेश के अभाव पक्ष में 'ईट्' हो गया। तब गुण होकर अव् आदेश हुआ। ब्रू ईट् ति। ब्रो ई ति। ब्रवीति। द्विवचन में 'ब्रूतः' बना।

'ब्रू झि'— यहाँ 'अन्त' आदेश हुआ, तब 'इको यणचि' से यण् प्राप्त हुआ जिसे बाध कर 'अचिश्नु धातु०' के द्वारा 'उवङ्' आदेश हो गया। ब्रुवन्ति। अपित् होने से ङित् हो जाता है जिसके फलस्वरूप गुण नहीं हो पाता। इसी प्रकार 'ब्रुवाते' तथा 'ब्रुवते' में भी 'उवङ्' आदेश होगा।

५९६. [६]**ब्रुवो वचिः**[१] **(२/४/५३)**

आर्धधातुके। उवाच, ऊचतुः ऊचुः। उवचिथ-उवक्थ। ऊचे। वक्ता। वक्ष्यति, वक्ष्यते। ब्रवीतु-ब्रूतात्, ब्रूताम्, ब्रुवन्तु; ब्रूहि; ब्रवाणि। ब्रूताम्, ब्रवै। अब्रवीत्, अब्रूत। ब्रूयात्, ब्रुवीत। उच्यात्, वक्षीष्ट।

ब्रुव इति— आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते 'ब्रू' को 'वच्' आदेश हो।

लिट् में 'वच्' आदेश, द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर 'व वच् णल्' यह स्थिति बनी।

तब 'लिटि अभ्यासस्य०' के द्वारा अभ्यास को सम्प्रसारण तथा 'सम्प्रसारणाच्च' के द्वारा पूर्व रूप होकर 'उवच्' हुआ। तब उपधा को 'अत उपधायाः' से वृद्धि होकर 'उवाच' बना।

'वच् अतुस्' यहाँ 'लिटि धातोरना०' के द्वारा द्वित्व प्राप्त हुआ तथा साथ ही 'वचिस्वपि०' के द्वारा सम्प्रसारण प्राप्त हुआ। 'सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत्' के बल पर पहले सम्प्रसारण हुआ। तब द्वित्व आदि कार्य होंगे। वच् अतुस्। उ अ च् अतुस्। उच् अतुस्। उच् उच् अतुस्। उ उच् अतुस्। ऊचतुः। इसी प्रकार 'ऊचुः' बना।

थल् में इट् होकर 'उवचिथ' तथा इट् के अभाव पक्ष में 'उवक्थ' बनता है।

लुट् में 'वक्ता', लृट् में 'वक्ष्यति' तथा 'वक्ष्यते' बनेंगे। लोट् में 'ब्रवीतु' तथा तातङ् के पक्ष में 'ब्रूतात्' होगा। बहुवचन में 'ब्रुवन्तु' होगा।

'ब्रू सिप्' में अपित् 'हि' आदेश होगा। तब गुण निषेध होकर 'ब्रूहि' बनेगा।

'ब्रू मिप्' में आट् आगम, गुण, 'मिप्' को 'नि' आदेश, णत्व, अव् आदेश होगा। 'ब्रवाणि' बनेगा।

परस्मै० प्र०— ब्रवीतु-ब्रूतात्, ब्रूताम्, ब्रुवन्तु। म०— ब्रूहि-ब्रूतात्, ब्रूतम्, ब्रूत। उ०— ब्रवाणि, ब्रवाव, ब्रवाम। आत्मने० प्र०— ब्रूताम्, ब्रुवाताम्, ब्रुवताम्। म०— ब्रूष्व, ब्रुवाथाम्, ब्रूध्वम्। उ०— ब्रवै ब्रवावहै, ब्रवामहै।

लङ्— परस्मै० प्र०— अब्रवीत्, अब्रूताम्, अब्रुवन्। म०— अब्रवीः, अब्रूतम्, अब्रूत। उ०— अब्रवम्, अब्रूव, अब्रूम। आत्मने० प्र०— अब्रूत, अब्रुवाताम्, अब्रुवन्त। म०— अब्रूयाः, अब्रुवाथाम्, अब्रूध्वम्। उ०— अब्रुवि, अब्रूवहि, अब्रूमहि।

विधिलिङ्— परस्मै० प्र०— ब्रूयात्, ब्रूयाताम्, ब्रूयुः। म०— ब्रूयाः, ब्रूयातम्, ब्रूयात। उ०— ब्रूयाम्, ब्रूयाव, ब्रूयाम। आत्मने० प्र०— ब्रुवीत, ब्रुवीयाताम्, ब्रुवीरन्। म०— ब्रुवीथाः ब्रुवीयाथाम्, ब्ररुवीध्वम्। उ०— ब्रुवीय, ब्रुवीवहि, ब्रुवीमहि।

आशीर्लिङ्— परस्मै० प्र०— उच्यात्, उच्यास्ताम् उच्यासुः। म०— उच्याः उच्यास्तम्, उच्यास्त। उ०— उच्यासम्, उच्यास्व, उच्यास्म।

५९७. [५]**अस्यति-वक्ति-ख्यातिभ्योऽङ्**[१] **(३/१/५२)**

एभ्यश्च्लेरङ् स्यात्।

अस्यतीति— अस् (फेंकना), वच् (बोलना) और ख्या (कहना) धातुओं से परे 'च्लि' को 'अङ्' आदेश हो।

लुङ् में 'ब्रू' को सर्वप्रथम 'वच्' आदेश हुआ। अट् आगम, च्लि, अङ् आदेश हुआ। अट् वच् च्लि तिप्। अ वच् अङ् त्। अवच् अ त्।

५९८. [६]**वच उम्**[१] (७/४/२०)

अङि परे। अवोचत् अवोचत। अवक्ष्यत्, अवक्ष्यत। (ग० सू०) चर्करीतं च।

चर्करीतमिति यङ्लुगन्तम्, तददादौ बोध्यम्। ऊर्णुञ् आच्छादने॥ २४॥

वच इति— 'अङ्' परे रहते (वच् को 'उम्' आगम होता है)।

'अ व च् अ त्' इस अवस्था में प्रकृत सूत्र के द्वारा 'उम्' आदेश होकर—

अ व उम् च् अ त्। अवोचत् बना।

इसी प्रकार— परस्मै० प्र०— अवोचताम्, अवोचन्। म०— अवोच:, अवोचतम्, अवोचत। उ०— अवोचम्, अवोचाव, अवोचाम। आत्मने० प्र०— अवोचत, अवोचेताम्, अवोचन्त। म०— अवोचथा:, अवोचेथाम्, अवोचध्वम्। उ०— अवोचि, अवोचावहि, अवोचामहि—

ग० सू०— 'चर्करीत' यङ्लुगन्त को कहते हैं। उसे अदादिगण में समझना चाहिए। इसका फ़ल है— शप् लुक्। 'ऊर्णुञ्' का अर्थ है—ढकना।

ञित् होने से उभयपदी है तथा अनेकाच् होने से सेट् है।

५९९. [६]ऊर्णोतिर्विभाषा[१] (७/३/९०)

वा वृद्धि: स्याद् हलादौ पिति सार्वधातुके। ऊर्णौति-ऊर्णोति, ऊर्णुत:, ऊर्णुवन्ति। ऊर्णुवाते, ऊर्णुवते।

(वा०) ऊर्णोतिराम् नेति वाच्यम्।

ऊर्णोतेरिति— 'ऊर्णु' धातु को विकल्प से वृद्धि होती है हलादि पित् सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते।

आत्मनेपद के सभी प्रत्यय अपित् हैं और हलादि हैं। अत: यहाँ वृद्धि होगी। शेष हलादि में गुण न होगा। पित् प्रत्ययों के परे रहते पक्ष में गुण होगा यथा—

ऊर्णौति, ऊर्णोति।

ऊर्णुवन्ति— यहाँ उवङ् होकर रूप बना है।

(वा०) 'ऊर्णु' धातु से 'आम्' नहीं होता है।

लिट् में 'इजादेश्च गुरुमतो०' के द्वारा इससे 'आम्' प्राप्त होता है। तब वार्तिक के द्वारा निषेध किया गया।

यह धातु अनेकाच् है। अत: द्वितीय एकाच् को द्वित्व होगा। रेफ को भी द्वित्व प्राप्त होता है।

६००. नँ न्द्रा[१] संयोगादय:[१] (६/१/३)

अच: परा: संयोगादयो नदरा द्विर्न भवन्ति। 'नु'शब्दस्य द्वित्वम्। ऊर्णुनाव, ऊर्णुनुवतु:, ऊर्णुनुवु:।

नेति— अच् से पर संयोग के आदि न, द, र को द्वित्व न हो।

प्रकृत सूत्र के द्वारा रेफ के द्वित्व का निषेध होता है। 'नु' शब्द को द्वित्व होता है। क्योंकि द्वित्व के प्रति णत्व असिद्ध है।

अचो 'ञ्णिति' से वृद्धि होगा। यथा— ऊर्णु तिप्। ऊर् नु नु णल्। ऊर्णुनाव।

द्विवचन तथा बहुवचन में अपित् लिट् (कित्) होने से गुण नहीं होगा।

६०१. **विभाषोर्णोः**[५] (१/२/३)

इडादिप्रत्ययो वा ङित् स्यात्। ऊर्णुनुविथ-ऊर्णुनविथ। ऊर्णुविता-ऊर्णविता। ऊर्णुविष्यति-ऊर्णविष्यति। ऊर्णौतु-ऊर्णोतु। ऊर्णवानि, ऊर्णवै।

विभाषेति— 'ऊर्णु' धातु से पर इडादि प्रत्यय विकल्प से ङित् हों। ङित् पक्ष में उवङ् तथा अभाव पक्ष में गुण होगा।

म०— ऊर्णुनुविथ-ऊर्णुनविथ, ऊर्णुनुवथुः, ऊर्णुनुव। उ०— ऊर्णुनाव-ऊर्णुनव, ऊर्णुनुविव ऊर्णुनविव, ऊर्णुनुविम-ऊर्णुनविम।

आत्मने० प्र०— ऊर्णुनुवे, ऊर्णुनुवाते, ऊर्णुनुविरे। म०— ऊर्णुनुविषे-ऊर्णुनविषे, ऊर्णुनुवाथे, ऊर्णुनुविढ्वे-ऊर्णुनुविध्वे। उ०— ऊर्णुनुवे, ऊर्णुनुविवहे-ऊर्णुनविवहे, ऊर्णनुविमहे-ऊर्णुनविमहे।

लुट्— परस्मै० प्र०— ऊर्णुविता, ऊर्णुवितारौ, ऊर्णुवितारः। ऊर्णविता, ऊर्णवितारौ ऊर्णवितारः। म०— ऊर्णुवितासि, ऊर्णवितास्थः, ऊर्णुवितास्थ। ऊर्णवितासि, ऊर्णवितास्थः, ऊर्णवितास्थ। उ०— ऊर्णुवितास्मि, ऊर्णुवितास्वः, ऊर्णुवितास्मः।

आत्मने० म०— ऊर्णुवितासे, ऊर्णुवितासाथे, ऊर्णुविताध्वे। ऊर्णवितासे, ऊर्णवितासाथे, ऊर्णविताध्वे। उ०— ऊर्णुविताहे, ऊर्णुवितास्वहे, ऊर्णुवितास्महे। ऊर्णविताहे, ऊर्णवितास्वहे, ऊर्णवितास्महे।

लृट् परस्मै० प्र०— ऊर्णुविष्यति, ऊर्णविष्यति, ऊर्णुविष्यतः, ऊर्णविष्यतः, ऊर्णुविष्यन्ति। ऊर्णविष्यन्ति। म० ऊर्णुविष्यसि, ऊर्णविष्यसि, ऊर्णुविष्यथः, ऊर्णविष्यथः, ऊर्णुविष्यथ। ऊर्णविष्यथ। उ०— ऊर्णुविष्यामि, ऊर्णविष्यामि, ऊर्णुविष्यावः, ऊर्णविष्यावः, ऊर्णुविष्यामः। ऊर्णविष्यामः।

आत्मने० प्र०— ऊर्णुविष्यते, ऊर्णविष्यते, ऊर्णुविष्येते, ऊर्णविष्येते, ऊर्णुविष्यन्ते। ऊर्णविष्यन्ते। म०— ऊर्णुविष्यसे, ऊर्णविष्यसे ऊर्णुविष्येथे, ऊर्णविष्येथे, ऊर्णुविष्यध्वे। ऊर्णविष्यध्वे। उ०— ऊर्णुविष्ये, ऊर्णविष्ये, ऊर्णुविष्यावहे, ऊर्णविष्यावहे, ऊर्णुविष्यामहे। ऊर्णविष्यामहे। लोट् परस्मै० प्र०— ऊर्णौतु-ऊर्णोतु, ऊर्णुतात्, ऊर्णुताम्, ऊर्णुवन्तु। म०— ऊर्णुहि-ऊर्णुतात्, ऊर्णुतम्, ऊर्णुत। उ०— ऊर्णवानि, ऊर्णवाव, ऊर्णवाम। आत्मने० प्र०— ऊर्णुताम्, ऊर्णुवाताम्, ऊर्णुवताम्। म०— ऊर्णुष्व ऊर्णुवाथाम्, ऊर्णुध्वम्। उ०— ऊर्णवै, ऊर्णवावहै, ऊर्णवामहै।

६०२. [१]**गुणोऽपृक्ते**[७] (७/३/९१)

ऊर्णोतेर्गुणोऽपृक्ते हलादौ पिति सार्वधातुके। वृद्ध्यपवादः। और्णोत्, और्णोः। ऊर्णुयात्, ऊर्णुयाः। ऊर्णुवीत। ऊर्णुयात्। ऊर्णुविषीष्ट-ऊर्णविषीष्ट।

गुण इति— अपृक्त हलादि पित् सार्वधातुक परे रहते 'ऊर्णु' धातु को गुण होता है। यह वृद्धि का अपवाद है।

लङ् लकार में तिप् तथा सिप् (केवल परस्मै) दो ही प्रत्यय है जिनके इकार का लाप हो जाने पर अपृक्त रह जाते हैं। अतः इनके परे रहते गुण हो जायेगा। 'मिप्' को 'अम्' आदेश हो जाता है। तब सामान्य सार्वधातुक गुण होगा।

लङ्— परस्मै० प्र०— और्णोत्, और्णुताम्, और्णुवन्। म०— और्णोः, और्णुतम्, और्णुत। उ०— और्णवम्, और्णुव, और्णुम।

आत्मने० प्र०— और्णुत, और्णुवाताम्,और्णुवत। म०— और्णुथाः, और्णुवाथाम्, और्णुध्वम्। उ०— और्णुवि, और्णुवहि, और्णुमहि।

विधिलिङ्— परस्मै० प्र०— ऊर्णुयात्, ऊर्णुयाताम्, ऊर्णुयुः। म०— ऊर्णुयाः ऊर्णुयातम्, ऊर्णुयात। उ०— ऊर्णुयाम्,ऊर्णुयाव ऊर्णुयाम।

आत्मने० प्र०— ऊर्णुवीत, ऊर्णुवीयाताम्, ऊर्णुवीरन्। म०— ऊर्णुवीथाः, ऊर्णुवीयाथाम्, ऊर्णुवीध्वम्। उ०— ऊर्णुवीय, ऊर्णुवीवहि, उर्णुवीमहि।

आशीर्लिङ्— परस्मै० प्र०— ऊर्णूयात्। ऊर्णूयास्ताम्, ऊर्णूयासुः। म०— ऊर्णूयाः, ऊर्णूयास्तम्, ऊर्णूयास्त। उ०— ऊर्णूयासम्, ऊर्णूयास्व, ऊर्णूयास्म।

यहाँ अकृत्सार्वधातुकयोः' से दीर्घ होता है।

आत्मने० प्र०— ऊर्णुविषीष्ट, ऊर्णुविषीयास्ताम्, ऊर्णुविषीरन्।

६०३. [६]**ऊर्णोतेर्विभाषा (७/२/६)**

इडादौ परस्मैपदे परे सिचि वा वृद्धिः। पक्षे गुणः। और्णावीत्- और्णुवीत्- और्णवीत्। और्णाविष्टाम्-और्णुविष्टाम्-और्णविष्टाम्। और्णुविष्ट, और्णविष्ट। और्णुविष्यत्, और्णविष्यत्। और्णुविष्यत, और्णविष्यत।

इत्यदादिप्रकरणम्

ऊर्णोतेरिति— इडादि परस्मैपद सिच् परे रहते 'ऊर्ण्' धातु को विकल्प से वृद्धि हो। पक्ष में गुण हो जायेगा।

लुङ् में आट् आगम, इकार लोप, सिच्, इट् आगम, ईट् आगम तथा वृद्धि होकर 'और्णावीत्' बना। पक्ष में गुण होकर 'और्णवीत्' बनेगा। इडादि प्रत्यय के पक्ष में 'ङित्' होने पर (विभषोर्णोः के द्वारा) उवङ् आदेश होकर 'और्णुवीत्' बना।

आत्मने पद में ङित् पक्ष तथा अङित् पक्ष— इन दो पक्षों में क्रमशः 'और्णुविष्ट' तथा 'और्णविष्ट' रूप बनेंगे।

॥ अदादि गण समाप्त हुआ ॥

॥ ३ ॥ अथ जुहोत्यादिगण:।

हु दानाऽदनयो:॥ १॥

'हु' का अर्थ— देना (प्रक्षेप डालना) तथा खाना है। यह अजन्त तथा अनिट् है।

६०४. [५]**जुहोत्याऽऽदिभ्य: श्लु:**[१] (२/४/७५)

शप: श्लु: स्यात्।

जुहो० इति— जुहोत्यादिगण की धातुओं से परे 'शप्' का 'श्लु' हो।

६०५. [७]**श्लौ** (६/१/१०)

धातोर्द्वे स्त:। जुहोति, जुहुत:।

श्लाविति— ('श्लु' के विषय में) धातु को द्वित्व हो।

'हु तिप्'— यहाँ 'कर्तरि शप्' से 'शप्' आया। तब उसे 'श्लु' हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा धातु को द्वित्व हुआ। अभ्यास कार्य हुआ। हु हु ति— पूर्वोभ्यास:, कुहोश्चु:, झु हु ति—अभ्यासे चर्च। जु हु ति— 'सार्वधातुकार्धधातुकयो:' से सामान्य गुण- 'जुहोति'।

'हु तस्'- 'सार्वधातुकमपित्' से ङित् होने से गुण का निषेध हो गया। 'जुहुत:'।

६०६. [१]**अदभ्यस्तात्**[५] (७/१/४)

झस्याऽत् स्यात्। 'हुश्नुवो:' इति यण् जुह्वति।

अदिति— अभ्यस्त से परे 'झ्' को 'अत्' आदेश हो। 'उभे अभ्यस्तम्' के द्वारा जुहोत्यादिगण की सभी धातुएँ अभ्यस्त संज्ञक हो जाती हैं।

'हु झि'— यहाँ 'श्लु' तथा द्वित्व हुआ। जुहु झि। तब 'झोऽन्त:' से अन्त आदेश प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'अन्त्' आदेश का बाध होकर 'अत्' आदेश हुआ जु हु अति। तब 'हुश्नुवो०' के द्वारा यण् होकर 'जुह्वति' बनेगा।

६०७. [६]**भी-ह्री-भृ-हुवां श्लुवच्च** (३/१/३९)

एभ्यो लिटि आम् वा स्यात्, आमि श्लाविव कार्यं च। जुहवाञ्चकार, जुहाव। होता। होष्यति। जुहोतु-जुहुतात्, जुहुताम्, जुह्वतु; जुहुधि, जुहवानि। अजुहोत्, अजुहुताम्।

भीति— भी (डरना), ह्री (लजाना), भृ (पालन करना) तथा हु (हवन करना) से विकल्प से 'आम्' हो, लिट् परे रहते तथा श्लु के समान कार्य हो।

'हु लिट्' इस अवस्था में 'आम्' होगा। उसे श्लुवद्भाव होकर द्वित्व आदि कार्य होंगे। हु हु आम् लिट्— आम:, कृञ्चाऽनुप्र० जु हु आम् कृ णल्— अचो ञ्णिति। गुण। जुहो आम् चकार— एचोऽयवायाव:। जु ह व् आम्। 'कृ' का अनुप्रयोग करके 'जुहवाञ्चकार' बनेगा।

अनुप्रयोग के रूप निम्नलिखित प्रकार से बनेंगे।

प्र०	जुहवाञ्चकार	जुहवाञ्चक्रतुः	जुहवाञ्चक्रुः
म०	जुहवाञ्चकर्थ	जुहवाञ्चक्रथुः	जुहवाञ्चक्र
उ०	जुहवाञ्चकार-जुहवाञ्चकर	जुहवाञ्चकृव	जुहवाञ्चकृम

इसी प्रकार 'जुहवाम्बभूव' और 'जुहवामास' इत्यादि रूप बनेंगे।

'आम्' के अभाव पक्ष में द्वित्व, अभ्यास कार्य, वृद्धि होकर 'जुहाव' बनेगा।

निम्नलिखित रूप बनेंगे— प्र०— जुहाव, जुहुवतुः, जुहुवुः। म०— जुहोथ-जुहविथ, जुहुवथुः, जुहुव। उ०— जुहाव-जुहव, जुहुविव, जुहुविम।

लुट् में— होता, होतारौ, होतारः इत्यादि रूप बनते हैं।

लृट् लकार में 'होष्यति' बनेगा।

लोट् लकार में 'जुहोतु', जुहुतात्' रूप बनेंगे। बहुवचन में 'अदभ्यस्तात्' से 'अत्' आदेश होकर 'जुह्वतु' रूप बनेगा।

'सिप्' को 'हि' आदेश हुआ। यह अपित् है। तब 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' के द्वारा 'धि' आदेश हो गया। जुहुधि।

'हु मिप्'— यहाँ 'मिप्' को 'नि' आदेश, आट् आगम हुआ जो पित् है। द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर— 'जुहु आट् नि' इस स्थिति में 'इको यणचि' से सामान्य यण् की प्राप्ति हुई। जिसे बाधकर उवङ् की प्राप्ति हुई। पुनः 'हुश्नुवोः०' के द्वारा यण् की प्राप्ति हुई। तब यण् को बाधकर गुण हुआ। जुहवानि। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्'। लङ् में 'अजुहोत्' बनेगा। 'इतश्च'।

६०८. [७]जुसि चँ (७/३/८३)

इगन्ताङ्गस्य गुणोऽजादौ जुसि। अजुहवुः जुहुयात्। हूयात्। अहौषीत्। अहोष्यत्। ञिभि भये॥ २॥ बिभेति।

जुसीति— अजादि जुस् परे रहते इगन्त अङ्ग को गुण होता है।

लुङ् में 'हु झि'— यहाँ (सिजभ्यस्त विदिभ्यः) 'जुस्' आदेश, द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर— 'जुहु जुस्' अपित् होने से 'झि' ङित् हो गया। तब गुण का निषेध हुआ। उवङ् प्राप्त हुआ। उसका बाध होकर यण् प्राप्त हुआ। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा गुण हुआ। अजुहवुः।

विधिलिङ् में 'जुहुयात्' तथा आशीर्लिङ् में 'हूयात्' बनेगा। 'अकृत्सार्वधातुकयो०' से दीर्घ आदेश। लुङ् में 'सिचि वृद्धि परस्मैपदेषु' के द्वारा वृद्धि होकर 'अहौषीत्' रूप बनेगा। लृङ् में 'अहोष्यत्' बनेगा।

'भी' का अर्थ है— डरना। यह अनिट् है। उभयपदी है।

'भी तिप्' यहाँ शप्, श्लु, द्वित्व, गुण होकर 'बिभेति' रूप बना। 'ह्रस्वः' 'अभ्यासे चर्च'।

६०९. [६]भियोऽन्यतरस्याम् (६/४/११५)

इकारो वा स्याद् हलादौ क्ङिति सार्वधातुके। बिभितः-बिभीतः, बिभ्यति। बिभयाञ्चकार, बिभाय। भेता। भेष्यति। बिभेतु-बिभितात्-बिभीतात्। अबिभेत्। बिभियात्-बिभीयात्। भीयात्। अभैषीत्। अभेष्यत्। ह्री लज्जायाम्॥३॥ जिह्रेति, जिह्रीतः, जिह्रियति। जिह्रयाञ्चकार, जिह्राय। ह्रेता। ह्रेष्यति। जिह्रेतु। अजिह्रेत्। जिह्रीयात्। ह्रीयात्। अह्रैषीत्। अह्रेष्यत्। पॄ पालनपूरणयोः॥४॥

भिय इति— हलादि कित्, ङित् सार्वधातुक परे रहते 'भी' धातु को विकल्प से इकार अन्तादेश हो। 'भी तस्'— यहाँ इकार आदेश पक्ष में 'बिभितः' तथा अभाव पक्ष में 'बिभीतः' बन गया। बहुव० में 'सार्वधातुकमपित्' से ङित्। 'अदभ्यस्तात्' से 'अत्' आदेश व 'एरनेकाचोऽसंयो०' से यण् होकर 'बिभ्यति'।

शेष रूप— म०— बिभेषि, बिभिथः-बिभीथः, बिभिथ-बिभीथ। उ०— बिभेमि, बिभिवः- बिभीवः, बिभिमः-बिभीमः।

लिट् लकार में 'भीह्रीभृ०' के द्वारा 'आम्' होगा। तब द्वित्वादि कार्य होकर 'कृ' का अनुप्रयोग होकर 'बिभयाञ्चकार' रूप सिद्ध हुआ।

अनुप्रयोग के अभावपक्ष में— प्र०— बिभाय, बिभ्यतुः, बिभ्युः। म०— बिभयिथ-बिभेथ, बिभ्यथुः, बिभ्य। उ०— बिभाय-बिभय, बिभ्यिव, बिभ्यिम।

लुट् तथा लृट् में गुण होकर 'भेता' व 'भेष्यति' बनेंगे।

लोट् में हलादि प्रत्ययों में ह्रस्व विकल्प होता है— प्र०— बिभेतु-बिभितात्-बिभीतात्, बिभिताम्-बिभीताम्। बिभ्यतु। म०— बिभिहि-बिभीहि बिभितात्-बिभीतात्। बिभितम्-बिभीतम्, बिभित-बिभीत। उ०— बिभयानि, बिभयाव, बिभयाम।

लङ् में— प्र०— अबिभेत्, अबिभिताम् अबिभीताम्, अबिभयुः। म०— अबिभेत्, अबिभितम्-अबिभीव, अबिभिव, अबिभिम-अबिभीम।

विधिलिङ्— प्र०— बिभियात् बिभीयात्, बिभियाताम्-बिभीयाताम्, बिभियुः-बिभीयुः। म०— बिभियाः-बिभीयाः, बिभियातम्-बिभीयातम्, बिभियात-बिभीयात। उ०— बिभियाम्-बिभीयाम्, बिभियाव-बिभीयाव, बिभियाम-बिभीयाम।

आशीर्लिङ् में— भीयात्, भीयास्ताम्, भीयासुः इत्यादि रूप बनते हैं।

लुङ् प्रथम एकव० में अट्, तिप्, सिच् ईट् हो गया। अभी स् ईत्। अब इगन्तलक्षणा वृद्धि होकर 'अभैषीत्' बना।

प्र०— अभैषीत्, अभैष्टाम्, अभैषुः। म०— अभैषीः, अभैष्टम्, अभैष्ट। उ०— अभैषम्, अभैष्व, अभैष्म।

लृङ् लकार में 'अभेष्यत्' रूप बनेगा।

'ह्री' का अर्थ है— लज्जा करना।

इसके रूप भी 'भी' धातु की तरह होंगे। लट् स्थानिक तिप् में शप्, श्लु, द्वित्व व गुण होकर 'जिह्रेति' बनेगा। 'झि' प्रत्यय को 'अत्' आदेश होगा। तब 'अचिश्नुधातु०' से 'इयङ्' आदेश होगा। जिह्रियति। लिट् में 'भीह्रीभृ०' से 'आम्' विकल्प से होता है। 'कृ' का अनुप्रयोग होकर 'जिह्रयाञ्चकार' रूप बनेगा। आम् अभाव में वृद्धि होकर 'जिह्राय' बनेगा।

लुट् व लृट् में गुण होगा। ह्रेता। ह्रेष्यति।

लोट् स्थानिक तिप् करने पर 'जिह्रतु' बनेगा। लङ् प्रथम एकव० में गुण होकर 'अजिह्रेत्' बनेगा।

लुङ् में वृद्धि होकर 'अह्रैषीत्' बनेगा।

'पॄ' का अर्थ है— पूर्ण करना।

६१०. [६]**अर्ति-पिपर्त्योश्च**[१] (७/४/७७)

अभ्यासस्य इकारोऽन्तादेश: स्यात् श्लौ। पिपर्ति।

अर्तीति— श्लु के विषय में 'ऋ' तथा पॄ के अभ्यास को इकार अन्तादेश हो। यह अन्तादेश 'उरण् रपर:' के द्वारा रपर होकर 'इर्' के रूप में होगा।

'पॄ तिप्'— यहाँ द्वित्व आदि कार्य होकर 'पॄ पॄ ति' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र के द्वारा इकार आदेश होगा। पिर् पॄ ति पिपर्ति। 'सार्वधातुकार्धधातुकयो'।

६११. [१]**उद् ओष्ठ्य पूर्वस्य**[६] (७/१/१०२)

अङ्गावयवौष्ठ्यपूर्वो य ॠत्, तदन्तस्याङ्गस्य उत् स्यात्।

उदिति— यदि ॠकारान्त धातु के ॠकार के पूर्व कोई ओष्ठ्य वर्ण हो तो तदन्त अङ्ग को उकार अन्तादेश होता है।

'पॄ तस्' में द्वित्व, अभ्यास कार्य 'सार्वधातुकमपित्' से तस् ङित् है। 'ॠत इद्धातो:' से इत्त्व प्राप्त। इसे बाधकर प्रकृत से उकार आदेश हुआ। पॄ पॄ तस्। पि पॄ तस्। पि पुर् तस्। पि पुर् त:।

६१२. [७]**हलि च** (८/२/७७)

रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घो हलि। पिपूर्त:, पिपुरति। पपार।

हलीति— हल् परे रहते धातु की उपधा इक् को दीर्घ हो यदि धातु के अन्त में रेफ और वकार हो।

'पिपु र् तस्' इस अवस्था में धातु की उपधा को दीर्घ होकर 'पिपूर्त:' बना।

'पॄ झि'— यहाँ 'झि' को 'अत्' आदेश हुआ। यह ङित् है। अत: गुण नहीं होगा। पिपुरति।

लिट् में उत्तर खण्ड को 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि होकर — पॄ पॄ णल्। प पार् अ। पपार। यहाँ 'प पॄ अ' इस अवस्था में 'ॠच्छत्यॄताम्' के द्वारा गुण 'अत उपधाया:' से

वृद्धि होकर भी 'पपार' बन जायेगा।

६१३. [६]शॄदॄप्रां ह्रस्वो[१] वा (७/४/१२)

एषां किति लिटि ह्रस्वो वा स्यात्। पप्रतुः।

श्रिति— कित् लिट् परे रहते शॄ, दॄ तथा पॄ धातुओं को विकल्प से ह्रस्व हो।

'पॄ पॄ तस् > अतुस्' यहाँ उत्तरखण्ड में यण् होकर 'पप्रतुः' रूप बना।

यह अपित् होने से 'असंयोगाल्लिट् कित्' के द्वारा कित् हो गया। इसी प्रकार झि, थस्, थ, वस् तथा मस् सभी कित् हो जायेंगे।

६१४. [६]ऋच्छत्यॄताम् (७/४/११)

तौदादिकऋच्छेर्ऋृतां च गुणो लिटि। पपरतुः, पपरुः।

ऋच्छदीति— तुदादिगणी ऋच्छ्, ऋ तथा ॠदन्त धातुओं को गुण होता है, लिट् परे रहते।

कित् लिट् लकार में ह्रस्व अभाव पक्ष अर्थात् दीर्घत्व पक्ष में 'पॄ पॄ तस्' इस अवस्था में प्रकृत सूत्र के द्वारा गुण हुआ। प पर् तस्। तब 'अतुस्' आदेश होकर 'पपरतुः' बन गया।

'पॄ झि' यहाँ पूर्ववत् क्रिया होकर 'पपरुः' रूप बनेगा।

६१५. [५]वॄतो वा (७/२/३८)

वृङ्वृञ्भ्यामृृदन्ताच्चेटो दीर्घो वा स्यात्, न तु लिटि। परीता, परिता। परीष्यति, परिष्यति। पिपर्तु। अपिपः, अपिपूर्ताम्, अपिपरुः। पिपूर्यात्। पूर्यात्। अपारीत्।

वृत इति— वृङ्, वृञ् तथा ॠकारान्त धातुओं से पर 'इट्' को विकल्प से दीर्घ हो, परन्तु लिट् परे रहते न हो।

'पॄ तिप्' (लुट् स्थानिक) यहाँ इट् होकर प्रकृत सूत्र के द्वारा दीर्घ होगा। परीता। दीर्घत्व के अभाव पक्ष में 'परिता' बनेगा।

इसी प्रकार लृट् में 'परीष्यति' तथा 'परिष्यति' रूप बनेंगे।

लोट् में अभ्यास को इकारादेश, उत्तरखण्ड को गुण हुआ। पिपर्तु।

लोट् के रूप ये हैं— प्र० पिपर्तु-पिपूर्तात्, पिपूर्ताम्, पिपुरतु। म० पिपूर्हि-पिपूर्तात्, पिपूर्तम्, पिपूर्त। उ० पिपराणि, पिपराव, पिपराम।

ङित् प्रत्ययों में 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य०' के द्वारा 'उर्' आदेश होकर 'हलि च' से दीर्घ हो जायेगा।

लङ् में अट् आगम, श्लुत्व, द्वित्व, अभ्यास को इकार आदेश, हलादि शेष, उत्तरखण्ड को गुण, इकार लोप होकर— अट् पॄ पॄ तिप्। अपि र् प र् त्। अपि प र् त्— इस अवस्था में 'हल्ङ्याब्भ्यः०' के द्वारा तकार का लोप होकर 'अपिपः' रूप बन गया।

इसी प्रकार 'सिप्' का इकार लोप होने पर उसके अपृक्त सकार का लोप होकर

'अपिप:' रूप बनेगा। उत्तम के एकवचन में 'मिप्' को 'अम्' आदेश होकर 'अपिपरम्' बनेगा।

विधिलिङ् में यासुट् ङित् है। अत: गुण नहीं होगा। उकार आदेश, दीर्घत्व कार्य होंगे। पिपूर्यात्। आशीर्लिङ् में पूर्ववत् क्रिया होगी। तिप्, सिप् तथा मिप् में क्रमश: 'पूर्यात्', 'पूर्या:' तथा 'पूर्यासम्' रूप बनेंगे। 'हलि च' से दीर्घ।

लुङ् लकार में अट्, सिच्, इकारलोप। अ पृ स् त्— अस्तिसिचोऽपृक्त० से ईट्। वलादि आर्धधातुक इट्। अ पृ इ स् ई त्— 'वृतो वा' से वैकल्पिक दीर्घ आदेश प्राप्त। 'सिचि च परस्मैपदेषु' से दीर्घ आदेश का बाध। इट ईटि। 'अक: सवर्णे: दीर्घ:'। 'सिचि वृद्धि: परस्मैपदेषु' के द्वारा वृद्धि होती है। अपारीत्।

६१६. [७]सिचि चॅ परस्मैपदेषु[७] (७/२/४०)

अत्र इटो न दीर्घ:। अपारिष्टाम्। अपरीष्यत्-अपरिष्यत्। ओ-हाक् त्यागे॥५॥ जहाति।

सिचीति— वृङ्, वृञ् तथा ऋदन्त धातु से पर 'इट्' को दीर्घ न हो, परस्मैपदपरक के सिच् के परे रहते।

'पृ तस्'— यहाँ अट् आदि पूर्वोक्त कार्य होकर 'अ पार् इट् सिच् ताम्' इस स्थिति में 'वृतो वा' से वैकल्पिक दीर्घत्व प्राप्त हुआ जिसका प्रकृत सूत्र के द्वारा बाध होकर नित्य वृद्धि आदेश हुआ। अपारिष्टाम्।

प्र०— अपारीत्,अपारिष्टाम्, अपारिषु:। म०— अपारी:, अपारिष्टम्, अपारिष्ट। उ०— अपारिषम्, अपारिष्व, अपारिष्म।

लृङ् लकार में 'इट्' को विकल्प से दीर्घ होकर 'अपरिष्यत्' तथा 'अपरीष्यत्' रूप होंगे।

'हा' का अर्थ है— छोड़ना।

लट् में 'जुहोति' की तरह 'जहाति' रूप बनेगा।

६१७. [६]जहातेश्चॅ (६/४/११६)

इद् वा स्याद् हलादौ क्ङिति सार्वधातुके। जहित:।

जहातेरिति— हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते 'हा' धातु को विकल्प से इकार अन्तादेश हो।

सभी अपित् प्रत्यय ङित् है। अत: 'हा तस्' इकार होकर 'जहित:' बनेगा।

६१८. [१]ई [७]हल्यघो:[६] (६/४/११३)

श्नाऽभ्यस्तयोरात ईत् स्यात् सार्वधातुके क्ङिति हलि, न तु घो:। जहीत:।

ईति— सार्वधातुक कित् ङित् हलादि प्रत्यय परे रहते 'श्ना' प्रत्यय तथा अभ्यस्त संज्ञक धातु के आकार को ईकार होता है, परन्तु घुसंज्ञक धातु (के आकार) को न हो।

'हा तस्' यहाँ इकार आदेश के अभाव पक्ष में प्रकृत सूत्र के द्वारा ईकार होगा। जहीतः।

६१९. [६]श्नाऽभ्यस्तयोरातः[६] (६/४/११२)

अनयोरातो लोपः क्ङिति सार्वधातुके। जहति। जहौ। हाता। हास्यति। जहातु-जहितात्-जहीतात्।

श्नेति— कित् ङित् सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते श्ना प्रत्यय के तथा अभ्यस्त संज्ञक धातु के आकार का लोप हो।

'हा झि'— यहाँ द्वित्व, अभ्यास कार्य तथा आकार लोप तथा 'अदभ्यस्तात्' से अत् आदेश आदि होकर 'जहति' रूप बना। हलादि कित् ङित् में ईकार आदेश हो जायेगा तथा अजादि कित् ङित् में आकार का लोप होगा।

'हा लिट्' यहाँ तिप्, द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर 'आत् औ णलः' के द्वारा 'औ' आदेश हुआ। तब वृद्धि एकादेश होकर 'जहौ' रूप बना।

लुट् में 'हाता', लृट् में 'हास्यति', लोट् में 'जहातु' होगा। तातङ् पक्ष में 'जहितात्' होगा। तब पक्ष में दीर्घ होकर 'जहीतात्' भी बनेगा। 'जहातेश्च' 'ई हल्यघोः'।

६२०. [१]आ चँ हौ[७] (६/४/११७)

जहातेर्हौ परे आ स्यात्, चाद् इद्-ईतौ। जहाहि-जहिहि-जहीहि। अजहात्, अजहुः।

एति— 'हि' परे रहते 'हा' धातु के आकार को आकार भी हो। 'च' कहने से पक्ष में 'इत्' तथा 'ईत्' भी होंगे। 'हा सिप्'— 'हि' आदेश होकर 'जहाहि' स्वरूप बना। तब 'इत्' पक्ष में 'जहिहि' तथा 'ईत्' पक्ष में 'जहीहि' रूप बनेगा।

लङ् में 'तिप्' के इकार का लोप होकर 'अजहात्' बना। 'झि' प्रत्यय में 'सिजभ्यस्तविदिभ्यः' से 'जुस्' आदेश, अजादि ङित् परे रहते धातु के आकार का 'श्नाऽभ्यस्तयोरातः' से लोप होकर 'अजहुः' रूप बना।

लङ्— प्र०— अजहात्, अजहिताम्-अजहीताम्, अजहुः। म०— अजहाः, अजहितम्-अजहीतम्, अजहित-अजहीत। उ०— अजहाम्, अजहिव-अजहीव, अजहिम-अजहीम।

६२१. [१]लोपो यि[७] (७/४/११८)

जहातेरालोपो यादौ सार्वधातुके। जह्यात्। एर्लिङि-हेयात्। अहासीत्। अहास्यत्। माङ् माने शब्दे च॥६॥

लोप इति— यकारादि सार्वधातुक परे रहते 'हा' धातु के आकार का लोप होता है।

विधिलिङ् में द्वित्व, अभ्यास कार्य, यासुट् आगम होकर 'जहा या त्' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र के द्वारा आकार का लोप हो गया। जह्यात्।

'हा तिप्' आशीर्लिङ् में 'ऐर्लिङि' के द्वारा एकारादेश होकर 'हेयात्' बना।

लुङ् में अट्, इकारलोप 'यमरमनमातां०' के द्वारा सक् तथा इट् हो गया। तब अहासीत्' बन गया।

अन्य निम्नलिखित रूप बनते हैं—

प्र०	अहासीत्	अहासिष्टाम्	अहासिषु:
म०	अहासी:	अहासिष्टम्	अहासिष्ट
उ०	अहासिषम्	अहासिष्व	अहासिष्म।

लृङ् में 'अहास्यत्' बनेगा।

'मा' का अर्थ है— नापना और शब्द करना।

६२२. [६]भृञाम् इत्[१] (७/४/७६)

भृञ्, माङ्, ओहाङ्-एषां त्रयाणामभ्यासस्य 'इत्' स्यात् श्लौ। मिमीते, मिमाते, मिमते। ममे। माता। मास्यते। मिमीताम्। अमिमीत। मिमीत। मासीष्ट। अमास्त। अमास्यत। ओहाङ् गतौ॥१७॥ जिहीते, जिहाते, जिहते। जहे। हाता। हास्यते। जिहीताम्। अजिहीत। जिहीत। हासीष्ट। अहास्त। अहास्यत। डु भृञ् धारणपोषणयो:॥८॥ बिभर्ति, बिभृत:, बिभ्रति। बिभृते, बिभ्राते, बिभ्रते। बिभराञ्चकार। बभार, बभर्थ, बभृव। बिभराञ्चक्रे, बभ्रे। भर्ता। भरिष्यति, भरिष्यते। बिभर्तु; बिभराणि, बिभृताम्। अबिभ:, अबिभृताम्, अबिभरु:, अबिभृत। बिभृयात्, बिभ्रीत। भ्रियात्, भृषीष्ट। अभार्षीत्, अभृत। अभरिष्यत्, अभरिष्यत। डु दाञ् दाने॥९॥ ददाति, दत्त:, ददति; दत्ते, ददाते, ददते। ददौ, ददे। दातासि, दातासे। दास्यति, दास्यते। ददातु।

भृञामिति— 'श्लु' के विषय में भृञ् (पालन करना), माङ् (मापना) तथा ओहाक् (जाना) धातुओं के अभ्यास को इकार आदेश हो।

'श्लु' के विषय में द्वित्व होकर 'मा मा ते' इस अवस्था में अभ्यास के आकार को इकार आदेश हो गया। मि मा ते। तब 'ईहल्यघो:' के द्वारा उत्तरखण्ड के आकार को ईकार होकर 'मिमीते' रूप बना। द्विवचन में 'श्नाभ्यस्तयोरात:' के द्वारा आकार का लोप होकर 'मि म् आताम्-मिमाते' बनेगा।

'मा झ' में द्वित्व, अभ्यास कार्य, अभ्यास को इकार आदेश, 'अदभ्यस्तात्' से झ् को अत् आदेश, आकार का लोप, अ को एकारादेश, इत्यादि कार्य होंगे। मिमते।

शेष रूप निम्नलिखित हैं— म०— मिमीषे, मिमाथे, मिमीध्वे। उ०— मिमे, मिमीवहे, मिमीमहे।

लिट् लकार प्र० पु० एकव० में 'एश्' आदेश, 'आतो लोप इटि च' से आकार का लोप होकर 'ममे' बन गया। लुट् में 'माता', लृट् में 'मास्यते' बना।

लोट्— प्र० मिमीताम्, मिमाताम्, मिमताम्। म० मिमीष्व, मिमाथाम्, मिमीध्वम्। उ० मिमै, मिमावहै, मिमामहै।

लङ्— प्र०— अमिमीत, अमिमाताम्, 'अदभ्यस्तात्' अमिमत। म०— अमिमीथाः, अमिमाथाम्, अमिमीध्वम्। उ०— अमिमे, अमिमीवहि, अमिमीमहि।

विधिलिङ्— 'भृञाम् इत्' प्र०— मिमीत, मिमीयाताम्, मिमीरन्। म०— मिमीथाः, मिमीयाथाम्, मिमीध्वम्। उ०— मिमीय, मिमीवहि, मिमीमहि।

आशीर्लिङ् में— सीयुट्, सुट्, मूर्धन्य आदेश होकर 'मासीष्ट' बना।

लुङ् में सिच् होकर 'अमास्त' तथा लृङ् में स्य होकर 'अमास्यत' बनेगा।

'हा' का अर्थ है— जाना। ङित् है। अतः आत्मनेपदी है।

'हा त' यहाँ श्लु, द्वित्व, अभ्यास कार्य, अभ्यास को इकार (भृञामित्), उत्तरखण्ड को ईकार (ई हल्यघोः) आदेश हुआ। जिहीते। द्विवचन में आकार लोप होकर 'जिहाते' बन गया। बहुवचन में 'झ' को 'अत्' आदेश, आकार का लोप। 'जिहते'।

लिट् में पूर्ववत् 'जहे' बन गया। लिट् लकार में थास्, वहि तथा महि प्रत्ययों में क्रादि नियम से 'इट्' होता है।

लिट्— प्र०— जहे, जहाते, जहिरे। म०— जहिषे, जहाथे, जहिध्वे। उ०— जहे, जहिवहे, जहिमहे।

लुट् में 'हाता' तथा लृट् में 'हास्यते' बनेगा।

लोट् में 'जिहीताम्' होगा। उत्तम पुरुष एकवचन में 'आट्' आगम होगा। यह पित् है। अतः आकार का लोप नहीं होगा। हा श्लु। हा हा इट्। ह हा इट्। ज हा इट्। ज हा आट् इ। तब प्रत्यय को एकारादेश हुआ। ज हा आ ए। 'अकः सवर्णे दीर्घः' के द्वारा सवर्ण दीर्घ हुआ। जहा ए। अब वृद्धि एकादेश होगा। जिहै।

लोट्— प्र०— जिहीताम्, जिहाताम्, जिहताम्। म०— जिहीष्व, जिहाथाम्, जिहीध्वम्। उ०— जिहै, जिहावहै,जिहामहै।

लङ्— प्र०— अजिहीत, अजिहाताम्, अजिहत। म०— अजिहीथाः, अजिहाथाम्, अजिहीध्वम्। उ०— अजिहि, अजिहीवहि, अजिहीमहि।

विधिलिङ्— प्र०— जिहीत, जिहीयाताम्, जिहीरन्। म०— जिहीथाः, जिहीयाथाम्, जिहीध्वम्। उ०— जिहीय, जिहीवहि, जिहीमहि।

लुङ्— प्र०— अहास्त, अहासाताम्, अहासत। म०— अहास्थाः, अहासाथाम्, अहाध्वम्। उ०— अहासि, अहास्व, अहास्म।

'डु भृञ्' का अर्थ है— धारण करना, पालन क[illegible]।

सार्वधातुक लकारों (लट्, लोट्, लङ् तथा [illegible]) में 'श्लु' होगा। अतः 'भृञामित्' के द्वारा अभ्यास को इकार होगा।

'भृ तिप्'— यहाँ श्लुत्व, उत्तरखण्ड को गुण, अभ्यास को इकार होता है। बिभर्ति। द्विवचन में गुण नहीं होगा। बिभृतः। बहुवचन में गुण नहीं होगा। 'अदभ्यस्तात्'। यण् होकर 'बिभ्रति' रूप बनेगा।

आत्मनेपद के सभी प्रत्यय ङित् हैं। अतः गुण का निषेध हो जाएगा। यथा— बिभृते, बिभ्राते तथा बिभ्रते।

लिट् परस्मैपद में 'भीह्रीभृ०' के द्वारा 'आम्', श्लुवद्भाव तथा 'कृ' का अनुप्रयोग होकर 'बिभराञ्चकार' बन गया। आत्मनेपद में 'बिभराञ्चक्रे' बना। 'आम्' के अभाव पक्ष में वृद्धि इत्यादि होकर 'बभार' रूप बनेगा। 'सिप्' को 'थल्' आदेश तथा क्रादि-नियम से 'इट्' का निषेध होकर 'बभर्थ' बना। वस्' में 'बभृव' बना।

आत्मनेपद में 'आम्' अभाव पक्ष में एश् आदेश होकर 'बभ्रे' बनेगा।

लुट् में 'भर्ता' तथा लृट् में 'भरिष्यति' व 'भरिष्यते' रूप बनेंगे। (ऋद् धनोः स्ये)।

परस्मै० लोट् एकव० में पित् होने से गुण होगा। बिभर्तु। उत्तम में 'मिप्' को 'नि' आदेश होगा। अभ्यास को इकार आदेश, आट् आगम तथा उत्तरखण्ड को गुण होकर 'बिभराणि' बनेगा।

लोट्— परस्मै० प्र०— बिभर्तु-बिभृतात्, बिभृताम्, बिभ्रतु। म०— बिभृहि-तात्, बिभृतम्, बिभृत। उ०— बिभराणि, बिभराव, बिभराम। आत्मने० प्र०— बिभृताम्, बिभ्राताम्, बिभ्रताम्। म०— बिभृष्व, बिभ्राथाम्, बिभृध्वम्। उ०— बिभरै, बिभरावहै, बिभरामहै।

लङ्— परस्मै० पु०— अबिभः, अबिभृताम्, 'अदभ्यस्तात्' अबिभरुः। म०— अबिभः, अबिभृतम्, अबिभृत। उ०— अबिभरम्, अबिभृव, अबिभृम।

लङ् के तिप् तथा सिप् के इकार का लोप हो जाने पर इनका 'हल्ङ्याब्भ्यः०' के द्वारा लोप हो जाता है। 'झि' को 'जुस्' आदेश होता है तथा 'जुसि च' के द्वारा गुण हो जाता है।

लङ्— आत्मने० प्र०— अबिभृत, अबिभ्राताम्, अबिभ्रत। म०— अबिभृथाः, अबिभ्राथाम्, अबिभृध्वम्। उ०— अबिभ्रि, अबिभृवहि, अबिभृमहि।

विधिलिङ् में यासुट् होकर गुण का निषेध हो गया। बिभृयात्। आत्मनेपद में 'बिभ्रीत' हो गया। 'सार्वधातुकमपित्'। आशीर्लिङ् में 'भ्रियात्' (परस्मै०) तथा 'भृषीष्ट' (आत्मने०) रूप बनेंगे।

लुङ् में अट्, सिच्। 'उश्च' से सिच् प्रत्यय कित्। ईट् तथा (सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु) वृद्धि होकर 'अभार्षीत्' बना। आत्मनेपद में सिच् का लोप होगा। अभृत।

लृङ् में परस्मैपद में 'अभरिष्यत्' तथा आत्मनेपद में 'अभरिष्यत' बनेगा।

'दा' का अर्थ है— देना। यह ञित् होने से उभयपदी है।

लट् प्र० एकव० 'ददाति' पूर्ववत् कार्य होकर बना है। 'दा तस्' यहाँ अभ्यास के उत्तरखण्ड के आकार का 'श्नाऽभ्यस्तयो:०' से लोप होता है। दत्तः। बहुवचन में 'अदभ्यस्तात्' से 'अत्' आदेश होकर आकार का लोप होता है। ददति।

आत्मनेपद में सभी प्रत्यय ङित् हैं। अतः आकार का लोप हो जायेगा। दत्ते। द्विवचन में 'ददाते' हुआ।

लिट् में 'ययौ' की तरह 'आत औ णल:' से औ होकर 'ददौ'। आत्मनेपद में 'आतो लोप इटि च' से आकारलोप 'ददे' बन गया। लुट् में 'दाता', लृट् में 'दास्यति', 'दास्यते' ये दो रूप बनेंगे। लोट् में 'ददातु' बनेगा।

६२३. [१]**दा-धा घ्वदाप्**[१] **(१/१/२०)**

दारूपा धारूपाश्च धातवो घुसंज्ञाः स्युः, दाप्-दैपौ विना। ध्वसोः- इत्येत्वम्-देहि। दत्तम्। अददात्, अदत्त। दद्यात्, ददीत। देयात्, दासीष्ट। अदात्, अदाताम्, अदुः।

देति— दा रूप तथा धा रूप धातुओं की घुसंज्ञा होती है, 'दाप्' तथा 'दैप्' को छोड़कर। जिन धातुओं का दा और धा रूप बनता है, उन सब का ग्रहण यहाँ अभीष्ट है। कुछ धातु स्वतः दा धा रूप वाली होती हैं, उन्हें स्वाभाविक दा धा रूप धातु कहते हैं। कुछ धातु 'आदेच उपदेशेऽशिति' से दा धा रूप धारण करती हैं, अतः इन्हें लाक्षणिक कहते हैं।

'दा' रूप धातु चार हैं— १. डुदाञ् दाने (जुहोत्यादि०), २. दाण् दाने (भ्वादि०), ३. दो अवखण्डने (दिवादि०), ४. देङ् रक्षणे (भ्वादि०)। इनमें प्रथम दो स्वाभाविक तथा अन्तिम दो लाक्षणिक हैं।

'धा' रूप धातु दो हैं— १. डुधाञ् धारणपोषणयोः (जुहो०), २. धेट् पाने (भ्वादि०)। धाञ् स्वाभाविक और धेट् लाक्षणिक धा रूप है।

'घु' संज्ञा के ये फल हैं—

१. 'घुमास्थागापा०' से हलादि कित्प्रत्ययों में धुसंज्ञक को ईत्व होता है।

२. 'घ्वसोरेद्धावभ्यास०' से 'हि' परे रहते धातु को एत्व तथा अभ्यास लोप होता है।

३. 'एर्लिङि' से कित् लिङ् में धातु के आकार को एकार आदेश होता है।

४. 'गातिस्थाघुपाभू०' से लुङ् परस्मै० में सिच् का लोप होता है।

५. 'नेर्गदनदपतपद०' से णत्व आदेश होता है।

६. 'स्थाघ्वोरिच्च' से घुसञ्ज्ञक को इत् अन्तादेश तथा उनसे परे सिच् कित् होता है।

७. 'ई हल्यघोः' से घुसञ्ज्ञक के आकार को ईत्व का निषेध हो।

लोट् में— 'दा सिप्' यहाँ श्लुत्व होकर 'सिप्' को अपित् 'हि' आदेश हो गया।

अभ्यासकार्य होकर 'ददा हि' यह स्थिति बनी। तब 'घ्वसोरे०' के द्वारा आकार को एकार तथा अभ्यास का लोप हो गया। देहि.।

शेष रूप— म०— देहि, दत्तम्, दत्त। उ०— ददानि, ददाव, ददाम।

आत्मने० प्र०— दत्ताम्, ददाताम्, ददताम्। म०— दत्स्व, ददाथाम्, दद्ध्वम्। उ०— ददै, ददावहै, ददामहै।

लङ्— परस्मै० प्र०— अददात्, अदत्ताम्, अददु:। म०— अददा:, अदत्तम्, अदत्त। उ०— अददम्, अदद्व, अदद्म।

आत्मने०— प्र०— अदत्त, अददाताम्, अददत। म०— अदत्था:, अददाथाम्, अदद्ध्वम्, उ०— अददि, अदद्वहि, अदद्महि।

विधि लि०— परस्मै० प्र०— दद्यात्, दद्याताम्, दद्यु:। म०— दद्या:, दद्यातम्, दद्यात। उ०— दद्याम्, दद्याव, दद्याम। विधि० लि— आत्मने० प्र०— ददीत, ददीयाताम्, ददीरन्। म०— ददीथा:, ददीयाथम्, ददीध्वम्। उ०— ददीय, ददीवहि, ददीमहि। आशी० पर० देयात्, देयास्ताम्, देयासु:। म० देया:, देयास्तम्, देयास्त। उ० देयासम्, देयास्व, देयास्म।

आशी० लि०— प्र०— दासीष्ट, दासीयास्ताम्। दासीरन्। म०— दासीष्ठा:, दासीयास्थाम्, दासीध्वम्। उ०— दासीय, दासीवहि, दासीमहि।

लुङ् में सिच् का लोप हो जाता है (गातिस्था०)। तब 'तिप्' में 'अदात्'; 'तस्' में 'अदाताम्' तथा 'झि' में 'आत:' से जुस् तथा 'उस्यपदान्तात्' से पररूप। 'अदु:'।

६२४. [६]स्था-घ्वोरिच्च (१/२/१७)

अनयो: 'इद्' अन्तादेश: सिच्च कित् स्याद् आत्मनेपदे। अदित। अदास्यत्, अदास्यत। डुधाञ् धारणपोषणयो:॥ १०॥ दधाति।

स्थेति— आत्मनेपद प्रत्यय परे रहते स्था तथा घु संज्ञक धातुओं को इकार अन्तादेश होता है तथा सिच् कित् होता है।

लुङ् आत्मनेपद में अट् आगम, सिच् होकर 'अदा स् त' यह स्थिति हुई। प्रकृत सूत्र के द्वारा धातु को इकार आदेश हुआ। अदि स् त। सिच् के कित् होने से गुण का निषेध 'ह्रस्वादङ्गात्' के द्वारा सिच् का लोप हो गया। अदित।

लृङ् में 'अदास्यत्' तथा आत्मनेपद में 'अदास्यत' बनेगा।

'धा' का अर्थ धारण करना तथा पोषण करना है।

श्लुत्व होकर अभ्यास को 'अभ्यासे चर्च' के द्वारा जश्त्व हो जाता है। दधाति।

६२५. [६]दधस्तथोश्च[७] (८/२/३८)

द्विरुक्तस्य झषन्तस्य धाञो बशो भष् स्यात्, तथो: परयो: स्ध्वोश्च परत:। धत्त:, दधति, दधासि, धत्थ:, धत्थ। धत्ते, दधाते, दधते, धत्से, धद्ध्वे। धेयात्, धासीष्ट। अधात्, अधित। अधास्यत्, अधास्यत। णिजिर् शौच-

पोषणयो:॥ ११॥

(वा०) इर इत्संज्ञा वाच्या।

दध इति— तकार, थकार, सकार और ध्व परे रहते जिसे द्वित्व किया गया हो ऐसे झषन्त 'धा' धातु के बश् को 'भष्' होता है।

इस सूत्र की प्रवृत्ति के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं।

(क) द्वित्व— यह केवल लट्, लोट्, लङ् तथा विधिलिङ् में होता है।

(ख) झषन्त— जहाँ 'श्नाऽभ्यस्तयोरात:' के द्वारा आकार का लोप होगा, वहाँ धातु झषन्त होगी।

(ग) उपर्युक्त दोनों शर्तों के अतिरिक्त तकार, थकार, सकार तथा ध्व का परे होना आवश्यक है। अत: विधिलिङ् में धातु के झषन्त रहते भी प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि वहाँ यासुट् का व्यवधान है।

अभ्यास में जश्त्व भाव के द्वारा होने वाले दकार को प्रकृत सूत्र के द्वारा पुन: धकार हो जाता है। धा तस्— धा धा तस्। ध धातस्। 'श्नाभ्यस्तयोरात:' से आकार लोप। दध् तस्। धध् तस्। धत् तस्। धत्त:।

वृत्ति में प्रदर्शित सभी रूपों की सिद्धि 'दा' धातु के समान है। केवल भष् भाव अतिरिक्त होता है।

'णिजिर्' का अर्थ है— धोना व पोषण करना।

(वा०) 'इर्' की इत्संज्ञा हो।

'णो न:' के द्वारा नकार होने पर 'निज्' यह स्वरूप बनता है।

६२६. [६]**णिजां त्रयाणां**[६] **गुण:**[१] **श्लौ**[७] **(७/४/७४)**

णिज्, विज्, विषामभ्यासस्य गुण: स्यात् श्लौ। नेनेक्ति, नेनिक्त:, नेनिजति। नेनिक्ते। निनेज, निनिजे। नेक्ता। नेक्ष्यति, नेक्ष्यते। नेनेक्तु, नेनिग्धि।

णिजामिति— श्लु के विषय में णिज्, विज् तथा विष् धातुओं के अभ्यास को गुण होता है।

'निज् तिप्' यहाँ श्लुत्व होता है। तब द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होकर—

'नि निज् ति' इस स्थिति में सार्वधातुक गुण होकर 'निनेज् ति' हो गया। प्रकृत सूत्र के द्वारा अभ्यासको गुण हो गया। 'चो:कु:' के द्वारा कुत्व होकर उसे चर्त्व हुआ। नेनेक्ति। द्विवचन में 'नेनिक्त:' बनेगा। बहुवचन में 'अदभ्यस्तात्' से 'अत्' आदेश होकर पूर्वोक्त रीति से 'नेनिजति' बनेगा।

'निज् सिप्' इस अवस्था में अभ्यास कार्य, अभ्यास को गुण, जकार के स्थान पर गकार, उसे ककार, उत्तरखण्ड को गुण, मूर्धन्य आदेश आदि कार्य होंगे। नि निज् सि। ने निज् सि। नेने क्सि। नेनेक्षि।

लिट् में 'निनेज' (परस्मै०) तथा 'निनिजे' (आत्मने०) रूप बनेंगे। लुट् लकार में 'नेक्ता' बनेगा। लृट् लकार में 'नेक्ष्यति' (खरि च) तथा 'नेक्ष्यते' रूप बनेंगे। लोट् लकार में 'नेनेक्तु' बनेगा। मध्यम के एकवचन में 'हि' आदेश हो गया। 'निनिज् हि' — इस अवस्था में अभ्यास को गुण तथा 'हुझल्भ्यो०' के द्वारा 'धि' आदेश हुआ। नेनिज् धि। 'चोःकुः' के द्वारा कुत्व होकर 'नेनिग्धि' रूप बना।

६२७. **नॉऽभ्यस्तस्याऽचि[७] पिति[७] सार्वधातुके[७]** (७/३/८७)

लघूपधगुणो न स्यात्। नेनिजानि। नेनिक्ताम्। अनेनेक्, अनेनिक्ताम्,अनेनिजुः, अनेनिजम्, अनेनिक्त। नेनिज्यात्, निज्यात्, नेनिजीत, निक्षीष्ट।

नेति— अभ्यस्त धातु को लघूपध गुण न हो अजादि पित् सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते।

निज् मिप् (लोट् स्थानिक) में 'मिप्' को 'नि' आदेश हुआ 'मेर्निः'। आट् आगम हुआ। द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होकर 'निनिज् आट् नि' इस अवस्था में अभ्यास को गुण होकर उत्तरखण्ड को आट् परे रहते लघूपध गुण प्राप्त हुआ जिसका प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध हो गया। नेनिजानि! लङ् में नि निज् त्— अभ्यास को गुण। अभ्यास से उत्तर खण्ड को 'पुगन्तलघूपधस्य' च से गुण। ने ने ज् त्- हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० से अपृक्त तकार का लोप, अट्। अ ने ने ज्। 'चोः कुः', 'वाऽवसाने'। झि को 'सिजभ्यस्तविदिभ्यः'— से जुस् होकर— अनेनिजुः। मिप् को अम् आदेश, 'नाऽभ्यस्तस्याऽचि०' से लघूपध गुण का निषेध। विधिलिङ् परस्मैपद में यासुट् के ङित् होने से गुण का निषेध। आत्मनेपद में 'सार्वधातुकमपित्' से ङिद्वत्। गुण निषेध। आशीर्लिङ् में यासुट् ङित् है। आत्मनेपद में 'लिङ् सिचावात्मने०' से लिङ् कित् है।

लोट् परस्मैपद में—	नेनेक्तु	नेनिक्ताम्	नेनिजतु
	नेनिग्धि	नेनिक्तम्	नेनिक्त
	नेनिजानि	नेनिजाव	नेनिजाम
लोट् आत्मनेपद में—	नेनिक्ताम्	नेनिजाताम्	नेनिजताम्।
	नेनिक्ष्व	नेनिजाथाम्	नेनिग्ध्वम्
	नेनिजै	नेनिजावहै	नेनिजामहै
लङ् परस्मै०—	अनेनेक्	अनेनिक्ताम्	अनेनिजुः
	अनेनेक्	अनेनिक्तम्	अनेनिक्त
	अनेनिजम्	अनेनिज्व	अनेनिज्म
लङ् आत्मने०—	अनेनिक्त	अनेनिजाताम्	अनेनिजत
	अनेनिक्थाः	अनेनिजाथाम्	अनेनिग्ध्वम्
	अनेनिजि	अनेनिज्वहि	अनेनिज्महि

विधिलिङ् परस्मै०—	नेनिज्यात्	नेनिज्याताम्	नेनिज्युः
	नेनिज्याः	नेनिज्यातम्	नेनिज्यात
	नेनिज्याम्	नेनिज्याव	नेनिज्यात
विधि० आत्मने०—	नेनिजीत	नेनिजीयाताम्	नेनिजीरन्
	नेनिजीथाः	नेनिजीयाथाम्	नेनिजीध्वम्
	नेनिजीय	नेनिजीवहि	नेनिजीमहि
आशीर्लिङ् परस्मै०—	निज्यात्	निज्यास्ताम्	निज्यासुः
	निज्याः	निज्यास्तम्	निज्यास्त
	निज्यासम्	निज्यास्व	निज्यास्म

आत्मने०

प्र०	निक्षीष्ट	निक्षीयास्ताम्	निक्षीरन्
म०	निक्षीष्ठाः	निक्षीयास्थाम्	निक्षीध्वम्
उ०	निक्षीय	निक्षीवहि	निक्षीमहि

६२८. [५]इरितो वॉ (३/१/५७)

इरितो धातोश्च्लेरङ् वा परस्मैपदेषु। अनिजत्-अनैक्षीत्, अनिक्त। अनेक्ष्यत्, अनेक्ष्यत।

इति जुहोत्यादयः।

इरित इति— परस्मैपद परे रहते इरित् धातु से पर 'च्लि' को विकल्प से 'अङ्' हो।

लुङ् में अट्, इकार लोप, अङ् आदेश तथा लघूपध गुण का निषेध होकर 'अट् निज् ति- अनिज् च्लि त्-अनिज् अत्' बन गया।

पक्ष में 'अनिज् सिच् त्' इस स्थिति ईट् आगम, कुत्व, जश्त्व, चर्त्व, मूर्धन्य तथा उपधा को हलन्त लक्षणा वृद्धि होती है—

अनिज् स् ई त्। अ निग् सीत्। अनिक् सीत्। अनैक् सीत्। अनेक् षीत्। अनैक्षीत्।

आत्मने पद में— 'अनिज् सिच् त' यहाँ 'झलो झलि' के द्वारा 'सिच्' का लोप होता है। अनिक्त।

लुङ् परस्मैपद

	अङ् पक्ष			अभाव पक्ष (सिच्)		
प्र०	अनिजत्	अनिजताम्	अनिजन्	अनैक्षीत्	अनैक्ताम्	अनैक्षुः
म०	अनिजः	अनिजतम्	अनिजत	अनैक्षीः	अनैक्तम्	अनैक्त
उ०	अनिजम्	अनिजाव	अनिजाम	अनैक्षम्	अनैक्ष्व	अनैक्ष्म

लुङ् आत्मनेपद

प्र०	अनिक्त	अनिक्षाताम्	अनिक्षत
म०	अनिक्था:	अनिक्षाथाम्	अनिग्ध्वम्
उ०	अनिक्षि	अनिक्ष्वहि	अनिक्ष्महि

॥ जुहोत्यादि गण समाप्त ॥

॥४॥ अथ दिवादिगण:।

दिवु क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति गतिषु॥ १॥

'दिव्' के ये अर्थ हैं— (जुआ) खेलना, जीतने की इच्छा, व्यवहार, चमकना, स्तुति करना, प्रसन्न होना, नशा करना, सोना, अभिलाषा करना तथा चलना।

६२९. [५]दिवाऽऽदिभ्य: श्यन्[१] (३/१/६९)

शपोऽपवाद०। 'हलि च'- इति दीर्घ:-दीव्यति। दिदेव। देविता। देविष्यति। दीव्यतु। अदीव्यत्। दीव्येत्। दीव्यात्। अदेवीत्। अदेविष्यत्। एवम्- षिवु तन्तुसन्ताने॥ २॥ नृती गात्रविक्षेपे॥ ३॥ नृत्यति। ननर्त। नर्तिथा।

दिवा० इति— कर्तृवाची सार्वधातुक परे होने पर दिवादिगणी धातुओं से 'श्यन्' होता है। इसके 'न्' तथा 'श्' की इत्संज्ञा होती है। 'सार्वधातुकमपित्'।

'हलि च' के द्वारा उपधा को दीर्घ होकर लट् में 'दीव्यति' बना। लिट् में द्वित्व, अभ्यास कार्य तथा उपधा को गुण हुआ। दिव् दिव् णल् दिदेव् अ। दिदेव। लुट् में 'इट्' होकर 'देविता' बन गया। लृट् में 'देविष्यति' होगा। लोट् में श्यन्, उपधा दीर्घ होकर 'दीव्यतु' बनेगा।

लङ् में अट्, श्यन्, इकार लोप होकर— अ दिव् श्यन् ति। अदीव् य त्। अदीव्यत्— बनेगा।

विधिलिङ् में श्यन्, यासुट्, इय् आदेश, उपधा गुण, इकार लोप, यकार लोप होकर 'दीव्येत्' बनेगा। आशीर्लिङ् में उपधा दीर्घ होकर 'दीव्यात्'।

लुङ् में सिच्, इट्, ईट्, सिच् का लोप, तथा उपधा को गुण हुआ। अदेवीत्। लृङ् में 'अदेविष्यत्' बना।

इसी प्रकार 'षिवु' (अर्थात् सिलाई करना) धातु के रूप होते हैं।

यह धातु षोपदेश है। अत: तन्निमित्तक कार्य होंगे।

'नृत्' का अर्थ है— नाचना।

प्रथम में पूर्ववत् क्रिया होकर 'नृत्यति' आदि रूप बनेंगे।

लिट् में द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होकर 'ननर्त' रूप बनेगा।

लुट् में 'इट्' होकर 'नर्तिता' बना।

६३०. [७]सेऽसिचि[७] कृत-चृत-छृद-तृद-नृतः[५] (७/२/५७)

एभ्यः परस्य सिज्भिन्नस्य सादेरार्धधातुकस्येड् वा। नर्तिष्यति-नर्त्स्यति। नृत्यतु। अनृत्यत्। नृत्येत्। नृत्यात्। अनर्तीत्। अनर्तिष्यत्-अनर्त्स्यत्। त्रसी उद्वेगे॥४॥ 'वा भ्राश' इति श्यन् वा। त्रस्यति-त्रसति। तत्रास।

स इति— कृती (काटना), चृती (खेलना या मारना), छृदिर् (चमकना, खेलना), तृदिर् (हिंसा करना, अनादर करना) तथा नृती (नाचना) धातुओं से परे सिच् से अतिरिक्त सकारादि आर्धधातुक प्रत्यय को विकल्प से 'इट्' हो। 'असिचि' में षष्ठी के अर्थ में सप्तमी आई है।

लृट् लकार में स्य, विकल्प से इट् तथा गुण होकर 'नर्तिष्यति' तथा 'नर्त्स्यति' दो रूप बनेंगे। लोट् में 'नृत्यतु', लङ् में 'अनृत्यत्' तथा विधिलिङ् में 'नृत्येत्' बनेगा। आशीर्लिङ् में 'नृत्यात्' तथा लुङ् में हलन्तलक्षणा वृद्धि का 'नेटि' से निषेध तथा लघूपध गुण होकर 'अनर्तीत्' बनेगा।

लृङ् में 'सेऽसिचि कृतचृत०' से वैकल्पिक इट् होकर 'अनर्तिष्यत्' तथा 'अनर्त्स्यत्' रूप बनेंगे।

'त्रस्' का अर्थ है— डरना।

'वा भ्राश्भ्लाशभ्रमुक्रमु०' के द्वारा विकल्प से 'श्यन्' होता है। पक्ष में शप् होगा। अतः दो दो रूप बनेंगे। यथा लट् में 'त्रस्यति' तथा 'त्रसति'। लिट् के प्रथम में द्वित्व आदि कार्य होकर 'तत्रास' बन गया। 'हलादिः शेषः' 'अत उपधायाः'।

६३१. वॉ जृ-भ्रमु-त्रसाम्[६] (६/४/१२४)

एषां किति लिटि सेटि थलि च एत्वाऽभ्यासलोपौ वा। त्रेसतुः तत्रसतुः, त्रेसिथ-तत्रसिथ। त्रसिता। शो तनूकरणे॥५॥

वेति— जॄ (जीर्ण होना), भ्रमु (घूमना) तथा त्रस् (घबराना) धातुओं को कित् लिट् तथा सेट् थल् परे रहते विकल्प से एत्व तथा अभ्यास लोप होता है।

'त्रस् तस् > अतुस्' यहाँ कित् लिट् होने से प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प से अभ्यास लोप तथा एकारादेश होगा। त्रेसतुः। तत्रसतुः। इसी प्रकार सेट् थल् में त्रेसिथ। तत्रसिथ।

सम्पूर्ण रूप

प्र०	तत्रास	त्रेसतुः-तत्रसतुः	त्रेसुः-तत्रसुः
म०	त्रेसिथ-तत्रसिथ	त्रेसथुः-तत्रसथुः	त्रेस-तत्रस
उ०	तत्रास-तत्रस	त्रेसिव-तत्रसिव	त्रेसिम-तत्रसिम

लुट्—त्रसिता। लृट्— त्रसिष्यति। लोट्—त्रस्यतु-त्रसतु। लङ्— अत्रस्यत् अत्रसत्। विधि० लि०— त्रस्येत् त्रसेत्। आशी० लि०— त्रस्यात्।

लुङ्— अत्रासीत् अत्रसीत्। लृङ्— अत्रसिष्यत्।

'शो' का अर्थ है— पतला करना।

६३२. [६]**ओतः श्यनि**[७] (७/३/७१)

लोपः स्यात् श्यनि। श्यति, श्यतः, श्यन्ति। शशौ, शशतुः शशुः। शाता। शास्यति।

ओत इति— 'श्यन्' परे रहते ओकार का लोप हो।

'शो तिप्' यहाँ 'दिवादिभ्यः०' के द्वारा 'श्यन्' आया। तब 'ओतः श्यनि' के द्वारा ओकार का लोप होकर 'श्यति' बन गया। इसी प्रकार 'श्यतः' तथा 'श्यन्ति' बनेंगे।

लिट् में 'आदेच उपदेशेऽशिति' से आकार तथा 'आत औ णलः' से 'औ' आदेश होकर 'शशौ' बनेगा।

लट्, लोट्, वि० लिङ् तथा लङ् (सार्वधातुक लकारों) में ओकार का लोप हो जायेगा। लट् के रूप पीछे दिखा दिए गए हैं।

लिट् द्विवचन में 'शशतुः' बनेगा। लुट् में 'शाता' बनेगा।

लोट्— प्र० श्यतु,-श्यतात्, श्यताम्, श्यन्तु। म०— श्य, श्यतम्, श्यत। उ०— श्यानि, श्याव, श्याम।

लङ्— प्र०— अश्यत्, अश्यताम्, अश्यन्। म०— अश्यः, अश्यतम्, अश्यत। उ०— अश्यम्, अश्याव, अश्याम।

विधि लिङ्— प्र०— श्येत्, श्येताम्, श्युः। म० श्येः, श्येतम्, श्येत। उ० श्येम्, श्येव, श्येम।

६३३. **विभॉषा घ्रा-धेट्-शा-च्छासः**[५] (२/४/७८)

एभ्यः सिचो लुग् वा स्यात् परस्मैपदे परे। अशात्, अशाताम्, अशुः। इट्सकौ। अशासीत्, अशासिष्टाम्। छो छेदने॥६॥ छ्यति। षो अन्तःकर्मणि॥७॥ स्यति। ससौ। असासीत्। दो अवखण्डने॥८॥ द्यति। ददौ। देयात्। अदात्। व्यध ताडने॥९॥

विभाषेति— परस्मैपद परे रहते घ्रा (सूँघना), धेट् (पीना), शो (पतला करना), छो (काटना), षो (नाश करना)— इन धातुओं से पर 'सिच्' का लोप विकल्प से होता है।

लुङ् में अट्, सिच्, इकार का लोप होकर 'अशा स् त्' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र के द्वारा 'सिच्' का विकल्प से लोप हुआ। तब लोप पक्ष में 'अशात्' रूप बना। लोप अभाव पक्ष में 'यमरमनमातां सक् च' के द्वारा 'सक्' तथा 'इट्' हो गया। अशास् इत्। अशासीत्। इसी प्रकार 'अशासिष्टाम्' तथा 'अशासिषुः' रूप बनेंगे। लोप पक्ष में द्विवचन में 'अशाताम्' तथा बहुव० में 'झि' को ('आतः' के द्वारा) 'जुस्' आदेश हुआ। अशा उस्। 'उस्यपदान्तात्' के द्वारा पररूप हो गया। तब 'अशुः' रूप बना।

छो— काटना, सो— नाश करना, दो— काटना— इन धातुओं के रूप

भी 'शो' की तरह पूर्ववत् होंगे। निम्नलिखित स्थलों पर विशेष क्रिया होती है।

१. लोट् के मध्यम एकवचन में 'सिप्' को 'हि' आदेश होने पर 'हि' का लोप हो जाता है। तब क्रमशः 'छ्य', 'स्य' तथा 'द्य' रूप बनेंगे।

२. आशीर्लिङ् में घुसंज्ञक होने से 'दो' को एकारादेश होकर 'देयात्' रूप होगा। लुङ् में 'गातिस्थाघुपा०' के द्वारा 'सिच्' का लोप होगा। तब 'अदात्' रूप बनेगा।

'व्यध्' का अर्थ है— बाँधना, मारना। यह अनिट् धातु है।

६३४. **[६]ग्रहि-ज्या-वयि-व्यधि-वष्टि-विचति-वृश्चति-पृच्छति-भृज्जतीनां ङिति[७] च॑ (६/१/१६)**

एषां सम्प्रसारणं स्यात् किति ङिति च। विध्यति। विव्याध, विविधतुः, विविधुः। विव्यधिथ, विव्यद्ध। व्यद्धा। व्यत्स्यति। विध्येत्। विध्यात्। अव्यात्सीत्। पुष पुष्टौ॥१०॥ पुष्यति। पुपोष, पुपोषिथ। पोष्टा। पोक्ष्यति। 'पुषादि०' इत्यङ्-अपुषत्। शुष शोषणे॥११॥ शुष्यति। शुशोष। अशुषत्। णश अदर्शने॥१२॥ नश्यति। ननाश, नेशतुः।

ग्रहीति— कित् या ङित् प्रत्यय परे रहते ग्रह (ग्रहण करना), ज्या (वृद्ध होना), वेञ् (बुनना), व्यध् (बेधना), वश् (इच्छा करना), व्यच् (ठगना) व्रश्च् (काटना), प्रच्छ् (पूछना) और भ्रस्ज (भूनना)— इन धातुओं को सम्प्रसारण होता है।

सार्वधातुक लकारों में 'श्यन्' होता है जो अपित् है। अतः 'सार्वधातुकमपित्' से ङित् हो गया। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा सम्प्रसारण हो जायेगा।

'व्यध् श्यन् तिप्' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र के द्वारा सम्प्रसारण हुआ तथा 'सम्प्रसारणाच्च' के द्वारा पूर्वरूप हो गया। व् इ अ ध् य ति। विध् यति। विध्यति।

लिट् में णल्, थल् तथा णल् पित् प्रत्यय हैं। अतः इनके परे रहते 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' से सम्प्रसारण होता है। यथा— विव्यध् णल्। व्यव्यध् अ। वि अ व्यध् अ। वि व्यध् अ। 'अत उपधायाः'। विव्याध। थल् में भारद्वाज नियम से वैकल्पिक इट् प्राप्त। इट् पक्ष में 'विव्यधिथ' बनेगा। इट् के अभाव पक्ष में 'वि व्यध् थ' इस स्थिति में 'झषस्तथो०' के द्वारा थकार को धकार तथा धातु के धकार को 'झलां जश् झशि' से जश्त्व होकर 'विव्यद्ध' बनेगा। शेष प्रत्यय कित् हैं। अतः द्वित्व से पहले 'सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत्' के द्वारा सम्प्रसारण होता है। विध् अतुस्। विध् विध् अतुस्। विविधतुः। रूप बनेगा।

लुट् में 'तास्' के तकार को धकार होकर 'व्यद्धा' रूप बनेगा।

लृट् में चर्त्व होकर 'व्यत्स्यति' होगा।

लोट् में 'विध्यतु', लङ् में 'अविध्यत्' तथा विधि लिङ् में 'विध्येत्' बनेगा।

आशीर्लिङ् में 'किदाशिषि' के द्वारा यासुट् कित् है। अतः सम्प्रसारण होकर 'विध्यात्' बनेगा।

लुङ् में अट्, सिच्, ईट्, इकार लोप होता है। अव्यध् स् ई त्। तब हलन्तलक्षणा वृद्धि तथा चर्त्व होकर 'अव्यात्सीत्' बनेगा। 'थस्' तथा 'थ' प्रत्ययों में 'झलो झलि' से 'सिच्' का लोप होगा।

'पुष्' का अर्थ है—बढ़ना। यह अनिट् धातु है।

लट् में श्यन् होकर 'पुष्यति' बनेगा।

लिट् में द्वित्व, अभ्यास कार्य तथा उत्तर खण्ड में गुण होकर 'पुपोष' बन गया। 'थल्' प्रत्यय में क्रादिनियम से इट् होगा। पुपोषिथ।

लुट् में ष्टुत्व, गुण आदि होकर 'पोष्टा' हुआ।

लृट् में 'षढो: क: सि' के द्वारा षकार को ककार हो गया। 'स्य' को मूर्धन्य आदेश होकर 'पोक्ष्यति' रूप बना।

लोट् में 'पुष्यतु' बनेगा।

लुङ् में 'पुषादि०' के द्वारा 'अङ्' आदेश होगा। अपुषत्।

'शुष्' का अर्थ है— सूखना। यह अनिट् है।

इसके सारे रूप 'पुष्' की तरह होंगे। यथा— शुष्यति, शुशोष, अशुषत्।

'णश्' का अर्थ है— नाश होना। यह अनिट् धातु है। 'रधादिभ्य०' सूत्र के द्वारा इसे वैकल्पिक 'इट्' होता है।

लट् में 'नश्यति' तथा लिट् में 'ननाश' बनेगा।

लिट् के कित् प्रत्ययों में (यथा अतुस्) तथा सेट् पक्ष में एकारादेश तथा अभ्यास लोप होता है (द्र० 'अत् एकहल्मध्ये' तथा 'थलि च सेटि')। यथा—

नश् नश् अतुस्। न नश् अतुस्। नेशतु:।

६३५. [५]**रधाऽऽदिभ्यश्च** (७/२/४५)

रध, नश्, तृप्, दृप, द्रुह्, मुह्, स्नुह,स्नुह्-एभ्यो वलाद्यार्धधातुकस्य वेट् स्यात्। नेशिथ।

रधेति— रध् आदि (वृत्ति में पठित) धातुओं से पर आर्धधातुक प्रत्यय को विकल्प से 'इट्' हो।

'नश् नश् थल्' इस स्थिति में विकल्प से इट् होगा। इट् पक्ष में (थलि च सेटि) 'नेशिथ' बनेगा।

६३६. [६]**मस्जि-नशोर्झलि**[७] (७/१/६०)

नुम् स्यात्। ननंष्ठ। नेशिव-नेश्व, नेशिम-नेश्म। नशिता-नंष्टा। नशिष्यति-नङ्क्षति। नश्यतु। अनश्यत्। नश्येत्। नश्यात् अनशत्। षूङ् प्राणिप्रसवे॥१३॥ सूयते। सुषुवे क्रादिनियमाद् इट्-सुषुविषे, सुषुविवहे, सुषुविमहे। सोता, सविता। दूङ् परितापे॥१४॥ दूयते। दीङ्क्षये॥१५॥ दीयते।

मस्जीति— झलादि प्रत्यय परे रहते मस्ज् तथा नश् धातु को 'नुम्' होता है।

इट् अभाव पक्ष में 'न नश् थ' इस स्थिति में 'थल्' झलादि प्रत्यय है। अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा 'नुम्' आगम होगा। तब 'नश्चापदान्तस्य०' के द्वारा नकार को अनुस्वार हो गया। न न नुम् श् थ। न नंश् थ। 'व्रश्चभ्रस्ज०' के द्वारा शकार को षकार हो गया। ष्टुत्व होकर— न नंष् थ। ननंष्ठ। उत्तम के द्विवचन तथा बहुवचन में विकल्प से 'इट्' होता है। तब 'नेशिव-नेश्व' तथा 'नेशिम-नेश्म' दो दो रूप बनेंगे। लुट् में पूर्ववत् 'नुम्' तथा अनुस्वार होकर 'नंष्टा' बन गया। इट् पक्ष में 'नशिता' बनेगा।

लृट् में इट् पक्ष में 'नशिष्यति' बनेगा तथा इट् अभाव पक्ष में नुम्, अनुस्वार, (व्रश्चभ्रस्ज०। षढोः कः सि) शकार को षकार तथा षकार को ककार, मूर्धन्य आदेश आदि कार्य होकर 'नंक्ष्यति' रूप सिद्ध होगा।

लोट् में तथा लङ् में श्यन् होकर क्रमशः 'नश्यतु' तथा 'अनश्यत्' रूप बनेंगे।

लुङ् में 'पुषादि०' के द्वारा 'अङ्' आदेश होकर 'अनशत्' बनेगा।

'सू' का अर्थ है— पैदा होना। क्रादि नियम से 'इट्' होता है।

लट् में 'श्यन्' होकर— सूयते बना।

लिट् मध्यम एकव० में द्वित्व, से आदेश, इट्, उवङ् आदेश तथा मूर्धन्य आदेश होकर 'सुषुविषे' बनेगा। इसी प्रकार उत्तम के द्विवचन में 'सुषुविवहे' तथा बहुवचन में 'सुषुविमहे' बनेगा। शेष स्थलों पर 'स्वरतिसूतिसूयति०' के द्वारा वैकल्पिक 'इट्' होने से दो दो रूप बनेंगे।

लुट् में 'सोता' बनेगा तथा इट् पक्ष में 'सविता' होगा।

इसी प्रकार लृट् में 'सोष्यते' तथा 'सविष्यते' ये दो रूप बनेंगे।

'दू' का अर्थ है— दुःखी होना। यह सेट् धातु है।

इसके रूप 'सू' की तरह होंगे। यथा— दूयते।

'दी' का अर्थ है— नाश होना। यह अनिट् धातु है।

लट् प्र० पु० एकव० में श्यन् होकर 'दीयते' बना।

६३७. [५]**दीङो** [१]**युडचि**[७] **क्ङिति**[७] **(६/४/६३)**

दीङः परस्याऽजादेः क्ङित आर्धधातुकस्य युट्।

(वा०) वुग्युटौ-उवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ। दिदीये।

दीङ इति— 'दी' धातु से पर अजादि कित् और ङित् आर्धधातुक को 'युट्' आगम होता है।

(वा०) उवङ् और यण् के विषय में 'वुक्' और 'युट्' सिद्ध हों।

लिट् में 'दी दी एश्' इस अवस्था में प्रकृत सूत्र (६.४.६३) के द्वारा 'युट्' आगम हुआ। उकार तथा टकार की इत्संज्ञा होकर लोप हो गया। दी दी य् ए। 'युट्' आगम

(पा० ६.४.६३) 'असिद्धवत्रा०' के द्वारा असिद्ध है। अत: 'एरनेकाचोऽसंयोग०' (पा० ६/४/८२) के द्वारा 'यण्' प्राप्त हुआ। प्रकृत वार्तिक के द्वारा यण् की दृष्टि में युट् आगम सिद्ध हो गया। तब असिद्ध भाव का निषेध होकर प्राप्त यण् आदेश की निवृत्ति हो गई। दिदीये।

६३८. [६]**मीनाति-मिनोति-दीङां** [७]**ल्यपि चॅ (६/१/५०)**

एषामात्वं स्यात् ल्यपि चाद् अशित्येज्निमित्ते। दाता। दास्यते।

(वा०) स्थाघ्वोरित्वे दीङः प्रतिषेधः। अदास्त।

डीङ् विहायसा गतौ॥१६॥ डीयते। डिड्ये। डयिता। पीङ् पाने॥१७॥ पीयते। पेता, अपेष्ट। माङ् माने॥१८॥ मायते। ममे। जनी प्रादुर्भावे॥१९॥

मीनातीति— ल्यप् के विषय में या एच् करने के निमित्त शिद् भिन्न प्रत्यय परे रहते मीञ् (हिंसा करना), मि (फेंकना) तथा 'दी' धातुओं को आकार अन्तादेश होता है।

लुट् में 'दी तिप् दी ता' इस दशा में आकार होकर 'दाता' बना।

लृट् में 'दास्यते' बना।

(वा०) स्थाघ्वोरिच्च' के द्वारा प्राप्त इकार आदेश 'दीङ्' के विषय में न हो।

'दीङ्' धातु लाक्षणिक 'दा' रूप है। अत: घु संज्ञक है। इसे 'स्थाघ्वोरिच्च' से प्राप्त इकार आदेश का प्रकृत वार्तिक के द्वारा निषेध हो गया है।

लुङ् में अट्, सिच् होकर 'अदीस् त' इस स्थिति में 'सार्वधातुकार्धधातु०' के द्वारा प्राप्त गुण का निषेध होकर आकार अन्तादेश हुआ। अ दा स् त। तब 'स्थाघ्वोरिच्च' के द्वारा इकार आदेश प्राप्त हुआ। जिसका प्रकृत वार्तिक के द्वारा बाध हो गया। अदास्त।

'डीङ्' का अर्थ है— उड़ना। यह सेट् धातु है।

लट् में 'डीयते' बनेगा। लिट् में द्वित्व, अभ्यास कार्य, एश् आदेश तथा 'एरनेकाच०' से यण् होकर 'डिड्ये' रूप बना। लुट् में 'डयिता' बनेगा।

'पीङ्' का अर्थ है— पीना।

लट् में 'पीयते', लुट् में 'पेता' तथा लुङ् में 'अपेष्ट' बनेगा।

'माङ्' का अर्थ है— मापना।

लट् प्र० एकव० में— मायते।

लिट् में द्वित्व, अभ्यास कार्य तथा एश् आदेश होकर 'ममे' रूप बना।

इसी प्रकार लुट् आदि लकारों में प्र० पु० एकव० में रूप क्रमश: इस प्रकार होंगे— माता, मास्यते, मायताम्, अमायत, मायेत, मासीष्ट, अमास्त तथा अमास्यत।

'जनी' का अर्थ है— उत्पन्न होना। यह सेट् तथा आत्मने पदी है।

६३९. [६]**ज्ञा-जनोर्जा**[१] **(७/३/७९)**

अनयोर्जाऽऽदेश: स्यात् शिति। जायते। जज्ञे। जनिता। जनिष्यते।

ज्ञेति— शित् प्रत्यय परे रहते 'ज्ञा' तथा 'जन्' धातु को 'जा' आदेश होता है।

तब लट् में 'जायते', लोट् में 'जायताम्', लङ् में 'अजायत' तथा विधिलिङ् में 'जायेत' रूप बनेंगे।

लिट् में द्वित्व, एश् आदेश, अभ्यास कार्य होने पर 'ज ज न् ए' इस स्थिति में 'गमहनजनखन' सूत्र के द्वारा उपधा का लोप हो जाता है। नकार को श्चुत्व हो गया। ज ज न् ए। ज ज् न् ए। ज ज् ञ् ए। जज्ञे।

लुट् में 'जनिता' बन गया।

लृट् में 'जनिष्यते' बना।

६४०. [५]**दीप-जन-बुध-पूरि-तायि-प्यायिभ्योऽन्यतरस्याम् (३/१/६१)**

एभ्यश्च्लेश्चिण् वा स्यात्, एकवचने तशब्दे परे।

दीपेति— एकवचन का 'त' परे रहते दीप् (चमकना), जन् (पैदा होना), बुध् (जानना), पुर् (भरना) ताय् (फैलना) तथा प्याय् (फूकना) धातुओं से 'च्लि' के स्थान पर विकल्प से 'चिण्' आदेश हो। 'चिण्' के चकार व णकार इत्संज्ञक हैं।

६४१. [५]**चिणो लुक्**[१] **(६/४/१०४)**

चिणः परस्य तशब्दस्य लुक् स्यात्।

चिण इति— 'चिण्' से पर 'त' शब्द का लुक् हो।

६४२. [६]**जनि-वध्योश्च (७/३/३५)**

अनयोरुपधाया वृद्धिर्न स्यात् चिणि ञ्णिति कृति च। अजनि-अजनिष्ट।

दीपी दीप्तौ॥ २०॥ दीप्यते। दिदीपे। अदीपि, अदीपिष्ट। पद गतौ॥ २१॥ पद्यते। पेदे। पत्ता। पत्सीष्ट।

जनीति— चिण् या ञित्, णित् कृत् प्रत्यय परे रहते 'जन्' तथा वध् धातुओं की उपधा को वृद्धि न हो।

लुङ् में अट्, चिण् आदेश, 'त' का लुक् होकर— अ जन् चिण् त। अ जन् इत। अ जन् इ। अजनि।

चिण् अभाव पक्ष में 'सिच्' होगा। तब इट्, मूर्धन्य आदेश तथा ष्टुत्व होकर रूप बना— अ जन् इट् सिच् त। अ जन् इ ष् त। अजनिष्ट।

'दीप्' का अर्थ है— चमकना।

लट् में 'दीप्यते', लिट् में 'दिदीपे' तथा लुङ् में 'अदीपि' बन गया।

चिण् अभाव पक्ष में 'सिच्' होकर 'अदीपिष्ट' रूप बनेगा।

'पद्' का अर्थ है— जाना।

लट् में 'पद्यते' बन गया।

लिट् में अभ्यास लोप होकर (एक हल्मध्ये०) 'पेदे' रूप बना। लुट् में चर्त्व होकर

'पत्ता' बन गया।

लिङ् में सीयुट् तथा सुट् होकर 'पत्सीष्ट' रूप बना।

६४३. चिण्[१] ते[७] पद:[५] (३/१/६०)

पदेश्च्लेश्चिण् स्यात् त शब्दे परे। अपादि, अपत्साताम्, अपत्सत। विद सत्तायाम्॥२२॥ विद्यते। वेत्ता। अवित्त। बुध अवगमने॥२३॥ बुध्यते। बोद्धा। भोत्स्यते। भुत्सीष्ट। अबोधि, अबुद्ध, अभुत्साताम्। युध संप्रहारे॥२४॥ युध्यते। युयुधे। योद्धा। अयुद्ध। सृज विसर्गे॥२५॥ सृज्यते। ससृजे। ससृजिषे।

चिण्णिति— 'त' शब्द परे रहते 'पद्' धातु से पर 'च्लि' को 'चिण्' आदेश होता है।

लुङ् में अट्, चिण्, 'अत: उपधाया:' से उपधावृद्धि तथा 'त' का लोप होकर— अट् पद् चिण् त। अपाद् इत। अपाद् इ। अपादि।

द्विवचन में सिच् तथा चर्त्व होकर 'अपत्साताम्' रूप बना। बहुवचन में 'अपत्सत' रूप बना। 'थास्' में तथा 'ध्वम्' में 'झलो झलि' के द्वारा 'सिच्' के सकार का लोप हो जाता है। 'अपत्था:' तथा 'अपद्ध्वम्' रूप बनेंगे।

'विद्' का अर्थ है— होना।

लट् प्र० एकव० में 'विद्यते' तथा लुट् में 'वेत्ता' बनेगा।

'बुध्' का अर्थ है— जानना। यह भी अनिट् धातु है।

लट् में 'बुध्यते', बुध् लिट्- बुध् त— लिटस्तझयोरेशिरेच्। बुध् एश्- द्वित्व, हलादि: शेष: बु बुध् ए। लुट् में बुध् डा- 'लुट: प्रथमस्य डारौरस:'। 'स्यतासी लृलुटो:'। बुध् तास् डा - चुटू, टिलोप। बुध् त् आ— 'झषस्तथोर्धोऽध:' से तकार को धकार और 'झलां जश् झशि' से पूर्व धकार को दकार। 'पुगन्तलघूपधस्य च' से लघूपध गुण- बोद् धा। 'बोद्धा' बनेगा।

लृट् में 'एकाचो बशो भश्०' के द्वारा बकार को भकार हो गया। गुण तथा चर्त्व हुआ, बुध् स्यते। भुध् स्यते। भोध् स्यते। भोत्स्यते। इसी प्रकार लिङ् प्र० एकव० में- बुध् त (आशीर्लिङ्) सीयुट् सु ट्। बुध् सीय् स् त— अनुबन्ध लोप। 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से लिङ् कित्। लघूपध गुण निषेध। यलोप। 'भुत्सीष्ट' बनेगा।

लुङ् में 'दीपजनबुध०' के द्वारा वैकल्पिक 'चिण्' होगा। चिण् के पक्ष में 'त' का लोप होकर 'अबोधि' रूप बना। चिण् के अभाव पक्ष में 'सिच्' हुआ। इसका लोप हो गया। तब 'अबुद्ध' बना। द्विवचन में भष् भाव, चर्त्व होकर 'अभुत्साताम्' बन गया।

'युध्' का अर्थ है— युद्ध करना। यह अनिट् तथा आत्मनेपदी धातु है।

लट् में 'युध्यते' बना। लिट् में एश् आदेश, द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर 'युयुधे' बना। लुट् में 'योद्धा' रूप बना। लङ् में अट् युध त- सिच्, लिङ्सिचावात्मनेपदेषु।

लघूपधगुण का निषेध। झलो झलि। अट्। अ युध् त- झषस्तथोर्धो० आदि होकर 'अयुद्ध' बना।

'सृज्' का अर्थ है— छोड़ना।

लट् में 'सृज्यते' तथा लिट् में 'ससृजे' रूप बनेगा। 'थास्' को 'से' आदेश होकर 'ससृजिषे' रूप सिद्ध होता है। क्रादिनियम से इट् प्राप्त होता है।

६४४. [६]**सृजि-दृशोर्झल्यम्**[१]**-अकिति**[७] **(६/१/५८)**

अनयोः 'अम्' आगमः स्याद् झलादौ-अकिति। स्रष्टा। स्रक्ष्यति। सृक्षीष्ट। असृक्षाताम्। मृष तितिक्षायाम्॥२६॥ मृष्यति, मृष्यते। ममर्ष, ममर्षिथ, ममृषिषे। मर्षितासि, मर्षितासे। मर्षिष्यति, मर्षिष्यते। णह बन्धने॥२७॥ नह्यति, नह्यते। ननाह, नेहिथ-ननद्ध। नेहे। नद्धा। नत्स्यति। अनात्सीत्। अनद्ध।

इति दिवादयः।

सृजीति— झलादि किद्भिन्न प्रत्यय परे रहते 'सृज्' तथा 'दृश्' धातुओं को 'अम्' आगम होता है।

लुट् में 'सृज् तास् डा' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र के द्वारा 'अम्' आगम हुआ। सृ अम् ज् ता। यण् आदेश होकर 'स्रज् ता' स्वरूप बना। 'व्रश्चभ्रस्ज०' के द्वारा जकार को षकार हुआ। ष्टुत्व होकर रूप बना— स्रष् ता। स्रष्टा। 'सृज् स्य ते' इस स्थिति में 'अम्' आगम, जकार को षकार, मूर्धन्य आदेश आदि कार्य होते हैं। स्रक्ष्यते। यह अनुदात्तोपदेश धातु है। अतः अनिट् है।

आशीर्लिङ् में सीयुट्, सुट्, जकार को (व्रश्चभ्रस्ज०) षकार, षकार को (षढोः कः सि) ककार तथा दोनों सकारों को मूर्धन्य आदेश हुआ। सृज् सीयुट् सुट् त। सृष् सीय् स् त। सृक् सीय् स् त। सृक् षी ष् ट। सृक्षीष्ट।

लुङ् में सिच्, अट्, सिच् का (झलो झलि) लोप, जकार को षकार आदि कार्य होते हैं। असृष्ट। 'अट् सृज् सिच् आताम्' इस स्थिति में षकार, ककार, मूर्धन्य आदेश होते हैं। असृक्षाताम्।

ध्यान रहे सीयुट् तथा सिच् के (लिङ् सिचावात्मनेपदेषु०) कित् होने से 'अम्' आगम नहीं होगा।

'मृष् का अर्थ है— सहन करना। यह उभयपदी है।

लट् में 'मृष्यति' तथा 'मृष्यते' रूप बनेंगे।

परस्मै० लिट् में द्वित्व, अभ्यास कार्य तथा णल् होकर— मृष् मृष् णल्। म मृष् अ। ममर्ष। 'थल्' में 'इट्' होकर 'ममर्षिथ' रूप बनेगा।

आत्मने० 'थास्' को 'से' आदेश, इट् आगम, मूर्धन्य आदेश होकर 'ममृषिषे' रूप बनेगा।

लुट् में मध्यम के एकवचन में परस्मै० 'मर्षितासि' तथा आत्मने० 'मर्षितासे' रूप बनेंगे।

लृट् में स्य, गुण, इट् तथा मूर्धन्य आदेश होकर 'मर्षिष्यति' तथा 'मर्षिष्यते' रूप बनेंगे।

'णह्' धातु का अर्थ है— बाँधना। यह उभयपदी धातु है। 'णो नः' से णकार को नकार।

लट् में 'नह्यति' तथा 'नह्यते' रूप बनेंगे। लिट् में 'अत उपधायाः' से उपधा को वृद्धि होकर 'ननाह' रूप बना। 'थल्' में 'न नह् थ' इस स्थिति में हकार को धकार (नहो धः) तथा धकार को धकार (झषस्तथो०) हो गया। तब जश्त्व (झलां जश् झशि) हो गया। न नध् ध। ननद्ध (नहो धः, थलि च सेटि, झषस्तथोर्धो०)। 'थल्' में 'इट् पक्ष में अभ्यास लोप तथा एकारादेश (थलि च सेटि) होकर 'नेहिथ' रूप बनेगा। आत्मने० एकवचन में एश् आदेश व अभ्यास लोप होकर 'नेहे' रूप बना।

लुट् में 'नद्धा', लृट् में 'नत्स्यति' रूप बनेंगे।

लुङ् में अट् सिच्, इकार लोप होकर 'अ नह् स् त्' इस अवस्था में ईट्, (अ नह् सईत्) हकार को धकार (अनध्सीत्) तथा चर्त्व हुआ (अनत् सीत्), हलन्तलक्षणा (वदव्रजहलन्तस्या०) वृद्धि होकर 'अनात्सीत्' रूप बना।

आत्मनेपद में 'झलो झलि' के द्वारा 'सिच्' का लोप होकर 'अनद्ध' रूप बना।

दिवादिगण समाप्त हुआ।

॥५॥ अथ स्वादिगणः।

षुञ् अभिषवे॥ १॥

अब स्वादिगण प्रारम्भ होता है। 'सु' का अर्थ है— स्नान करना, निचोड़ना आदि। यह षोपदेश है तथा उभयपदी है। अनिट् धातु है।

६४५. [५]**स्वादिभ्यः श्नुः**[१] (३/१/७३)

शपोऽपवादः। सुनोति, सुनुतः, 'हुश्नुवोः' इति यण्-सुन्वन्ति। सुन्वः-सुनुवः। सुनुते, सुन्वाते, सुन्वते। सुन्वहे-सुनुवहे। सुषाव, सुषुवे। सोता। सुनु, सुनवानि, सुनवै। सुनुयात्। सूयात्।

स्विति— स्वादिगण की धातुओं से 'श्नु' हो। यह 'शप्' का अपवाद है।

लट् में 'सु तिप्' यहाँ 'शप्' की प्राप्ति हुई। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा 'श्नु' हो गया। उकार को सार्वधातुक गुण हो गया। सुनोति। 'तस्' में गुण निषेध होकर 'सुनुतः' बना तथा 'झि' को अन्त् आदेश होकर 'सु श्नु अन्ति' इस अवस्था में यण् आदेश प्राप्त हुआ जिसे बाधकर उवङ् आदेश की प्राप्ति हुई। तब पुनः 'हुश्नुवोः०' के द्वारा 'यण्' हुआ।

सुन्वन्ति।

'सु नु वस्' इस स्थिति में 'लोपश्चास्य०' के द्वारा 'श्नु' के उकार का वैकल्पिक लोप होता है। तब 'सुनुवः' तथा 'सुन्वः' दो रूप बनेंगे।

आत्मने पद में सभी प्रत्यय अपित् हैं। अतः गुण नहीं होगा। सुनुते। द्विवचन में यण् होकर 'सुन्वाते' बना।

इसी प्रकार बहुवचन में 'सुन्वते' बना।

उत्तम पुरुष द्विव० में पूर्ववत् उकार के वैकल्पिक लोप की अवस्था में 'सुन्वहे' तथा 'सुनुवहे' दो रूप होंगे।

लिट् में द्वित्व, वृद्धि तथा मूर्धन्य आदेश होकर 'सुषाव' बना।

आत्मनेपद में एश् आदेश, यण् को बाध कर उवङ् आदेश हुआ। सुषुवे।

लुट् में गुण होकर 'सोता' बन गया।

लोट् के मध्यम एकवचन में अपित् 'हि' आदेश हुआ। सुनु हि। तब 'उतश्च प्रत्ययादसंयो०' के द्वारा 'हि' का लोप हो गया। सुनु।

उत्तम के एकवचन में 'नि' आदेश, आट् आगम, उसके पित् होने से 'नु' को गुण, अव् आदेश होकर— सु श्नु मिप् > नि। सु नु आट् नि। सुनवानि।

आत्मनेपद में 'सुश्नु आट् इट्' इस अवस्था में उकार को गुण, इट् की टि को एकारादेश तथा वृद्धि आदेश होते हैं। सु नु आ ए। सुनो आ ए। सुनो आ ए। सुनवै।

विधिलिङ् में 'सुनुयात्' तथा आशीर्लिङ् में 'सूयात्' रूप बनेंगे।

६४६. **[5]स्तु-सु-धूञ्भ्यः परस्मैपदेषु[7] (७/२/७२)**

एभ्यः सिच इट् स्यात् परस्मैपदेषु। असावीत्, असोष्ट। चिञ् चयने॥ २॥ चिनोति, चिनुते।

स्त्विति— परस्मैपद प्रत्यय परे रहते स्तु, सु तथा धूञ् धातुओं से पर सिच् को 'इट्' आगम होता है।

लुङ् लकार में अट्, सिच्, तिप् के इकार का लोप होकर 'अ सु सिच् त्' इस अवस्था में इट्, ईट् आगम, सिच् का लोप (इट् ईटि), सवर्ण दीर्घ तथा धातु को वृद्धि (सिचि वृद्धिः परस्मै०), आव् आदेश आदि कार्य होंगे। अ सु इ स् ई त् अ सु ई त्। अ सौ ई त्। अ साव् ई त्। असावीत्।

आत्मनेपद में सिच्, आर्धधातुक गुण, मूर्धन्य आदेश होकर 'असोष्ट' बना।

चि का अर्थ है— चयन करना।

यह धातु अनिट् तथा उभयपदी है।

'चि तिप्' में 'श्नु' तथा गुण होकर 'चिनोति' रूप बना।

इसी प्रकार 'चिनुते' रूप सिद्ध होगा।

६४७. **विभॉषा चे:**[६] **(७/३/५८)**

अभ्यासात् परस्य कुत्वं वा स्यात् सनि लिटि च। चिकाय-चिचाय, चिक्ये, चिच्ये। अचैषीत्, अचेष्ट। स्तृञ् आच्छादने॥३॥ स्तृणोति, स्तृणुते।

विभाषेति— सन् और लिट् परे रहते अभ्यास से पर 'चि' को विकल्प से कुत्व होता है।

लिट् में 'चिचि अ' इस अवस्था में प्रकृत सूत्र के द्वारा उत्तरखण्ड को विकल्प से कुत्व हुआ। तब 'चिकाय' तथा 'चिचाय' ये दो रूप बने। 'अचो ञ्णिति'। आत्मनेपद में 'एश्' आदेश, यण् (एरनेकाच०) तथा वैकल्पिक कुत्व होकर 'चिच्ये' तथा 'चिक्ये' रूप बनेंगे।

लुङ् में अट्, सिच्, तिप् होकर 'अ चि सिच् ति' इस अवस्था में इकार लोप 'अचिस् त्', ईट् आगम, 'अचि स् ईत्' इगन्त लक्षणा वृद्धि (सिचि वृद्धि: परस्मै०) तथा मूर्धन्य आदेश हुआ। अचैषीत्।

आत्मनेपद में सिच्, गुण, मूर्धन्य होकर 'अचेष्ट' रूप बना।

'स्तृ' का अर्थ है— ढकना। यह अनिट् तथा उभयपदी धातु है।

'स्तृ श्नु तिप्' इस अवस्था में 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' के द्वारा णत्व होकर 'स्तृणोति' बना।

६४८. [१]**शर्पूर्वा: खय:**[१] **(७/४/६१)**

अभ्यासस्य शर्पूर्वा: खय: शिष्यन्ते। अन्ये हलो लुप्यन्ते। तस्तार, तस्तरतु:। तस्तरे। 'गुणोऽर्ति०' इति गुण:-स्तर्यात्।

शरिति— अभ्यास के शर् वर्ण है पूर्व में जिनके, ऐसे खय् वर्ण शेष रहते हैं तथा अन्य हलों का लोप होता है।

लिट् में 'स्तृ स्तृ णल्' इस अवस्था में 'हलादि शेष:' के द्वारा सकार शेष रहना चाहिए, परन्तु प्रकृत सूत्र के द्वारा तकार शेष रहेगा तथा अन्य हल् (सकार) का लोप होगा। त स्तृ अ। उत्तरखण्ड को 'ऋतश्च संयोगादेर्गुण:' से गुण। 'अत उपाधाया:' से वृद्धि होकर 'तस्तार' रूप बना। द्विवचन में गुण होकर 'तस्तरतु:' होगा।

आत्मनेपद में एश् आदेश, द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होकर 'तस्तरे' बन गया।

आशीर्लिङ् में यासुट् होकर गुण हो गया। गुणोर्तिसंयोग। तब 'स्तर्यात्' बना।

६४९. **ऋतश्च संयोगाऽऽदे:**[६] **(७/२/४३)**

ऋदन्तात् संयोगादे: परयोर्लिङ्सिचोरिड् वा स्यात् तङि स्तरिषीष्ट-स्तृषीष्ट। अस्तरिष्ट-अस्तृत। धूञ् कम्पने॥४॥ धूनोति, धूनुते। दुधाव; 'स्वरति०' इति वेट् दुधविथ-दुधोथ।

ऋत इति— तङ् (आत्मनेपद प्रत्यय) परे रहते ऋदन्त संयोगादि धातु से पर लिङ्

व सिच् को विकल्प से 'इट्' होता है।

आशीर्लिङ् में सीयुट् तथा सुट् होकर 'स्तृ सीय् सुट् त' इस अवस्था में प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प से 'इट्' होगा। इट् की अवस्था में आर्ध० गुण होगा। स्तरिषीष्ट। इट् अभाव पक्ष में 'उश्च०' के द्वारा लिङ् कित् हो गया। तब गुण का निषेध हो गया। स्तृषीष्ट।

लुङ् आत्मनेपद में अट्, सिच् आदि होकर 'ऋतश्च संयोगादेः' के द्वारा वैकल्पिक इट् की प्राप्ति होती है। इट् पक्ष में गुण हो जायेगा। अस्तरिष्ट। इडभाव पक्ष में 'उश्च०' के द्वारा सिच् कित् हो गया। गुण का निषेध तथा सिच् का लोप (ह्रस्वादङ्गात्) होकर 'अस्तृत' रूप बना।

'धू' का अर्थ है— कँपाना। यह सेट् तथा उभयपदी है। तथापि 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञ्०' के द्वारा वैकल्पिक इट् होता है।

'धू श्नु तिप्' यहाँ गुण होकर 'धूनोति' रूप बनेगा।

आत्मनेपद में गुण का निषेध होकर 'धूनुते' रूप सिद्ध होगा।

लिट् में द्वित्व, अभ्यास कार्य तथा अजन्तलक्षणा वृद्धि होकर 'दुधाव' रूप बनेगा।

मध्यम एकवचन में 'दुधू थल्' इस स्थिति में 'स्वरतिसूति०' के द्वारा वैकल्पिक इट् होता है। इट् पक्ष में गुण तथा अव् आदेश होकर 'दुधविथ' बनेगा तथा इडभाव पक्ष में गुण होकर 'दुधोथ' बनेगा।

६५०. [५]श्र्युकः किति[७] (७/२/११)

श्रिञः, एकाचः, उगन्ताच्च गित्-कितोरिण् न। परमपि स्वरत्यादिविकल्पं बाधित्वा पुरस्तात् प्रतिषेधकाण्डारम्भसामर्थ्याद् अनेन निषेधे प्राप्ते क्रादिनियमाद् नित्यमिट्। दुधुवे। दुधुविव, अधावीत्, अधविष्ट-अधोष्ट। अधविष्यत्-अधोष्यत्, अधविष्यताम्-अधोष्यताम्, अधविष्यत-अधोष्यत।

इति स्वादयः।

श्र्युक इति— श्रि या एकाच् उगन्त धातु से परवर्त्ती गित् या कित् वलादि आर्धधातुक को 'इट्' नहीं होता है।

श्र्युकः किति (पा० ७.२.११) के द्वारा निषेध तथा 'स्वरतिसूति सूयति०' (पा० ७.२.४४) के द्वारा वैकल्पिक प्रवृत्ति एक साथ प्राप्त होती है। इनमें विकल्प विधि पर है, अतः बलवान् है। परन्तु विकल्प विधि को निषेध बाध लेता है, अन्यथा निषेध विधि व्यर्थ हो जायेगी। तब निषेध विधि को बाध कर क्रादि नियम (कृसृमृ— पा० ७.२.१३) के द्वारा नित्य इट् की प्राप्ति हुई। दुधुविव। दुधुविम।

आत्मने पद में एश् आदेश, उवङ् आदेश होकर 'दुधुवे' बना।

लुङ् में अट्, सिच्, तिप् के इकार का लोप होकर 'अ धू स् त्' इस दशा में 'स्वरतिसूति०' के द्वारा विकल्प से 'इट्' की प्राप्ति हुई। तब 'स्तुसु०' के द्वारा नित्य 'इट्'

हुआ। अधावीत्।

आत्मनेपद में विकल्प से 'इट्' होकर 'अधविष्ट' तथा 'अधोष्ट' ये दो रूप बनेंगे।

लृङ् में 'अधविष्यत्' तथा 'अधोष्यत्' रूप बनेंगे। बहुवचन में 'अधविष्यत' तथा 'अधोष्यत' रूप बनेंगे।

॥ स्वादिगण समाप्त हुआ ॥

॥६॥ अथ तुदादिगण:।

तुद व्यथने॥१॥

तुदादिगण प्रारम्भ होता है।

'तुद्' का अर्थ है— पीड़ा पँहुचाना।

६५१. तुदाऽऽदिभ्य: श:[१] (३/१/७७)

शपोऽपवाद:। तुदति, तुतोद, तुदते तुतोदिथ। तुतुदे। तोत्ता। अतौत्सीत्, अतुत्त।

णुद प्रेरणे॥२॥ नुदति, नुदते। नुनोद। नोत्ता। भ्रस्ज पाके॥३॥ 'ग्रहि-ज्या०' इति सम्प्रसारणम्, सस्य श्चुत्वेन श:, शस्य जश्त्वेन ज:– भृज्जति, भृज्जते।

तुदिति— (कर्त्रर्थ सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते) तुदादिगण की धातुओं से 'श' प्रत्यय हो। यह 'शप्' का अपवाद है।

'तुद् श तिप्'— यहाँ 'सार्वधातुकमपित्' से ङित्। गुण का निषेध होकर 'तुदति' बना।

लिट् में द्वित्व, अभ्यास कार्य तथा उत्तरखण्ड में लघूपध गुण होकर 'तुतोद' बना। मध्यम के एकवचन में 'थल्' हुआ। तब द्वित्व, अभ्यास कार्य, गुण, इट् होकर 'तुतोदिथ' बना। आत्मनेपद पद में 'एश्' आदेश तथा गुण का निषेध होकर 'तुतुदे' बन गया।

लुट् में लघूपध गुण तथा चर्त्व होकर 'तोत्ता' बन गया।

लुङ् में अट्, सिच्, तिप् के इकार का लोप होकर 'अतुद् स् त्' इस अवस्था में हलन्त लक्षणा वृद्धि, ईट् आगम तथा चर्त्व होकर 'अतौत्सीत्' बना।

आत्मनेपद में 'झलो झलि' के द्वारा 'सिच्' के सकार का लोप 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से ङित् होकर 'अतुत्त' बना।

'नुद्' का अर्थ है— प्रेरणा करना। यह णोपदेश धातु है।

लट् में 'नुदति' तथा 'नुदते' रूप बनेंगे।

लिट् में 'नुनोद' तथा लुट् में 'नोत्ता' बनेगा।

'भ्रस्ज्' का अर्थ है— भूनना। यह अनिट् है।

भृज्जति

भ्रस्ज् श ति—	लट्, तिप्, प का लोप, शप्, शप् को बाध कर 'श'।
भृ र ज् अ ति—	'सार्वधातु०' से 'श' ङित्,'ग्रहिज्या०' से रेफ को सम्प्रसारण, ऋकार (इग्यण: सम्प्रसारणम्) 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्व रूप।
भृ श ज् अ ति—	(स्तोः श्चुना श्चुः) श्चुत्व ।
भृ ज जति—	(झलां जश् झशि) जकार ।

६५२. [६]भ्रस्जो रोपधयो[६] रम्[१] अन्यतरस्याम् (६/४/४७)

भ्रस्जे रेफस्योपधायाश्च स्थाने 'रम्' आगमो वा स्याद्, आर्धधातुके। मित्वाद् अन्त्याद् अचः परः। स्थानषष्ठी-निर्देशाद् रोपधयोर्निवृत्तिः। बभर्ज, बभर्जतुः, बभर्जिथ-बभर्ष्ठ। बभ्रज्ज, बभ्रज्जतुः, बभ्रज्जिथ। 'स्कोः'- इति सलोपः, 'व्रश्च' इति षः बभ्रष्ठ। बभर्जे-बभ्रज्जे। भर्ष्टा। भ्रष्टा भर्क्ष्यति, भ्रक्ष्यति।

(वा०) क्ङिति रमागमं बाधित्वा सम्प्रसारणं पूर्वविप्रतिषेधेन।

भृज्यात्, भृज्यास्ताम्, भृज्यासुः। भृक्षीष्ट-भ्रक्षीष्ट। अभार्क्षीद्-अभ्राक्षीत्। अभर्ष्ट। अभ्रष्ट कृष विलेखने॥४॥ कृषति, कृषते, चकर्ष, चकृषे।

भ्रस्ज इति— आर्धधातुक परे रहते 'भ्रस्ज्' के रेफ और उपधा दोनों के स्थान पर 'रम्' का आगम विकल्प से हो।

'मित्' होने से 'मिदचोऽन्त्यात्परः' के द्वारा 'रम्' अन्त्य अच् से पर होता है। तब 'भ्रस्ज्' के रेफोत्तरवर्त्ती अकार से परे उक्त 'रम्' होना चाहिए, परन्तु सूत्र में इसे (रोपधयोः अर्थात्) उपधा तथा रेफ के स्थान पर विधान किया गया है। दोनों बातें युगपत् असम्भव है। इसके समाधान के लिए विद्वानों ने 'रोपधयोः' पद में स्थानषष्ठी मानी है। तब सर्वप्रथम स्थानी (रेफ व उपधा) की निवृत्ति कर ली जायेगी। इस प्रकार 'भ्रस्ज > भ ज्' बन जायेगा। अब अन्त्य अच् (अकार) से पर 'रम्' आगम कर लिया जायेगा।

'भ्रस्ज् तिप् > णल्' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र के द्वारा 'रम्' आगम करने से पूर्व उपधा (सकार) तथा रेफ की निवृत्ति हो गई। भ् र् अ स् ज् णल्। भ् अ रम् ज् णल्। भर्ज् अ। तब द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होकर 'बभर्ज' बना। द्विवचन में 'बभर्जतुः' बना।

मध्यम के एकवचन में भारद्वाजनियम से 'इट्' होकर 'बभर्जिथ' बना तथा इडभाव पक्ष में 'बभर्ज् थ' इस अवस्था में 'व्रश्चभ्रस्ज०' के द्वारा जकार को षकार, ष्टुत्व होकर 'बभर्ष्ठ' बना।

लिट् के 'तिप्' में 'रम्' अभाव पक्ष में 'भ्रस्ज् भ्रस्ज् अ' 'हलादिः शेषः' से हलादि शेष। भ भ्रस्ज् अ— 'अभ्यासे चर्च'। ब भ्रस्ज् अ— इस अवस्था में उत्तर खण्ड में जश्त्व होकर 'बभ्रज्ज' रूप बनेगा।

पूर्वोक्त क्रिया होकर द्विवचन में 'बभ्रज्ञतु:' रूप बनेगा।

'थल्' में रमभाव पक्ष में 'इट्' होकर 'बभ्रज्ञिथ' बना। इट् अभाव पक्ष में 'स्को: संयोगाद्यो:०' के द्वारा सलोप तथा 'व्रश्चभ्रस्ज्०' के द्वारा षकार हो गया। बभ्रस्ज्थ। बभ्रष्ठ।

लिट् के आत्मनेपद में 'रम्' के वैकल्पिक होने से दो दो रूप बनेंगे। यथा—

रम् पक्ष। ब भर्ज् ए। बभर्जे।

रम् अभाव पक्ष। ब भ्रस्ज् एश्। ब भ्र श् ज् ए। बभृज्ञे।

लुट् में 'रम्' पक्ष में— भ्र स्ज् ता। भर्ज्ता। भ र्ष् ता। भर्ष्टा।

रम् के अभाव पक्ष में— भ्रस्ज् ता। भ्र ज् ता (स्को:०)। भ्रष् ता (व्रश्च भ्रस्ज्) भ्रष्टा।

लृट् में 'रम्' पक्ष में— भ्रस्ज् स्य तिप्। भर्ज् स्यति। भर्ष् स्य ति (व्रश्च भ्रस्ज०)। भर्क् स्यति (षढो: क: सि)। भर्क् ष्य ति। भर्क्ष्यति।

'रम्' अभाव पक्ष में— 'भ्रस्ज् तिप्' इस अवस्था में सलोप, जकार को षकार, उसे ककार, मूर्धन्य आदेश आदि कार्य होकर 'भ्रक्ष्यति' बनेगा।

वा०— 'रम्' आगम को बाध कर पूर्व विप्रतिषेध के बल पर सम्प्रसारण हो कित् और ङित् (आर्धधातुक) प्रत्यय परे रहते।

आशीर्लिङ् में 'भ्रस्ज् यासुट् तिप्' इस अवस्था में 'किदाशिषि' के द्वारा 'यासुट्' कित् हो गया। 'भ्रस्जो रोपधयो:०' (पा० ६.४.४७) के द्वारा रमागम तथा 'ग्रहिज्याव्ययिव्यधि' (६.१.१६) के द्वारा सम्प्रसारण एक साथ प्राप्त हैं। तब 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' के बल पर 'रम्' आगम पर होने से बलवान् है। अत: वार्तिक के द्वारा कहा गया कि परकार्य (रमागम) को बाधकर सम्प्रसारण हो। 'भृज्ज्यात्' रूप बना। इसी प्रकार 'भृज्ज्यास्ताम्' तथा 'भृज्ज्यासु:' रूप बनेंगे।

आशीर्लिङ् के आत्मने पद में सीयुट् हुआ तथा 'रम्' के वैकल्पिक होने से 'भर्क्षीष्ट' तथा 'भ्रक्षीष्ट' दो रूप बनेंगे।

लुङ् में 'रम्' आगम पक्ष में 'अभर्ज् स् त्' इस दशा में हलन्त लक्षणा वृद्धि, जकार को षकार, षकार को ककार, सिच् को मूर्धन्य आदेश, ईट् आदि कार्य होकर 'अभार्क्षीत्' रूप बनेगा।

'रम्' के अभाव पक्ष में 'अभ्रस्ज् स् त्' इस स्थिति में सकार लोप, हलन्त वृद्धि, जकार को पूर्ववत् ककार, ईट् आदि होकर 'अभ्राक्षीत्' बनेगा।

लुङ् के आत्मनेपद में 'रम्' के पक्ष में 'अभर्ष्ट तथा अभाव पक्ष में 'अभ्रष्ट' रूप बनेगा।

'कृष' का अर्थ है— हल चलाना। यह अनिट् है।

'कृ ष् श तिप्' यहाँ गुण निषेध होकर 'कृषति' बना। आत्मनेपद में 'कृषते' बन गया।

लिट् में लघूपध गुण होकर 'चकर्ष' बन गया। आत्मनेपद के 'त' को 'एश्' आदेश होकर 'चकृषे' रूप बनेगा।

६५३. अनुदात्तस्य[६] चर्दुपधस्या[६] न्यतरस्याम् (६/१/५९)

उपदेशेऽनुदात्तो य ऋदुपधः, तस्य 'अम्' वा स्याद् झलादौ अकिति। क्रष्टा-कर्ष्टा। कृक्षीष्ट।

(वा०) स्पृश-मृश-कृष-तृप-दृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः।

अक्राक्षीत्-अकार्क्षीत्-अकृक्षत्। अकृष्ट, अकृक्षाताम्, अकृक्षत। क्सपक्षे-अकृक्षत, अकृक्षाताम्, अकृक्षन्त। मिल सङ्गमे॥५॥ मिलति, मिलते। मिमेल। मेलिता। अमेलीत्। मृच्लृ मोचने॥६॥

अनु० इति— उपदेश में अनुदात्त जो ऋदुपध उस धातु को 'अम्' आगम विकल्प से होता है झलादि कित् भिन्न आर्धधातुक परे रहते।

'कृष् तास् डा' इस दशा में 'कृष्' धातु की उपधा में ह्रस्व ऋकार है, उपदेश में अनुदात्त भी है तथा इसके पर झलादि (ता) आर्धधातुक प्रत्यय है जो कित् नहीं है। तब 'रम्' आगम हुआ। कृ अम् ष् ता। क्रष् टा। क्रष्टा। (इको यणचि) 'अम्' के अभाव पक्ष में गुण होकर 'कर्ष्टा बनेगा। लृट् में- कृष् स्य तिप्—पाक्षिक अम् आगम। इको यणचि। क्रष् स्य ति— षढोः कः सि। क्रक् स्यति— आदेश प्रत्यययोः क्रक्ष्यति। रम् अभाव पक्ष में लघूपध गुण। कृष् स्य ति। कर्ष् स्यति— कर्क् स्यति।

आशीर्लिङ् आत्मनेपद में षकार को ककार तथा सकारों को मूर्धन्य आदेश, ष्टुत्व होगा। कृष् सीयुट् सुट् त। कृक् सी स् त। कृक् षी ष् ट। कृक्षीष्ट। यहाँ 'लिङ् सिचावात्मने०' के द्वारा कित् होने से पूर्वोक्त 'अम्' आगम नहीं हुआ।

वा०— स्पृश्, मृश्, कृष्, तृप् और दृप् धातुओं से पर 'च्लि' को 'सिच्' आदेश हो विकल्प से।

'कृष' धातु अनिट् है।

'अ कृष् च्लि तिप्' इस स्थिति में 'शल इगुपधाद् अनिटः क्सः' के द्वारा 'सिच्' के स्थान पर 'क्स' आदेश प्राप्त हुआ जिसे बाधकर प्रकृत वार्तिक के द्वारा विकल्प से 'सिच्' आदेश हुआ। 'सिच्' पक्ष में 'अम्' होकर (वदव्रज०) 'अक्राक्षीत्' तथा 'अम्' अभाव में 'अकार्क्षीत्' बन गया। 'सिच्' अभाव पक्ष में 'क्स' होकर 'अकृक्षत्' बना। तब 'अम्' आगम नहीं होगा।

आत्मनेपद में 'सिच्' पक्ष में 'झलो झलि' के द्वारा सलोप, ष्टुत्व होकर 'अकृष्ट' बना। द्विवचन में 'क्स' पक्ष में 'अकृक्षाताम्' तथा बहुवचन में 'अकृक्षन्त' बनेगा।

'मिल्' का अर्थ है— मिलना। यह सेट् है। इसके रूपों की सिद्धि प्रक्रिया सरल है।

लट् परस्मै० में 'मिल् श् ति' इस दशा में 'मिलति' बन गया। आत्मनेपद में 'मिलते' बना।

लिट् परस्मै० में उत्तरखण्ड को गुण होकर 'मिमेल' बना।

लोट् में उपधा को गुण होकर 'मेलिता' बना।

'मुच्' का अर्थ है— छोड़ना। यह अनिट् है।

६५४. [७]**शे मुचाऽऽदीनाम्**[६] (७/१/५९)

मुच्-लिप्-विद्-लुप्-सिच्-कृत-खिद्-पिशां 'नुम्' स्यात् शे परे। मुञ्चति, मुञ्चते। मोक्ता। मुच्यात् मुक्षीष्ट। अमुचत्, अमुक्त, अमुक्षाताम्। लुप्लृ छेदने॥७॥ लुम्पति, लुम्पते। लोप्ता। अलुपत्, अलुप्त। विद्लृ लाभे॥८॥ विन्दति, विन्दते। विवेद, विविदे। व्याघ्र-भूतिमते सेट्– वेदिता। भाष्यमतेऽनिट्– परिवेत्ता। षिच क्षरणे॥९॥ सिञ्चति सिञ्चते।

श इति— 'श' प्रत्यय परे रहते मुच् आदि (वृत्ति में पठित) धातुओं को 'नुम्' होता है।

'मुच् श तिप्'— यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा 'नुम्' आगम, उसे अनुस्वार (नश्चापदान्त०) तथा परसवर्ण (अनुस्वारस्य०) होकर 'मुञ्चति' रूप बनता है। इसी प्रकार आत्मनेपद में 'मुञ्चते' बनेगा।

लुट् में 'मुच् ता' इस स्थिति में कुत्व होकर 'मोक्ता' बना।

लिङ् में परस्मैपद में 'मुच्यात्' तथा आत्मनेपद में 'मुक्षीष्ट' बनेगा।

लुङ् में 'पुषादि०' के द्वारा 'अङ्' आदेश होकर 'अमुचत्' बन गया। आत्मनेपद में 'सिच्' होगा, उसके सकार का लोप होगा। अमुक्त। द्विवचन में 'अमुक्षाताम्' बनेगा।

'लुप्' का अर्थ है— लोप करना। यह अनिट् है। 'शे मुचादीनाम्' के द्वारा सार्वधातुक लकारों में 'नुम्' होगा।

'विद्' का अर्थ है— प्राप्त करना।

यह उभयपदी है। भाष्यकार के मत से अनिट् है। व्याध्रभूति आचार्य के मत से (अनुदात्तोपदेश होने से) सेट् है। अत: इसे विकल्प से 'इट्' होगा।

'नुम्' होकर लट् में 'विन्दति' तथा 'विन्दते' रूप बनेंगे।

लिट् में 'विवेद' (परस्मै) तथा 'विविदे' (आत्मने०) रूप बनेंगे।

लुट् में इट् पक्ष में 'वेदिता' बनेगा। अनिट् होने पर परि पूर्वक विद् धातु से 'परिवेत्ता' बनेगा।

'सिच्' का अर्थ है— सींचना। यह षोपदेश धातु है।

'नुम्' आगम होकर 'सिञ्चति' तथा 'सिञ्चते' रूप बनेंगे।

६५५. [५]लिपि-सिपि-ह्वश्च (३/१/५३)

एभ्यश्च्लेरङ् स्यात्। असिचत्।

लिपीति— लिप्, सिच् तथा ह्वेञ् धातुओं से पर 'च्लि' को 'अङ्' आदेश हो।

लुङ् में अङ् आदेश होकर 'असिचत्' बनेगा।

६५६. [७]आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् (३/१/५४)

लिपि-सिचि-ह्वः परस्य च्लेरङ् वा तङि असिचत, असिक्त। लिप उपदेहे॥ १०॥ उपदेहो वृद्धिः। लिम्पति, लिम्पते। लेप्ता। अलिपत्, अलिपत, अलिप्त। इति उभयपदिनः॥ कृती छेदने॥ ११॥ कृन्तति। चकर्त। कर्तिथा। कर्तिष्यति, कर्त्स्यति। अकर्तीत्। खिद परिघाते॥ १२॥ खिन्दति। चिखेद। खेत्ता। पिश अवयवे॥ १३॥ पिंशति। पेशिता। ओव्रश्चू छेदने॥ १४॥ वृश्चति। वव्रश्च। वव्रश्चिथ, वव्रष्ठ। व्रश्चिता, व्रष्टा। व्रश्चिष्यति, व्रक्ष्यति। वृश्च्यात्। अव्रश्चीत्, अव्राक्षीत्। व्यच व्याजीकरणे॥ १५॥ विचति। विव्याच। विविचतुः। व्यचिता। व्यचिष्यति। विच्यात्। अव्याचीत्। अव्यचीत्। 'व्यचेः कुटादित्वमनसि' इति तु नेह प्रवर्तते। अनसीति पर्युदासेन कृन्मात्रविषयत्वात्।

उछि उञ्छे॥ १६॥ उञ्छति। 'उञ्छः कणश आदानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्' इति यादवः। ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलय-मूर्तिभावेषु॥ १७॥ ऋच्छति। ऋच्छत्यृतामिति गुणः, द्विहल्ग्रहणस्याऽनेकहलुपलक्षणत्वान्नुट्-आनर्च्छ, आनर्च्छतुः। ऋच्छिता। उज्झ उत्सर्गे॥ १८॥ उज्झति। लुभ विमोहने॥ १९॥ लुभति।

आत्म० इति— लिप्, सिच्, ह्वेञ् से पर 'च्लि' को 'तङ्' (आत्मनेपद प्रत्यय) परे रहते विकल्प से 'अङ्' आदेश हो।

तब आत्मनेपद में 'अङ्' के पक्ष में 'असिचत' रूप बनेगा। 'अङ्' के अभाव में 'सिच्' होकर उसके सकार का लोप (झलो झलि) हो जायेगा। अ सिच् त- यहाँ 'चो कुः' से कुत्व। असिक्त।

'लिप्' का अर्थ है-लीपना। यह अनिट् है। इसे भी सार्वधातुक लकारों में 'नुम्' होता है।

'कृत' का अर्थ है— काटना। यह सेट् है तथा 'नुम्' आगम होता है।

लिट् में 'कृत् कृत् णल्' इस अवस्था में अभ्यास कार्य तथा गुण होकर 'चकर्त' बन गया। लृट् में 'सेऽसिचि कृतचृतछृद०' के द्वारा वैकल्पिक 'इट्' होकर 'कर्तिष्यति' तथा 'कर्त्स्यति' रूप बनेंगे।

'खिद्' का अर्थ है— खिन्न करना। यह अनिट् है।

लट् में 'नुम्' होकर 'खिन्दति' रूप बना।

'पिश्' का अर्थ है— पीसना। यह सेट् है। 'नुम्' होकर 'पिंशति' रूप बना (नश्चापदान्त०)।

'व्रश्च' का अर्थ है— काटना। इसे वैकल्पिक 'इट्' होता है।

'व्रश्च् श तिप्' इस अवस्था में 'श' के 'ङित्' होने से 'ग्रहिज्या०' के द्वारा सम्प्रसारण होकर 'वृश्चति' रूप बना।

लिट् लकार में द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर 'वव्रश्च' रूप बना। अभ्यास को 'लिट्यभ्यासस्यो०' के द्वारा सम्प्रसारण, पूर्वरूप अभ्यास को 'उरत्' के द्वारा 'अर्' आदेश। तब हलादि शेष होगा मध्यम के एकवचन में 'थल्' को वैकल्पिक 'इट्' (स्वरति सूति०) होकर 'वव्रश्चिथ' तथा व व्र श्च् थ। इट् अभाव पक्ष में (व्रश्च भ्रस्ज० से) ष्। व व्रष् थ- ष्टुना ष्टुः। 'वव्रष्ठ' रूप बनेंगे।

इसी प्रकार लुट् में वैकल्पिक 'इट्' होकर 'व्रश्चिता' तथा 'व्रष्टा' बनेंगे।

'व्रश्च् स्य ति'— यहाँ इट् अभाव पक्ष में सकार लोप, चकार को षकार, उसे ककार, मूर्धन्य आदेश आदि होकर 'व्रक्ष्यति' बनेगा।

आशीर्लिङ् में 'यासुट्' के कित् होने से 'ग्रहिज्या०' के द्वारा सम्प्रसारण होकर 'वृश्च्यात्' बना।

लुङ् में 'इट्' पक्ष में (वदव्रजहल०, नेटि) 'अव्रश्चीत्' तथा 'इट्' के अभाव पक्ष में अट् व्रश्च स् ई त्— सिच्, अनुबन्ध लोप, संयोगादिलोप। अ व्र च स् ई त्— वदव्रजहल० अ व्राच् सीत्— षत्व, कत्व, मूर्धन्य आदेश। होकर 'अव्राक्षीत्' बना।

'व्यच्' का अर्थ है— उठना। यह सेट् है।

लट् में 'व्यच् श तिप्' इस दशा में 'ग्रहिज्यावयि०' के द्वारा सम्प्रसारण होकर 'विचति' रूप बनेगा।

लिट् में 'व्यच् व्यच् णल्' इस स्थिति में 'लिट्यभ्यासस्योभ०' के द्वारा सम्प्रसारण, 'अत उपधायाः' के द्वारा उपधा को वृद्धि होकर 'विव्याच' तथा द्विव० में 'विविचतुः' रूप बनेगा। शेष रूप सरल हैं।

लुङ् में सिच्, इट्, ईट् आदि होने पर सिच् लोप हुआ। हलन्तलक्षणा वृद्धि की प्राप्ति हुई, 'नेटि' के द्वारा उसका निषेध हो गया। तब 'अतो हलादेर्लघोः' के द्वारा वैकल्पिक वृद्धि होकर 'अव्याचीत्' तथा 'अव्यचीत्' रूप बने।

'व्यच्' धातु को कुटादिगण में समझना चाहिए 'अस्' भिन्न प्रत्यय परे रहते। यह इस स्थल पर प्रवृत्त नहीं होता है। इसका विषय केवल कृत् प्रत्यय है।

'उछ्' का अर्थ है— वृत्ति से निर्वाह करना।

इस धातु को 'इदितो नुम् धातोः' के द्वारा 'नुम्' होता है।

लट् में 'उञ्छति' रूप बना।

'ऋच्छ्' का अर्थ है— जाना, इन्द्रियों का नाश तथा निश्चत बनना। यह धातु सेट् है।

लट् के प्रथम के एकवचन में 'ऋच्छ् श तिप्' इस अवस्था में 'ऋच्छति' रूप बना।

लिट् में 'ऋच्छ् णल्' इस स्थिति में 'ऋच्छत्यृताम्' के द्वारा ऋकार को गुण हुआ। अर् च्छ् अ। 'तस्मान्नुड् द्विहलः' में पठित 'द्विहल्' एक से अधिक हल् को कहता है। इसके अनुसार एक से अधिक हल् होने चाहिए। तब 'नुट्' होगा। अब द्वित्व, अभ्यास कार्य तथा 'नुट्' हुआ। अर्च्छ् अर्च्छ णल्। अ अर्च्छ् अ। अ अ नुट् र्छ् अ। आनर्च्छ। द्विवचन में 'ऋच्छत्यृताम्' से गुण होकर, द्वित्वादि कार्य होंगे। आनर्च्छतुः।

लुट् में 'इट्' होकर 'ऋच्छिता' बनेगा।

'उञ्छ्' का अर्थ है— छोड़ना। यह सेट् धातु है।

लट् में 'उञ्छति' रूप बनेगा।

'लुभ्' का अर्थ है—मोहित होना, लोभ करना। यह भी सेट् है।

'श' के ङित् होने से गुण निषेध होकर 'लुभति' बना।

६५७. [७]**तीषसह-लुभ-रुष-रिषः**[५] (७/२/४८)

इच्छत्यादेः परस्य तादेरार्धधातुकस्येड् वा स्यात्। लोभिता, लोब्धा। लोभिष्यति। तृप तृम्फ तृप्तौ॥ २०॥ ॥ २१॥ तृपति। ततर्प। तर्पिता। अतर्पीत्। तृम्फति।

(वा०) शे तृम्फादीनां नुम्वाच्यः।

आदिशब्दः प्रकारे, तेन येऽत्र नकारानुषक्तास्ते तृम्फादयः। ततृम्फ। तृफ्यात्।

मृड पृड सुखने॥ २२॥ ॥ २३॥ मृडति। पृडति।

शुन गतौ॥ २४॥ शुनति। इषु इच्छायाम्॥ २५॥ इच्छति। एषिता, एष्टा। एषिष्यति। इष्यात्। ऐषीत्।

कुट् कौटिल्ये॥ २६॥ गाङ्कुटादीति ङित्वम्-चुकुटिथ। चुकोट, चुकुट। कुटिता।

पुट संश्लेषणे॥ २७॥ पुटति। पुटिता। स्फुट विकसने॥ २८॥ स्फुटति। स्फुटिता। स्फुर स्फुल संचलने॥ २९-३०॥ स्फुरति। स्फुलति।

तीति— इष्, सह् लुभ्, रुष् और रिष् धातुओं के परे तकारादि आर्धधातुक को विकल्प से 'इट्' होता है।

लुट् में विकल्प से 'इट्' होकर 'इट्' पक्ष में गुण होकर 'लोभिता' बनेगा। इडभाव पक्ष में 'लुभ् ता' इस स्थिति में तकार को 'झषस्तथोर्धो०' से धकार तथा पूर्व भकार को 'जश्' (बकार) हो गया। लोब्धा।

'तृप्' तथा 'तृम्फ्' का अर्थ है— तृप्ति करना।

लट् में 'तृपति' तथा लिट् में 'ततर्प' बनता है।

लुट् में 'इट्' होकर 'तर्पिता' रूप बना।

लुङ् में अट्, तिप्, सिच्, इट्, ईट्, सिच् का लोप होकर— अट् तृप् इट् सिच् ईट् तिप् > त्। अ तृप् इ ई त्। अ तर्पीत्।

लट् में 'तृम्फ् श तिप्' इस अवस्था में 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' के द्वारा

नकार लोप हुआ। तब अनुस्वार तथा परसवर्ण होकर 'तृम्फति' रूप बनेगा।

'तृम्फादीनाम्' इस पद में 'आदि' शब्द प्रकारवाची है अर्थात् इस प्रकरण में जिन धातुओं के साथ नकार जुड़ा हो उन्हें तृम्फादि मानना चाहिए।

आशीर्लिङ् में 'किदाशिषि' के द्वारा 'यासुट्' कित् हो गया। तब 'अनिदितां०' के द्वारा नकार का लोप होकर 'तृफ्यात्' रूप बना।

'मृड्' तथा 'पृड्' का अर्थ है— सुख देना। ये सेट् धातुएँ हैं।

'शुन्' का अर्थ है— जाना। यह सेट् है।

'इष्' का अर्थ है— इच्छा करना। यह सेट् धातु है।

'इष् श तिप्' इस अवस्था में 'इषुगमियमां०' के द्वारा षकार को छकार तथा तुगागम (छे च) हुआ। इच्छति। इष् णल्—लिट् में परस्मैपदानां णलतुसुस्थल०। द्वित्व, हलादि शेष। इ इष् अ पुगन्तलघूपधस्य च। इ एष् अ— अभ्यासस्याऽसवर्णे। इयङ् एष् अ— इयेष। लुट् में इट्, गुण होकर 'एषिता' बना। इट् के अभाव पक्ष में मूर्धन्य आदेश, ष्टुत्व तथा गुण होकर 'एष्टा' रूप बनेगा। लृट् में 'एषिष्यति' रूप बनेगा।

आशीर्लिङ् में गुण का निषेध होकर 'इष्यात्' रूप बना। लुङ् में आट्, तिप्, इकार लोप, सिच्, इट्, ईट्, सिच् लोप यथा— आट् इष् सिच् तिप् (इतश्च), इट्, ईट्। आ इष् इ स् ई त् (इट ईटि)। पुगन्तलघूपधस्य च- आ एषीत्— आटश्च। ऐषीत्।

'कुट्' का अर्थ है— कुटिलता करना।

लिट् के मध्यम एकवचन में 'थल्' को 'इट्' होगा। तब 'गाङ्कुटादिभ्य:०' के द्वारा ङित् होकर गुण का निषेध हो गया। चुकुटिथ।

लुट् में 'इट्' होकर 'कुटिता' बनेगा।

'पुट्' का अर्थ है— खिलना।

'स्फुर्' तथा 'स्फुल्' का अर्थ है— हिलना, डुलना।

लट् में 'स्फुरति' तथा 'स्फुलति' रूप बनेंगे।

६५८. [६]**स्फुरति-स्फुलत्योर्निर्निविभ्य:**[५] (८/३/७६)

षत्वं वा स्यात्। निष्फुरति। नि: स्फुरति।

णू स्तवने॥ ३१॥ 'परिणूतगुणोदय:'। नुवति। नुनाव नुविता।

टुमस्जो शुद्धौ॥ ३२॥ मज्जति। ममज्ज। 'मस्जि-नशो' रिति नुम्।

(वा०) मस्जेरन्त्यात् पूर्वो नुम् वाच्य:।

संयोगादिलोप:-ममङ्क्थ, ममज्जिथ। मङ्क्ता। मङ्क्ष्यति। अमाङ्क्षीत्, अमाङ्क्ताम्, अमाङ्क्षु:। रुजो भङ्गे॥ ३३॥ रुजति। रोक्ता। रोक्ष्यति। अरौक्षीत्। भुजो कौटिल्ये॥ ३४॥ रुजिवत्। विश प्रवेशने॥ ३५॥ विशति।

मृश आमर्शने॥ ३६॥ आमर्शनम्-स्पर्श:। अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्-

अम्राक्षीत्, अमार्क्षीत्, अमृक्षत्। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु॥३७॥ सीदति-इत्यादि। शद्लृ शातने॥३८॥

स्फुरतीति— निर्, नि तथा वि से पर 'स्फुर्' तथा 'स्फुल्' धातुओं के सकार को विकल्प से षकार होता है।

'निस् फुरति'— यहाँ पूर्ववत् षकार होकर 'निष्फुलति' बना। पक्ष में 'निःस्फुलति' बनेगा।

'नू' का अर्थ है— स्तुति करना।

'परिणूतगुणोदयः' का अर्थ है— जिसके गुण प्रशंसनीय हैं। इसका विग्रह इस प्रकार होगा— 'परिणूतः प्रशस्तः गुणानामुदयो यस्य।'

लट् में उवङ् होकर 'नुवति' रूप बनेगा। (अचिश्नुधातु०)।

'मस्ज्' का अर्थ है— शुद्ध करना।

यह धातु अनिट् है।

लट् में 'मस्ज् श तिप्'— यहाँ श्चुत्व, जश्त्व होकर—म श् ज् अ ति। मज्जति।

लिट् में 'म मस्ज् णल्' इस अवस्था में पूर्ववत् कार्य होकर 'ममज्ज' रूप बनता है।

वा०— 'मस्ज्' धातु में अन्त्य वर्ण से पूर्व 'नुम्' कहना चाहिए।

लिट् मध्यम एकवचन में 'सिप्' को 'थल्' आदेश हुआ। इट् अभाव पक्ष में द्वित्व, अभ्यासकार्य, नुम् (मस्जि नशोः०) हुआ। नुमागम अन्त्य वर्ण जकार से पूर्व हुआ। म मस्ज् थ म। म स् नुम् ज् थ। तब संयोगादि सकार का लोप, जकार को कवर्ग (गकार) हुआ। उसे चर्त्व हुआ। नकार को अनुस्वार तथा उसे परसवर्ण हुआ। म म न् ज् थ। म म न् क् थ। म म ङ् क्थ। इट् पक्ष में 'ममज्जिथ' बनेगा।

लुट् में पूर्वोक्त कार्य होकर 'मङ्क्ता' बनेगा।

इसी प्रकार लृट् प्रथम एकव० में 'मङ्क्ष्यति' रूप बना।

लुङ् में अट्, तिप्, (अ मस्ज् तिप्) सिच्, नुम्, (अ मस् नुम् ज् सिच् त्) सकार का लोप, वृद्धि, (अमान् ज् स् त्) कुत्व (अमान् ग् स् त्), चर्त्व (अमान् क् स् त्), षकार आदेश, नकार को अनुस्वार, उसे पररूप होकर 'अमाङ्क्षीत्' बना। द्विवचन तथा बहुवचन में क्रमशः 'अमाङ्क्ताम्' तथा 'अमाङ्क्षुः' रूप बनेंगे।

'रुज्' का अर्थ है— तोड़ना। यह अनिट् धातु है।

लट् में 'श' होकर 'रुजति' बना।

लुट् में गुण, कुत्व, चर्त्व होकर 'रोक्ता' बना।

लृट् में गुण, कुत्व, मूर्धन्यादेश होकर 'रोक्ष्यति' बनेगा।

लुङ् में सिच्, ईट्, वृद्धि होकर 'अरौक्षीत्' बनेगा।

'भुज्' का अर्थ है— कुटिल होना। यह अनिट् है। इसके रूप 'रुज्' की तरह होंगे।

'विश्' का अर्थ है— प्रवेश करना। यह अनिट् है।

'मृश्' का अर्थ है— छूना। यह अनिट् है। 'आमर्शन' स्पर्श को कहते हैं।

लुट् में इट् निषेध। मृश् ता इस दशा में 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्य' से वैकल्पिक अम्। 'इको यणचि'। म्रश् ता— व्रश्चभ्रस्ज०। म्रष् ता—ष्टुना ष्टुः। अम् अभाव पक्ष में लघूपधगुण। 'व्रश्चभ्रस्ज०'। 'ष्टुना ष्टुः'। मर्ष्टा। लुङ् में 'अ मृश् सिच् ईट् त्' इस स्थिति में 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्या०' के द्वारा ऋकार के आगे 'अम्' हुआ। तब यण्, हलन्तलक्षणा वृद्धि, जकार को कुत्व, चर्त्व तथा मूर्धन्य आदेश होकर रूप बना— अमृ अम् श् स् ई त्। अ मृ अम् श् स् ई त्। अम्राश् सीत्। अम्राक् सीत्। अम्राक्षीत्। 'अम्' के अभाव पक्ष में पूर्ववत् कार्य, हलन्तलक्षणा वृद्धि होकर 'अमार्क्षीत्' बना। 'अम्राक्षीत्' तथा 'अमार्क्षीत्' रूप 'सिच्' पक्ष में बनते हैं। सिच् के अभाव पक्ष में (स्पृश-मृश कृष तृप दृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः) 'क्स' आदेश (शल इगुपधानिटः क्सः) होगा। पूर्ववत् कार्य होकर 'अमृक्षत्' रूप बनेगा।

'षद्' का अर्थ है— फटना, जाना तथा दुःखी होना।

'शद्' का अर्थ है— नाश होना। यह अनिट् है।

६५९. [६]**शदेश्शितः**[६] (१/३/६०)

शिद्भाविनोऽस्मात्तङानौ स्तः। शीयते। शीयताम्। अशीयत। शीयेत। शशाद। शत्ता। शत्स्यति। अशदत्। अशत्स्यत्। कॄ विक्षेपे॥३९॥

शदेरिति— 'शद्' से शिद्भावी की अवस्था में 'तङ्' तथा 'आन' प्रत्यय होते हैं।

शिद्भावी का अर्थ है— शित् की विवक्षा में अथवा शित् सम्बन्धी। अतः सूत्र का भाव है कि शित् (अर्थात् जिसका शकार इत् है) प्रत्यय की विवक्षा में 'शद्' धातु से आत्मनेपद होता है। तङ् तथा आन (शानच्, कानच्) की आत्मनेपद संज्ञा होती है। 'शद्' धातु मूलतः परस्मैपदी है परन्तु शित् प्रत्यय की विवक्षा में प्रकृत सूत्र से आत्मनेपदी हो जाती है।

'शद्' से प्रकृत सूत्र के द्वारा आत्मनेपदी 'त' प्रत्यय हुआ। 'शद् श त' इस अवस्था में 'शीय्' आदेश होकर 'शीयते' बन गया।

लिट् में 'शशाद', लुट् में 'शत्ता' तथा लृट् में 'शत्स्यति' रूपों में प्रक्रिया सरल है।

लोट् में पूर्ववत् शीय् तथा श होकर 'शीयताम्' बना।

लङ् में 'अशीयत' तथा विधिलिङ् में 'शीयेत' बनेगा।

लुङ् में 'पुषादि०' के द्वारा 'अङ्' होता है। अशदत्।

'कॄ का अर्थ है— बिखेरना।

६६०. [६]**ॠत** [१]**इद्धातोः**[६] (७/१/१००)

ॠदन्तस्य धातोरङ्गस्य इत्स्यात्। किरति। चकार, चकरतुः, चकरुः। करीता, करिता। कीर्यात्।

ॠत इति— अङ्गसंज्ञक दीर्घ ॠकारान्त धातु को 'इत्' आदेश होता है।

'उरण्' के बल पर 'इर्' आदेश होगा।

'कॄ श तिप्'— यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा 'इर्' आदेश हुआ। किरति।

लिट् में 'ऋच्छत्यॄताम्' के द्वारा गुण, द्वित्व आदि कार्य, उपधा को वृद्धि (अत उपधायाः) होकर 'चकार' बना।

लिट् प्रथम द्विव० में 'चकरतुः' तथा बहुव० में 'चकरुः' बनेगा।

लुट् में इट्, गुण होकर 'क र् इता' इस स्थिति में 'वृतो वा' के द्वारा विकल्प से दीर्घ होकर 'करीता' तथा 'करिता' रूप बने।

आशीर्लिङ् में 'किदाशिषि' के द्वारा यासुट् कित् हो गया। 'ऋत इद्धातोः' के द्वारा 'इर्' आदेश तथा इकार को दीर्घ (हलि च) हुआ। 'कीर्यात्' रूप सिद्ध हुआ।

६६१. [७]**किरतौ लवने**[७] **(६/१/१३५)**

उपात् किरतेः सुट् छेदने। उपस्किरति।

(वा०) अड्-अभ्यास-व्यवायेऽपि सुट् कात्पूर्व इति वक्तव्यम्। उपास्किरत्। उपचस्कार।

किरता इति— काटने के अर्थ में 'उप' पूर्वक 'कॄ' धातु को 'सुट्' आगम हो।

'उप सुट् किर् श ति' इस अवस्था में 'उपस्किरति' रूप बना।

वा०— अट् और अभ्यास के व्यवधान होने पर भी (पूर्वोक्त) सुट् हो तथा वह ककार से पूर्व ही हो।

'उप अकिरत्' इस अवस्था में उपसर्ग से परे 'कॄ' धातु है, परन्तु 'अट्' का व्यवधान है। तब प्रकृत वार्तिक के द्वारा 'क' से पूर्व सुट् हो गया। उपास्किरत्।

इसी प्रकार लिट् में 'उपचकार' इस अवस्था में प्रकृत वार्तिक के द्वारा ककार से पूर्व सुट् होकर 'उपचस्कार' रूप बना।

६६२. [७]**हिंसायां प्रतेश्च (६/१/१४०)**

उपात्प्रतेश्च किरतेः सुट् स्यात् हिंसायाम्। उपस्किरति। प्रतिस्किरति। गॄ निगरणे॥४०॥

हिंसायामिति— हिंसा अर्थ में उप तथा प्रति से पर 'कॄ' धातु को 'सुट्' आगम हो।

तब 'उपस्किरति' तथा 'प्रतिस्किरति' रूप बनेंगे।

'गॄ' का अर्थ है— निगलना।

६६३. [७]**अचि विभाषा (८/२/२१)**

गिरते रेफस्य लोऽजादौ प्रत्यये। गिलति, गिरति। जगाल, जगार। जगलिथ,

जगरिथ। गलीता, गलिता। गलीता गरीता, गरिता।

प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्॥४१॥ 'ग्रहिज्या' इति सम्प्रसारणम्-पृच्छति। पप्रच्छ, पप्रच्छतु:, पप्रच्छु:। प्रष्टा। प्रक्ष्यति। अप्राक्षीत्। मृङ् प्राणत्यागे।

अचीति— अजादि प्रत्यय परे रहते 'गृ' के रेफ को विकल्प से लकार होता है।

लट् में 'श' के होने पर 'ऋत इद्धातो:' के द्वारा 'इर्' आदेश हुआ। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प से लकार होकर 'गिरति' तथा 'गिलति' रूप बने।

इसी प्रकार लिट् में 'जगार' तथा 'जगाल' रूप बनेंगे।

'थल्' में इट् तथा विकल्प से लत्व होकर 'जगरिथ' तथा 'गजलिथ' रूप बने।

लुट् में 'वृतो वा' से वैकल्पिक दीर्घ होता है। यहाँ दो विकल्प होने से चार रूप बनते हैं। गरीता, गरिता। गलीता, गलिता।

'प्रच्छ्' का अर्थ है— पूछना। यह अनिट् है।

ङित् प्रत्ययों में 'ग्रहिज्या०' के द्वारा सम्प्रसारण होगा।

लट् के तिप् में 'पृच्छति' बनेगा। लिट् के तिप् को णल् आदेश, द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर 'पप्रच्छ' बनेगा। 'अतुस्' में 'पप्रच्छतु:' तथा 'झि' में 'जुस्' होकर 'पप्रच्छु:' बनेगा।

लुट् में 'व्रश्चभ्रस्ज०' के द्वारा 'छ्' को षकार हुआ। तब ष्टुत्व होकर 'प्रष्टा' बना।

लृट् में पूर्वोक्त रीति से प्राप्त षकार को 'षढो: क: सि' से ककार होकर 'प्रक्ष्यति' रूप बना।

लुङ् में 'अप्रच्छ् सिच् तिप्' इस अवस्था में 'तिप्' के इकार का लोप, ईट् आगम, हलन्त लक्षणा वृद्धि, 'छ्' को षकार, उसे ककार होकर रूप बना— अप्रच्छ् स् ई त्। अ प्रष् स् ई त्। अप्राष् स् ई त्। अप्राक्सीत्। अप्राक्षीत्। अप्राक्षीत्।

'मृ' का अर्थ है— मरना।

६६४. [५]**म्रियतेर्लुङ्**-[७]**लिङोश्च (१/३/६१)**

लुङ्-लिङो-शितश्च प्रकृतिभूतान्मृङस्तङ् नान्यत्र। रिङ्, इयङ् म्रियते। ममार। मर्ता। मरिष्यति। मृषीष्ट। अमृत। मृङ् प्राणत्यागे॥४२॥ पृङ् व्यायामे॥४३॥ प्रायेणायं व्याङ्पूर्व:। व्याप्रियते, व्यापप्रे, व्यापप्राते। व्यापरिष्यते। व्यापृत, व्यापृषाताम्। जुषी प्रतिसेवनयो:॥४४॥ जुषते। जुजुषे। ओविजी भयचलनयो:॥४५॥ प्रायेणायमुत्पूर्व:। उद्विजते।

म्रियतेरिति— लुङ्, लङ् तथा शित् के विषय में 'मृ' धातु से 'तङ्' होता है, अन्यत्र नहीं।

शित् विषय का अर्थ है— सार्वधातुक लकार।

लट् में प्रकृत सूत्र के द्वारा 'तङ्' होकर 'मृ श ते' इस अवस्था में (रिङ् शयग्

लिङ्क्षु) 'रि' आदेश हुआ। 'इयङ्' आदेश होकर 'म्रियते' बना।

लिट् में 'तङ्' नहीं हुआ। तब 'चकार' की तरह 'ममार' बन गया।

लुट् में तिप् में सामान्य गुण होकर 'मर्त्ता' बनेगा।

लृट् के तिप् में स्य, इट् (ऋद्धनोः स्ये), गुण होकर 'मरिष्यति' बनेगा।

आशीर्लिङ् में 'तङ्' हुआ। सीयुट् व सुट् होते हैं। सीयुट् (उश्च) से कित् हो गया। तब गुण निषेध होकर 'मृषीष्ट' बना। यथा— मृ सीयुट् सुट् त। मृसीस् त। मृसीष् त। मृषीष् ट।

लुङ् में भी प्रकृत सूत्र के द्वारा 'तङ्' हुआ। 'ह्रस्वादङ्गात्' के द्वारा 'सिच्' का लोप हो गया। अमृत।

'पृ' का अर्थ है— चेष्टा करना। यह अनिट् है। इस धातु से पूर्व प्रायः 'वि' तथा 'आङ्' उपसर्ग होते हैं।

लट् में 'रिङ् शयग्०' के द्वारा 'रिङ्' होकर 'व्याप्रियते' बना।

लिट् में 'व्या पपृ एश्' इस अवस्था में यण् होकर 'व्यापप्रे' बना।

लृट् में 'ऋद्धनोः स्ये' के द्वारा 'इट्' होकर 'व्यापरिष्यते' बना।

लुङ् में 'सिच्' का लोप 'ह्रस्वाद् अङ्गात्' से होकर 'व्यापृत' बना। द्विवचन में सिच् का लोप न होकर 'व्यापृषाताम्' बनेगा।

'जुष्' का अर्थ है— प्रीति तथा सेवन। यह सेट् है। रूप प्रक्रिया सरल है।

'ओविजी' का अर्थ है— भय तथा काँपना। यह धातु प्रायः 'उत्' उपसर्ग के साथ होती है।

लट् में 'उद्विजते' रूप बना।

६६५. [५]**विज इट्**[१] **(१/२/२)**

विजेः पर इडादिप्रत्ययो ङिद्वत्। उद्विजिता॥ इति तुदादयः॥

विज इति— 'विज्' से पर इडादि प्रत्यय ङिद्वत् होता है।

ङित् होने से गुण निषेध होता है।

लुट् में 'इट्' हुआ। तब गुण निषेध होकर 'उद्विजिता' रूप बना।

॥ तुदादिगण समाप्त हुआ ॥

॥७॥ अथ रुधादयः।

रुधिर् आवरणे॥ १॥

'रुध्' का अर्थ है— रोकना।

यह अनिट् धातु है। इरित् है।

६६६. [५]**रुधाऽऽदिभ्यः श्नम्**[१] **(३/१/७८)**

शपोऽपवादः। रुणद्धि। श्नसोरल्लोपः– रुन्धन्ति। रुणत्सि, रुन्धः, रुन्ध। रुणध्मि, रुन्ध्वः, रुन्ध्मः। रुन्धे, रुन्धाते, रुन्धते। रुन्त्से, रुन्धाथे, रुन्ध्वे। रुरोध, रुरुधे। रोद्धा। रोत्स्यति रोत्स्यते। रुणद्धु-रुन्धात्। रुन्धाम्, रुन्धन्तु। रुन्धि। रुणधानि, रुणधाव, रुणधाम। रुन्धाम्, रुन्धाताम्, रुन्धताम्। रुन्त्स्व। रुणधै, रुणधावहै, रुणधामहै। अरुणत्-अरुणद्, अरुन्धाम्, अरुन्धन्। अरुणत्, अरुणः। अरुन्ध, अरुन्धाताम्, अरुन्धत। अरुन्धाः। रुन्ध्यात्। रुन्धीत। रुध्यात् रुत्सीष्ट। अरुधत्, अरौत्सीत् अरुद्ध, अरुत्साताम्, अरुत्सत। अरोत्स्यत्, अरोत्स्यत। भिदिर् बिदारणे॥२॥ छिदिर् द्वैधीकरणे॥३॥ युजिर् योगे॥४॥ रिचिर् विरेचने॥५॥ रिणक्ति, रिङ्क्ते। रिरेच। रेक्ता। रेक्ष्यति॥५॥ अरिणक्। अरिचत्, अरैक्षीत्, अरिक्त। विचिर् पृथग्भावे॥६॥ विनक्ति, विङ्क्ते। क्षुदिर सम्पेषणे॥७॥ क्षुणत्ति, क्षुन्ते। क्षोत्ता। अक्षुदत्, अक्षौत्सीत्, अक्षुत्त। उच्छृदिर् दीप्तिदेवनयोः॥८॥ छृणत्ति, छृन्ते। चच्छर्द। सेऽसिचीति वेट्-चच्छृदिषे, चच्छृत्से। छर्दिता। छर्दिष्यति, छर्त्स्यति। अच्छृदत्, अच्छर्दीत्। अच्छर्दिष्ट। उतृदिर हिंसाऽनादरयोः॥९॥ तृणत्ति। तृन्ते। कृती वेष्टने॥१०॥ कृणत्ति। तृह हिंसि हिंसायाम्॥११॥१२॥

॥ इति रुधादिगण ॥

रुधिति— 'रुध्' आदि धातुओं से कर्तृवाचक सार्वधातुक में 'श्नम्' होता है।

लट् में 'रुध् तिप्' इस अवस्था में 'कर्तरि शप्' के द्वारा 'शप्' प्राप्त हुआ। उसे बाधकर प्रकृत सूत्र के द्वारा 'श्नम्' हुआ। 'श्नम्' के शकार तथा मकार की इत्संज्ञा होती है। रु न ध् ति। तब 'झषस्तथो०' के द्वारा तकार को धकार, धातु के धकार को 'झलां जश् झशि' से दकार हुआ। नकार को णकार तथा रुन ध् धि रु न द् धि। रुणद्धि।

'श्नसोरल्लोपः' के द्वारा हलादि ङित् सार्व० परे रहते 'श्न' के अकार का लोप होता है। यथा— 'रु न ध् तस्' इस स्थिति में अकार लोप होकर पूर्ववत् कार्य हुआ। रुन्द्धः। यहाँ 'झरो झरि सवर्णे' के द्वारा पूर्व धकार के लोपपक्ष में 'रुन्धः' भी बनता है।

'रु न ध् अन्ति' अकार का पूर्ववत् लोप होकर 'रुन्धन्ति' बन गया। 'रु न ध् सि' इस स्थिति में चर्त्व होकर 'रुणत्सि' बना। 'रु न ध् थस्' यहाँ प्रथम के द्विवचन की तरह क्रिया होकर 'रुन्धः' बनेगा। बहुवचन में 'रुन्ध', उत्तम में 'रुणध्मि', 'रुन्ध्वः' तथा 'रुन्ध्मः' रूप बनेंगे। आत्मनेपद में 'तङ्' अपित् होने से ङित् हैं। अतः 'श्न' के अकार का सर्वत्र लोप होता है। यथा— रुन्धे, रुन्धाते, रुन्धते। मध्यम में 'रुन ध् थास् > से'— यहाँ अकार लोप, चर्त्व होकर 'रुन्त्से' बना। द्विवचन में 'रुन्धाथे' तथा बहुवचन में 'रुन्ध्वे' बनेगा। उत्तम में 'रुन्धे', 'रुन्ध्वहे' तथा 'रुन्ध्महे' रूप बनेंगे।

लिट् में उत्तरखण्ड को लघूपध गुण हुआ। रुरोध। आत्मनेपद में गुण निषेध होकर 'रुरुधे' बना।

'लुट्' में रुध् तास् डा-टिलोप। रुध् त् आ (पुगन्तलघूपध०)। रोध् ता (झषस्तथो०)। रोध् धा (झलां जश् झशि)। रोद्धा। लृट् में चर्त्व होकर 'रोत्स्यति' तथा 'रोत्स्यते' रूप बनेंगे।

लोट् के प्रथम एकवचन में 'रुन ध् ति > तु' यहाँ तकार को धकार, जश्त्व, णकार होकर 'रुणद्धु' रूप बना। 'तातङ्' के पक्ष में 'रु न ध् तात्' इस अवस्था में धकार, नकार के अकार का लोप, पूर्व धकार का लोप 'झरो झरि सवर्णे' होकर 'रुन्धात्' रूप बना। 'रुध् सिप्'— यहाँ 'श्नम्', हि आदेश, अकार लोप, (हुझल्भ्यो०), 'हि' को 'धि' आदेश पूर्व धकार का लोप हुआ। रुन ध् सि। रु न् ध् हि। रुन् ध् धि रु न् धि। रुन्धि। 'रुध् मिप् > नि' इस अवस्था में 'श्नम्', आट् होकर 'रुणधानि' बना। द्विवचन में तथा बहुवचन में 'आट्' होकर 'रुणधाव' तथा 'रुणधाम' रूप बनेंगे। आत्मनेपद में 'रुन्धाम्', 'रुन्धाताम्' तथा 'रुन्धताम्' रूप बनेंगे। मध्यम एकवचन में अकार लोप, चर्त्व होकर 'रुन्त्स्व' बनेगा। उत्तम के एकवचन में 'रु न ध् आ इ > ए' इस अवस्था में 'आटश्च' के द्वारा वृद्धि, णत्व होकर 'रुणधै' बना। द्विव० में 'रुणधावहै' तथा बहुवचन में 'रुणधामहै' बनेगा।

लङ् में 'अ रु न ध् त्' इस अवस्था में अपृक्त तकार का लोप (हल्ङ्याब्भ्य०)। अ रु न ध् (झलां झशोऽन्ते)। 'वाऽवसाने' से चर्त्व होकर 'अरुणत्' तथा 'अरुणद्' दो रूप बने। मध्यम के एकवचन में 'अरुनध् स्' इस अवस्था में सकार लोप, जश्त्व तथा वैकल्पिक चर्त्व हुआ। अरुणध्। अरुणद्, अरुणत्। दकार पक्ष में 'दश्च' के द्वारा दकार को रुत्व तथा विसर्ग होकर 'अरुण:' बना।

आत्मनेपद में 'अरु न् ध् ध' इस अवस्था में पूर्व धकार का लोप हुआ। अरुन्ध।

आ० लिङ् में 'रुध् सीयुट् सुट् त्' इस स्थिति में यासुट् के कित् होने से 'लिङ्सिचावा०' से गुण का निषेध हो गया। तब चर्त्व होकर 'रुत्सीष्ट' बना।

लुङ् में 'इरितो वा' के द्वारा वैकल्पिक 'अङ्' हो गया। 'अङ्' पक्ष में 'अरुधत्' बना। 'अङ्' अभाव पक्ष में 'सिच्' होकर 'अरुध् स् ई त्' इस अवस्था में हलन्तलक्षणा वृद्धि होकर 'अरौत्सीत्' बना।

'भिद्' का अर्थ है— तोड़ना। यह अनिट् है। इसके रूप सरल हैं।

'छिद्' का अर्थ है— काटना। यह अनिट् है। इसके रूप 'भिद्' की तरह होंगे।

'युज्' का अर्थ है— मिलना। यह अनिट् है।

'रिच्' का अर्थ है— खाली होना। यह अनिट् है। 'भिद्' की तरह रूप चलेंगे।

लट् परस्मै० तिप् में श्नम्, चकार को ककार, नकार को मूर्धन्य होकर 'रिणक्ति' बना।

आत्मनेपद में श्नम् के अकार का लोप, ककार, नकार को अनुस्वार व उसे परसवर्ण होकर 'रिङ्क्ते' बना। लिट् में 'रिच् णल्— रिरिच् अ-रिरेच। लुट् में 'रेक्ता' तथा

लृट् में 'रेक्ष्यति' बनेगा।

लुङ् में 'अट् रिच् तिप्' इस दशा में 'इरितो वा' से वैकल्पिक अङ् हुआ अङ् पक्ष में 'अरिचत्' व अङ् अभाव पक्ष में सिच्, ईट्, हलन्त लक्षणा वृद्धि तथा चर्त्व होकर 'अरैक्षीत्' बना। आत्मनेपद में सिच् का लोप होकर 'अरिक्त' बना।

'विच्' का अर्थ है— अलग होना। यह अनिट् है। लट् स्थानिक तिप् में श्नम् व ककार होकर 'विनक्ति' बना। आत्मने० में अकार लोप, ककार, अनुस्वार, परसवर्ण होकर 'विङ्क्ते' बना।

'क्षुद्' का अर्थ है— मसल डालना। लट् स्थानिक तिप् में 'क्षुणत्ति' तथा आत्मने० में अकार लोप, अनुस्वार, परसवर्ण होकर 'क्षुन्ते' बनेगा। लुट् में गुण होकर 'क्षोत्ता' बनेगा।

लुङ् में वैकल्पिक अङ् होगा। अङ् पक्ष में 'अक्षुदत्' तथा अङ् अभाव पक्ष में सिच् व वृद्धि होकर 'अक्षौत्सीत्' बनेगा।

'उच्छृदिर् का अर्थ है— चमकना, जूआ खेलना। यह सेट् है। लट् में 'छृणत्ति' तथा 'छृन्ते' बनेंगे। लिट् में 'छृद् णल्' इस दशा में अभ्यास कार्य, उत्तरखण्ड को लघूपध गुण, तुक् आगम, तथा श्चुत्व आदि कार्य होंगे। च छृद् अ। चछ र्द् अ। चतुक् छर्द् अ। च त् छर्द। चच्छर्द। आत्मने० मध्यम के एकवचन में 'च छृद् थास् > से' इस अवस्था में 'सेऽसिचीति०' के द्वारा वैकल्पिक 'इट्' हुआ। 'इट्' पक्ष में तुगादि होकर 'चच्छृदिषे' तथा 'इट्' अभाव पक्ष में तुगागम होकर 'चच्छृत्से' रूप बना। लुट् में 'छर्दिता' बनेगा। लृट् में वैकल्पिक इट् होने से 'छर्दिष्यति' तथा 'छर्त्स्यति ये दो रूप बनेंगे।

लुङ् (परस्मैपद) में 'अङ्' पक्ष में 'अच्छृदत्' तथा 'अङ्' अभाव पक्ष में सिच्, ईट्, गुण, सलोप होकर 'अछर्दीत्' बना। आत्मने० में इट्, सिच् होकर 'अच्छर्दिष्ट' बना।

'तृद्' का अर्थ है— हिंसा और अनादर करना। इसके रूप सरल हैं। 'कृत्' का अर्थ है— घेरना। यह सेट् धातु है।

'तृह्' तथा 'हिंसि' धातु का अर्थ है— हिंसा करना।

६६७. [६]**तृणह इम्**[१] (७/३/९२)

तृहः श्नमि कृते 'इम्' आगमो हलादौ पिति। सार्वधातुके तृणेढि, तृण्ढः। ततर्ह। तर्हिता। अतृणेट्।

तृणह इति— हलादि पित् सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते 'तृह्' को 'श्नम्' करने पर 'इम्' आगम होता है।

लट् में 'तृ श्नम् ह् ति' इस अवस्था में प्रकृत सूत्र से 'इम्' आगम हुआ। तृ ण इम् ह् ति। तब 'होढः' के द्वारा ढकार, (झषस्तथो०) तकार को धकार ष्टुत्व, (ढो ढे लोपः) पूर्व ढकार का लोप होकर— तृ णे ढ् ति। तृणेढ्धि। तृणेढ्ढि। तृणेढि। द्विवचन में 'तृ न ह् तस्' इस अवस्था में तकार को धकार, धकार को ढकार, पूर्व ढकार का लोप, 'श्नम्'

के अकार का लोप होकर 'तृण्ढः' रूप बना। लिट् में द्वित्व, अभ्यास कार्य तथा गुण होकर 'ततर्ह' रूप बना। लुट् में गुण होकर 'तर्हिता' बना।

लङ् में 'अ तृ श्नम् ह् ति'— इस अवस्था में 'तृणह इम्' के द्वारा 'इम्' आगम, 'तिप्' के इकार का लोप, 'हल्ङ्याब्भ्यः०' के द्वारा 'त्' का लोप, हकार को ढकार, जश्त्व तथा चर्त्व होकर— अ तृ न इम् ह् त्। अ तृ णे ह्। अतृणेढ्। अतृणेट्।

६६८. [५]श्नान्नलोपः[१] (६/४/२३)

श्नमः परस्य नस्य लोपः स्यात्। हिनस्ति। जिहिंस। हिंसिता।

श्नेति— 'श्नम्' से परे नकार का लोप होता है।

'हिस्' धातु को 'इदितो नुम् धातोः' के द्वारा 'नुम्' हुआ। तब लट् में 'श्नम्' हुआ। हिन न् स् ति। प्रकृत सूत्र से पर नकार का लोप होकर 'हिनस्ति' बना।

लिट् में द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर 'जिहिंस' रूप बना। लुट् में इट् होकर 'हिंसिता' बना।

६६९. [७]तिप्यनस्तेः[६] (८/२/७३)

पदान्तस्य सस्य दः स्यात्तिपि न त्वस्तेः। 'ससजुषोरुः' इत्यस्यापवादः। अहिनत्- अहिनद्, अहिंस्ताम्, अहिंसन्।

तिपीति— 'तिप्' परे रहते पदान्त सकार को दकार होता है, परन्तु 'अस्' के सकार को नहीं होता।

यह 'स सजुषो रुः' का अपवाद है।

लङ् में 'अ हि न नुम् स् त्' इस अवस्था में 'श्नान्नलोपः' के द्वारा नलोप, तकार का 'हल्ङ्या०' द्वारा अपृक्त तकार का लोप, 'स सजुषो रुः' से 'रु' आदेश प्राप्त हुआ। जिसे बाध कर (तिप्यनस्तेः) दकार हुआ। अहिनद्। तब 'वाऽवसाने' के द्वारा विकल्प से चर्त्व हुआ। अहिनत्। द्विवचन में 'अहिंस्ताम्' तथा बहुवचन में 'अहिंसन्' बनेगा।

६७०. [७]सिपि [६]धातो [१]रुर्वा˘ (८/२/७४)

पदान्तस्य धातोः सस्य रुः स्याद् वा। पक्षे ('झलां जशोऽन्ते' इति) जश्त्वम्- अहिनः, अहिनत्, अहिनद्। उन्दी क्लेदने॥१३॥ उनत्ति, उन्तः, उन्दन्ति। उन्दाञ्चकार। औनत्, औन्ताम्, औन्दन्। औनः, औनत। औनदम्। अञ्जू व्यक्ति-म्रक्षण-कान्ति-गतिषु॥१४॥ अनक्ति, अङ्क्तः, अञ्जन्ति। आनञ्ज। आनञ्जिथ, आनङ्क्थ। अञ्जिता, अङ्क्ता। अङ्ग्धि। अनजानि। आनक्।

सिपीति— 'सिप्' परे रहते पदान्त धातु के सकार को विकल्प से 'रु' होता है।

लङ् में मध्यम पु० एकव० सिप् प्रत्यय 'अहिन नुम् स् स्' इस स्थिति में 'सिप्' के सकार का (हल्ङ्याब्भ्यः०) लोप नुम् लोप, तब प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प से सकार को 'रु' आदेश हुआ। अहिनः। पक्ष में सकार को 'तिप्यनस्तेः' से दकार हुआ।

तब 'वाऽवसाने' के द्वारा चर्त्व होकर दो रूप बने। अहिनद्, अहिनत्।

'उन्द्' का अर्थ है— गीला करना। यह सेट् धातु है।

लट् में 'श्नम्' होकर 'उनन्द् ति' इस अवस्था में 'श्नान्नलोपः' के द्वारा नकार लोप हुआ। तब 'खरि च' से तकार होकर 'उनत्ति' बना। द्विवचन में 'झरो झरि सवर्णे' के द्वारा दकार का विकल्प से लोप होगा। तब 'उन्तः' तथा 'उन्तः' दो रूप बने। बहुवचन में 'उन्दन्ति' बना।

लिट् में 'आम्' तथा 'कृ' का अनुप्रयोग होकर— 'उन्दाञ्चकार' रूप सिद्ध हुआ।

लङ् में 'आ उनन्द् त्' इस स्थिति में वृद्धि, न का लोप, अपृक्त तकार लोप, दकार को वैकल्पिक चर् होकर— औनत्। औनद्। मध्यम के एकवचन में दकार को 'दश्च' के द्वारा विकल्प से 'रु' होकर— 'औनः' तथा 'औनत्' ये दो रूप होंगे।

'अञ्ज्' के अर्थ हैं— स्पष्ट होना, साफ होना, इच्छा तथा जाना। यह वेट् धातु है।

लट् में 'अ श्नम् ञ् ज् ति' इस अवस्था में 'श्नान्नलोपः' के द्वारा नलोप, कुत्व होकर 'अनक्ति' बना। द्विवचन में 'अङ्क्तः' बनेगा।

लिट् में 'अ अञ्ज् अ', इस दशा में 'तस्मान् नुड्द्विहलः' के द्वारा 'नुट्' होकर 'आनञ्ज' बना।

'थल्' में 'स्वरतिसूतिसूयति०' के द्वारा वैकल्पिक 'इट्' होगा। तब 'अनञ्जिथ' तथा 'अनङ्क्थ' रूप बनेंगे।

लुट् में वैकल्पिक इट् होकर 'अञ्जिता' तथा 'अङ्क्ता' रूप बनेंगे।

लोट् स्थानिक सिप् करने पर 'अञ्ज् सि' इस दशा में हि आदेश। अञ्ज् हि। 'हि' को 'धि' आदेश, कुत्व, अनुस्वार तथा पर सवर्ण होकर 'अङ्ग्धि रूप बना।

६७१. [५]**अञ्जेः सिचि**[७] (७/२/७१)

अञ्जेः सिचो नित्यमिट् स्यात्। आञ्जीत्। तञ्चू संकोचने॥१५॥ तनक्ति। तङ्क्ता, तञ्चिता। ओ-विजी भयचलनयोः॥१६॥ विनक्ति। विङ्क्त 'विज इट्' इति ङित्त्वम्-विविजथ। विजिता। अविनक्। अविजीत्। शिष्लृ विशेषणे॥१७॥ शिनष्टि, शिंष्टः, शिंषन्ति। शिनक्षि। शिशेष। शिशेषिथ। शेष्टा। शेक्ष्यति। हेर्धिः- शिण्ड्ढि। शिनषाणि। अशिनट्। शिंष्यात्। शिष्यात्। अशिषत्। एवं पिष्लृ संचूर्णने॥१८॥ भञ्जो आमर्दने॥१९॥ श्नान्नलोपः-भनक्ति। बभञ्जिथ, बभङ्क्थ। भङ्क्ता। भङ्ग्धि। अभाङ्क्षीत्। भुज पालनाऽभ्यवहारयोः॥२०॥ भुनक्ति। भोक्ता। भोक्ष्यति। अभुनक्।

अञ्जेरिति— 'अञ्ज्' धातु से पर 'सिच्' को 'इट्' होता है।

आञ्जीत् आट् अञ्ज् सिच् ईट् त्- लुङ्, आट् तिप्, इकार लोप, सिच्, ईट् वदव्रजहलन्त० से प्राप्त वृद्धि आदेश का नेटि से निषेध। आ अञ्ज् इ ई त्- नित्य इट्, सिज् लोप (इट ईटि)। आ अञ्ज् ई त्- सलोप के सिद्धवत् होने से सवर्ण दीर्घ। आञ्जीत्-

'आटश्च' से वृद्धि। 'तञ्च्' का अर्थ है— सकुंचित करना। इसके रूप भी 'अञ्च्' की तरह होंगे। 'विज्' का अर्थ है— डरना, चलना। 'विज इड्' इस से ङित् हो जाता है। तब लिट् मध्यम एकवचन में विविजिथ' बनेगा।

'शिष्' का अर्थ है— विशेषण बताना। इसके रूप सरल हैं।

लट् के मध्यम एकवचन में 'षढोः कः सि' षकार को ककार होकर 'शिनक्षि' बना।

शिण्ढि, शिण्ड्ढि।

शिष् सि— लोट्, सिप्, अनुबन्ध लोप, शप् की प्राप्ति। शि न ष् हि— श्नम्, अनुबन्ध लोप, हि (सेर्ह्यपित्) अपित्। शिन् ष् धि—अकार लोप (श्नसोरल्लोपः), धि (हुझल्भ्यः०)। शि न् ड् धि— 'झलां जश् झशि' से डकार। शि न् ड् ढि— 'ष्टुना ष्टुः' से ढकार। शिन् ढि, शिन ड्ढि— 'झरो झरि सवर्णे' से डकार का वैकल्पिक लोप। शिण्ढि, शिण्ड्ढि—अनुस्वार व पर सवर्ण होकर दो रूप बने।

'भञ्ज् तिप् (लट्)' यहाँ श्नम्, 'श्नान्नलोपः' से नकार लोप, कुत्व होकर 'भनक्ति' बना।

लिट् के मध्यम एकवचन में 'ऋतो भारद्वाजस्य' के द्वारा वैकल्पिक 'इट्' होकर 'बभञ्जिथ' तथा 'बभङ्क्थ' रूप बनेंगे।

'भुज्' का अर्थ है— पालन करना, खाना। यह अनिट् है।

लृट् में गुण, कुत्व, मूर्धन्य आदेश होकर 'भोक्ष्यति' रूप बनेगा।

६७२. [६]भुजोऽनवने[७] (१/३/६६)

तङाऽऽनौ स्तः। ओदनं भुङ्क्ते। अनवने किम्- महीं भुनक्ति। ञिइन्धी दीप्तौ॥ २१॥ इन्धे, इन्धाते, इन्धते। इन्त्से। इन्ध्वे। इन्धाञ्चक्रे। इन्धिता। इन्धाम्, इन्धाताम्, इनधै। ऐन्ध। ऐन्धाताम्। ऐन्धाः। विद बिचारणे॥ २२॥ विन्ते। वेत्ता। इति रुधादयः॥

भुज इति— 'पालन करना' अर्थ को छोड़कर शेष अर्थों में 'भुज्' धातु से आत्मनेपद होता है।

'ओदनं भुङ्क्ते'— यहाँ पालन अर्थ नहीं है। अतः आत्मनेपद हुआ। 'महीं भुनक्ति'— यहाँ पालन अर्थ है। अतः परस्मैपद हुआ।

'इन्ध्' का अर्थ है— चमकना। यह सेट् है। लट् में 'इन ध् ते' इस अवस्था में धकार, (झषस्तथोः०), अकार लोप, झर् लोप होकर 'इन्धे' रूप बना।

लिट् में 'आम्' होकर 'इन्धाञ्चक्रे' बना। लोट् के उत्तम में आट्, वृद्धि होकर 'इनधै' बना।

'विद्' का अर्थ है— विचार करना। इसके रूप सरल हैं।

॥ रुधादि गण समाप्त ॥

॥८॥ अथ तनादय:।

तनु विस्तारे॥ १॥

तनु का अर्थ है— विस्तार करना।

६७३. **[५]तनाऽऽदि-कृञ्भ्य उ:[१] (३/१/७९)**

शपोऽपवाद:। तनोति, तनुते। ततान, तेने। तनितासि, तनितासे। तनिष्यति, तनिष्यते। तनोतु, तनुताम्। अतनोत्, अतनुताम्। तनुयात्, तन्वीत। तन्यात्, तनिषीष्ट। अतानीत्, अतनीत्।

तनिति— तन् आदि और कृ से 'उ' हो। यह शप् का अपवाद है।

'तन् लट्' यहाँ लादेश 'तिप्' हुआ। 'कर्तरि शप्' प्राप्त हुआ। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा 'उ' हुआ। पित् सार्वधातुक परे रहते गुण होकर 'तनोति' रूप बना। बहु० में 'इको यणचि' से 'यण्' होगा। आत्मनेपद में ङित् परे रहते गुण निषेध होकर 'तनुते' बना।

लिट् में द्वित्व, अभ्यास कार्य, उपधावृद्धि (अत उपधाया:) ततान। लिट् में आत्मनेपद में ङित् होने से 'अत एक हल्यमध्ये०' के द्वारा एत्व तथा अभ्यास लोप होकर 'तेने' बना। लुट् में इट् होकर 'तनितासि' तथा 'तनितासे' बनेंगे। लृट् में तनिष्यति, तनिष्यते रूप बनेंगे। लोट् में तनोतु, तनुताम्। वि० लिङ्—तनुयात्, तन्वीत।

आशीर्लिङ् तन्यात्, तनिषीष्ट। लुङ् में 'अट् तन् तिप्' में सिच्, इट्, ईट्, सिच् लोप (वदव्रज हलन्तस्याऽच:। नेटि।) 'अतो हलादे०' से वैकल्पिक वृद्धि होकर 'अतानीत्' तथा 'अतनीत्' रूप बनेंगे।

६७४. **[५]तनाऽऽदिभ्यस्तथासो:[७] (२/४/७९)**

तनादे: सिचो वा लुक् स्यात् त-थासो:। अतत, अतनिष्ट। अतथा:, अतनिष्ठा:। अतनिष्यत्, अतनिष्यत। षणु दाने॥ १२॥ सनोति, सनुते।

तन्निति— त, थास् प्रत्यय परे रहते तन् आदि से पर सिच् का विकल्प से लुक् हो।

'अट् तन् सिच् त' इस अवस्था में सिच् का विकल्प से लोप हुआ। लोप पक्ष में 'अनुदात्तोपदेश०' के द्वारा नलोप होकर 'अतत' बना। लोप अभाव पक्ष में इट् होकर 'अतनिष्ट' रूप बना। इसी प्रकार 'थास्' में विकल्प से लोप हुआ। अतथा:, अतनिष्ठा:।

षण् का अर्थ है— दान देना। सेट्। उभय० धातु है।

६७५. **[७]ये विभाषा (६/४/४३)**

जन-सन-खनामात्वं वा यादौ क्ङिति। सायात्, सन्यात्। असानीत्, असनीत्।

य इति— यकारादि कित् ङित् परे रहते जन्, सन् तथा खन् को आत्व विकल्प से हो।

'सन् तिप्' आशीर्लिङ् में यासुट् हुआ। यासुट् कित् हो गया। सन् यास् त्। तब आकारादेश हुआ। सायास् त्। सलोप होकर। सायात्। आत्व आदेश अभाव पक्ष में

सलोप होकर 'सन्यात्' बनेगा। (किदाशिषि। स्कोः संयोगा०)।

लुङ् में 'अट् सन् इट् सिच् ई त्' इस अवस्था में सिच् लोप हुआ तथा 'अतो हलादे०' के द्वारा वैकल्पिक वृद्धि होकर 'असानीत्' तथा 'असनीत्' रूप बनेंगे।

६७६. **[६]जन-सन-खनां सञ्झलोः[७] (६/४/४२)**

एषामाकारोऽन्तादेशः स्यात् सनि झलादौ क्ङिति च। असात, असनिष्ट। असाथाः, असनिष्ठाः। क्षणु हिंसायाम्॥३॥ क्षणोति, क्षणुते। ह्म्यन्तेति न वृद्धिः- अक्षणीत् अक्षत, अक्षणिष्ट। अक्षथाः, अक्षणिष्ठाः। क्षिणु च॥४॥ उप्रत्यये लघूपधस्य गुणो वा-क्षेणोति। क्षिणोति। क्षेणिता। अक्षेणीत्, अक्षित, अक्षेणिष्ट। तृणु अदने॥५॥ तर्णोति, तृणोति। तर्णुते, तृणुते। डुकृञ् करणे॥६॥ करोति।

जनेति— सन् या झलादि कित् ङित् परे रहते जन्, सन् और खन् को आकार अन्तादेश हो।

आत्मनेपद लुङ् में 'अट् सन् सिच् त' इस अवस्था में 'तनादिभ्यस्तथासोः' के द्वारा सिच् का विकल्प से लोप हुआ। लोप पक्ष में आकार आदेश होकर 'असात' बना। लोपाभाव पक्ष में इट्, मूर्धन्य होकर 'असनिष्ट' रूप बना। थास् परे रहते लोप पक्ष में आकार होकर 'असाथाः' रूप बनेगा तथा लोपाभाव पक्ष में 'असनिष्ठाः' बनेगा।

'क्षण्' का अर्थ है— हिंसा। सेट्। उभयपदी।

लट् में 'क्षण् उ तिप्' यहाँ गुण होकर 'क्षणोति' बना। आत्मनेपद में 'क्षणुते' बना। लुङ् में। लट् में लघूपध गुण होकर 'क्षेणोति' तथा पक्ष में क्षिणोति' रूप बनता है।

'तृण्' का अर्थ है— खाना। सेट्। उभयपदी। भाष्यकार के मत से गुण होकर 'तर्णोति' तथा 'तर्णुते' रूप बनेंगे। गुण अभाव में 'तृणोति' तथा 'तृणुते' रूप बनेंगे।

कृ का अर्थ है— करना। उभयपदी है।

'कृञ तिप्' उनिमितक गुण हो गया। तब 'उ' को सार्वधातुक गुण हुआ। करोति।

६७७. **[६]अत उत्[१] सार्वधातुके[७] (६/४/११०)**

उप्रत्ययान्तकृञोऽकारस्य उत् स्यात् सार्वधातुके क्ङिति। कुरुतः।

अत इति— सार्वधातुक कित् ङित् परे रहते 'उ' प्रत्ययान्त 'कृञ्' के अकार को उकार होता है।

'कृ उ तस्' इस स्थिति में 'उ' निमितक गुण हुआ। क र् उ तस्। प्रकृत सूत्र के द्वारा उकार होकर 'कुरुतः' रूप बना।

६७८. **नँ भ-कुर्छुराम्[६] (८/२/७९)**

भस्य कुर्छुरोरुपधाया न दीर्घः। कुर्वन्ति।

नेति— भसंज्ञक, कुर् तथा छुर् की उपधा को दीर्घ नहीं होता।

'कृ उ अन्ति' इस अवस्था में गुण हुआ। कर् उ अन्ति। तब पूर्व सूत्र के द्वारा उकार

आदेश हुआ। 'हलि च' के द्वारा उकार को दीर्घ आदेश प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा उसका निषेध होकर 'कुर्वन्ति' रूप बना।

६७९. नित्यं करोतेः[५] (६/४/१०८)

करोतेः प्रत्ययोकारस्य नित्यं लोपो म्वोः परयोः। कुर्वः। कुर्मः। कुरुते। चकार, चक्रे। कर्ता। करिष्यति, करिष्यते। करोतु। कुरुताम्। अकरोत्। अकुरुत।

नित्यमिति— मकार तथा वकार परे रहते 'कृ' से पर उकार का नित्यलोप हो।

'कृ उ वस्' इस स्थिति में गुण, उकारादेश हुआ। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा 'उ' प्रत्यय का लोप होकर 'कुर्वः' रूप बना। इसी प्रकार 'कुर्मः' रूप बनेगा। आत्मनेपद में गुण, उकारादेश होकर 'कुरुते' रूप बना। लिट् में द्वित्व, अभ्यास कार्य तथा वृद्धि होकर 'णल्' में 'चकार' रूप बना। 'त' में यण् आदेश होकर 'चक्रे' रूप बना।

लुट् में गुण होकर 'कर्त्ता' बनेगा। लृट् में स्य, इट् (ऋद्धनोः स्ये)। मूर्धन्य आदेश होकर परस्मैपद में 'करिष्यति' तथा आत्मनेपद में 'करिष्यते' रूप होगा। लोट् में करोतु तथा कुरुताम् रूप बनेंगे।

६८०. [७]ये चँ (६/४/१०९)

कृञ उलोपो यादौ प्रत्यये परे। कुर्यात्। कुर्वीत। क्रियात्, कृषीष्ट। अकार्षीत्, अकृत। अकरिष्यत्, अकरिष्यत।

य इति— यकारादि प्रत्यय परे रहते भी कृञ् से पर 'उ' प्रत्यय का लोप हो।

विधिलिङ् में 'कृ उ यासुट् तिप्' इस स्थिति में उनिमित्तक गुण, उकारादेश, तिप् के इकार का लोप तथा यासुट् से सकार का लोप होकर 'कुर् उ या त्' स्थिति बनी। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'उ' का लोप होकर 'कुर्यात्' रूप बना। आत्मनेपद में पूर्ववत् क्रिया होकर 'नित्यं करोतेः' के द्वारा 'उ' प्रत्यय का लोप होकर 'कुर्वीत' बना है। आशीर्लिङ् में 'रिङ् शयग् लिङ् क्षु' के द्वारा 'रिङ्' आदेश होकर 'क्रियात्' रूप बना। आत्मनेपद में 'कृषीष्ट' रूप बनेगा।

लुङ् में 'अट् कृ सिच् ईट् त्' इस अवस्था में वृद्धि (सिचिवृद्धिपर०) होकर 'अकार्षीत्' रूप बना। आत्मनेपद में 'अकृत' रूप बनेगा। यहाँ 'ह्रस्वादङ्गात्' के द्वारा सिच् का लोप होगा।

६८१. [५]सम्परिभ्यां करोतौ[७] भूषणे[७] (७/१/१३३)

सम्परिपूर्वस्य करोतेः सुट् स्यात् भूषणे सङ्घाते। चार्थे। संस्करोति। अलङ्करोतीत्यर्थः। संस्कुर्वन्ति। सङ्घीभवन्तीत्यर्थः। सम्पूर्वस्य क्वचिदभूषणेऽपि सुट्, 'संस्कृतं भक्षा' इति ज्ञापनात्।

समिति— समवाय अर्थ में भी पूर्वोक्त कार्य हो।

'सम् करोति' अर्थात् सजाता है। यहाँ पूर्व सूत्र के द्वारा 'सुट्' हो गया। संस्करोति।

सम् कुर्वन्ति अर्थात् इकट्ठे होते हैं। यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा 'सुट्' हो गया। संस्कुर्वन्ति। 'संस्कृतं भक्षाः' इसके द्वारा ज्ञापित होता है कि 'भूषण' से अतिरिक्त अर्थ में भी सम् पूर्वक कृ से सुट् होता है।

६८२. [७]**उपात्प्रतियत्न-वैकृत-वाक्याध्याहारेषु च** (६/१/१३४)

उपात् कृञः सुट् स्यादेष्वर्थेषु चात् प्रागुक्तयोरर्थयोः। प्रतियत्नो गुणाधानम्। विकृतमेव वैकृतम् विकारः। वाक्याध्याहारः आकाङ्क्षितैकदेशपूरणम्। उपस्कृता कन्या। उपस्कृता ब्राह्मणाः। एधोदकस्योपस्कुरुते। उपस्कृतं भुङ्क्ते। उपस्कृतं ब्रूते। वनु याचने॥७॥ वनुते। ववने। मनु अवबोधने॥८॥ मनुते। मेने। मनिता। मनिष्यते। मनुताम्। अमनुत। मन्वीत। मनिषीष्ट। अमनिष्ट। अमत। अमनिष्यत॥ इति तनादयः॥

उपादिति— प्रतियत्न, विकार तथा वाक्याध्याहार अर्थों में उप पूर्वक कृञ् को सुट् आगम हो।

चकार ग्रहण से पूर्वोक्त अर्थों में भी हो। प्रतियत्न का अर्थ है— गुणाधान। वैकृत का अर्थ है— विकार। वाक्याध्याहार का अर्थ है— आकांक्षित एक देश को पूरा करना।

उपस्कृता कन्या (सजाई हुई कन्या)। यहाँ भूषण अर्थ में सुट् हुआ है। उपस्कृताः ब्राह्मणाः (एकत्रित ब्राह्मण) यहाँ समवाय अर्थ में सुट् हो गया।

एधोदकस्योपस्कुरुते। (लकड़ी जल में रङ्ग पैदा करती है।) यहाँ गुणाधान अर्थ में सुट् हुआ है। उपस्कृतं भुङ्क्ते (विकृत चीज को खाता है)— यहाँ विकार अर्थ में सुट् हुआ है। उपस्कृतं ब्रूते (वाक्य का अध्याहार करते हुए बोलता है)— वाक्याध्याहार अर्थ में सुट् हुआ है।

वन का अर्थ है— माँगना। सेट्। आत्मनेपदी। लट् प्रथम एकवचन में 'उ' होकर 'वनुते' बनेगा। लिट् में 'वन् त > एश्' इस स्थिति में द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होकर 'ववने' बन गया।

मन् का अर्थ है— जानना। सेट्। आत्मने०। लट् प्रथम एकवचन में 'मनुते' बनेगा।

लिट् में अभ्यास लोप तथा एत्व होकर 'मेने' रूप बनेगा। लुट् में 'मनिता', लृट् में 'मनिष्यते' तथा लोट् में 'मनुताम्' बनेगा। लङ् में अट्, उ प्रत्यय होकर 'अमनुत' बन गया। विधिलिङ् में 'मन्वीत' बन गया।

लुङ् में अट्, सिच् होकर 'अ मन् सिच् त' यह अवस्था हुई 'तनादिभ्यस्तथासोः' के द्वारा सिच् का लोप विकल्प से हुआ। लोप पक्ष में 'अमन् त'— यहाँ 'अनुदात्तोपदेश०' के द्वारा अनुनासिक लोप हो गया। अमत। सिच् लोप के अभाव पक्ष में इट्, मूर्धन्य, ष्टुत्व होकर 'अमनिष्ट' रूप बना।

॥९॥ अथ क्र्यादय:।

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये॥ १॥

६८३. [५]क्र्यादिभ्य: श्ना[१] (३/१/८१)

शपोऽपवाद:। क्रीणाति। ई हल्यघो:-क्रीणीत:। श्नाभ्यस्तयोरात:- क्रीणन्ति। क्रीणासि, क्रीणीथ:, क्रीणीथ। क्रीणामि, क्रीणीव:, क्रीणीम:। क्रीणीते, क्रीणाते, क्रीणते। क्रीणीषे, क्रीणाथे, क्रीणीध्वे। क्रीणे, क्रीणीवहे, क्रीणीमहे। चिक्राय, चिक्रियतु:, चिक्रियु:। चिक्रेथ, चिक्रयिथ। चिक्रिये। क्रेता। क्रेष्यति, क्रेष्यते। क्रीणातु, क्रीणीतात्। क्रीणीताम्। अक्रीणात्, अक्रीणीत। क्रीणीयात्, क्रीणीत। क्रीयात्, क्रेषीष्ट। अक्रैषीत्, अक्रेष्ट। अक्रेष्यत्, अक्रेष्यत। प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च॥ २॥ प्रीणाति,, प्रीणीते। श्रीञ् पाके॥ ३॥ श्रीणाति। श्रीणीते। मीञ् हिंसायाम्॥ ४॥

अब क्र्यादिगण प्रारम्भ होता है।

'डुक्रीञ्' का अर्थ है— खरीदना। अनिट्। उभय०।

क्रीति— क्री आदि धातुओं से 'श्ना' होता है, कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे रहते। यह 'शप्' का अपवाद है।

'क्री तिप्' लट् में 'शप्' की प्राप्ति हुई। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा 'श्ना' हो गया। णकार आदेश होकर 'क्रीणाति' बना। द्विवचन में 'ई हल्यघो:' के द्वारा ईकार आदेश हुआ। तब 'क्रीणीत:' रूप बना। 'क्री श्ना अन्ति' इस अवस्था में आकार का लोप हो गया। (श्नाऽभ्यस्तयोरात:)। क्रीणन्ति। मध्यम एकवचन में 'क्रीणासि' रूप बनेगा। द्विवचन में क्रीणीथ:, तथा बहुवचन में 'क्रीणीथ' रूप बनेगा। उत्तम पु० में 'क्रीणामि', 'क्रीणीव:' तथा 'क्रीणीम:' रूप बनेंगे। आत्मने पद में प्रथम एकवचन में 'क्रीणीते', द्विवचन में 'क्रीणाते' तथा बहुवचन में आकार लोप होकर 'क्रीणते' रूप बनेगा।

इसी प्रकार अन्य रूप बनेंगे।

लिट् में द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर 'चि क्री णल्' इस स्थिति में अभ्यास के उत्तरखण्ड में वृद्धि तथा आय् आदेश होकर 'चिक्राय' रूप बना। द्विवचन में 'अतुस्' ङित् प्रत्यय है। अत: 'चिक्री अतुस्' इस अवस्था में वृद्धि इत्यादि नहीं हुआ। यण् प्राप्त हुआ। तब उसे बाध कर इयङ् आदेश (अचिश्नुधातु०) हो गया। चिक्रियतु:। इसी प्रकार कार्य होकर 'चिक्रियु:' रूप बना। मध्यम एकवचन में थल् परे रहते गुण हो गया। चिक्रेथ। इट् पक्ष में गुण होकर अय् आदेश हुआ। चिक्रयिथ। आत्मने० में इयङ् आदेश होकर 'चिक्रिये' तथा 'चिक्रियाते' रूप बनेंगे।

लुट् में 'क्रेता' रूप बनेगा। लृट् में 'क्रेष्यति' तथा 'क्रेष्यते' रूप बनेंगे। लोट में 'क्रीणातु' रूप बनेगा। 'तातङ्' पक्ष में ईकार आदेश होकर 'क्रीणीतात्' रूप बनेगा। लुङ् में 'अट् क्री सिच् त्' इस अवस्था में इगन्त लक्षणा वृद्धि (सिचि वृद्धि: परस्मै०) तथा

अपृक्त तकार को ईट् होकर 'अक्रैषीत्' रूप बना। आत्मनेपद में सिच् गुण, मूर्धन्य तथा ष्टुत्व होकर 'अक्रेष्ट' रूप बनेगा।

प्री का अर्थ है— प्रसन्न करना, इच्छा करना। 'प्रीणाति' इत्यादि रूप अति सरल है।

श्री का अर्थ है— पकाना। इसके रूप भी सरल हैं।

मी का अर्थ है— हिंसा।

६८४. **हिनु-मीना**[६] (६/४/१५)

उपसर्गस्थात् निमित्तात् परस्यैतयोर्नस्य णः स्यात्। प्रमीणाति, प्रमीणीते। मीनाति इत्यात्वम्-ममौ। मिम्यतुः। ममिथ, ममाथ। मिम्ये माता। मास्यति। मीयात्। मासीष्ट। अमासीत्, अमासिष्टाम्। अमास्त। षिञ् बन्धने॥५॥ सिनाति, सिनीते। सिषाय, सिष्ये। सेता। स्कुञ् आप्लवने॥६॥

हिन्विति— उपसर्ग में स्थित निमित्त से पर 'ही' तथा 'मी' धातु के नकार को णकार होता है।

'प्र मी श्ना ति' इस अवस्था में 'श्ना' के नकार को णकार होकर 'प्रमीणाति' रूप बना। आत्मनेपद में 'प्रमीणीते रूप बना।

लिट् में 'मीनाति०' सूत्र के द्वारा आकारादेश होकर द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होंगे। म मा णल् > औ। इस अवस्था में वृद्धि होकर 'ममौ' रूप बना। 'मि मी अतुस्' इस अवस्था में यण् होकर 'मिम्यतुः' रूप बना। सिप् को थल् आदेश हो गया। तब विकल्प से इट् की प्राप्ति हुई। इट् पक्ष में 'मा मा इट् थल्' इस अवस्था में 'आतो लोप इटि च' के द्वारा आकार का लोप हुआ तब 'ममिथ' रूप बना। इडभाव पक्ष में 'ममाथ' बना। आत्मनेपदी 'त' परे रहते यण् होकर (मि मी त > एश्) 'मिम्ये' रूप बना।

लुङ् में अट् आत्व (मीनाते०), इट् तथा सक् (यमरमनमाताम्०) हुआ। सिच् का लोप। दीर्घ होकर 'अमासीत्' ।

'षिञ्' का अर्थ है— बाँधना। अनिट्। उभयपदी है। (धात्वादेः षः सः)। लट् में 'सिनाति' तथा 'सिनीते' रूप बनेंगे। लिट् में वृद्धि तथा आय् आदेश होकर 'सिषाय' परस्मैपद का रूप। आत्मनेपद में यण् होकर 'सिष्ये' । लुट् में 'सोता'

'स्कुञ्' का अर्थ है— चारों ओर कूदना।

६८५. [५]**स्तन्भु-स्तुन्भु-स्कन्भु-स्कुन्भु-स्कुञ्भ्यः** [१]**श्नुश्च** (३/१/८२)

चात् श्ना। स्कुनोति, स्कुनाति। स्कुनुते, स्कुनीते। चुस्काव, चुस्कुवे। स्कोता। अस्कौषीत्। अस्कोष्ट। स्तम्भ्वादयश्चत्वारः सौत्राः। सर्वे रोधनार्थाः परस्मैपदिनः।

स्तन्भ्विति— स्तन्भु, स्तुन्भु, स्कन्भु, स्कुन्भु तथा स्कुञ् धातुओं से श्नु तथा श्ना विकरण होते हैं, कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे रहते।

'श्नु' के पक्ष में 'स्कुनोति' तथा श्ना के पक्ष में 'स्कुनाति' रूप बनेगा। आत्मनेपदी

'त' परे रहते लट् में श्नु पक्ष में 'स्कुनुते' तथा श्ना पक्ष में 'स्कुनीते' रूप बनेगा। लिट् में द्वित्व, अभ्यासकार्य (शर्पूर्वाः खयः। कुहोश्चुः) होकर अभ्यास के उत्तरखण्ड को वृद्धि हो गई। चु स्कु णल्। चु स्कौ णल्। चुस्काव। 'चु स्कु त > एश्' इस स्थिति में यण् को बाधकर उवङ् आदेश हुआ। चुस्कुवे। लुट् में गुण होकर 'स्कोता' बना। लुङ् में सिच्, ईट्, वृद्धि होकर 'अस्कौषीत्' बना। आत्मनेपद में सिच्, गुण, मूर्धन्य तथा ष्टुत्व होकर 'अस्कोष्ट' बना।

स्तन्भु आदि चार धातु सौत्र ही हैं। धातुपाठ में नहीं हैं। ये सब 'रोकना' अर्थवाली तथा परस्मैपदी हैं।

६८६. [५]हलः [६]श्नः [१]शानज्झौ[७] (३/१/८३)

हलः परस्य श्नः 'शानच्' आदेशः स्याद् हौ परे। स्तभान।

हल इति— 'हि परे रहते हल् से पर 'श्ना' को 'शानच्' हो।

'स्तन्भ् श्ना सिप् > (लोट्)' इस स्थिति में 'सिप्' को 'हि' आदेश हुआ जो अपित् है। श्ना भी अपित् सार्वधातुक है। अतः ङित् हो गया। नकार लोप 'अनिदितां हल उपधायाः०' से हो गया। स्तभ् श्ना हि। प्रकृत सूत्र के द्वारा शानच् आदेश तथा 'अतो हेः' के द्वारा 'हि' का लोप हो गया। स्तभ् शानच् हि। स्तभ् आन हि। स्तभान।

६८७. [५]**जॄ-स्तम्भु-म्रुचु-म्लुचु-ग्रुचु-ग्लुचु-ग्लुञ्चु-श्विभ्य श्च (३/१/५८)**

च्लेरङ् वा स्यात्।

ज्रिति— जॄ, स्तन्भु, म्रुचु, म्लुचु, ग्रुचु, ग्लुचु, ग्लुञ्चु तथा श्वि धातुओं से पर च्लि को अङ् विकल्प से हो।

६८८. स्तन्भेः[६] (८/३/६७)

स्तम्भेः सौत्रस्य सस्य षः स्यात्। व्यष्टभत्, अस्तम्भीत्।

युञ् बन्धने॥७॥ युनाति, युनीते। योता। क्नूञ् शब्दे॥८॥ क्नूनाति, क्नूनीते, क्नविता। दूञ् हिंसायाम्॥९॥ दूणाति, दूणीते। दृञ् हिंसायाम्॥१०॥ दृणाति। दृणीते। पूञ् पवने॥११॥

स्तन्भेरिति— उपसर्ग में स्थित निमित्त से पर 'स्तन्भ्' के सकार को षकार हो।

'वि अट् स्तन्भ् च्लि, तिप् > त्'— इस अवस्था में 'जॄस्तम्भु०' सूत्र के द्वारा 'अङ्' आदेश, धातु के नकार का 'अनिदिताम्०' लोप व प्रकृत सूत्र के द्वारा मूर्धन्य आदेश होकर 'व्यष्टभत्' बना। अङ् अभाव पक्ष में सिच् को इट्, ईट्, सिच् लोप हुआ। अस्तम्भीत्।

युञ् का अर्थ है— बाँधना। अनिट्। उभयपदी। युनाति, युनीते आदि रूप बनेंगे।

क्नूञ् का अर्थ है— शब्द करना। सेट्। दूञ् का अर्थ है— हिंसा। अनिट्। उभयपदी। लट् परस्मैपद में 'दूणाति' तथा आत्मने० में 'दूणीते' रूप बनेगा।

दृञ् का अर्थ है— हिंसा। सेट्। उभयपदी। लट् में 'दृणाति' तथा 'दृणीते' रूप बनेंगे। पू का अर्थ है— पवित्र करना। सेट्। उभयपदी।

६८९. **प्वादीनां[६] ह्रस्वः[१]** (७/३/८०)

पूञ् लूञ् स्तृञ् कृञ् वृञ् धूञ् शॄ पॄ वॄ भॄ मॄ दॄ जॄ झॄ धॄ नॄ कॄ ॠ गॄ ज्यारी ली व्ली प्लीनां चतुर्विंशतेः शिति ह्रस्वः। पुनाति, पुनीते। पविता। लूञ् छेदने॥१२॥ लुनाति, लुनीते। स्तृञ् आच्छादने॥१३॥ स्तृणाति। शर्पूर्वाः खयः- तस्तार, तस्तरतुः तस्तरे। स्तरिता, स्तरीता। स्तृणीयात्। स्तृणीत। स्तीर्यात्।

प्वादीनामिति— शित् परे रहते पूञ्, लूञ् (काटना), स्तृञ् (ढकना), कृञ् (हिंसा), वृञ् (स्वीकार करना), धूञ् (कँपाना), शॄ (हिंसा करना), पॄ (पालन करना), भॄ (भरना), मॄ (मरना), दॄ (हिंसा करना), जॄ (जीर्ण होना), झॄ (जीर्ण होना), धॄ (धारण करना), नॄ (नाश करना), कॄ (हिंसा करना), ॠ (जाना), गॄ (निगलना), ज्या (बूढ़ा होना), री (हिंसा करना), ली (मिलना), व्ली (स्वीकार) और प्ली (जाना) इन धातुओं को ह्रस्व होता है।

लट् में 'पू श्ना ति' इस स्थिति में ह्रस्व होकर 'पुनाति' रूप बना। लुट् में इट्, गुण, अव् आदेश होकर 'पविता' रूप बनेगा।

लू का अर्थ है— काटना। उभयपदी। स्तृ का अर्थ है— ढकना। उभयपदी।

लिट् में द्वित्व होने पर 'शर्पूर्वाः खयः' के द्वारा अभ्यास में तकार शेष रहा। तब अभ्यास के उत्तरखण्ड में 'ऋच्छत्यृताम्' से गुण तथा 'अत उपधायाः' से वृद्धि होकर प्रथम एक० में 'तस्तार' रूप बना। द्विवचन में गुण होकर 'तस्तरतुः' रूप बना। आत्मनेपद लिट् में 'तस्तरे' रूप बना। लुट् प्र० एकव० में 'वृतो वा' के द्वारा विकल्प से दीर्घ होकर 'स्तरीता' तथा 'स्तरिता' रूप बनेंगे।

६९०. **[६]लिङ्-सिचोरात्मनेपदेषु[७]** (७/२/४२)

वृङ्-वृञ्भ्याम् ॠदन्ताच्च परयोर्लिङ् सिचोरिड् वा स्यात् तङि

लिङिति— तङ् (आत्मनेपद) में वृङ्, वृञ् तथा ॠदन्त से पर लिङ् और सिच् को विकल्प से इट् हो।

६९१. **नॅ लिङि[७]** (७/२/३९)

वृत इटो लिङि न दीर्घः। स्तरिषीष्ट। 'उश्च १.२.१२' इत्यनेन कित्त्वम्। स्तीर्षीष्ट। सिचि च परस्मैपदेषु-अस्तारीत्, अस्तारिष्टाम्, अस्तारिषुः। अस्तरीष्ट-अस्तरिष्ट, अस्तीर्ष्ट। कॄञ् हिंसायाम्॥१४॥ कृणाति। कृणीते। चकार, चकरे। वॄञ् वरणे॥१५॥ वृणाति वृणीते। ववार, ववरे। वरीता, वरिता। 'उदोष्ठ्य' इत्युत्वम्- वूर्यात्। वरिषीष्ट, वूर्षीष्ट। अवारीत्। अवारिष्टाम्। अवरीष्ट, अवरिष्ट, अवूर्ष्ट। धूञ् कम्पने॥१६॥ धुनाति, धुनीते। धोता, धविता। अधावीत्, अधविष्ट, अधोष्ट। ग्रह

उपादाने॥ १७॥ गृह्णाति, गृह्णीते। जग्राह, जगृहे।

नेति— वृङ्, वृञ् तथा ऋदन्त धातु से पर इट् को दीर्घ न हो, लिङ् परे रहते।

आ० लिङ् प्र० एकवचन में सीयुट्, सुट् तथा 'लिङ्सिचोरात्मने०' के द्वारा विकल्प से इट् हुआ। 'स्तॄ इ सीयुट् सुट् त' इस स्थिति में 'सी स् त' लिङ् परे रहते 'न लिङि' सूत्र से इट् के दीर्घत्व का निषेध हो गया। तब ऋकार को गुण, मूर्धन्य आदेश, ष्टुत्व होकर 'स्तरिषीष्ट' रूप सिद्ध होता है। इट् के अभाव पक्ष में 'स्तॄ सीयुट् सुट् त' इस दशा में 'ॠत इद् धातोः', 'उरण् रपरः' से ऋकार को इत् आदेश हुआ स्तिर् सी स् त। दीर्घादेश हुआ स्तीर् सी स् त। मूर्धन्य व ष्टुत्व होकर 'स्तीर्षीष्ट' रूप बना। सीयुट् 'उश्च' सूत्र से कित् है। अतः गुणादेश का निषेध हो गया। 'स्तीर्षीष्ट' रूप बना।

लुङ् परस्मैपद में प्र० पु० एकव० में 'अट् स्तॄ सिच् त्' इस अवस्था में इट्, ईट् तथा सिच् का लोप हो गया। अस्तार् इ ई त्। तब 'वृतो वा' के द्वारा प्राप्त वैकल्पिक दीर्घ का 'सिचि च परस्मै०' के द्वारा निषेध हो गया। अस्तारीत्। द्विव० में 'अस्तारिष्टाम्' तथा बहुव० में 'अस्तारिषुः' रूप बना। आत्मनेपद में 'अट् स्तॄ सिच् त्' इस अवस्था में 'लिङ् सिचोरा०' के द्वारा विकल्प से इट् हुआ। इट् पक्ष में गुण तथा 'वृतो वा' के द्वारा विकल्प से दीर्घ हुआ। इट् पक्ष में 'अस्तरीष्ट' तथा 'अस्तरिष्ट' रूप बनेंगे। इडभाव पक्ष में 'उश्च' के द्वारा सिच् कित् होगा। गुण का निषेध हो गया। 'ऋत् इद्धातोः' के द्वारा 'इर्' आदेश तथा 'हलि च' के द्वारा दीर्घ होकर 'अस्तीर्ष्ट रूप बना।

कॄ का अर्थ है— हिंसा करना। सेट्। उभयपदी।

वॄ का अर्थ है— हिंसा करना। सेट्। उभयपदी।

इसके रूप सरल हैं।

धू का अर्थ है— कँपाना। वेट्।

लुट् में 'धोता' तथा 'धविता' रूप बनेंगे। 'स्वरतिसूतिसूयति०' के द्वारा इट् विकल्प से होता है।

रूप सिद्धि अति सरल है।

ग्रह् का अर्थ है— पकड़ना। सेट्। उभयपदी।

लिट् में णल् में उपधावृद्धि होकर 'जग्राह' रूप बनेगा। एश् में सम्प्रसारण (लिट्यभ्यासस्यो०) होकर 'जगृहे' रूप बनेगा।

६९२. [६]ग्रहोऽलिटि[७] दीर्घः[१] (७/२/३७)

एकाचो ग्रहेर्विहितस्येटो दीर्घो न तु लिटि। ग्रहीता। गृह्णातु। हलः श्नः शानज्झौ- गृहाण। गृह्यात्। ग्रहीषीष्ट। ह्म्यन्तेति न वृद्धिः अग्रहीत्। अग्रहीष्टाम्। अग्रहीष्ट, अग्रहीषाताम्। कुष निष्कर्षे॥ १८॥ कुष्णाति। कोषिता। अश भोजने॥ १९॥ अश्नाति। आश। अशिता। अशिष्यति। अश्नातु। अशान। मुष स्तेये॥ २०॥ मोषिता। मुषाण। ज्ञा अवबोधने॥ २१॥ जज्ञौ। वृङ् सम्भक्तौ॥ २२॥ वृणीते। वव्रृषे, ववृढ्वे। वरीता,

वरिता। अवरीष्ट, अवरिष्ट, अवृत।

।। इति क्र्यादयः ।।

ग्रह इति— लिट् परे न होने पर एकाच् 'ग्रह्' के पश्चात् विहित इट् को दीर्घ होता है।

लुट् में दीर्घ होकर 'ग्रहीता' बन गया। लोट् प्रथम एकव० में सम्प्रसारण होकर 'गृह्णातु' बनेगा। लोट् में 'ग्रह् श्ना हि' इस अवस्था में सम्प्रसारण, शानच् (हलः श्नः शानज्झौ) तथा हि का लोप (अतो हेः) होकर 'गृहाण' बन गया।

लुङ् में 'अट् ग्रह् इट् सिच् ई त्' इस अवस्था में 'ग्रह्' के उपधा को हलन्तलक्षणा वृद्धि प्राप्त हुई। 'नेटि' के द्वारा निषेध हो गया। 'अतो हलादे०' के द्वारा विकल्प से वृद्धि प्राप्त हुई। 'ह्म्यन्तक्षण०' के द्वारा निषेध हो गया। सिच् लोप तथा सवर्णदीर्घ होकर 'अग्रहीत्' रूप बना। द्विवचन में 'अग्रहीष्टाम्' बना। आत्मनेपद में 'अट् ग्रह् इट् सिच् त' इस दशा में दीर्घादेश, ष्टुत्व, मूर्धन्य होकर 'अग्रहीष्ट' बना।

कुष् का अर्थ है— निकलना। सेट्। अश् का अर्थ है— भोजन करना। सेट्।

लिट् प्रथम एकव० में 'अश् अश् तिप् > णल्' इस दशा में अभ्यास कार्य (अत आदेः) तथा सवर्णदीर्घ होकर 'आश' बना। लोट् में 'अश् श्ना सिप्' इस दशा में हि आदेश, श्ना को शानच् आदेश हुआ। अश् शानच् हि, 'अतो हेः' से 'हि' का लोप हो गया। अशान।

मुष् का अर्थ है— चोरी करना। सेट्। ज्ञा का अर्थ है— जानना। इन सभी के रूप सरल हैं। लिट् में 'ज्ञा ज्ञा णल्' इस दशा में अभ्यास कार्य तथा 'आत औ णलः' से औकार होकर 'ज ज्ञौ' बना।

वृङ् का अर्थ है— सेवा करना। सेट्। लिट् मध्यम बहु० में 'व वृ ध्वम्' इस अवस्था में आर्धधातुक इट् का 'कृसृ भृवृ०' के द्वारा निषेध हो गया। तब 'ववृढ्वे' बना।

।।१०।। अथ चुरादयः।

चुर स्तेये।। १।।

६९३. **[५]सत्याप-पाश-रूप-वीणा-तूल-श्लोक-सेना-लोम-त्वच-वर्म-वर्ण-चूर्ण-चुरादिभ्यो णिच्[१] (३/१/२५)**

एभ्यो णिच् स्यात्। चूर्णान्तेभ्यः 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे' इत्येव सिद्धे तेषामिह ग्रहणं प्रपञ्चार्थम्, चुरादिभ्यस्तु स्वार्थे। 'पुगन्त०' इति गुणः। सनाद्यन्ता इति धातुत्वम्, तिप्-शबादि, गुणाऽयादेशौ-चोरयति।

चुर् का अर्थ है— चोरी करना।

सत्याबिति— सत्याप्, पाश, रूप, वीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोप, त्वच, वर्म, वर्ण, चूर्ण तथा चुर् आदि धातुओं से णिच् हो। णिच् के णकार तथा चकार इत्संज्ञक हैं।

'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे' इस वार्तिक के द्वारा पूर्वोक्त शब्दों से णिच् सिद्ध है। तथापि प्रपञ्च के लिए प्रकृत सूत्र में पाठ हुआ है। चुर् आदि से णिच् स्वार्थ में होता है। 'पुगन्तलघूपधस्य०' के द्वारा उपधा को गुण होगा। 'सनाद्यन्ता:०' के द्वारा धातुसंज्ञा होती है। तब लादेश, शप्, गुण, अय् आदेश आदि होकर लट् प्रथम एकव० में 'चोरयति' बनता है।

६९४. [५]णिचश्च (१/३/७४)

णिजन्ताद् आत्मनेपदं स्यात् कर्तृगामिनि क्रियाफले। चोरयते। चोरयामास। चोरयिता। चोर्यात्, चोरयिषीष्ट। णिश्रीति चङ्, णौ चङीति ह्रस्व: चङीति द्वित्वम्, हलादि: शेष:, दीर्घो लघोरित्यभ्यासस्य दीर्घ: अचूचुरत्, अचूचुरत। कथ वाक्यप्रबन्धे॥ २॥ अल्लोप:।

णिच इति— यदि क्रियाफल कर्तृगामी हो तो णिजन्त से आत्मनेपद हो।

आत्मनेपद में 'चोरयते' बन गया। लिट् में आम्, अस् का अनुप्रयोग होकर 'चोरयामास' बन गया। लुट् में इट् होकर 'चोरयिता' बनेगा। यथा— चुर् णिच् इट् ता। चोरयिता। लृट् में 'चोरयिष्यति' व 'चोरयिष्यते' बनेंगे। लङ् में 'अचोरयत्' तथा 'अचोरयत' बनेंगे।

विधि लिङ् में 'चुर् णिच् यासुट् तिप्' इस दशा में गुण, सकारलोप तथा णिच् लोप होकर 'चोर्यात्' बनेगा। आत्मनेपद में सीयुट्, सुट्, इट् हो गया। तब सीयुट् के यकार का लोप, दोनों सकारों को मूर्धन्य आदेश तथा तकार को ष्टुत्व हो गया। यथा— चुर् णिच् सीयुट् सुट् त। चोरि सीय् स् त। चोरि इट् सीय् स् त। चोरय सी स् त। चोरयिषीष्ट।

लुङ् में 'अट् चोरि च्लि त्' इस अवस्था में 'णिश्रिद्रुस्रुभ्य:०' के द्वारा चङ् आदेश हुआ। 'णेरनिटि' के द्वारा णि लोप हुआ। अ चोरि चङ् त्। 'णौ चङ्युपधाया०' से अचुर् चुर् अ त्। अभ्यास के रेफ का लोप हुआ। 'सन्वल्लघुनि०' के द्वारा सन्वत् हो गया। 'दीर्घो लघो:' के द्वारा उकार को दीर्घ हो गया। अ चू चुर् अत्। अचूचुरत्।

कथ् का अर्थ है— कहना।

६९५. [५]अच: परस्मिन्[७] पूर्वविधौ[७] (१/१/५७)

परनिमित्तोऽजादेश: स्थानिवत् स्यात्, स्थानिभूताद् अच: पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्तऽपे। इति स्थानिवत्त्वात् न उपधावृद्धि:- कथयति। अग्लोपित्वाद् दीर्घ-सन्वद्भावौ न। अचकथत्। गण संख्याने॥ ३॥ गणयति।

अच इति— स्थानिभूत अच् से पूर्व जिसे देखा गया हो और यदि उसे कार्य करना हो तो पर निमित्त अजादेश स्थानिवत् होता है।

'अतो लोप:' के द्वारा अकार लोप स्थानिवत् हो गया। अत: 'अत उपधाया:' के द्वारा उपधा वृद्धि नहीं हुई। कथयति। लुङ् में प्रथम एकवचन में अट्, चङ्, द्वित्व,

अभ्यासकार्य होते हैं। अग्लोपी होने के कारण सन्वद्भाव नहीं हुआ। परिणामस्वरूप अभ्यास के अकार को इकार तथा दीर्घ नहीं हुआ। अचकथत्।

गण् का अर्थ है— गिनना।

६९६. [१]**ई चॅ गणः**[६] (७/३/९७)

गणयतेरभ्यासस्य ईत् स्यात् चङ्परे णौ (चादत्।) अजीगणत्, अजगणत्।

इति चुरादयः।

ईति— चङ् परक णि परे रहते 'गण्' के अभ्यास को ईकार होता है। चकार कहने से अकार भी होता है।

लुङ् में 'अट् गण् णि चङ् त्' इस अवस्था में णिलोप, द्वित्व तथा अभ्याकार्य होकर 'अ ज गण् अ त्' ऐसा रूप बना। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा अभ्यास को ईकार आदेश हुआ। अजीगणत्। पक्ष में अत् आदेश होकर 'अजगणत्' बना।

॥चुरादि गण समाप्त॥

अथ ण्यन्तप्रक्रिया।

६९७. [१]स्वतन्त्रः कर्ता[१] (१/४/५४)

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात्।

स्वतन्त्र इति— क्रिया में स्वतन्त्र रूपेण विवक्षित कारक कर्त्ता संज्ञक होता है।

६९८. [१]तत्प्रयोजको हेतुश्च[१] (१/४/५५)

कर्तुः प्रयोजको हेतुसंज्ञः कर्तृसंज्ञश्च स्यात्।

तदिति— कर्त्ता के प्रयोजक (प्रेरक) की हेतु तथा कर्तृ संज्ञाएँ होती हैं।

जब कोई दूसरा कर्त्ता को कार्य में प्रवृत्त करता है, तो उसकी कर्त्ता संज्ञा के साथ हेतु संज्ञा भी होती है। यथा— 'राम श्याम को खिलाता है'— यहाँ 'श्याम' कर्त्ता है तथा राम उसका प्रेरक है। अतः राम की कर्त्ता तथा हेतु दो संज्ञाएँ होंगी। 'श्याम' को प्रयोज्य कर्त्ता तथा 'राम' को प्रयोजक कर्त्ता कहा जायेगा।

६९९. [७]हेतुमति च[७] (३/१/२६)

प्रयोजकव्यापारे प्रेषणादौ वाच्ये धातोर्णिच् स्यात्। भवन्तं प्रेरयति भावयति।

हेतुमतीति— प्रेरणा के विषय में धातु से णिच् होता है।

'भवन्तं प्रेरयति'— इस विग्रह में 'भू' धातु से 'हेतुमति च' के द्वारा 'णिच्' प्रत्यय हुआ। तब 'अचो ञ्णिति' के द्वारा वृद्धि तथा उसे आव् आदेश होकर— भूणिच्। भौ इ। भावि। बन गया। 'सनाद्यन्ता धातवः' से धातुसंज्ञा हुई, तब लादेश शप् इत्यादि होकर 'भावयति' रूप बना।

७००. [६]ओः पुयण्ज्यपरे[७] (७/४/८०)

सनि परे यद् अङ्गम्, तदवयवाभ्यासोकारस्य इत् स्यात् पवर्ग-यण् जकारेष्ववर्णपरेषु परतः। अबीभवत्। ष्ठा गतिनिवृत्तौ।

ओरिति— सन् परे होने पर जो अङ्ग, उसके अवयव अभ्यास के उकार के स्थान पर इकार आदेश हो जाता है, यदि पवर्ग, यण् या जकार में से कोई परे हो और इन से परे अकार हो।

अबीभवत्

अभू णिच् त्— ण्यन्त 'भू' से लुङ्, अट्, तिप्, इकार लोप। अ बु भू इ चङ् त्— च्लि, चङ् (णिश्रिद्रु०), द्वित्व, अभ्यास कार्य। अ बु भाव् इ अत्— वृद्धि (अचोऽञ्णिति), आवादेश।

अ बु भव् अत्— उपधा को ह्रस्व (णौ चङ्डि०), णि का लोप (णेरनिटि)।

अ बि भव् अ त्— सन्वद्भाव (सन्वल्लघुनि०), इकार आदेश।

अबीभवत्— अभ्यास के लघु को दीर्घ (दीर्घो लघोः)।

'ष्ठा' का अर्थ 'गति' तथा 'निवृत्ति' है। यह षोपदेश है। 'धात्वादे: ष: स:' के द्वारा सकार आदेश हो जाता है। 'पाघ्राध्मा०' के द्वारा 'तिष्ठ' आदेश हो जाता है।

७०१. [६]**अर्ति-ह्री-व्ली-री-क्नूयी-क्ष्माय्यातां पुङ्**[१] **णौ**[७] (७/३/३६)

स्थापयति।

अर्तीति— ऋ, ह्री, व्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी और आकारान्त धातुओं को 'पुक्' आगम हो णिच् परे रहते। पुक् के उकार तथा ककार इत्संज्ञक हैं।

'स्था णिच्' इस अवस्था में 'पुक्' होकर 'भावयति' की तरह कार्य होकर 'स्थापयति' रूप बना।

७०२. [६]**तिष्ठतेरित्**[५] (७/४/५)

उपधाया 'इद्' आदेश: स्याचङ्परे णौ। अतिष्ठिपत्। घट चेष्टायाम्।

तिष्ठतेरिति— चङ् परक णिच् परे रहते स्था की उपधा को इकार आदेश होता है।

लुङ् में अट्, पुक्, लादेश, चङ् होने पर 'अट् स्थाप् इ अ त्' ऐसा बन गया। प्रकृत सूत्र के द्वारा इकार आदेश, द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर रूप बना यथा— अस्थिप् इ अत्। अस्थिप् स्थिप् इ अत्। अथि स्थिप् इ अत्। अति स्थिप् इ अ त्। अतिस्थिप् अत्। अतिष्थिपत्। अतिष्ठिपत्।

घट् का अर्थ है— चेष्टा करना।

७०३. [६]**मितां ह्रस्व:**[१] (६/४/९२)

घटादीनां ज्ञपादीनां च (उपधाया) ह्रस्व: (स्याण्णौ।) घटयति। ज्ञप ज्ञाने ज्ञापने च ज्ञपयति। अजिज्ञपत्।

।। इति ण्यन्तप्रक्रिया ।।

मितामिति— णिच् परे रहते घट् आदि और ज्ञप् आदि की उपधा को ह्रस्व होता है।

घट् णिच्। घाटि। तब उपधा ह्रस्व होकर लट्स्थानिक तिप् में 'घटयति' बना।

लुङ् में उपधा ह्रस्व, अभ्यास कार्य होकर 'अजीघटत्' रूप बना।

'ज्ञप्' का अर्थ है— जानना तथा ज्ञान कराना।

यह चुरादि धातु है। अत: प्रेरणार्थक णिच् परे रहते स्वार्थिक णिच् (णेरनिटि) का लोप हो जाता है।

तब 'ज्ञपयति' रूप बना।

लुङ् में 'अट् ज्ञप् इ अत्'— इस अवस्था में अभ्यास कार्य होकर सन्वद्भाव हुआ। अभ्यास को इकार (सन्यत:) हुआ। णिच् का लोप हुआ। 'दीर्घो लघो:' के द्वारा अभ्यास के इकार को दीर्घ नहीं होगा, क्योंकि संयोग परे है। अजिज्ञपत्।

। ण्यन्त प्रक्रिया समाप्त।।

अथ सन्नन्तप्रक्रिया।

७०४. [५]**धातोः कर्मणः**[५] **समानकर्तृकादिच्छायां**[७] **वा** (३/१/७)

इषिकर्मण इषिणैककर्तृकाद्धातोः सन् प्रत्ययो वा स्यादिच्छायाम्। पठ व्यक्तायां वाचि।

धातोरिति— यदि इच्छा और धातु के कर्म का कर्त्ता एक ही हो तो इच्छा अर्थ में धातु से विकल्प से 'सन्' होता है।

पठ् का अर्थ है— स्पष्ट वचन।

७०५. [६]**सन्-यङोः** (६/१/९)

सन्नन्तस्य यङन्तस्य च धातोरनभ्यासस्य प्रथमस्यैकाचोद्वे स्तः, अजादेस्तु द्वितीयस्य। सन्यतः-पठितुमिच्छति-पिपठिषति। कर्मणः किम्,- गमनेनेच्छति। समानकर्तृकात्किम्-शिष्याः पठन्त्वितीच्छति गुरुः। वा ग्रहणाद्वाक्यमपि। लुङ्सनोर्घस्लृ।

सन्निति— सन्नन्त और यङन्त धातु के प्रथम एकाच् को द्वित्व हो, यदि धातु अजादि हो तो द्वितीय एकाच् को द्वित्व हो।

'पठितुम् इच्छति'— इस विग्रह के अनुसार 'धातोः कर्मणः०' सूत्र के द्वारा 'सन्' विकल्प से हुआ। द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होकर 'पपठिष' इस स्थिति में 'सन्यतः' के द्वारा अभ्यास के अकार को इकार हो गया। पिपठिष। तब धातु संज्ञा होकर लादेश होकर 'पिपठिषति' रूप बना। पक्ष में 'पठितुमिच्छति' ही रहा।

पिपठिषति

पठ्— 'भूवादयो धातवः' से धातु संज्ञा, 'धातोः कर्मणः समान०' से सन् की उत्पत्ति, 'प्रत्ययः' से सन् की प्रत्यय संज्ञा, 'परश्च' से सन् प्र० पठ् धातु से परे हुआ।

पठ् सन्— 'आर्धधातुकं शेषः' से सन् की आर्धधातुक संज्ञा, 'आर्धधातुकस्येड्०' से इट् आगम, 'आद्यन्तौ०' से आदि अवयव, अनुबन्ध लोप हुआ। अङ्गसंज्ञा हुई।

पठ् इ स— 'सनाद्यन्ता धातवः' से धातु संज्ञा, 'सन्यङोः' से द्वित्व, 'एकाचो द्वे०' से प्रथम एकाच् 'पठ्' को द्वित्व।

पठ् पठ् इस— 'पूर्वोऽभ्यासः', 'हलादि शेषः' से अभ्यास कार्य, 'सन्यतः' से अभ्यास को इकार तथा (तिङन्त प्रकरण में सूत्र १२८ प्रदर्शित रीति से) लकार व तिप् की उत्पत्ति।

पि पठिस शप् ति— शप्, अनुबन्ध लोप, 'आदेशप्रत्ययोः' से मूर्धन्य, 'अतो गुणे' से पररूप।

पिपठिषति— रूप सिद्ध।

द्वित्व होने से पूर्व आर्धधातुक इट् होगा। सन्नन्त धातु अनेकाच् होने से सेट् होता है। अत: आर्धधातुक इट् अवश्य होगा।

'पिपठिषति' की सम्पूर्ण प्रक्रिया यहाँ दिखाई जा चुकी है। इस प्रकरण में सर्वत्र इसका अनुसरण करना चाहिए। हमने विस्तार भय से इसे केवल एक स्थल पर ही दर्शाया है।

'पूर्ववत् सन:' के अनुसार मूलधातु का जो पद होगा, सन् प्रत्ययान्त धातु का भी उसी पद में प्रयोग होगा।

'इच्छा का कर्म जब धातु हो तो सन् होता है'— ऐसा कहा गया है। 'गमनेनेच्छति'— यहाँ सन् नहीं होगा, क्योंकि यहाँ गमन क्रिया इच्छा का कर्म नहीं, करण है।

लिट् में 'आम्' होगा।

लिट्— पिपठिषाञ्चकार, पिपठिषाम्बभूव, पिपठिषामास। लुट्— पिपठिषिता। लृट्- पिपठिषिष्यति। लोट्- पिपठिषतु। लङ्- अपिपठिषत्। वि० लि०— पिपठिषेत्। आ० लि०— पिपठिष्यात्। लुङ्— अपिपठिषीत्। लृङ्— अपिपठिषिष्यत्।

७०६. [६]**स स्याऽऽर्धधातुके**[७] (७/४/४९)

सस्य त: स्यात्सादावार्धधातुके। अत्तुमिच्छति-जिघत्सति। एकाच इति नेट्।

स इति— सकारादि आर्धधातुक परे रहते सकार को तकार हो।

'अत्तुम् इच्छति'— यहाँ 'अद्' से सन् हुआ। तब 'लुङ् सनोर्घस्लृ' के द्वारा घस् आदेश हो गया। घस् स। प्रकृत सूत्र के द्वारा तकार आदेश हुआ। तब द्वित्व, अभ्यास कार्य, अभ्यास को इकार होकर 'जिघत्स' रूप बना। धातुसंज्ञा होकर 'जिघत्सति' बना।

लिट्— जिघत्साञ्चकार। लुट्— जिघत्सिता। लृट्— जिघत्सिष्यति। लोट्— जिघत्सतु। लङ्— अजिघत्सत्। वि० लि०— जिघत्सेत्। आ० लि० जिघत्स्यात्। लृङ्— अजिघत्सिष्यत्।

७०७. [६]**अज्झन-गमां सनि**[७] (४/३/१६)

अजन्तानां हन्ते:, अजादेशगमेश्च दीर्घो झलादौ सनि।

अजिति— अजन्त धातु, हन् और अजादेश गम् (इण्) को दीर्घ हो झलादि सन् परे रहते।

७०८. [५]**इको झल्**[१] (१/२/९)

इगन्तात् झलादि: सन् कित् स्यात्। ॠत इद्धातो:, कर्तुमिच्छति चिकीर्षति।

इक इति— इगन्त धातु के बाद झलादि सन् कित् होता है।

कर्तुम् इच्छति। कृ सन्। 'एकाच उपदेश०' के द्वारा इट् का निषेध हो गया।

'अज्झनगमां' सूत्र के द्वारा 'कृ' को दीर्घ हुआ। सन् 'इको झल्' से किद्वत् है। तब आर्धधातुक गुण का निषेध 'क्ङिति च' से हो जाता है। कृस। 'ऋत इद्धातोः' के द्वारा 'इर्' आदेश हुआ। 'हलि च' के द्वारा इकार को दीर्घ हुआ। किर् स। कीर् स। द्वित्वादि कार्य होकर 'चिकीर्ष' रूप बना। तब प्र० पु० एकव० में 'चिकीर्षति' बना।

७०९. [७]**सनि ग्रह-**[६]**गुहोश्च (७/२/१२)**

ग्रहेः गुहेः, उगन्तात् च सन् इण् (ट्) न स्यात्। बुभूषति। इति सन्नन्ताः।

सनीति— सन् परे रहते ग्रह्, गुह् तथा उगन्त अङ्ग का अवयव 'इट्' नहीं होता।

'भवितुम् इच्छति'— यहाँ सन् होकर 'भूस्' इस स्थिति में 'आर्धधातुकस्येड्' के द्वारा इट् प्राप्त हुआ जिसका प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध हो गया। 'इको झल्' के द्वारा सन् कित् हो गया। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' के द्वारा प्राप्त गुण का 'ग्क्ङिति च' के द्वारा निषेध हो गया। द्वित्वादि होकर 'बुभूस' यह रूप बना। सन् के सकार को मूर्धन्य आदेश हो गया। तब धातु संज्ञा होकर लकारोत्पत्ति हुई। प्र० पु० एकव० में 'बुभूषति' रूप बना।

शेष लकारों में रूप इस प्रकार होंगे।

लिट्— बुभूषाञ्चकार। लुट्— बुभूषिता। लृट्— बुभूषिष्यति। लोट्— बुभूषतु। लङ्— अबुभूषत्। वि० लि०— बुभूषेत्। आ० लि०— बुभूष्यात्। लुङ्— अबुभूषीत्। लृङ्— अबुभूषिष्यत्।

इसी प्रकार निम्नलिखित रूप बनेंगे—

रुद् सन्— रुरुदिषति।	चि सन्— चिचीषति।
ग्रह् सन्— जिघृक्षति।	लभ् सन्— लिप्सते।

दृश् सन्— दिदृक्षते 'ज्ञाश्रुस्मृदृशाम्०' से आत्मनेपद हुआ।

भिद् सन्— बिभित्सति।

॥ सन्नन्तप्रक्रिया समाप्त ॥

अथ यङन्तप्रक्रिया

७१०. [५]**धातोरेकाचो**[५] **हलादेः**[५] **क्रियासमभिहारे**[७] **यङ्**[१] **(३/१/२२)**

पौनःपुन्ये भृशार्थे च द्योत्ये धातोरेकाचो हलादेर्यङ् स्यात्।

धातोरिति— क्रिया का बार बार होना, या अधिक होना अर्थ प्रकट करने के लिए एकाच् हलादि धातु से 'यङ्' हो।

यङ् प्रत्यय अनेकाच् तथा अजादि धातुओं से नहीं होता है। 'पुनः पुनः', 'अतिशयेन' तथा 'भृशम्'— इन को धातु के साथ जोड़ा जाता है। यङ् ङित् है। अतः आत्मनेपदी है।

७११. [१]**गुणो यङ्लुकोः**[७] **(७/४/८२)**

अभ्यासस्य गुणो यङि यङ्लुकि च परतः। ङिदन्तत्वादात्मनेपदम्। पुनः पुनरतिशयेन वा भवति-बोभूयते। बोभूयाञ्चक्रे। अबोभूयिष्ट।

गुण इति— यङ् परे रहते तथा यङ् लुक् में अभ्यास को गुण हो।

'पुनः पुनरतिशयेन वा भवति'— इस विग्रह के अनुसार 'यङ्' हुआ। 'यङ्' की आर्धधातुक संज्ञा है। अतः इसके परे रहते 'सार्वधातुकार्ध०' से गुण प्राप्त हुआ, परन्तु ङित्त्व के कारण गुण का निषेध हो गया। तब 'सन्यङोः' के द्वारा द्वित्व होकर अभ्यास कार्य हुआ। 'बुभूय' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र के द्वारा अभ्यास को गुण हुआ। बोभूय। इसकी धातु संज्ञा 'सनाद्यन्ताः धातवः' से होकर लट् लकार प्र० पु० एकव० में 'बोभूयते' बना।

बोभूयते

भू— 'भूवादयः', धातोरेकाचो हलादेः' 'प्रत्ययः', परश्च' से 'यङ्' हुआ।

भू यङ्— अनुबन्ध लोप, 'सनाद्यन्ता धातवः', 'सन्यङोः', 'एकाचो द्वे०' द्वित्व।

भू भू य— अभ्यासकार्य, 'गुणो यङ्लुकोः' से अभ्यास को गुण।

बोभूय— (तिङन्त प्रकरण में प्रदर्शित रीति से) लकार व तङ् प्रत्ययों की उत्पत्ति।

बोभूयते— प्रथम एकव० में रूप सिद्ध हुआ।

इस सम्पूर्ण प्रकरण में 'बोभूयते' के समान विस्तृत प्रक्रिया का अनुसरण करना चाहिए। विस्तारभय से हमने इसे केवल एक स्थल पर दिखा दिया है।

शेष लकारों में निम्नलिखित रूप होंगे।

लिट्— बोभूयाञ्चक्रे। लुट्— बोभूयिता। लृट्— बोभूयिष्यते। लोट्— बोभूयताम्। लङ्— अबोभूयत। वि० लि०— बोभूयेत। आ० लि०— बोभूयिषीष्ट। लुङ्— अबोभूयिष्ट। लृङ्— अबोभूयिष्यत।

७१२. **नित्यं कौटिल्ये[७] गतौ[७]** (३/१/१३)

गत्यर्थात् कौटिल्य एव यङ् स्यात्; न तु क्रियासमभिहारे।

नित्यमिति— गत्यर्थक धातु से क्रियासमभिहार को छोड़ कर कौटिल्य अर्थ में 'यङ्' होता है।

पौनः पून्य को क्रिया समभिहार कहते हैं। 'कुटिलं व्रजति वाव्रज्यते' यहाँ कुटिलता अर्थ में यङ् हुआ है।

७१३. [१]**दीर्घोऽकितः[६]** (७/४/८३)

अकितोऽभ्यासस्य दीर्घो यङि यङ्लुकि च। कुटिलं व्रजति-वाव्रज्यते।

दीर्घ इति— यङ् या यङ् लुक् में कित् भिन्न अभ्यास के स्थान में दीर्घ आदेश होता है।

'व्रज् यङ्। व्रज् व्रज् यङ्। व व्रज् य ङ्'— इस अवस्था में प्रकृत सूत्र के द्वारा अभ्यास को दीर्घ हुआ। वाव्रज्य। तब लकारोत्पत्ति होकर 'वाव्रज्यते' रूप बना।

७१४. [६]यस्य हलः[५] (६/४/४९)

यस्येति संघातग्रहणम्। हलः परस्य यशब्दस्य लोप आर्धधातुके। आदेः परस्य, अतो लोपः– वाव्रजाञ्चके। वाव्रजिता।

यस्येति— आर्धधातुक परे रहते हल् से पर यकार का लोप होता है। 'आदेः परस्य' के द्वारा आदि यकार का लोप होता है। अकार का 'अतो लोपः' के द्वारा लोप होगा।

लिट् में 'आम्' होकर 'वाव्रज्याम्' रूप बना। प्रकृत सूत्र के द्वारा यकार का लोप तथा 'अतो लोपः' के द्वारा अकार का लोप हो गया। तब 'वाव्रजाञ्चक्रे' रूप बना।

लुट् में पूर्ववत् यकार, अकार का लोप होकर 'वाव्रजिता' रूप बना।

७१५. [१]रीगृदुपधस्य[६] (७/४/९०)

ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य 'रीग्' आगमो यङि यङ्लुकि च। वरीवृत्यते। वरीवृताञ्चक्रे। वरीवृतिता।

रीगिति— यङ् तथा यङ्लुक् में ऋदुपध धातु के अभ्यास को 'रिक्' आगम होता है।

'वृत्' धातु से यङ् करने पर द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होकर 'ववृत् य' रूप बना। 'रीक्' आगम होकर 'वरीवृत्य' रूप बना। तब धातु संज्ञा होकर लट् प्र० एकव० में 'वरीवृत्यते' रूप बनेगा।

लिट् तथा लुट् में क्रमशः 'वरीवृताञ्चक्रे' तथा 'वरीवृतिता रूप बनेंगे।

७१६. [७]क्षुभ्नादिषु च[७] (८/४/३९)

णत्वं न। नरीनृत्यते। जरीगृह्यते। इति यङन्तप्रक्रिया।

क्षुभ्नादिष्विति— क्षुभ्नादि गण के शब्दों में णत्व नहीं होता।

नृत् यङ्। नृत् नृत् यङ्। न नृत् यङ्। नरीनृत्य। इस दशा में लट् लकार प्रथम पु० एकव० में 'नरीनृत्यते' रूप बना।

अन्य लकारों में रूप इस प्रकार होंगे।

लिट्— नरीनृताञ्चक्रे। लुट्— नरीनृतिता। लृट्— नरीनृतिष्यते। लोट्— नरीनृत्यताम्। लङ्— अनरीनृत्यत। वि० लि०— नरीनृत्येत। आ० लि०— नरीनृतिषीष्ट। लुङ्— अनरीनर्तिष्ट। लृङ्— अनरीनर्तिष्यत।

ग्रह् धातु से यङ् करने पर द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होकर 'जरीगृह्य' रूप बना। तब धातु संज्ञा होकर लट् लकार प्र० पु० एकव० में 'जरीगृह्यते' रूप बनेगा।

लिट् आदि में रूप इस प्रकार बनेंगे:

लिट्— जरीगृह्याञ्चक्रे। लुट्— जरीगृहिता। लृट्— जरीगृहिष्यते। लङ्— अजरीगृह्यत। वि० लि०— जरीगृह्येत। आ० लि०— जरीगृहिषीष्ट। लङ्— अजरीगृहिष्ट। लृङ्—

अजरीगृहिष्यत।

अन्य रूप— पच् यङ्— पापच्यते (दीर्घोऽकितः)।

लू यङ्— लोलूयते (गुणो यङ्लुकोः)।

॥ यङन्तप्रक्रिया समाप्त ॥

अथ यङ्लुगन्तप्रक्रिया

७१७. [६]यङोऽचि[७] चँ (२/४/७४)

यङोऽचि प्रत्यये लुक् स्यात्, चकारात्तं विनाऽपि क्वचित्। अनैमित्तिकोऽयम् अन्तरङ्गत्वादादौ भवति। ततः प्रत्ययलक्षणेन यङन्तत्वाद् द्वित्वम्, अभ्यासकार्यम्। धातुत्वाल्लडादयः। शेषात्कर्तरीति परस्मैपदम्। चर्करीतं च- इति अदादौ पाठात् शपो लुक्।

यङ् इति— अच् प्रत्यय परे होने पर यङ् का लोप होता है। कहीं कहीं बिना अच् परे रहते भी लोप होता है।

अनैमित्तिक होने से अन्तरङ्ग होने के कारण यह पहले होता है अर्थात् यङ् का लोप बिना निमित्त के होता है। यङ् का लोप होने पर प्रत्ययलक्षण के बल पर द्वित्वादि कार्य होते हैं। धातु संज्ञा होने से लकारोत्पत्ति होती है। 'शेषात्कर्तरि परस्मै०' के द्वारा परस्मैपद होता है।

चर्करीत् यङ्लुक् को कहते हैं। उसका अदादिगण में पाठ है। अतः यङ् लुक् में शप् लुक् होता है।

७१८. [५]यङो वाँ (७/३/९४)

यङ् लुगन्तात्परस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्येड् वा स्यात्। 'भू-सुवोः' इति गुणनिषेधो यङ्लुकि भाषायां न, 'बोभूतु-तेतिक्ते' इति छन्दसि निपातनात्। बोभवीति, बोभोति, बोभूतः। अदभ्यस्तात्, बोभुवति। बोभवाञ्चकार-बोभवामास। बोभविता। बोभविष्यति। बोभवीतु-बोभोतु-बोभूतात्, बोभूताम्, बोभुवन्तु। बोभूहि। बोभवानि। अबोभवीत्, अबोभोत्, अबोभूताम्। अबोभुवुः। बोभूयात् बोभूयाताम्, बोभूयुः। बोभूयात्, बोभूयास्ताम्, बोभूयासुः। गातिस्थेति सिचो लुक्। 'यङो वा' इति 'ईट्' पक्षे गुणं बाधित्वा नित्यत्वाद् वुक्। अबोभूवीत्, अबोभोत्, अबोभूताम्, अबोभूवुः। अबोभविष्यत्। इति यङ्लुगन्ताः।

यङ् इति— यङ्लुगन्त से पर हलादि पित् सार्वधातुक को 'ईट्' आगम हो विकल्प से।

'बोभूतुतेतिक्ते'— इस सूत्र में छन्दस् के विषय में यङ् लुक् में गुणनिषेध का निपातन किया गया है। अतः यङ् लुक् में 'भूसुवोस्तिङि' के द्वारा विहित गुणनिषेध भाषा

में नहीं होता है। निपातन से ज्ञापित होता है कि उक्त निषेध भाषा में यङ् लुक् में नहीं होता।

'भू यङ्'— इस अवस्था में पूर्वसूत्र से यङ् का लोप हो गया। प्रत्यय लक्षण के बल पर द्वित्वादि कार्य होकर 'बोभू' यह रूप बना। धातु संज्ञा होकर लादेश 'तिप्' आया। शप् की प्राप्ति हुई, परन्तु यङ्लुगन्त के अदादि के अन्तर्गत होने से शप् का लुक् हो गया। 'तिप्' हलादि पित् सार्वधातुक है। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प से 'ईट्' हुआ। अभ्यासोत्तरखण्ड में सार्वधातुक गुण हुआ। तब 'बोभवीति' रूप बना। पक्ष में 'बोभोति' रूप बनेगा। शप् का लुक् होता है।

द्विवचन में 'तस्' पित् नहीं है। परिणामतः ङित्वत् हो गया तथा ईट् भी नहीं होगा। ङित् होने से गुण नहीं होगा। तब 'बोभूतः' रूप बना।

बहुवचन में 'झि' को 'अदभ्यस्तात्' के द्वारा 'अत्' आदेश हुआ। बोभू अति। ङित् होने से गुण निषेध हो गया। 'अचिश्नु०' के द्वारा उवङ् आदेश होकर 'बोभुवति' बन गया।

शेष रूप इस प्रकार हैं—

म०	बोभवीषि, बोभोषि	बोभूथः	बोभूथ
उ०	बोभवीमि, बोभोमि	बोभूवः	बोभूमः

'बोभू' धातु प्रत्ययान्त है। अतः लिट् में 'आम्' होता है। कृ तथा अस् के अनुप्रयोग में क्रमशः 'बोभवाञ्चकार' तथा 'बोभवामास' रूप बनेंगे।

लुट् में तास्, इट्, आर्धधातुक गुण होकर 'बोभविता' रूप बनेगा।

लृट् में स्य, इट् होकर 'बोभविष्यति' बनेगा।

लोट् में विकल्प से 'ईट्' होकर 'बोभवीतु' तथा 'बोभोतु'— ये दो रूप बनेंगे। तातङ् पक्ष में न ईट् होगा, न गुण होगा। बोभूतात्। 'तस्' में ङित् होने से गुण निषेध होकर 'बोभूताम्' रूप बना। 'झि' अपित् है। अतः ङित् हो गया। तब गुणनिषेध हुआ। 'झि' को 'अत्' आदेश हुआ। उवङ् आदेश होकर 'बोभुवतु' रूप बना।

लोट् मध्यम एकव० में 'हि' आदेश अपित् है। अतः ङित् है। तब 'बोभूहि' रूप बना।

उत्तम के एकव० में आट् आगम हुआ जो पित् है। अतः गुण होकर 'बोभवानि' रूप बना।

लङ् में प्रथम एकव० में विकल्प से 'ईट्' होकर 'अबोभवीत्' तथा 'अबोभोत्' रूप बनेंगे। द्विवचन में अपित् होने से 'अबोभूताम्' रूप बना।

'झि' अपित् है। अतः गुण का निषेध हो गया। 'सिजभ्यस्त०' से जुस् आदेश और उवङ् आदेश होकर 'अबोभुवुः' बन गया।

वि० लिङ् में शप् लोप होने से 'यास्' को 'इय्' नहीं होगा। 'लिङः सलोपो०' के द्वारा सलोप। बोभूयात्। 'तस्' में 'बोभूयाताम्' तथा 'झि' में 'बोभूयुः' बनेगा।

लुङ् में 'गातिस्थाघु०' के द्वारा 'सिच्' का लोप होगा। 'यङो वा' से वैकल्पिक 'ईट्' हुआ। लुङ् का अच् परे मिलने से गुण को बाधकर 'वुक्' आगम हुआ। इस प्रकार 'अबोभूवीत्' तथा 'अबोभोत्' रूप बनेंगे। द्विवचन में 'अबोभूताम्' बनेगा।

'झि' को 'सिजभ्यस्त०' के द्वारा 'जुस्' आदेश हुआ। अजादि होने से 'भुवोवुक् लुङ्लिटोः' के द्वारा वुक् आगम हुआ। 'अबोभूवुः'।

लृङ् प्र० पु० एकव० में अट्, स्य, इट्, गुण, अव् आदेश होकर 'अबोभविस्यत्' रूप बना। तब षत्व होकर 'अबोभविष्यत्' बन गया।

॥ यङ्लुगन्त समाप्त ॥

अथ नामधातवः

७१९. [६]**सुप आत्मनः**[६] **क्यच्**[१] (३/१/८)

इषिकर्मण एषितुः संबन्धिनः सुबन्ताद् इच्छायाम् अर्थे क्यच् प्रत्ययो वा स्यात्।

सुप इति— इच्छा अर्थ में स्वसम्बन्धी इच्छा के सुबन्त कर्म के बाद विकल्प से 'क्यच्' होता है।

'आत्मनः पुत्रमिच्छति'— इस अर्थ में 'पुत्रम्' इस सुबन्त से क्यच् हुआ। क्यच् के ककार तथा चकार इत्संज्ञक हैं।

७२०. [६]**सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः**[६] (२/४/७१)

एतयोरवयवस्य सुपो लुक्।

सुप इति— धातु और प्रातिपदिक के अवयव स्वरूप 'सुप्' का लुक् हो।

७२१. [७]**क्यचि च**[ँ] (७/४/३३)

अवर्णस्य ईः। आत्मनः पुत्रमिच्छति-पुत्रीयति।

क्यचीति— क्यच् परे रहते अवर्ण को 'ई' होता है।

'पुत्र अम् क्यच्' यहाँ 'सनाद्यन्ताः धातवः' के द्वारा धातु संज्ञा हुई। तब सुप् लुक् हुआ 'पुत्र य' इस अवस्था में 'अकृत्सार्वधातु०' से दीर्घ प्राप्त होता है। इसका बाध 'क्यचि च' सूत्र से होता है।तब ईकार होकर 'पुत्रीय' रूप बना। इससे लकारोत्पत्ति होकर 'पुत्रीयति' बना।

शेष लकारों में रूप निम्नलिखित होंगे।

लिट्— पुत्रीयाञ्चकार। लुट्— पुत्रीयिता। लृट्— पुत्रीयिष्यति। लोट्— पुत्रीयतु। लङ्— अपुत्रीयत्। वि० लि०— पुत्रीयेत्। आ० लि०— पुत्रीय्यात्। लुङ्— अपुत्रीयीत्। लृङ्— अपुत्रीयिष्यत्।

७२२. [१]नः क्ये[७] (१/४/१५)

क्यचि क्यङि च नान्तमेव पदं नान्यत्। नलोपः– राजीयति। नान्तमेवेति किम्– वाच्यति। हलि च-गीर्यति, पूर्यति। धातोरित्येव, नेह, दिवमिच्छति-दिव्यति।

न इति— क्यच् और क्यङ् परे रहते नान्त की पद संज्ञा हो।

'राजानमात्मनः इच्छति'— यहाँ क्यच् होकर, 'राजन् य' स्वरूप बना। पद संज्ञा हुई। तब 'न लोपः०' के द्वारा नलोप हुआ। 'क्यचि च' के द्वारा ईकार हुआ। 'राजीय' से लकारोत्पत्ति होकर 'राजीयति' बना।

'आत्मनो वाचमिच्छति'— यहाँ 'वाच्' शब्द से क्यच् हुआ। तब नकारान्त न होने से पद संज्ञा नहीं हुई। अतः सूत्र में 'नः' (नकारान्त) ऐसा कहा गया है। अन्यथा पदसंज्ञा होकर कुत्व तथा जश्त्व इत्यादि अनभीष्ट कार्य हो जाते।

'गिर् क्यच्' इस अवस्था में 'हलि च' से दीर्घ होकर 'गीर्यति' रूप बनेगा।

इसी प्रकार 'पूर्यति' रूप बनेगा।

'हलि च' सूत्र के द्वारा विहित कार्य रेफ व वकार अन्त वाले शब्दों की उपधा के स्थान पर होता है तथा वे धातु के अवयव होने चाहिए। 'दिव् क्यच्' यहाँ कार्य नहीं होगा, क्योंकि यहाँ धातु का वकार नहीं है।

७२३. [६]क्यस्य विभाषा (६/४/५०)

हलः परयोः क्यच् क्यङोर्लोपो वार्धधातुके। आदेः परस्य, अतो लोपः, तस्य स्थानिवत्त्वाद्, लघूपधगुणो न– समिधिता, समिध्यिता।

क्यस्येति— आर्धधातुक परे होने पर हल् के बाद क्यच्, क्यङ् और क्यष् का लोप होता है विकल्प से।

यकार का लोप होने पर 'अतो लोपः' के द्वारा लघूपध गुण नहीं होता।

'समिध्य' से लुट् में तास्, इट् हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा यकार लोप तथा अकार लोप हो गया। समिधिता। पक्ष में केवल अकार लोप होकर 'समिध्यिता' रूप बनता है।

७२४. [१]काम्यच् चँ (३/१/९)

उक्तविषये काम्यच् स्यात्। पुत्रमात्मन इच्छति-पुत्रकाम्यति। पुत्रकाम्यिता।

काम्यजिति— पूर्वोक्त विषय में (इच्छा अर्थ में सुबन्त कर्म से) काम्यच् हो।

'पुत्र काम्य' से लादेश होकर 'पुत्रकाम्यति' रूप बना।

लुट् में तास्, इट् आगम तथा अकार लोप होकर 'पुत्रकाम्यति' रूप बना।

७२५. [५]उपमानाद् आचारे[७] (३/१/१०)

उपमानात् कर्मणः सुबन्ताद् आचारेऽर्थे क्यच् स्यात्। पुत्रमिवाचरति-पुत्रीयति छात्रम्। विष्णूयति द्विजम्।

(वा०) सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्वा वक्तव्यः। अतो गुणे, कृष्ण इव आचरति–

कृष्णति। स्व इवाचरति-स्वति। सस्वौ।

उपमानादिति— उपमान रूप कर्म सुबन्त से आचार अर्थ में 'क्यच्' हो।

आचार का अर्थ है— आचरण करना।

'छात्रं पुत्रम् आचरति'— यहाँ पुत्र शब्द उपमान वाची है। तब क्यच् होकर 'पुत्रीयति' रूप बना।

'द्विजं विष्णुमिवाचरति'— यहाँ क्यच् होकर 'विष्णूयति' बना। 'अकृत्सार्वधातुकयोः' के द्वारा दीर्घ हुआ है।

(वा०) आचार अर्थ में सभी प्रातिपदिकों से क्विप् हो।

'क्विप्' का सर्वापहार लोप होता है।

'कृष्ण इवाचरति'— यहाँ क्विप् होकर 'कृष्ण क्विप्' ऐसा रूप बना। तब क्विप् का लोप हो गया तथा धातु संज्ञा होकर लकारोत्पत्ति हुई। 'कृष्णति' रूप बना।

इसी प्रकार 'स्वति' रूप बना।

लिट् लकार में 'स्व' से 'णल्' होने पर वृद्धि हुई। स्वा णल्। 'आत औ णलः' के द्वारा 'औ' हो गया। स्वा औ। द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होकर 'सस्वा औ' बना। तब वृद्धि होकर 'सस्वौ' रूप बना।

७२६. [६]**अनुनासिकस्य** [७]**क्वि-झलोः**[७] **क्ङिति** (६/४/१५)

अनुनासिकान्तस्योपधाया दीर्घः स्यात् क्वौ झलादौ च क्ङिति। इदमिवाचरति इदामति। राजेव-राजानति। पन्था इव पथीनति।

अनु० इति— क्वि (क्विप्) या झलादि कित् ङित परे होने पर अनुनासिकान्त अङ्ग की उपधा के स्थान पर दीर्घ आदेश होता है।

'इदमिवाचरति'— यहाँ 'इदम्' से क्विप् हुआ। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा उपधा दीर्घ होकर 'इदाम्' धातु बनी। लकारोत्पत्ति होकर 'इदामति' रूप बना।

राजेवाचरति। 'राजन् क्विप्'— यहाँ क्विप् का सर्वापहार लोप होकर उपधा को दीर्घ हो गया। 'राजान्' की धातु संज्ञा, लादेश होकर 'राजानति' रूप बना।

इसी प्रकार पन्था इवाचरति-पथीनति।

७२७. [४]**कष्टाय क्रमणे**[७] (३/१/१४)

चतुर्थ्यन्तात् कष्टशब्दाद् उत्साहेऽर्थे क्यङ् स्यात्। कष्टाय क्रमते-कष्टायते। पापं कर्तुमुत्सहते इत्यर्थः।

कष्टायेति— चतुर्थ्यन्त कष्ट शब्द से उत्साह अर्थ में 'क्यङ्' हो।

ङित् होने से यहाँ आत्मनेपद होता है।

पापं कर्तुम् इति। कष्ट शब्द से क्यङ् हुआ। तब दीर्घ 'अकृत्सार्वधातुक०' हुआ। कष्टाय। धातु संज्ञा होकर लट् प्र० पु० एकव० में 'कष्टायते' बन गया।

७२८. [५]शब्द-वैर-कलहाभ्र-कण्व-मेघेभ्यः करणे[७] (७/१/१७)

एभ्यः कर्मभ्यः करोत्यर्थे क्यङ् स्यात्। शब्दं करोति-शब्दायते। 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्।

(वा०) प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलम् इष्ठवच्च।

प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे णिच् स्यात्, इष्ठे यथा प्रातिपदिकस्य पुंवद्भाव-रभाव-टिलोप-विन्मतुब्लोप-यणादिलोप-प्रस्थस्फाद्यादेश-भसंज्ञाः, तद्वद् णावपि स्युः। इति-अल्लोपः, घटं करोत्याचष्टे वा-घटयति।

॥ इति नामधातवः ॥

शब्देति— शब्द, वैर, कलह, अभ्र, कण्व और मेघ इन से 'करोति' अर्थ में 'क्यङ्' हो।

'शब्दं करोति'— यहाँ 'शब्द' से क्यङ् होकर 'शब्दायते' रूप बना।

इसी प्रकार— वैरं करोति-वैरायते। कलहं करोति-कलहायते। अभ्रं करोति-अभ्रायते। कण्वं पापं करोति-कण्वायते। मेघं करोति-मेघायते।

(वा०) 'तत्करोति', 'तद् आचष्टे'— इन विग्रहों के अनुसार प्रातिपदिक से 'णिच्' प्रत्यय होता है।

(वा०) प्रातिपदिक से धातु के अर्थ में 'णिच्' प्रत्यय बहुलता से होता है। वह प्रत्यय 'इष्ठन्' के समान होता है।

घटं करोति। घट णिच्। तब इष्ठवत् होने के कारण भसंज्ञा हुई। अन्त्य अकार लोप हुआ। 'घटि' धातु बनी। तब लट् प्र० पु० एकव० में 'घटयति' रूप बना।

॥नामधातु समाप्त॥

अथ कण्ड्वादयः

७२९. [५]कण्ड्वादिभ्यो[१] यक् (३/१/२७)

एभ्यो धातुभ्यो नित्यं यक् स्यात्स्वार्थे। कण्डूञ् गात्रविघर्षणे॥१॥ कण्डूयति, कण्डूयते। इत्यादि। इति कण्ड्वादयः।

कण्ड० इति— कण्डूञ् आदि से स्वार्थ में 'यक्' होता है।

'कण्डू' का अर्थ है— खुजलाना। इससे 'यक्' होकर 'कण्डूय' की धातुसंज्ञा हुई। तब लट् प्रथम एकव० में 'कण्डूयति' रूप बना।

॥ कण्ड्वादिगण समाप्त ॥

अथ-आत्मनेपदप्रक्रिया

७३०. [७]**कर्तरि कर्म-व्यतिहारे**[७] (१/३/१४)

क्रियाविनिमये द्योत्ये कर्तरि आत्मनेपदम्। व्यतिलुनीते-अन्यस्य योग्यं लवनं करोतीत्यर्थः।

कर्तरीति— क्रिया का विनिमय बताने में कर्त्ता में आत्मनेपद हो।

विनिमय का अर्थ है— अदला-बदली। वि तथा अति उपसर्ग के योग से क्रिया-विनिमय प्रकट होता है।

लूञ् (क्र्यादि० उ०) से पूर्व वि, अति उपसर्ग होने पर विनिमय अर्थ में आत्मनेपद हो गया। यथा— 'अन्यस्य योग्यं लवनं करोतीत्यर्थः' अर्थात् दूसरे के योग्य काटने को कर रहा है। व्यतिलुनीते।

७३१. **नॅ गति-हिंसार्थेभ्य**[५] (१/३/१५)

व्यतिगच्छन्ति। व्यतिघ्नन्ति।

नेति— गति और हिंसा अर्थक धातुओं से पूर्वोक्त (क्रिया-विनिमय) अर्थ में आत्मनेपद न हो।

'व्यतिगच्छन्ति'— यहाँ आत्मनेपद नहीं हुआ। वि, अति पूर्वक 'हन्' (अदा० पर०) से आत्मनेपद नहीं हुआ। व्यतिघ्नन्ति।

७३२. [५]**नेर्विशः**[५] (१/३/१७)

निविशते।

नेरिति— नि पूर्वक विश् से आत्मनेपद होता है।

'विश्' परस्मैपद है, परन्तु नि पूर्वक विश् धातु आत्मनेपदी होती है। निविशते।

७३३. **परि-व्यवेभ्यः क्रियः**[५] (१/३/१८)

परिक्रीणीते। विक्रीणीते। अवक्रीणीते।

परीति— परि, वि और अव पूर्वक क्री से आत्मनेपद होता है।

क्री धातु उभयपदी है, परन्तु पूर्वोक्त उपसर्गों के योग में आत्मनेपदी होती है।

परिक्रीणीते— वेतन पर नौकर रखता है।

विक्रीणीते— बेचता है। अवक्रीणीते— खरीदता है।

७३४. [५]**विपराभ्यां जेः**[५] (१/३/१९)

विजयते। पराजयते।

वीति— वि तथा परा पूर्वक 'जि' धातु से आत्मनेपद हो।

जि धातु परस्मैपदी है, परन्तु उक्त उपसर्गों के साथ आत्मनेपदी होती है।

विजयते। पराजयते।

७३५. [५]**सम्-अव-प्र-वि-भ्यः स्थः**[५] (१/३/२२)

संतिष्ठते। अवतिष्ठते। प्रतिष्ठते। वितिष्ठते।

समिति— सम्, अव, प्र, वि उपसर्ग पूर्वक स्था (पर०) से आत्मनेपद हो।

सन्तिष्ठते— मरता है, अच्छी तरह ठहरता है।

प्रतिष्ठते— चल पड़ता है। अवतिष्ठते— रहता है।

वितिष्ठते— विशेष रूप से रहता है।

७३६. [७]**अपह्नवे ज्ञः**[५] (१/३/४४)

शतम् अपजानीते-अपलपति इत्यर्थः।

अपह्नव इति— छिपाने के अर्थ में ज्ञा (उभय०) से आत्मनेपद हो।

शतम् अपजानीते— सौ को छिपाता है। अतः यहाँ आत्मनेपद हुआ है।

७३७. [५]**अकर्मकाच् चँ** (१/३/४५)

सर्पिषो-जानीते-सर्पिषोपायेन प्रवर्तत इत्यर्थः।

अकर्मकादिति— अकर्मक ज्ञा धातु से आत्मनेपद हो।

सर्पिषो जानीते अर्थात् घी रूप उपाय के द्वारा प्रवृत्त होता है। इस अर्थ में 'ज्ञा' धातु अकर्मक है। अतः आत्मनेपद हुआ। 'सर्पिषः' पद में करण कारक में षष्ठी हुई है।

७३८. [५]**उदश्चरः सकर्मकात्**[५] (१/३/५३)

धर्ममुच्चरते-उल्लङ्घ्य गच्छतीत्यर्थः।

उद इति— उद् पूर्वक सकर्मक 'चर्' (पर०) से आत्मनेपद होता है।

धर्ममुच्चरते (धर्ममुल्लङ्घ्य गच्छति)। यहाँ आत्मनेपद हो गया।

७३९. [५]**समस्तृतीयायुक्तात्**[५] (१/३/५४)

रथेन संचरते।

सम इति— सम् पूर्वक तृतीयान्त से युक्त 'चर्' से आत्मनेपद हो।

रथेन संचरते। चर् परस्मैपदी है। तृतीयान्त 'रथेन' पद का योग है। अतः सम् पूर्वक चर् से आत्मनेपद हुआ। सामान्यतः 'सञ्चरति' ऐसा प्रयोग होता है।

७४०. [५]**दाणश्च सा**[१] **चेत् चतुर्थ्यर्थे**[७] (१/३/५५)

संपूर्वाद् दाणः तृतीयान्तेन युक्ताद् उक्तं स्यात् तृतीया चेत् चतुर्थ्यर्थे। दास्या संयच्छते कामी।

दाण इति— सम् पूर्वक दाण् (पर०) जब तृतीयान्त से युक्त हो तो आत्मनेपद होता है। यदि वह तृतीया चतुर्थी के अर्थ में हो।

'अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया' इस वार्तिक के अनुसार अशिष्ट व्यवहार में चतुर्थी के अर्थ में तृतीया होती है। तब 'दास्या संयच्छते कामी'— यहाँ तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है। अतः आत्मनेपद का प्रयोग हुआ है।

७४१. [१]**पूर्ववत् सनः**[५] (१/३/६२)

सनः पूर्वो यो धातुस्तेन तुल्यं सन्नन्ताद् अपि आत्मनेपदं स्यात्। एदिधिषते।

पूर्ववदिति— पूर्ववर्ती धातु के समान ही 'सन्' के बाद आत्मनेपद हो।

एधितुम् इच्छति— एदिधिषते। एध् धातु आत्मनेपदी है। अतः सन् होने पर भी आत्मनेपद का प्रयोग हुआ है।

७४२. [५]**हलन्तात् चँ (१/२/१०)**

इक्समीपाद् हलः परो झलादिः सन् कित्। निविविक्षते।

हलन्तादिति— इक् के समीप वर्तमान हल् से पर झलादि सन् कित् हो।

निविविक्षते— यहाँ निपूर्वक विश् से सन् हुआ है। अनिट् होने से सन् झलादि है। इक् के समीप हल् (शकार) से पर होने से प्रकृत सूत्र के द्वारा कित् हो गया। तब लघूपध गुण का निषेध हो गया। शकार को 'व्रश्चभ्रस्ज०' के द्वारा षकार होकर रूप बना। 'नेर्विशः' तथा 'पूर्ववत् सनः' की प्रवृत्ति होगी। तब आत्मनेपद हुआ।

७४३. [७]**गन्धनाऽवक्षेपण-सेवन-साहसिक्य-प्रतियत्न-प्रकथनोपयोगेषु कृञः**[५] **(१/३/३२)**

गन्धनम्-सूचनम्। उत्कुरुते-सूचयतीत्यर्थः। अवक्षेपणं-भर्त्सनम्। श्येनो वर्तिकामुत्कुरुते। भर्त्सयतीत्यर्थः। हरिमुपस्कुरुते। सेवत इत्यर्थः। परदारान्प्रकुरुते-तेषु सहसा प्रवर्तते। एधोदकस्योपस्कुरुते-गुणमाधत्ते। कथाः प्रकुरुते-कथयतीत्यर्थः। शतं प्रकुरुते-धर्मार्थं विनियुङ्क्ते। एषु किम्- कटं करोति।

भुजोऽनवने-ओदनं भुङ्क्ते। अनवने किम्– महीं भुनक्ति।

॥ इत्यात्मनेपदप्रक्रिया ॥

गन्धनेति— गन्धन (सूचन), अवक्षेपण (भर्त्सना करना), सेवन (सेवा करना), साहसिक्य (सहसा प्रवृत्त होना), प्रतियत्न (गुणों का आधान), प्रकथन (कथा करना) तथा उपयोग अर्थ में कृ (उभय०) से आत्मनेपद हो। यथा—

उत्कुरुते— सूचयति। श्येनो वर्तिकाम् उदाकुरुते— (भर्त्सयति)।

हरिमुपकुरुते (सेवते)। परदारान् प्रकुरुते (सहसा प्रवर्तते)।

एधोदकस्योपस्कुरुते (गुणाधान) लकड़ी जल में रङ्ग पैदा कर रही है।

कथाः प्रकुरुते (कथयति)। शतं प्रकुरुते (धर्मार्थं विनियुङ्क्ते)।

पूर्वोक्त अर्थों में ही आत्मनेपद होता है।

अतः 'कटं करोति'—

'पालन' को छोड़ कर अन्य अर्थ में आत्मनेपद हो। यथा—

'ओदनं भुङ्क्ते'— यहाँ खाना अर्थ है। अतः आत्मनेपद हो गया।

'महीं भुनक्ति'— यहाँ पालन अर्थ है। अतः आत्मनेपद नहीं हुआ।

॥आत्मनेपद प्रक्रिया समाप्त॥

अथ परस्मैपदप्रक्रिया

७४४. [५]**अनु-पराभ्यां कृञः**[५] (१/३/७९)

कर्तृगे च फले गन्धनादौ च परस्मैपदं स्यात्। अनुकरोति। पराकरोति।

अब परस्मैपद प्रक्रिया प्रारम्भ होती है।

अन्विति— अनु तथा परा पूर्वक कृञ् (उभय०) से कर्तृगामी क्रियाफल तथा गन्धन आदि अर्थों में भी परस्मैपद होता है। यथा— अनुकरोति पराकरोति

७४५. [५]**अभि-प्रत्यतिभ्यः क्षिपः**[५] (१/३/८०)

क्षिप प्रेरणे। स्वरितेत्। अभिक्षिपति।

अभीति— अभि, प्रति और अति पूर्वक क्षिप् (उभय०) से परस्मैपद होता है। यथा— अभिक्षिपति। प्रतिक्षिपति। अतिक्षिपति।

७४६. [५]**प्राद् वहः**[५] (१/३/८१)

प्रवहति।

प्रादिति— प्र पूर्वक 'वह्' धातु से परस्मैपद हो। यथा— प्रवहति। वह् धातु उभयपदी है।

७४७. [५]**परेर्मृषः**[५] (१/३/८२)

परिमृषति।

परेरिति— परि पूर्वक 'मृष्' (उभय०) से परस्मैपद हो। यथा— परिमृषति।

७४८. [५]**व्याङ्-परिभ्यो रमः**[५] (१/३/८३)

रमु क्रीडायाम्। विरमति।

व्याङिति— वि, आङ् तथा परि पूर्वक 'रम्' (आत्मने०) से परस्मैपद हो। यथा— विरमति— रुकता है। आरमति। परिरमति।

७४९. [५]**उपाच्च** (१/३/८४)

यज्ञदत्तमुपरमति। उपरमयतीत्यर्थः। अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम्।

॥ इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥

॥ इति पदव्यवस्था ॥

उपादिति— उप पूर्वक 'रम्' से परस्मैपद होता है। यथा— यज्ञदत्तमुपरमति। इसका अर्थ है। नाश करना। यहाँ 'रम्' धातु अन्तर्भावित ण्यर्थ है। अतः सकर्मक होकर नाशार्थक हो गई।

॥ परस्मैपद प्रक्रिया समाप्त ॥

इस प्रकरण का नाम पदव्यवस्था भी है।

अथ भावकर्मप्रक्रिया

७५०. ७भावकर्मणोः (१/३/१३)

(भावे कर्मणि च) धातोर्लस्यात्मनेपदम्।

भाव० इति— भाववाच्य और कर्मवाच्य में आत्मनेपद होता है।

७५१. ७सार्वधातुके यक्[१] (१/३/६७)

धातोर्यक् भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके। भावः- क्रिया, सा च भावार्थक-लकारेणानूद्यते। युस्मदस्मद्भ्यां सामानाधिकरण्याभावात् प्रथमः पुरुषः। तिङ्वाच्यक्रियाया अद्रव्यरूपत्वेन द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादि, किंत्वेकवचनमेवोत्सर्गतः। त्वया मया अन्यैश्च भूयते। बभूवे।

सार्व० इति— भाव और कर्मवाची सार्वधातुक परे रहते धातु से 'यक्' हो।

भाव का अर्थ है— क्रिया वह भावार्थक क्रिया लकार के द्वारा कही जाती है।

चूँकि भाववाच्य में क्रिया के साथ युष्मद् तथा अस्मद् का समानाधिकरण नहीं होता। अतः 'शेषे प्रथमः' के द्वारा प्रथमपुरुष ही होता है। तिङ् वाच्य क्रिया द्रव्यरूप नहीं है। अतः द्विर्वचन इत्यादि की सम्भावना नहीं है। तब भाववाच्य में नित्य एकवचन का प्रयोग होता है। निष्कर्ष यह है कि तीनों पुरुषों तथा तीनों वचनों में एकसमान रूप बनता है। यथा—

मया भूयते त्वया भूयते अन्यैः भूयते।

यहाँ 'भू' से भाव में 'लः कर्मणि०' से लकार हुआ। 'वर्तमाने लट्' से लट् तथा 'भावकर्मणोः' के द्वारा आत्मनेपद हुआ। तब 'सार्वधातुके यक्' के द्वारा 'यक्' होकर 'भूयते' रूप बना। भाव में कर्त्ता अनुक्त होता है। अतः तृतीया होगी।

लिट् में 'बभूवे' बनेगा।

७५२. ७स्य-सिच्-सीयुट्-तासिषु भाव-कर्मणोरुपदेशेऽज्झन-ग्रह-दृशां वॉ चिण्वदिट्[१]चॅ (६/४/६२)

उपदेशे योऽच् तदन्तानां हनादीनां च चिणीवाङ्गकार्यं वा स्यादिषु, भावकर्मणोर्गम्यमानयोः, स्यादीनामिडागमश्च। चिण्वद्भावपक्षेऽयमिट्, चिण्वद्भावाद् वृद्धिः- भाविता भविता। भाविष्यते, भविष्यते। भूयताम्। अभूयत। भूयेत। भाविषीष्ट, भविषीष्ट।

स्येति— भाव और कर्म विषयक स्य, सिच्, सीयुट् और तास् परे रहते उपदेश में अजन्त अङ्ग, हन्, ग्रह् और दृश् इनके स्थान पर विकल्प से 'चिण्' के समान कार्य होते हैं तथा इट् भी होता है।

चिण्वद्भाव के निम्नलिखित प्रयोजन है:—

१. अजन्त अङ्ग को वृद्धि 'अचो ञ्णिति' से।

२. आदन्त को युक् 'आतो युक् चिण्कृतोः' से।

३. हन् के हकार को घकार 'हो हन्तेः०' से।

४. भित्संज्ञक के विकल्प से दीर्घ 'चिण्णमुलोः०'

चिण्वद् अभाव पक्ष में इट् भी नहीं होगा।

भाववाच्य लुट् में चिण्वद्भाव, तास् को इट्, वृद्धि होकर 'भाविता' रूप बना। पक्ष में 'भविता' बनेगा।

लृट् में पूर्ववत् कार्य होकर 'भाविष्यते' तथा 'भविष्यते' रूप बनेंगे।

लोट्, लङ् तथा विधिलिङ् में यक् होकर क्रमशः 'भूयताम्', 'अभूयत' तथा 'भूयेत' रूप बनेंगे।

आशीर्लिङ् में 'भाविषीष्ट' तथा 'भविषीष्ट' रूप बनेंगे।

७५३. [१]चिण् भावकर्मणोः[७] (३/१/६६)

च्लेश्चिण् स्याद् भावकर्मवाचिनि तशब्दे परे। अभावि। अभाविष्यत, अभविष्यत। अकर्मकोऽप्युपसर्गवशात्सकर्मकः— अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण त्वया मया च। अनुभूयेते। अनुभूयन्ते। त्वमनुभूयसे। अहमनुभूये। अन्वभावि। अन्वभाविषाताम्, अन्वभविषाताम्।

णिलोपः— भाव्यते। भावयाञ्चक्रे। भावयाम्बभूवे। भावयामासे। चिण्वदिट्- भाविता, आभीयत्वेनासिद्धत्वाण्णिलोपः, भावयिता। भावयिषीष्ट। अभावि, अभाविषाताम्, अभावयिषाताम् बुभूष्यते, बुभूषाञ्चक्रे, बुभूषिता, बुभूषिष्यते। बोभूय्यते। बोभूयते। अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः— स्तूयते विष्णुः स्ताविता, स्तोता। स्ताविष्यते, स्तोष्यते। अस्तावि। अस्ताविषाताम्, अस्तोषाताम्। ऋ गतौ। गुणोर्तीति गुणः— अर्यते। स्मृ स्मरणे— स्मर्यते। सस्मरे। उपदेशग्रहणाच्चिण्वदिट्— आरिता, अर्ता। स्मारिता, स्मर्ता। अनिदितामिति नलोपः— स्रस्यते, इदितस्तु नन्द्यते। सम्प्रसारणम्। इज्यते।

चिण्णिति— भावकर्मवाची 'त' शब्द परे रहते 'च्लि' को 'चिण्' हो।

लुङ् में 'अभू च्लि > चिण् त'— ऐसा रूप बना। तब तकार का लोप 'चिणो लुक्' हुआ। इट्, वृद्धि होकर 'अभावि' बन गया।

लृङ् में 'अभाविष्यत' तथा 'अभविष्यत' रूप बनेंगे।

अकर्मक धातु भी उपसर्ग के द्वारा भिन्न अर्थ हो जाने से सकर्मक हो जाता है। 'अनु भू' सकर्मक है। अतः कर्म में लकार होगा। यथा— अनुभूयते आनन्दश्चैत्रेण।

कर्म वाच्य में कर्म उक्त है। अतः प्रथमा होगी। द्विवचन में 'अनुभूयेते' बनेगा। 'त्वमनुभूयसे'— यहाँ मध्यम पुरुष हुआ है। 'त्वम्' कर्म है। इसी प्रकार— अहमनुभूये।

लुङ् में 'अन्वभावि' रूप बनेगा।

द्विवचन में चिण्वद्भाव पक्ष में इट् इत्यादि होकर 'अन्वभाविषाताम्' तथा अभाव

पक्ष में 'अन्वभविषाताम्' बनेगा।

ण्यन्त भू 'भावि' से कर्मवाच्य में 'यक्' हुआ। 'णेरनिटि' से णिलोप हो गया। भाव्यते।

ण्यन्त 'भावि' से कर्मवाच्य में लिट् में आम् होकर 'भावयाञ्चक्रे' रूप बनेगा। इसी प्रकार 'भावयाम्बभूवे' तथा 'भावयामास' बनेंगे।

लुट् में 'भाविता' तथा अभाव पक्ष में 'भावयिता' रूप बनेंगे।

आशीलिङ् में चिण्वद्भाव पक्ष में णिलोप होकर 'भाविषीष्ट' तथा अभाव पक्ष में 'भावयिषीष्ट' रूप बनेगा।

लुङ् में 'अभावि' बन गया। द्विवचन में 'अभाविषाताम्' तथा 'अभावयिषाताम्' रूप बनेंगे।

सन्नन्त भू 'बूभूष' से लट् में भाववाच्य में 'यक्' होकर 'बुभूष्यते' रूप बनेगा। 'अतो लोपः' के द्वारा अकार लोप हो गया।

लिट् में 'बुभूषाञ्चक्रे' बनेगा।

लुट् में 'बुभूषिता' बनेगा। लृट् में 'बुभूषिष्यते' बनेगा।

यङन्त 'बोभूय' रूप से भाव में लट् में 'यक्' हुआ। यङ् के अकार का लोप हुआ। बोभूय्यते। यङ् लुक् में 'बोभूयते' बनेगा।

इसी प्रकार अन्य धातुओं के रूप बनेंगे।

'स्तु' से कर्मवाच्य में यक् हुआ। 'अकृत्सार्वधातुकयोः' के द्वारा दीर्घ होकर 'स्तूयते' बना।

लुट् में चिण्वद् पक्ष में 'स्ताविता' तथा अभाव पक्ष में 'स्तोता' बनेगा।

लृट् में 'स्ताविष्यते' तथा 'स्तोष्यते' बनेंगे।

लुङ् एकव० में अस्तावि, द्विव० में 'अस्ताविषाताम्' तथा 'अस्तोषाताम्' बनेगा।

'ऋ (जाना) यक्' इस अवस्था में 'गुणोर्ति०' के द्वारा गुण होकर 'अर्यते' रूप बनेगा।

'स्मृ' लट् में 'स्मर्यते' बनेगा। लिट् में द्वित्व, अभ्यास कार्य होकर 'सस्मरे' बन गया। 'स्मृ' से लुट् में 'स्मारिता' तथा 'स्मर्ता' रूप बनेंगे।

'ऋ तास्' इस स्थिति में 'सार्वधातुकार्ध०' के द्वारा गुण हुआ। क्योंकि उक्त गुणादेश पर तथा नित्य है। अब चिण्वद्भाव पक्ष में 'आरिता' तथा पक्ष में 'अर्ता' बनेगा।

'स्रंस् (गिरना) यक्' इस स्थिति में 'अनिदिताम्०' के द्वारा नलोप होकर 'स्रस्यते' बन गया।

इदित् धातुओं से न का लोप नहीं होता है। अतः 'नन्द् यक् त' इस अवस्था में 'नन्द्यते' बन गया।

'यज् यक् त' इस अवस्था में 'वचिस्वपि०' के द्वारा सम्प्रसारण होकर 'इज्यते' बना।

७५४. [६]**तनोतेर्यकि**[७] (६/४/४४)

अकारान्तादेशो वा स्यात्। तायते, तन्यते।

तनोतेरिति— यक् परे रहते तन् को अकार अन्तादेश होता है विकल्प से।

तन् यक् त। त अ यते। तायते। पक्ष में 'तन्यते' बनेगा।

७५५. [५]**तपोऽनुतापे**[७] **च** (३/१/६५)

तपश्च्लेश्चिण् न स्यात्कर्मकर्तर्यनुतापे च। अन्वतप्त पापेन। घुमास्थेतीत्वम्-दीयते। धीयते। ददे।

तप इति— कर्म कर्ता और अनुताप (पश्चात्ताप) अर्थ में 'तप्' से 'च्लि' को चिण् होता है।

अनुताप अर्थ में 'तप्' अकर्मक है। अत: भाव में लकार होगा।

'अनु अ तप् च्लि > सिच् त' इस स्थिति में सिच् का लोप 'झलो झलि' से होकर 'अन्वतप्त' रूप बना।

दा से कर्मवाच्य में यक् हुआ। 'घुमास्थागापाजहा०' से अकार को ईकार हुआ। दीयते। इसी प्रकार 'धा' से 'धीयते' बना।

७५६. [६]**आतो युक्**[१] **चिण्-कृतो:**[७] (७/३/३३)

आदन्तानां युगागम: स्याच्चिणि ञ्णिति कृति च। दायिता, दाता। दायिषीष्ट, दासीष्ट। अदायि। अदायिषाताम्। भज्यते।

आत इति— चिण् तथा ञित् णित्, कृत् प्रत्यय परे रहते आदन्त धातु को युक् आगम हो।

कर्मवाच्य लुट् में 'दा तास्' इस स्थिति में चिणवद्भाव होने पर 'युक्' आगम हुआ। दायिता। अभाव पक्ष में 'दाता' बना।

आशीर्लिङ् में 'युक्' आगम होकर 'दायिषीष्ट' बना तथा अभाव पक्ष में 'दासीष्ट' बना।

लुङ् में 'चिण् भावकर्मणो:' के द्वारा 'च्लि' को चिण् होकर युक् आगम हो गया। 'चिणो लुक्' से तकार लोप हुआ। अदायि। द्विवचन में चिण्वद्भाव हुआ। युक् आगम हुआ। अदायिषाताम्। अभाव पक्ष में 'स्थाध्वो०' के द्वारा इकार होकर 'अदिषाताम्' रूप बना।

'भञ्ज्' से यक् होने पर 'अनिदितां हल उपधाया०' के द्वारा नलोप हो गया। भज्यते।

७५७. [६]**भञ्जेश्च चिणि**[७] (७/४/३३)

नलोपो वा स्यात्। अभाजि, अभञ्जि। लभ्यते।

भञ्जेरिति— चिण् परे रहते भञ्ज् के नकार का लोप विकल्प से हो।

लुङ् में 'चिण् भावकर्मणोः' के द्वारा 'चिण्' आदेश हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प से नलोप हुआ। लोप पक्ष में उपधावृद्धि और तलोप हुआ। अभाजि। लोपाभाव पक्ष में तलोप होकर 'अभञ्जि' बना।

'लभ् यक् त'— यहाँ 'लभ्यते' बन गया।

७५८. **विभाॅषा चिण्णमुलोः**[७] (७/१/६५)

लभेर्नुमागमो वा स्यात्। अलम्भि, अलाभि। इति भावकर्मप्रक्रिया।

विभाषेति— चिण् और णमुल् परे रहते लुङ् को विकल्प से नुम् आगम हो।

लुङ् में चिण् होकर 'चिणो लुक्' से तलोप हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा विकल्प से नुम् आगम हुआ। आगम होने पर अनुस्वार तथा परसवर्ण होकर 'अलम्भि' रूप बना। पक्ष में उपधा वृद्धि तथा तलोप होकर 'अलाभि' बन गया।

॥ भावकर्म प्रक्रिया समाप्त ॥

अथ कर्मकर्तृप्रक्रिया

यदा कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितम्, तदा सकर्मकाणाम्अप्यकर्मकत्वात् कर्तरि भावे च लकारः।

जब कर्म ही कर्त्ता बन जाता है तब उसे 'कर्मकर्त्ता' कहा जाता है।

जब कर्म को ही कर्त्ता कहना हो तब सकर्मक धातुओं के भी अकर्मक हो जाने से सामान्य नियम 'लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः' के द्वारा लकार कर्त्ता या भाव में होते हैं।

७५९. **कर्मवत् कर्मणा** [३]**तुल्य-क्रियः**[१] (३/१/८७)

कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्त्ता कर्मवत्स्यात्। कार्याऽतिदेशोऽयम्, तेन यगात्मनेपदचिण्वदिटः स्युः। पच्यते फलम्। भिद्यते। काष्ठम्। अपाचि। अभेदि। भावे तु भिद्यते काष्ठेन। इति कर्मकर्तृप्रक्रिया।

कर्मवदिति— कर्मस्थ क्रिया से तुल्य क्रिया वाला कर्त्ता कर्मवत् हो।

इसका अभिप्राय है कि कर्मकर्त्ता कर्मवत् हों। यह कार्यातिदेश है। अतः कर्मवाच्य की तरह चक्र, आत्मनेपद तथा चिण्वद्भाव होगा।

'पच्यते ओदनेन' अर्थात् भात से पका जाता है। 'गल जाना' कर्म ओदन में होता है। अतः यहाँ क्रिया कर्मस्थ है।

'पच्यते फलम्' अर्थात् फल स्वयं पक रहा है। इसी प्रकार 'भिद्यते काष्ठम्' (लकड़ी अपने आप टूटती है) में समझना चाहिए।

अथ लकारार्थप्रक्रिया

७६०. [७]**अभिज्ञावचने लृट्**[१] **(३/१/११२)**

स्मृतिबोधिन्युपपदे भूतानद्यतने धातोर्लृट्। लङोऽपवादः। वस निवासे। स्मरसि कृष्ण! गोकुले वत्स्यामः। एवं बुध्यसे चेतयसे इत्यादि- प्रयोगेऽपि।

अभिज्ञा० इति— स्मरणार्थक उपपद रहते अनद्यतन भूत में धातु से लृट् होता है।

अनद्यतन भूत में लङ् होता है। यह लङ् का अपवाद है।

स्मरसि कृष्ण! गोकुले वत्स्यामः। अर्थात् कृष्ण! तुम्हें याद है हम लोग गोकुल में रहते थे। यहाँ 'वस्' से अनद्यतन भूत में लृट् लकार हुआ।

इसी प्रकार बुध्यसे, चेतयसे इत्यादि स्मरणार्थक क्रियापदों के प्रयोग में भी पूर्वोक्त लकार होता है।

७६१. [१]**न यदि**[७] **(३/१/११३)**

यद्योगे उक्तं न। अभिजानासि कृष्ण! यद्वने अभुञ्ज्महि।

नेति— यत् के योग से स्मरणार्थक उपपद रहते धातु से अनद्यतन भूत में लृट् नहीं होता।

निषेध होने पर लङ् होगा।

'अभिजानासि कृष्ण, यद्वने अभुञ्ज्महि' अर्थात् कृष्ण तुम्हें याद है कि हम ने वन में भोजन किया था।

यहाँ 'यत्' का योग होने से लृट् न होकर यथा प्राप्त लङ् लकार हुआ।

७६२. [१]**लट् स्मे**[७] **(३/२/११८)**

लिटोऽपवादः। यजति स्म युधिष्ठिरः।

स्म के योग में परोक्ष अनद्यतन भूत में लट् लकार हो।

'परोक्षे लिट्' के द्वारा होने वाले लिट् का अपवाद है।

'यजति स्म युधिष्ठिरः' (युधिष्ठिर यज्ञ करता था)। यहाँ 'स्म' के योग में लट् हुआ।

७६३. [७]**वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वा (३/३/१३१)**

वर्तमाने ये प्रत्यया उक्तास्ते वर्तमानसामीप्यभूते भविष्यति च वा स्युः। कदाऽऽगतोऽसि? अयमागच्छामि; अयमागमं वा। कदा गमिष्यसि? एष गच्छामि गमिष्यामि वा।

वर्त्त० इति— वर्तमान में जो प्रत्यय बताये गये हैं, वे वर्तमान के समीप भूत और भविष्यत् काल में भी विकल्प से हो।

'कदाऽऽगतोऽसि' अर्थात् कब आये हो? यह प्रश्न भूतकाल के विषय में है। इसके उत्तर में वर्तमान की समीपता दिखाने के लिए लट् का प्रयोग किया गया है। यथा— 'अयम् आगच्छामि' अर्थात् आ ही रहा हूँ।

अभाव पक्ष में यथा प्राप्त लङ् होता है। अयम् आगमम्।

'कदा गमिष्यसि' अर्थात् कब जाएगे? इसके उत्तर में 'एष: गच्छामि'— यहाँ लट् का प्रयोग हुआ है।

अभावपक्ष में सामान्य लृट् लकार होगा। यथा— 'एष: गमिष्यामि' अर्थात् जा रहा हूँ।

७६४. [७]**हेतुहेतुमतोर्लिङ्**[१] (३/३/१५६)

वा स्यात्। कृष्णं नमेत् चेत् सुखं यायात्, कृष्णं नंस्यति चेत्सुखं यास्यति। भविष्यत्येवेष्यते, नेह- हन्तीति पलायते। विधिनिमन्त्रणेति लिङ्। विधि:- प्रेरणं-भृत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम्, यजेत। निमन्त्रणं नियोगकरणमावश्यके श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादे: प्रवर्तनम्-इह भुञ्जीत। आमन्त्रणं-कामचाराऽनुज्ञा, इहासीत। अधीष्ट:-सत्कारपूर्वको व्यापार:, पुत्रमध्यापयेद्भवान्। संप्रश्न:- संप्रधारणम्, किं भो वेदमधीयीय उत तर्कम्। प्रार्थनं-याच्ञा, भो भोजनं लभेय। एवं लोट्।

इति लकारार्थप्रक्रिया

इति तिडन्तप्रकरणं समाप्तम्

हेत्विति— हेतु और हेतुमान् क्रियाओं से लिङ् लकार हो विकल्प से।

जब एक क्रिया के द्वारा दूसरी क्रिया होती है तब पहली क्रिया को 'हेतु' तथा इसके फल रूप में जो क्रिया होती है, उसे 'हेतुमत्' कहते हैं।

'कृष्णं नमेत् चेत् सुखं यायात्'— यहाँ सामीप्य रहते प्राय: वर्तमान काल की क्रिया का ही प्रयोग किया जाता है। 'नमस्कार' क्रिया हेतु है तथा 'सुख पाना' हेतुमत् है। अत: लिङ् हुआ है।

पक्ष में लृट् होगा। यथा— कृष्णं नंस्यति चेत्सुखं यास्यति।

यह सूत्र भविष्यत् काल में ही लिङ् का विधान करता है, अन्य काल में नहीं। यथा— 'हन्तीति पलायते' अर्थात् यह मारता है अत: भागता है। यहाँ 'मारना' हेतु है तथा 'भागना' हेतुमत् है। परन्तु भविष्यत् काल न होने से लिङ् न हुआ।

विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण, अधीष्ट, सम्प्रश्न और प्रार्थना आदि में लिङ् हो।

॥ लकारार्थ प्रक्रिया समाप्त ॥

॥ तिडन्त समाप्त ॥

लघुसिद्धान्त कौमुदी की सोमलेखा हिन्दी टीका का तिडन्त प्रकरण समाप्त हुआ।

अथ कृदन्तप्रकरणम्

अथ कृत्यप्रक्रिया

७६५. [5]**धातोः (३/१/९१)**

आतृतीयाध्यायसमाप्ति ये प्रत्ययाः ते धातोः परे स्युः। 'कृदतिङ्' इति 'कृत्' संज्ञा।

धातोरिति— तृतीय अध्याय की समाप्ति तक जो प्रत्यय कहे गये हैं, वे धातु से परे हों।

'कृदतिङ्' के द्वारा इन प्रत्ययों की 'कृत्' संज्ञा है।

७६६. **वाऽस[1]रूपोऽस्त्रियाम्[7] (३/१/९४)**

अस्मिन्धात्वधिकारेऽसरूपोऽपवादप्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा स्यात् स्त्र्यधिकारोक्तं विना।

वेति— असरूप अर्थात् असमान रूप वाला अपवाद प्रत्यय उत्सर्ग सूत्र का विकल्प से बाधक हो, 'स्त्रियां' के अधिकार में कथित प्रत्ययों को छोड़कर।

'तव्यत्' उत्सर्ग प्रत्यय है तथा 'ण्यत्' आदि विशेष (अपवाद) प्रत्यय हैं। प्रकृत सूत्र के द्वारा ण्यत् की प्रवृत्ति विकल्प से होगी तथा पक्ष में उत्सर्ग प्रत्यय 'तव्यत्' आदि होंगे।

सूत्र में पठित 'असरूप' का अर्थ है कि पूर्वोक्त कार्य वहीं होगा, जहाँ उत्सर्ग तथा अपवाद प्रत्ययों का स्वरूप एक समान न हो। चूँकि 'अण्' तथा 'क' प्रत्ययों का स्वरूप एक जैसा है, अतः 'क', 'अण्' का बाध नित्य करेगा।

इस प्रकरण में रूप सिद्धि प्रक्रिया के अन्तर्गत निम्नलिखित बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

१. सर्वप्रथम धातु संज्ञा व अनुबन्ध लोप कर लेना चाहिए।

२. 'धातोः', 'प्रत्ययः', 'परश्च' के अधिकार में ही कृत् प्रत्यय की उत्पत्ति करनी चाहिए।

३. धातु से गुण वृद्धि आदि आवश्यक कार्य करने के बाद सूत्र (१२५) पर दर्शित रीति से सुप् प्रत्ययों की उत्पत्ति करके परिनिष्ठित रूप बनाना चाहिए।

यहाँ विस्तारभय से इसे सर्वत्र न दिखा कर सीधे कृत् प्रत्यय की उत्पत्ति दिखाई जायेगी। छात्रों को विस्तरेण इस रीति का अनुगमन करना चाहिए, अन्यथा प्रक्रिया अधूरी मानी जायेगी।

७६७. [१]कृत्याः (३/१/९५)

'ण्वुलतृचौ (३/१/१३३)' इत्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञा स्युः

कृत्या इति— 'ण्वुल्तृचौ' (पा० ३/१/१३३) से पहले के प्रत्यय कृत्य संज्ञक हों।

७६८. [७]कर्तरि कृत्[१] (३/४/६७)

'कृत्' प्रत्ययः कर्तरि स्यात्। इति प्राप्ते –

कर्तरीति— कृत् प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में हों।

७६९. [७]तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः[१] (३/४/७०)

एते भावकर्मणोरेव स्युः।

तयोरिति— कृत्य, क्त और खलर्थ प्रत्यय भाव और कर्म में हों।

इनमें कर्त्ता अनुक्त रहता है। अतः उसमें तृतीया विभक्ति होती है।

मया पठितव्यम् (कृत्य)। मया पठितम् (क्त)।

मया सुकरम् इदं कार्यम् (खलर्थ)।

७७०. [१]तव्यत्-तव्यानीयरः (३/१/९६)

धातोरेते प्रत्ययाः स्युः। एधितव्यम् एधनीयं त्वया। भावे-औत्सर्गिकम् एकवचनं क्लीबत्वं। चेतव्यः चयनीयो वा धर्मस्त्वया।

(वा०) केलिमर उपसंख्यानम्। पचेलिमा भाषाः, पक्तव्या इत्यर्थः। भिदेलिमाः सरलाः, भेत्तव्या इत्यर्थः। कर्मणि प्रत्ययः।

तव्यदिति— धातु से तव्यत्, तव्य तथा अनीयर् हों।

तव्यत् का तकार इत्संज्ञक है। अनीयर् का रेफ इत्संज्ञक है।

'एध्' से भाव में तव्य तथा अनीयर् हुए। आर्धधातुक इट् होकर 'एधितव्यम्' रूप बना। अनीयर् में 'एधनीयम्' बनेगा।

एधितव्यम्

एध्— 'भूवादयो धातवः' से धातु संज्ञा, अनुबन्धलोप।

एध्तव्यत्— 'धातोः', 'प्रत्ययः', 'परश्च' के अधिकार में 'तव्यतव्यानीयरः' सूत्र से 'तव्यत्' प्रत्यय 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' से भाव में हुआ।

एध् इट् तव्य— 'तव्यत्' के तकार की इत्संज्ञा व लोप। प्रत्यय की 'आर्धधातुकं शेषः' से आर्धधातुक संज्ञा तथा 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से इट् हुआ।

एधितव्य— टकार की इत्संज्ञा व लोप। 'कृदतिङ्' से 'तव्य' की कृत् संज्ञा हुई। 'एधितव्य' कृदन्त शब्द हुआ।

एधितव्य सु— सुबन्त प्रकरण में सूत्र १२५ पर दर्शाए अनुसार सुप् प्रत्ययों की उत्पत्ति हुई। प्रथमा एकत्व की विवक्षा में 'सु' हुआ।

एधितव्यम्— चूँकि 'तव्यत्' प्रत्यय भाव में है। अतः नपुँसकलिङ्ग हुआ। तब 'अम्' आदेश (अतोऽम्) आदि कार्य होकर रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार 'एधनीयम्' की सिद्धि के विषय में जानना चाहिए। कृदन्त प्रकरण में रूप सिद्धि का विस्तृत प्रकार इसी प्रकार रहेगा परन्तु विस्तारभय से इसे सर्वत्र दिखाया नहीं गया है।

भाव में सामान्यतः नपुँसकलिङ्ग एक वचन होता है।

'चि' धातु सकर्मक है। तब कर्म में तव्यत् तथा अनीयर् होंगे।

'चेतव्यः/चयनीयः धर्मस्त्वया'— कर्म प्रधान होने से प्रथमान्त है तथा कर्त्ता अनुक्त होने से उसमें तृतीया है। चि तव्यत्-चि तव्य- चे तव्य—सार्वधातुकार्धधातु०। सु। चि अनीयर्— चे अनीय—चय् अनीय एचोऽयवायावः। सु।

(वा०) केलिमर् भी होता है।

इसके ककार और रेफ इत्संज्ञक हैं।

पच् से केलिमर् होकर 'पचेलिमाः माषाः' रूप बना। इसका अर्थ है — पक्तव्याः। पच् केलिमर्—पच् एलिम- जस्। पचेलिम अस्।

७७१. [१]कृत्य-ल्युटो बहुलम्[१] (३/३/११३)

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।

विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति॥ १॥

'स्नान्ति-अनेन' इति स्नानीयं चूर्णम्। दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः।

कृत्येति— कृत्य और ल्युट् बहुल से होते हैं। 'बहुल' का अर्थ है — जहाँ विधान न हो वहाँ भी प्रवृत्त होना।

सामान्यतः कृत्य भाव तथा कर्म में होते हैं। प्रकृत सूत्र के द्वारा ये अन्य कारकों में भी होते हैं।

'स्नान्ति अनेनेति स्नानीयं चूर्णम्' — यहाँ करण में अनीयर् हुआ है।

'दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः' — यहाँ सम्प्रदान में अनीयर् हुआ है।

७७२. [५]**अचो यत्**[१] (३/१/९७)

अजन्ताद् धातोर्यत् स्यात्। चेयम्।

अच इति— अजन्त धातु से 'यत्' हो।

चेयम्

चिञ् चयने — 'भूवादयो धातवः' से धातु संज्ञा, 'हलन्त्यम्' से ञकार की इत् संज्ञा, 'तस्य लोपः' से ञकार लोप, 'अदर्शनं लोपः' से लोपसंज्ञा।

चि यत् — 'धातोः', 'प्रत्ययः', 'परस्य' इन तीन अधिकारों के द्वारा 'अचो

यत्' से 'यत्' हुआ। तकार की पूर्ववत् इत् संज्ञा व उसका लोप।

चे य — 'य' की आर्धधातुक संज्ञा, आर्धधातुक गुण (सार्वधातुकार्ध०)। अब 'कृदतिङ्' से 'यत्' की कृत् संज्ञा हुई। तब 'चेय' के कृदन्त होने के कारण 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से उसकी प्रातिपदिक संज्ञा तथा सुप् प्रत्ययों की उत्पत्ति (सूत्र १२६)

चेय सु — नपुँसकलिंग में 'अम्' आदेश (अतोऽम्) तथा पूर्वरूप (अमि पूर्वः) आदि कार्य होकर रूप बना।

आगे कृदन्त प्रकरण में सिद्धि का क्रम सर्वत्र यही रहेगा।

७७३. [१]**ईद् यति**[७] (६/४/६५)

यति परे आत ईत् स्यात्। देयम्। ग्लेयम्।

ईदिति— यत् परे रहते आकार को ईकार हो।

'दा' से कर्म में 'यत्' हुआ। प्रकृत् सूत्र के द्वारा ईकार होकर आर्धधातुक गुण हुआ। दा > दी यत्। देयम्।

इसी प्रकार 'ग्लै' से भाव में यत् है। तब 'आदेच उपदेशेऽशिति' के द्वारा आकार हुआ। ग्लै यत्। ग्ला यत्। 'अचो यत्' के द्वारा यत् तथा प्रकृत सूत्र द्वारा ईकार हुआ। ग्ली यत्। गुण (सार्वधातुकार्ध०) होकर 'ग्लेयम् रूप बना।

७७४. [५]**पोरदुपधात्**[५] (३/१/९८)

पवर्गान्ताद् अदुपधाद् यत् स्यात्। ण्यतोऽपवादः। शप्यम्। लभ्यम्।

पोरिति— पवर्गान्त अदुपध धातु से यत् हो। अदुपध का अर्थ है— अत् (ह्रस्व अकार) है उपधा में जिसके।

'ऋहलोर्ण्यत्' से प्राप्त यत् का यह बाधक है।

'शप्' पवर्गान्त तथा अदुपध है। यहाँ ण्यत् प्राप्त था, परन्तु प्रकृत सूत्र के द्वारा यत् होकर 'शप्यम्' रूप बना। इसी प्रकार 'लभ्यम्' बनेगा।

७७५. [५]**एति-स्तु-शास-वृ-दृ-जुषः क्यप**[१] (३/१/१०९)

एभ्यः क्यप् स्यात्।

एतीति— इण्, स्तु, शास्, वृ, दृ तथा जुष् से क्यप् होता है।

क्यप् के ककार तथा पकार इत्संज्ञक हैं।

७७६. [६]**ह्रस्वस्य**[७] **पिति** [७]**कृति** [१]**तुक्** (६/१/७१)

इत्यः। स्तुत्यः। शासु-अनुशिष्टौ।

ह्रस्वस्येति— पित् कृत् परे रहते ह्रस्व को तुक् आगम हो।

'इण्' से ण्यत् की प्राप्ति हुई। उसे बाध कर क्यप् हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा तुक् होकर 'इत्यः' रूप बना।

इसी प्रकार 'स्तु यत्' — यहाँ यत् को बाध कर क्यप् हुआ। तब तुक् होकर 'स्तुत्यः' बना।

'शास्' मूल में नहीं है।

७७७. [६]**शास इद्[१] अङ्-हलोः[७] (६/४/३४)**

शास उपधाया 'इत्' स्यादङि हलादौ क्ङिति। शिष्यः। वृत्यः। आदृत्यः। जुष्यः।

शास इति— अङ् या हलादि कित् ङित् परे रहते 'शास्' की उपधा को इकार हो।

शास् से ण्यत् हुआ। उसे बाधकर क्यप् हुआ। तब उपधा को इकार होकर 'शिष्यः' बना। यहाँ 'शासिवसिघसीनां च' के द्वारा मूर्द्धन्य आदेश हुआ है। वृ से क्यप्, तुक् होकर 'वृत्यः' बना। आ पूर्वक दृ से 'आदृत्यः' बना।

जुष् क्यप् — जुष्यः।

७७८. [५]**मृजेर्विभाषा (३/१/११३)**

मृजेः क्यब् वा। मृज्यः।

मृजेरिति— मृज् से क्यप् विकल्प से हो।

क्यप् पक्ष में गुण निषेध (क्ङिति च) होकर 'मृज्यः' बनेगा।

७७९. [६]**ऋहलोर्ण्यत्[१] (३/१/१२४)**

ऋवर्णान्ताद् हलन्ताच्च धातोर्ण्यत्। कार्यम्। हार्यम्। धार्यम्।

ऋकारान्त तथा हलन्त से ण्यत् होता है।

ण्यत् के णकार तथा तकार इत्संज्ञक हैं।

कृ से ण्यत् होने पर वृद्धि (अचो ञ्णिति। उरण् रपरः) होकर 'कार्यम्' बनेगा। हृ से 'हार्यम्' तथा धृ से 'धार्यम्' बनेगा।

'ऋहलोः' — यहाँ पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी हुई है।

७८०. [६]**च-जोः कु[१] घिण्-ण्यतोः[७] (७/३/५२)**

चजोः कुत्वं स्यात् घिति ण्यति च परे।

चजोरिति— घित् तथा ण्यत् परे रहते चकार और जकार को कुत्व हो। 'घित्' का अर्थ है— जिसका घकार इत् संज्ञक है।

७८१. [६]**मृजेर्वृद्धिः[१] (७/२/११४)**

मृजेरिको वृद्धिः सार्वधातुकाऽऽर्धधातुकयोः। मार्ग्यः।

मृजेरिति— सार्वधातुक या आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते मृज् के इक् को वृद्धि हो।

'मृजेर्विभाषा' के द्वारा क्यप् विकल्प से होता है। पक्ष में ण्यत् हुआ। प्रकृत सूत्र से वृद्धि हुई। मृज् ण्यत् — मार्ज् ण्यत्। 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' सूत्र से कुत्व हुआ। तब 'मार्ग्यः' रूप बना।

७८२. [१]**भोज्यं भक्ष्ये[७] (७/३/६९)**

भोग्यमन्यत्। इति कृत्यप्रक्रिया।

भोज्यमिति— भक्ष्य अर्थ में 'भोज्य' शब्द का निपातन होता है।

भुज् से ण्यत् हुआ। उपधा को गुण हुआ। 'चजो: कु: —' के द्वारा प्राप्त कुत्व का निपातन के द्वारा निषेध होकर 'भोज्यम्' रूप बना। इसका अर्थ है — भक्षण करने योग्य।

भक्ष्य अर्थ से अतिरिक्त अर्थ में कुत्व होकर 'भोग्यम्' (अर्थात् उपभोग के योग्य) रूप बनेगा।

॥ कृत्यप्रक्रिया समाप्त ॥

अथ पूर्वकृदन्तम्

७८३. [१]**ण्वुल्-तृचौ (३/१/१३३)**

धातोरेतौ स्त:। 'कर्तरि कृत्' इति कर्त्रर्थे।

ण्वुलिति— धातु से ण्वुल् तथा तृच् हों। ये कर्ता में हों।

७८४. [६]**यु-वोरनाऽकौ**[१] **(७/१/१)**

'यु वु' एतयो: 'अनाऽकौ' स्त:। कारक:। कर्ता।

युवोरिति— 'यु' तथा 'वु' को क्रमश: 'अन' तथा 'अक' आदेश हों।

ण्वुल् के णकार तथा लकार इत्संज्ञक हैं। तृच् का चकार इत्संज्ञक हैं।

कृ से कर्तृ अर्थ में ण्वुल् हुआ तब 'अक' आदेश, वृद्धि होकर 'कारक:' रूप बना।

कारक:

डुकृञ्— 'भूवादयो धातव:' से धातुसंज्ञा, 'आदिर्ञिटु०' से 'डु' की तथा 'हलन्त्यम्' से 'ञ्' की इत्संज्ञा। तब दोनों का लोप।

कृ ण्वुल्— 'धातो:', 'प्रत्यय:', 'परश्च' का अधिकार है। 'ण्वुल्तृचौ' से 'ण्वुल्' प्रत्यय 'कर्तरि कृत्' से कर्त्ता अर्थ में हुआ। 'कृदतिङ्' से इसकी कृत् संज्ञा हुई। 'स्वतन्त्र: कर्त्ता' से कर्त्ता संज्ञा।

कृ वु— 'हलन्त्यम्' तथा 'चुटू' से अनुबन्ध लोप। 'यस्मात् प्रत्ययविधि०' से 'कृ' की अङ्ग संज्ञा।

कृ अक— 'अङ्गस्य' के अधिकार में 'युवोरनाकौ' से 'वु' को यथासंख्य अक आदेश प्राप्त हुआ।

कार् अक— अङ्गाधिकार में वर्तमान 'अचो ञ्णिति' से अजन्त अङ्ग 'कृ' को णित् परे होने से वृद्धि आदेश प्राप्त हुआ। 'वृद्धिरादैच्' तथा 'स्थानेऽन्तरतम:' के द्वारा आकार आदेश की प्राप्ति हुई। 'उरण् रपर:' से रपरक आकार आदेश हुआ।

कारक सु— सू १२५ पर प्रदर्शित रीति से कृदन्त संज्ञा, प्रातिपदिक संज्ञा होकर सुप् की उत्पत्ति हुई।

कारकः— प्रथमा एकव० में 'सु' आकर रूप बना।

तृच् होकर गुण हुआ 'कृ' से कर्त्ता।

७८५. [५]**नन्दि-ग्रहि-पचाऽऽदिभ्यो ल्युणिन्यचः**[१] (३/१/१३४)

नन्द्यादेर्ल्युः, ग्रह्यादेर्णिनिः, पचादेरच् स्यात्। नन्दयतीति नन्दनः, जनमर्दयतीति जनार्दनः, लवणः। ग्राही, स्थायी, मन्त्री। पचादिराकृतिगणः।

नन्दीति— नन्द् आदि से ल्यु, ग्रह् आदि से णिनि तथा पच् आदि से अच् हो।

ल्यु का लकार, णिनि के णकार, इकार तथा अच् का चकार इत्संज्ञक हैं।

ये सभी कर्त्ता अर्थ में होंगे।

नदि ल्यु (इदितो नुम् धातोः)— नन्द् अन (युवोरनाकौ)— नन्दन — नन्दनः।

इसी प्रकार 'लू' से 'ल्यु' होकर— लवणः।

'ग्रह् णिनि' — यहाँ उपधा वृद्धि होकर 'ग्राही' रूप बना।

इसी प्रकार ' स्था णिनि' — यहाँ 'आतो युक् —' के द्वारा 'युक्' होकर- स्था युक् णिनि इस दशा में अनुबन्ध लोप, सु। स्थायी।

'मन्त्र् णिच् णिनि' — यहाँ णि लोप होकर 'मन्त्री' रूप बना।

पचादि आकृतिगण है। अच् होने पर 'पचः', नदः, 'चोरः' आदि रूप बनेंगे।

७८६. [५]**इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः कः**[१] (३/१/१३५)

एभ्यः कः स्यात्। बुधः। कृशः। ज्ञः। प्रियः किरः।

इगिति— इगुपध, ज्ञा, प्री और कृ धातुओं से 'क' हो।

'क' का ककार इत्संज्ञक है (लशक्वतद्धिते)।

बुध् क — बुधः। लघूपध गुण नहीं हुआ।

कृश् + क — कृशः।

'ज्ञा + क' — यहाँ 'आतो लोप इटि च' के द्वारा आकार लोप होकर 'ज्ञः' रूप बना। 'प्री + क' — यहाँ इयङ् आदेश होकर 'प्रियः'। प्री क— लशक्वतद्धिते। सार्वधातुकार्धधातुकयोः। क्ङिति च। अचि श्नुधातु०। प्रियङ् अ— प्रिय् अ सु। इसी प्रकार 'किरः'। कृ क— प्राप्त गुण का निषेध। ॠत इद् धातोः; उरण् रपरः। किर् अ सु।

७८७. [५]**आतश्चोपसर्गे**[७] (३/१/१३६)

प्र ज्ञः। सुग्लः।

आत इति— उपसर्ग पूर्वक आदन्त धातु से 'क' हो।

'प्र ज्ञा + क' — पूर्ववत् आलोप होकर 'प्रज्ञः' बना।

'सु ग्लै + क' — यहाँ आ का अन्तादेश हुआ। सुग्ला क। तब आलोप (आतो लोप इटि च) होकर 'सुग्लः' रूप बना।

७८८. गेहे[१] कः[१] (३/१/१४४)

गेहे कर्तरि ग्रहेः कः स्यात्। गृहम्।

गेह इति— गेह कर्त्ता अर्थ में ग्रह् से 'क' हो।

'ग्रह् क' — ' ग्रहिज्यावयि —' के द्वारा सम्प्रसारण होकर 'गृहः' रूप बना। यह अर्धर्चादि गण में होने से पुँल्लिङ्ग तथा नपुंसक दोनों है। अमरकोश के अनुसार पुँल्लिङ्ग में बहुवचनान्त होता है। यथा-गृहाः।

७८९. [७]**कर्मण्यण्**[१] **(३/२/१)**

कर्मण्युपदे धातोः 'अण्' प्रत्ययः स्यात्। 'कुम्भं करोति' इति – कुम्भकारः।

कर्मणीति— कर्म उपपद रहते 'अण्' हो।

'कुम्भं करोति इति' — इस विग्रह के अनुसार 'कुम्भ अम् कृ अण्' यह स्वरूप बना। 'अचो ञ्णिति' के द्वारा वृद्धि हुई। 'उपपदमतिङ्' से समास हुआ। 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा हुई। 'सुपो धातु'— के द्वारा प्रातिपदिक के अवयवस्वरूप 'अम्' का लोप हो गया। कुम्भ कार् अण्। तब पुनः सुप् की उत्पत्ति होकर 'कुम्भकारः' रूप बना।

७९०. [५]**आतोऽनुपस**[७]**र्गे कः**[१] **(३/२/३)**

आदन्तात् धातोरनुपसर्गात् कर्मण्युपपदे कः स्यात्। अणोऽपवादः।

आतो लोपः-गोदः, धनदः, कम्बल-दः। अनुपसर्गे किम्-गोसंदायः।

(वा०) मूल-विभुजाऽऽदिभ्यः कः। मूलानि विभुजति इति मूलविभुजो रथः। आकृतिगणोऽयम्। महीध्रः, कुध्रः।

आत इति— उपसर्ग रहित आदन्त धातु से 'क' हो, कर्म उपपद रहते।

यह प्रत्यय 'कर्मण्यण्' का बाधक है।

गां ददाति इति — गो दा क। तब आकार का लोप होकर 'गोदः' रूप बना।

इसी प्रकार 'धनदः' तथा 'कम्बलदः' रूप बनेंगे (लशक्वतद्धिते)।

'आकारान्त धातु के साथ उपसर्ग नहीं हो' — ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि 'गां संददाति' इस अर्थ में सम् का योग होने से 'क' प्रत्यय नहीं हुआ। सामान्य अण् हुआ। तब युक् होकर 'गोसंदायः' रूप बनेगा।

(वा०) मूलविभुज आदि शब्दों में 'क' हो।

मूलानि विभुजति। मूलविभुज् क। मूलविभुजः। मूलविभुज - आदि आकृतिगण है।

इसी प्रकार - महीध्रः, कुध्रः रूप बनेंगे। यहाँ यणादेश हुआ है।

७९१. [५]**चरेष्टः**[१] **(३/२/१६)**

अधिकरणे उपपदे। कुरुचरः।

चरेरिति— अधिकरण उपपद रहते 'चर्' से 'ट' प्रत्यय हो।

कुरुषु चरति इति — कुरु चर् ट — कुरुचरः (चुटू)।

७९२. [७]**भिक्षा-सेनाऽऽदायेषु चँ (३/२/१७)**

भिक्षाचर:। सेनाचर:। अदायेति ल्यबन्तम्-आदायचर:।

भिक्षा० इति— भिक्षा, सेना तथा आदाय उपपद रहते 'चर्' से 'ट' हो।

भिक्षां चरति — भिक्षाचर:। सेनां चरति — सेनाचर:।

आदाय ल्यप् प्रत्ययान्त है। आदाय चरति इति — आदायचर:।

७९३. [५]**कृञो हेतु-ताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु**[७] **(३/२/२०)**

एषु द्योत्येषु करोते: 'ट:' स्यात्।

कृञ इति— हेतु, ताच्छील्य और आनुलोम्य अर्थ में कृ से 'ट' हो।

ताच्छील्य का अर्थ है — स्वभाव। आनुलोम्य का अर्थ है — अनुकूलता।

७९४. [५]**अत:** [७]**कृ-कमि-कंस-कुम्भ-पात्र-कुशा-कर्णीष्वनव्ययस्य**[६] **(८/३/४६)**

आद् उत्तरस्याऽव्ययस्य विसर्गस्य समासे नित्यं साऽऽदेश: 'करोति' आदिषु परेषु। यशस्करीविद्या। श्राद्धकर:। वचनकर:।

अत इति— कृ, कमि, कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा और कर्णी परे होने पर अकार के बाद समास में अनुत्तरपदस्थ विसर्जनीय यदि अव्यय का न हो तो उसे सकार हो।

यश: करोति। यशस् कृ ट (हेतु अर्थ में)। यश: कर। यहाँ जिह्वामूलीय को बाध कर सकार हो गया। यशस्कर। स्त्रीत्व में यशस्करी।

श्राद्धं कर्तुं शीलं यस्य स: श्राद्धकर:। वचनं करोति इति वचनकर:।

७९५. [५]**एजे: खश्**[१] **(३/२/२८)**

ण्यन्ताद् एजे: खश् स्यात्।

एजेरिति— ण्यन्त एज् से खश् हो, यदि कर्म उपपद हो।

इसके खकार (लशक्वतद्धिते) तथा शकार (हलन्त्यम्) इत्संज्ञक हैं।

७९६. [६]**अरुर्द्विषद्-अजन्तस्य मुम्**[१] **(६/३/६७)**

अरुषो द्विषतोऽजन्तस्य च 'मुम्' आगम: स्यात् खिदन्ते परे न तु-अव्ययस्य। शित्त्वात् शबादि:। 'जनमेजयति' इति जनमेजय:।

अरुषिति— अरुस्, द्विषत् और अजन्त शब्दों को मुम् आगम हो, खिदन्त परे रहते परन्तु अव्यय को न हो।

'खश्' शित् है। 'तिङ् शित् सार्वधातुकम्' के द्वारा खश् सार्वधातुक प्रत्यय है। अत: शप् (कर्तरि शप्) आदि कार्य होते हैं।

जनम् एजयति इति। जन एजि खश्। जन एजि शप् खश्। जन् एजि अ अ। जन एजे अ अ (गुण)। पर रूप (अतो गुणे)। जन एजे अ। 'अरुद्विषद्०' से मुम् आगम (मिदचोन्त्यात्पर:)। जन मुम् एजे अ। जनमेजय:।

७९७. [७]**प्रिय-वशे वद:**[१] **खच्१ (३/२/३८)**

प्रियंवदः। वशंवदः।

प्रियेति— प्रिय या वश कर्म उपपद रहते वद् से 'खच्' हो।

प्रियं वदति। प्रिय वद् खच्। प्रिय मुम् वद् खच्। 'मुम्' के अन्त्य मकार तथा उकार का लोप। प्रिय म् वद् अ। 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार। प्रियं वद् अ। प्रियंवदः।

इसी प्रकार 'वशंवदः'।

७९८. [५]**अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३/२/७५)**

मनिन् क्वनिप् वनिप् विच्-एते प्रत्यया धातोः स्युः।

अन्येभ्य इति— (आकारान्त से) अन्य धातुओं से भी मनिन्, क्वनिप्, वनिप् और विच् हों।

मनिन् के नकार, इकार; क्वनिप् का ककार; वनिप् के इकार, पकार तथा विच् के वकार, इकार, चकार इत्संज्ञक हैं। क्वनिप् तथा वनिप् पित् हैं। अतः इनके परे रहते 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से तुक् होता है।

७९९. **नेड्[१] वशि[७] कृति[७] (७/२/८)**

वशादेः कृत इण् न स्यात्। शॄ हिंसायाम्-सुशर्मा। प्रातरित्वा।

नेति— वशादि कृत् प्रत्यय को इट् न हो। वश् एक प्रत्याहार है।

'सु शॄ + मनिन्' इस अवस्था में आर्धधातुक गुण (सार्वधातुकार्ध०) हुआ तथा इट् की प्राप्ति हुई। प्रकृत सूत्र के द्वारा इट् का निषेध हो गया। सुशर्मन् — सुशर्मा।

प्रातरेति। प्रातर् इ + क्वनिप्। यहाँ तुक् आगम हुआ। प्रातरित्वन् सु— प्रातरित्वा।

८००. [७]**विड्-वनोरनुनासिकस्यात्[१] (६/४/४१)**

अनुनासिकस्याऽऽतत्स्यात्। विजायत इति विजावा। ओणृ अपनयने अवावा। विच्-रुष रिष हिंसायाम्। रोट्, रेट्, सुगण्।

विड् इति- विट् या वन् प्रत्यय परे रहते अनुनासिक को आकार हो। 'वन्' के द्वारा वनिप् तथा क्वनिप् दोनों प्रत्ययों का ग्रहण होता है। विट् वैदिक प्रत्यय है।

विजायते। वि जन् वनिप्। अनुनासिक नकार को आकार हो गया। वि ज आ वन्। सवर्ण दीर्घ हो गया। वि जावन् सु— वि जावा।

ओणृ + वनिप् — ओण् वन् — ओ आ वन्। अवादेश हुआ। अवावन्। प्रथमा एकवचन में 'अवावा' बन गया।

रुष् विच्। सर्वापहार लोप हो गया। लघूपध गुण। रोष् सु हल्ङ्याब्भ्यो० से सु लोप। रोष्। झलां जशोऽन्ते। वाऽवसाने। प्रथमा में रोड्-रोट्।

इसी प्रकार 'रिष् विच्' से 'रेट्' बनेगा।

सु गण् विच्। सुगण्।

८०१. [१]**क्विप् चँ (३/२/७६)**

अयमपि दृश्यते। उखास्रत्। पर्णध्वत्। वाहभ्रट्।

क्विबिति— कर्त्ता अर्थ में 'क्विप्' प्रत्यय धातु से हो।

क्विप् का सर्वापहार लोप होता है।

उखायाः स्रंसते। 'उखा स्रंस् क्विप्' इस स्थिति में 'अनिदितां हल उपधाया' के द्वारा नलोप हो गया। तब सकार को 'वसुस्रंसुध्वंस्व०' से तकार होकर 'उखास्रत्' रूप बना।

'पर्ण ध्वंस् क्विप्' इस अवस्था में पूर्ववत् अनुनासिक लोप, सकार को तकारादेश (वसुस्रंसुध्वंस्वन —) होकर 'पर्णध्वत्' रूप बना।

वाहात् भ्रश्यति। वाह भ्रंश् क्विप्। अनुनासिक लोप तथा शकार को टकार होकर 'वाहभ्रट्' रूप बना।

८०२. ७**सुप्यजातौ**७ **णिनि**१**स्ताच्छील्ये**७ (३/२/७८)

अजात्यर्थे सुपि धातोर्णिनिः, ताच्छील्ये द्योत्ये। उष्णभोजी।

सुपीति— जातिवाचक से भिन्न सुबन्त उपपद रहते धातु से णिनि हो ताच्छील्य अर्थ में।

उष्णं भुङ्क्ते तच्छीलः। उष्ण भुज् णिनि — उष्ण भोजिन् (लघूपध गुण-पुगन्तलघूपधस्य च)। तब प्रथमा एकवचन में 'उष्णभोजी' रूप बना।

८०३. मनः५ (३/२/८२)

सुपि मन्यतेर्णिनिः स्यात्। दर्शनीयमानी।

मन इति— सुबन्त उपपद रहते 'मन्' से णिनि हो।

दर्शनीयं मन्यते। दर्शनीय मन् णिनि — दर्शनीय मानिन् (अत उपधाया)। प्रथमा एकवचन में 'दर्शनीयमानी' बना।

८०४. ७**आत्ममाने** १**खश्च** (३/२/८३)

स्वकर्मके मनने वर्तमानान्मन्यतेः सुपि खश् स्यात्, चात् णिनिः। पण्डितम् आत्मानं मन्यते पण्डितंमन्यः, पण्डितमानी।

आत्ममान इति— 'अपने को मानना' अर्थ में 'मन्' धातु से सुबन्त उपपद रहते 'खश्' हो।

'च' कहने से 'णिनि' भी होता है।

पण्डितम् आत्मानं मन्यते। यहाँ 'पण्डित मन् खश्' इस अवस्था में शित् होने से 'श्यन्' विकरण हो गया। 'अरुद्विषदजन्तस्य०' के द्वारा 'मुम्' आगम हो गया। पण्डित मुम् मन् श्यन्। 'मुम्' के मकार व उकार का तथा 'श्यन्' के शकार व नकार का लोप हो गया। पण्डित म् मन् य। प्रथमा एकवचन में 'पण्डितम्मन्यः' रूप बना। पक्ष में णिनि होकर 'पण्डितमानी' रूप बनेगा।

८०५. [७]**खित्यनव्ययस्य**[६] (६/३/६६)

(खिदन्ते परे) पूर्वपदस्य ह्रस्वः, (नत्वव्ययस्य ततो मुम्।) कालिमन्या।

खितीति— खिदन्त परे रहते पूर्वपद को ह्रस्व हो, परन्तु अव्यय को न हो।

आत्मानं कालीं मन्यते। यहाँ 'काली मन् खश्' — इस स्थिति में श्यन्, मुम् ह्रस्व (खित्यनव्ययस्य) होकर 'कालिम्मन्य' रूप बना। स्त्रीत्व की विवक्षा में 'कालिम्मन्या' (अजाद्यष्टाप्, सु, लोप)।

८०६. [७]**करणे यजः**[५] (३/२/८५)

करणे उपपदे भूतार्थे यजेःर्णिनिः कर्तरि। सोमेनेष्टवान् सोमयाजी। अग्निष्टोमयाजी।

करण इति— करण उपपद रहते भूतकाल में यज् से कर्त्ता अर्थ में णिनि हो।

'सोमेन इष्टवान्' — इस विग्रह के अनुसार 'सोम यज् णिनि' यह स्थिति बनी। तब उपधा वृद्धि होकर 'सोमयाजी' रूप बना।

इसी प्रकार 'अग्निष्टोमयाजी' बना।

८०७. [५]**दृशेः क्वनिप्**[१] (३/२/९४)

कर्मणि भूते। पारं दृष्टवान्–पारदृश्वा।

दृशेरिति— कर्त्ता अर्थ में कर्म उपपद रहते भूतकाल में दृश् से क्वनिप् हो।

पारं दृष्टवान्। पार दृश् क्वनिप्। तब प्रथमा एकवचन में 'पारदृश्वा' रूप बना।

८०८. [७]**राजनि** [७]**युधि कृञः**[५] (३/२/९५)

क्वनिप् स्यात्। युधिरन्तर्भावितण्यर्थः। राजानं योधितवान्-राजयुध्वा राज-कृत्वा।

राजनीति— राजन् कर्म उपपद रहते युध् और कृञ् धातु से 'क्वनिप्' हो।

युध् धातु अन्तर्भावित ण्यर्थ ली जाती है। राजानं योधितवान्। 'राजन् युध् णिच् क्वनिप्' इस अवस्था में नलोप, णि लोप होकर 'राजयुध्वन्' रूप बना। प्रथमा एकवचन में 'राजयुध्वा' बनेगा। राजानं कृतवान्। राजन् कृ क्वनिप्। राजकृत्वन् (तुगागम, ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्) — राजकृत्वा।

८०९. [७]**सहे चँ** (३/२/९६)

'कर्मणि' इति निवृत्तम्। सह योधितवान्-सहयुध्वा। सहकृत्वा।

सह इति— सह उपपद रहते युध् तथा कृ धातु से क्वनिप् हो। 'कर्मणि' पद की अनुवृत्ति नहीं है।

सह योधितवान्। 'सह युध् णिच् क्वनिप्' इस अवस्था में णिलोप होकर 'सहयुध्वा' रूप बना। इसी प्रकार 'सहकृत्वा' बनेगा।

८१०. [७]**सप्तम्यां** [५]**जनेर्डः**[१] (३/२/९७)

सप्तम्यामिति— सप्तम्यन्त उपपद रहते 'जन्' से 'ड' हो।

'ड' का डकार इत्संज्ञक है (चुटू)।

८११. [७]तत्पुरुषे कृति[७] बहुलम्[१] (६/३/१४)

डेरलुक्। सरसिजम्, सरोजम्।

तत्पु० इति— तत्पुरुष समास में कृत् प्रत्यय परे रहते सप्तमी का बहुलता से लोप नहीं होता है।

'सरसि जायते' — इस के अनुसार 'सरस् ङि जन् ड' इस अवस्था में प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'सुपो धातु०' के द्वारा सुप् लोप प्राप्त था जिसका निषेध बहुलता से किया गया। सुब् लोप के निषेध पक्ष में 'जन्' धातु का 'टि' लोप होकर 'सरसि जम्' रूप बना। निषेध अभाव पक्ष में लोप होकर (सरस् ज् अ सु) 'सरोजम्' रूप बना।

८१२. [७]उपसर्गे चँ संज्ञायाम्[७] (३/२/९९)

प्रजा स्यात् सन्ततौ जने।

उपसर्ग इति— संज्ञा में उपसर्ग पूर्वक 'जन्' से 'ड' हो।

प्र जन् ड — प्र ज् अ टिलोप — प्रज। स्त्रीत्व की विवक्षा में 'प्रजा' रूप बना।

'प्रजा' शब्द का अर्थ है — सन्तति, जन।

८१३. [१]क्त-क्तवतू निष्ठा[१] (१/१/२६)

एतौ निष्ठासंज्ञौ स्तः।

क्तेति— क्त तथा क्तवतु प्रत्यय निष्ठासंज्ञक हों।

८१४. निष्ठा[१] (३/२/१०२)

भूतार्थवृत्तेर्धातोर्निष्ठा स्यात्। तत्र '७७० तयोरेव - (३/४/७०)' इति भावकर्मणोः क्तः, '७७२ कर्तरि कृद् (३/४/६७)' इति कर्तरि क्तवतुः। उकावितौ। स्नातं मया। स्तुतस्त्वया विष्णुः। विश्वं कृतवान् विष्णुः।

निष्ठेति— भूतकाल के अर्थ में निष्ठासंज्ञक प्रत्यय हों।

उनमें से क्त प्रत्यय भाव और कर्म में (तयो रेव—से) होता है। क्तवतु (कर्तरिकृत् से) कर्त्ता अर्थ में होता है।

दोनों के उकार, ककार इत् हैं। ये आर्धधातुक प्रत्यय हैं।

'स्नातं मया' — यहाँ अकर्मक 'स्ना' धातु से भाववाच्य में 'क्त' प्रत्यय हुआ है।

'स्तुतस्त्वया विष्णुः' यहाँ 'स्तु' धातु से कर्म में क्त हुआ है। अतः कर्म में प्रथमा (विष्णुः) तथा कर्त्ता में तृतीया (त्वया) आई है।

'विश्वं कृतवान् विष्णुः' — यहाँ सकर्मक कृ धातु से कर्तृवाच्य में क्तवतु प्रत्यय हुआ है।

८१५. [५]रदाभ्यां निष्ठातो[६] नः[१] पूर्वस्य[६] चँ दः[६] (८/२/४२)

रदाभ्यां परस्य निष्ठातस्य नः स्यात्, निष्ठाऽपेक्षया पूर्वस्य धातोर्दस्य च। शॄ

हिंसायाम्, ऋत इत्, रपरः, णत्वम्-शीर्णः। भिन्नः। छिन्नः।

रेति— रेफ तथा दकार से पर निष्ठा के तकार को नकार तथा धातु के दकार को भी नकार हो।

'शॄ' का अर्थ है — हिंसा करना।

'शॄ क्त' — इस अवस्था में 'ॠत इद् धातोः' इर् आदेश, इकार को दीर्घ (हलि च) तथा प्रकृत सूत्र के द्वारा तकार को नकार हो गया। शिर् त — शीर् त — शीर् न। णत्व होकर 'शीर्णः' रूप बना।

'भिद् क्त' — लशक्वतद्धिते से क् इत्। रदाभ्यां निष्ठातो० से तकार को नकार। धातु के दकार को नकार होकर 'भिन्नः' रूप बना।

इसी प्रकार 'छिन्नः' रूप बना।

८१६. [५]**संयोगाऽऽदेरातो**[५] **धातो**[५]**र्यण्वतः**[५] (८/२/४३)

निष्ठातस्य न स्यात्। द्राणः। ग्लानः।

संयो० इति— संयोगादि, आकारान्त तथा यण् वाली धातु से परवर्ती निष्ठा के तकार को नकार होता है।

द्रा क्त — द्रान — 'अट् कुप्वाङ्०' से णकार। द्राणः।

ग्लै क्त — ग्ला त (आदेच उपदेशे०) — ग्लानः।

८१७. [५]**ल्वादिभ्यः** (८/२/४४)

एकविंशतेर्लूञादिभ्यः प्राग्वत्। लूनः। ज्या-धातुः, 'ग्रहिज्या-' इति संप्रसारणम्।

ल्वेति— लूञ् आदि इक्कीस धातुओं से पर निष्ठा के तकार को नकार हो।

लू क्त — लून — लूनः।

ज्या क्त — ज् इ आ न ('ग्रहिज्या०' के द्वारा सम्प्रसारण) — ज् इ न (सम्प्रसारणाच्च) — ज् इ न— ऐसा स्वरूप बन गया।

८१८. [१]**हलः** (६/४/२)

अङ्गावयवाद् हलः परं यत् संप्रसारणम् तदन्तस्य दीर्घः। जीनः।

हल इति— अङ्ग के अवयव हल् से पर जो सम्प्रसारण, वह है अन्त में जिसके, तदन्त को दीर्घ हो।

'ज् इ न' — इस अवस्था में दीर्घ होकर 'जीनः' रूप बना।

८१९. [५]**ओदितश्च** (८/२/४५)

भुजो-भुग्नः। टुओश्वि-उच्छूनः।

ओदित इति— ओदित् धातु से परे निष्ठा के तकार को नकार हो।

भुजो क्त — भुज् त — भुज् न — भुग्नः 'चोः कु' के द्वारा कुत्व हो गया।

टु ओश्वि क्त — श्वित — श्विन — श् उ इन (वचिस्वपियजादी० से सम्प्रसारण) —

'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप। 'हलः' से दीर्घादेश। शून। उद् पूर्वक 'शून' करने पर 'उच्छूनः' रूप बनेगा।

८२०. [५]**शुषः कः**[१] **(८/२/५१)**

निष्ठातस्य कः। शुष्कः।

शुष इति— शुष् धातु से पर निष्ठा के तकार को ककार हो।

शुष् क्त — शुष्कः।

८२१. [५]**पचो वः**[१] **(८/२/५२)**

पक्वः। क्षै (हर्ष) क्षये।

पच इति— पच् से पर निष्ठा के तकार को वकार हो। पच् क्त — पच् व — पक्वः।

८२२. [५]**क्षायो मः**[१] **(८/२/५३)**

क्षामः।

क्षाय इति— क्षै धातु से पर निष्ठा के तकार को मकार हो।

क्षै क्त — क्षा म (आदेच उपदेशे० से आकार आदेश) — क्षामः।

८२३. [७]**निष्ठायां सेटि**[७] **(६/४/५२)**

णेर्लोपः। भावितः, भावितवान्। दृह हिंसायाम्-

निष्ठेति— सेट् निष्ठा परे रहते 'णि' का लोप हो।

ण्यन्त 'भू' से क्त हुआ। भू णिच् इट् क्त। 'णि' का लोप हो गया। (अचोञ्णिति) भावितः।

इसी प्रकार क्तवतु में 'भावितवान्' बना।

८२४. [१]**दृढः स्थूल-बलयोः**[७] **(७/२/२०)**

स्थूले बलवति च निपात्यते।

दृढ इति— स्थूल और बलवान् अर्थ में 'दृढ' शब्द का निपातन होता है।

'दृह् क्त' — यहाँ हकार को ढकार हुआ। दृढ् त। 'झषस्तथोर्धोधः' के द्वारा तकार को धकार हुआ। ष्टुत्व (ढकार) हुआ। दृढ् ध। दृढ् ढ। 'ढो ढे लोपः' के द्वारा ढकार लोप हुआ। दृढः।

८२५. [६]**दधातेर्हिः**[१] **(७/४/४२)**

तादौ किति। हितम्।

दधातेरिति— तकारादि कित् परे रहते 'धा' को 'हि' आदेश हो।

धा क्त — हित — हितम्।

८२६. [६]**दो** [१]**दद्घोः**[६] **(७/४/४६)**

घुसंज्ञकस्य 'दा' इत्यस्य 'दद्' स्यात् तादौ किति। चर्त्वम्-दत्तः।

द इति— घु संज्ञक दा को तकारादि कित् परे रहते 'दद्' आदेश हो।

दा क्त — ददृत — दत्त (चर्त्व) — दत्तः।

८२७. **लिटः[६] कानज्[१] वा (३/२/१०६)**

लिट् को विकल्प से कानच् हो। कानच् के चकार और ककार इत्संज्ञक हैं।

८२८. **[१]क्वसुश्च (३/२/१०७)**

लिटः कानज् क्वसुश्च वा स्तः। तङानावात्मनेपदम्। चक्राणः।

क्वसुरिति— लिट् के स्थान पर विकल्प से क्वसु भी होता है। क्वसु के ककार और उकार इत्संज्ञक हैं।

'तङानावात्मनेपदम्' के अनुसार कानच् की आत्मनेपद संज्ञा है।

कृ से लिट् के स्थान पर कानच् हुआ। तब द्वित्व तथा अभ्यास कार्य होकर 'चकृ आन' यह रूप बना। यण् तथा णत्व होकर 'चक्राण' रूप बना।

८२९. **[७]म्वोश्च (८/२/६५)**

मान्तस्य धातोर्नत्वं म्वोः परतः। जगन्वान्।

म्वोरिति— मकार तथा वकार परे रहते मकारान्त धातु को नकार हो।

'गम् क्वसु' होने पर द्वित्व तथा अभ्यास कार्य हुआ। जगम् वस्। तब नकार होकर 'जगन्वस्' प्रादिपदिक बना।

८३०. **[६]लटः [१]शतृ-शानचावप्रथमासमानाधिकरणे[७]** (३/२/१२४)

अप्रथमान्तेन समानाधिकरणे लट एतौ वा स्तः। शबादिः। पचन्तं चैत्रं पश्य

लट इति— प्रथमान्त से भिन्न समानाधिकरण होने पर लट् के स्थान पर शतृ तथा शानच् होते हैं।

विशेषः — इस सूत्र में मण्डूक प्लुति न्याय से यहाँ 'नन्वोर्विभाषा' (३.२.१२१) से विभाषा की अनुवृत्ति होती है। यह 'विभाषा' व्यवस्थित विभाषा है। इस के अनुसार सूत्रार्थ इस प्रकार होगा — जब प्रथमा से समानाधिकरण होता है, तब लट् के स्थान पर विकल्प से शतृ तथा शानच् होते हैं। प्रथमा से भिन्न से समानाधिकरण होने पर शतृ तथा शानच् नित्य होते हैं।

शतृ के शकार तथा ऋकार इत्संज्ञक हैं। शानच् के शकार तथा चकार इत्संज्ञक हैं। शानच् आत्मनेपद-संज्ञक है। दोनों प्रत्यय शित् हैं। अतः सार्वधातुक संज्ञक हैं।

'पचन्तं चैत्रं पश्य' — यहाँ लट् के स्थान पर शतृ हुआ है। पच् शप् शतृ — पच अत् — पररूप। पचत्। प्रातिपदिक संज्ञा होकर 'सु' की उत्पत्ति हुई।

८३१. **[७]आने [१]मुक् (७/२/८२)**

अदन्ताङ्गस्य 'मुग्' आगमः स्याद् आने परे। पचमानं चैत्रं पश्य। 'लट्' इत्यनुवर्तमाने पुनर्लड्ग्रहणात् प्रथमा-सामाधिकरण्येऽपि क्वचित्। सन् द्विजः।

आन इति— आन परे रहते अदन्त अङ्ग को 'मुक्' हो।

'मुक्' के उकार तथा ककार इत्संज्ञक हैं।

पचमानं चैत्रं पश्य। यहाँ पच् से शानच् हुआ। शप् हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'मुक्' आगम हुआ। पच् शप् मुक् शानच्। अनुबन्ध लोप। पचमान। पचमान अम् (द्वि. एकव.) — पचमानम्।

'वर्तमाने लट्' से लट् की अनुवृत्ति करने पर भी पुनः 'लट्' ग्रहण से सूचित होता है कि प्रथमान्त के साथ समानाधिकरण होने पर भी कहीं-कहीं पूर्वोक्त प्रत्यय होते हैं। यथा— सन् द्विजः।

८३२. [५]विदेः [६]शतुर्वसुः[१] (७/१/३६)

वेत्तेः परस्य शतुर्वसुरादेशो वा। विदन्। विद्वान्।

विदेरिति— विद् से पर शतृ को विकल्प से 'वसु' आदेश हो।

८३३. तौ[१] सत्[१] (३/२/१२७)

तौ शतृ-शानचौ सत्संज्ञौ स्तः।

ताविति— शतृ और शानच् सत् संज्ञक होते हैं।

विद् शतृ — विद् वसु — विद्वस् प्रातिपदिक बना। प्रथमा एकवचन में 'विद्वान्' बना। पक्ष में 'वसु' न होकर शतृ हुआ। 'विदत्' का प्रथमा एकवचन में 'विदन्' रूप बना।

८३४. [६]लृटः [१]सद् वॉ (३/३/१४)

व्यवस्थितविभाषेयम्। तेनाऽप्रथमासामानाधिकरण्ये प्रत्ययोत्तरपदयोः संबोधने लक्षणहेत्वोश्च नित्यम्। करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य।

लृट इति— लृट् के स्थान पर विकल्प से सत् हों।

यह व्यवस्थित विभाषा है। अतः प्रथमा समानाधिकरण में प्रत्यय और उत्तरपद परे रहते, सम्बोधन में और लक्षण तथा हेतु अर्थ में नित्य हों।

करिष्यन्तं/करिष्यमाणं पश्य। यहाँ लृट् को क्रमशः शतृ तथा शानच् हुआ है। स्य तथा इट् होकर रूप बना है।

८३५. ऑ [५]क्वेस्तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु[७] (३/२/१३४)

क्विपमभिव्याप्य वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः, तच्छीलादिषु कर्तृषु बोध्याः।

एति— क्विप् तक कहे गये प्रत्यय, तच्छील, तद्धर्म तथा तत्साधुकारी कर्त्ता अर्थ में होते हैं।

८३६. [१]तृन् (३/२/१३५)

कर्ता कटान्।

तृन्निति— कर्त्ता अर्थ में धातु से 'तृन्' हो।

कृ तृन्। गुण हो गया। सु, कर्त्ता।

८३७. [५]**जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङः** [१]**षाकन्** (३/२/१५५)

जल्पेति— तच्छील आदि कर्त्ता अर्थ में जल्प, भिक्ष, कुट्ट, लुण्ट् तथा वृङ् से षाकन् हो। षाकन् के षकार (षः प्रत्ययस्य) तथा नकार इत्संज्ञक हैं।

८३८. **षः** [१] **प्रत्ययस्य** [६] (१/३/६)

प्रत्ययस्याऽऽदिः ष इत्संज्ञः स्यात्। जल्पाकः। भिक्षाकः। कुट्टाकः। लुण्टाकः। वराकः, वराकी।

ष इति— प्रत्यय का आदि षकार इत्संज्ञक हो।

जल्प् षाकन् — जल्पाक (बोलने के स्वभाव वाला)

भिक्ष् षाकन् — भिक्षाक (भीख के स्वभाव वाला)

कुट्ट् षाकन् — कुट्टाक (कूटने के स्वभाव वाला)

लुण्टाक— (लुटेरा)

वराक— (बेचारा)। वराक ङीष्— षिद्गौरादिभ्यश्च। लशक्वतद्धिते, हलन्त्यम्। यस्येति च। व रा क् ई सु— हल्ङ्याब्भ्यो०।

मूल में प्रथमा एकवचन के रूप दिखाये हैं।

८३९. **सनाशंस-भिक्ष**[५] **उः**[१] (३/२/१६८)

चिकीर्षुः। आशंसुः। भिक्षुः।

सन्निति— सन् प्रत्ययान्त, आ शंस् और भिक्ष् से 'उ' हो।

सन्नन्त 'चिकीर्ष' से 'उ' हुआ। 'अतो लोपः' के द्वारा अकार लोप हुआ। चिकीर्षुः।

इसी प्रकार— आशंसुः तथा— भिक्षुः रूप बनेंगे।

८४०. [५]**भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पॄ-जु-ग्रावस्तुवः क्विप्**[१] (३/२/१७७)

विभ्राट्। भाः।

भ्राजेति— भ्राज, भास्, धुर्वि, द्युत्, उर्ज्, पॄ, जु, ग्राव तथा स्तु से क्विप् हो।

'वि भ्राज् क्विप्' — यहाँ क्विप् का सर्वापहार लोप (हलन्त्यम्, उपदेशेऽजनु०, अपृक्त एकाल्०, वेरपृक्तस्य) हो गया। विभ्राज्। प्रथमा एकवचन में 'विभ्राट्' बना। विभ्राज् सु— हल्ङ्याब्भ्यो०। व्रश्चभ्रस्जसृजमृज०। विभ्राष्-झलां जशोऽन्ते। विभ्राड्-वाऽवसाने। 'भास् क्विप्' से 'भास्' प्रातिपदिक बना। प्रथमा एकवचन में 'भाः' रूप बना।

८४१. [५]**राल् लोपः**[१] (६/४/२१)

रेफात् च्छ्वोः लोपः क्वौ झलादौ क्ङिति। धूः। विद्युत्। ऊर्क्। पूः। दृशिग्रहणस्यापकर्षाद् जवतेर्दीर्घः। जूः। ग्रावस्तुत्।

(वा०) **क्विब् वचि-प्रच्छ्यायत-स्तु-कटप्रु-ज-श्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च। 'वक्ति' इति वाक्।**

रादिति— क्वि और झलादि कित्, ङित् परे रहते रेफ से पर 'च्छ' तथा 'व' का लोप हो।

धुर्व् क्विप् — धुर्व्। प्रकृत सूत्र से 'व्' का लोप। र्वोरुपधाया दीर्घ इकः से दीर्घ। — धुर्। तब प्रथमा एकवचन में 'धूः' रूप बना।

'विद्युत् क्विप्' — इस अवस्था में क्विप् का सर्वापहार लोप होकर रूप 'विद्युत्' बना।

ऊर्ज् क्विप् — ऊर्ज्। ऊर्ज् सु— हल्ङ्याब्भ्यो०। रात्सस्य के नियम से ज् का लोप न हुआ। चोः कुः। ऊ र्ग्। वाऽवसाने। — ऊर्क्। इसी प्रकार 'पूः' रूप बनेगा।

'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' — इस सूत्र में 'दृशि' पद के ग्रहण का तात्पर्य यह है कि अन्य कार्य भी होते हैं। अतः 'जु' धातु को क्विप् में दीर्घ भी होगा। जूः।

ग्राव स्तु क्विप्। तुगागम होकर 'ग्रावस्तुत्' रूप बनेगा।

(वा०)— वच्, प्रच्छ्, आयत, स्तु, कट प्रु, जु तथा श्रि से क्विप् प्रत्यय, दीर्घादेश तथा सम्प्रसारण का अभाव हो।

वक्ति इति वाक्। वच् क्विप् — वाच्। वाच् सु (सुलोप प्रत्ययलक्षण से पद संज्ञा, चोः कुः से कुत्व) — वाक्।

८४२. [६]च्छ्-वोः शूड्[१] अनुनासिके[७] चँ (६/४/१९)

सतुक्कस्य छस्य वस्य च क्रमात् 'श' 'ऊठ्' इत्यादेशौ स्तोऽनुनासिके क्वौ झलादौ च क्ङिति। पृच्छतीति-प्राट्। आयं स्तौति-आयतस्तूः।

कटं प्रवते-कटप्रूः। जूः- उक्तः। श्रयति हरिम् - श्रीः।

च्छ्वोरिति— अनुनासिक, क्वि या झलादि कित् ङित् परे रहते तुक् सहित छकार तथा वकार को क्रमशः 'श' तथा ऊठ् आदेश हों।

पृच्छति इति प्राट्। प्रच्छ् क्विप् — प्राच्छ् — प्राश् — प्राष् (व्रश्चभ्रस्जसृज०) — प्राट्। (झलां जशोऽन्ते, वाऽवसाने)। आयत स्तु क्विप् — आयतस्तू — आयतस्तूः। कट प्रु — कटप्रू — कटप्रूः। श्रि + क्विप् — श्री — श्रीः।

८४३. [५]**दाम्नी-शस-यु-युज-स्तु-तुद-सि-सिच-मिह-पत-दश-नहः** [७]**करणे (३/२/१८२)**

दाबादेः ष्ट्रन् स्यात्करणेऽर्थे। दात्यनेन दात्रम्। नेत्रम्।

दाबिति— दाप् (काटना), नी (ले जाना), शस् (मारना), यु (मिलाना), युज् (जोड़ना), स्तु (स्तुति करना), तुद् (पीड़ा पहुँचाना), सि (बन्धन), सिच् (सींचना), मिह् (सींचना), पत् (गिरना), दश् (डसना) और नह् (बाँधना) धातुओं से करण अर्थ में ष्ट्रन् प्रत्यय हो। ष्ट्रन् के षकार (षः प्रत्ययस्य) और नकार इत्संज्ञक हैं।

दाति अनेन। दा ष्ट्रन् — दात्र — दात्रम्।

नी ष्ट्रन् — ने ष्ट्रन् (गुण) — नेत्रम्।

८४४. [७]ति-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-क-सेषु च (७/२/९)

एषां दशानां कृत्प्रत्ययानाम् इण् न। शस्त्रम्। योत्रम्। योक्त्रम्। स्तोत्रम्। तोत्त्रम्। सेत्रम्। सेक्त्रम्, मेढ्रम्। पत्त्रम्। दंष्ट्रा। नद्ध्री।

तीति— ति आदि दश कृत् प्रत्ययों को इट् न हो।

'ति' (का अर्थ है) -- क्तिन्, क्तिच्। तु — तुन्।

त — तन्। त्र — ष्ट्रन्।

थ -- क्थन्। सि — क्सि।

सर — सरन्। क — कन्।

इन्हें वलादि आर्धधातुक इट् प्राप्त था

शस् ष्ट्रन् — शस्त्रम्। यु ष्ट्रन् — योत्रम् (गुण)।

युज् ष्ट्रन् — योक्त्रम्। स्तु + ष्ट्रन् — स्तोत्रम्।

इसी प्रकार तुद्, सि, सिच्, मिह्, पत्, दंश् तथा नह् से क्रमशः तोत्रम् (चाबुक), सेत्रम् (बन्धन), सेक्त्रम् (सींचने का पात्र), मेढ्रम् (लिङ्ग), पत्रम्, (पत्ता, सवारी), दष्ट्रम्, (दाढ) तथा नध्री (चमड़े की रस्सी) रूप बनेंगे।

८४५. [५]अर्ति-लू-धू-सू-खन-सह-चर इत्रः[१] (३/२/१८४)

अरित्रम्। लवित्रम्। धवित्रम्। सवित्रम्। खनित्रम्। सहित्रम्। चरित्रम्।

अर्तीति— ऋ (जाना), लू (काटना), धू (कँपाना), सू (पैदा करना), खन् (खोदना), सह् (सहना) और चर् (चलना) से इत्र होता है।

ऋ + इत्र — अर् इत्र — अरित्रम् (नाव चलाने का डंडा)।

लू + इत्र — लो इत्र — लवित्र — लवित्रम् (चाकू)।

धू इत्र — धवित्रम् (पंखा)। सार्वधातुकार्ध०। धू इत्र- यह धातु कुटादि गण में पठित है। अतः गाङ् कुटादिभ्य० के द्वारा इत्र ङिद्वत् हुआ। प्राप्त आर्धधातुक गुण का निषेध। अचिश्नुधातु० से उवङ्। धुवित्र सु—धुवित्रम्। कुछ विद्वान् ङिद्वद्भाव को अनित्य मानते हैं। उस पक्ष में गुण होकर धवित्रम् बनता है।

खनित्रम् (कुदाल), सहित्रम् (छात्रा), चरित्रम् (आचरण)।

८४६. [५]पुवः संज्ञायाम् ७ (३/२/१८५)

पवित्रम्। इति पूर्वकृदन्तम्।

पुव इति— संज्ञा में 'पू' धातु से 'इत्र' हो।

पू इत्र — पो इत्र — पवित्रम्।

॥ पूर्वकृदन्त समाप्त ॥

अथोणादयः

(उ) कृ-वा-पा-जि-मि-स्वदि-साध्यशूभ्य उण्। करोतीति-कारुः। वातीति-वायुः। पायुः गुदम्। जायुः औषधम्। मायुः पित्तम्। स्वादुः। साध्नोति परकार्यमिति साधुः। आशु-शीघ्रम्।

(उ.) कृ, वा, पा, जि, मि, स्वद्, साध् तथा अश् में 'उण्' हो।

कृ उण् — कार् उ — कारुः (शिल्पी) यहाँ 'अचो ञ्णिति' के द्वारा वृद्धि हुई।

वा उण् — वायुः।

पा उण् — पायुः (गुदा)।

रोगान् जयति अभिभवति इति जायुः (औषध)।

जि उण् — जै उ — जायुः।

मिनोति प्रक्षिपति देहे उष्माणम् मायुः। पित्त।

मि उण् — मै उण् — माय् उण् — मायुः।

स्वद् उण् — स्वाद् उण् (अत उपधायाः)— स्वादुः।

साध् उण् — साधुः।

अश् उण् — आशु। अव्यय है।

८४७. [१]**उणादयो बहुलम्१ (३/३/१)**

एते वर्तमाने संज्ञायां च बहुलं स्युः। केचिद् अविहिता अप्युह्याः। संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे। कार्याद् विद्याद् अनूबन्धम् एतच्छास्त्रम् उणादिषु।। इत्युणादयः।

उण्णिति— उण् आदि प्रत्यय वर्तमान में तथा संज्ञा में बहुलता से हों। कहीं-कहीं अविहित भी हों।

शब्द के पूर्वभाग को धातु मानकर प्रत्यय की कल्पना कर लेवें। तत्पश्चात् कार्य को दृष्टि में रखते हुए अनुबन्धों की कल्पना कर लेनी चाहिए। यही उणादि प्रत्ययों का प्रकार है।

।। उणादि समाप्त ।।

अथोत्तरकृदन्तम्

अब उत्तरकृदन्त प्रारम्भ होता है। पूर्व कृदन्त-प्रत्यय प्रायः कारक अर्थों में होते हैं। उत्तरकृदन्त-प्रत्यय प्रायः भाव में होते हैं।

८४८. [१]**तुमुन्-ण्वुलौ**[७]**क्रियायां क्रियाऽर्थायाम्**[७] (३/४/१०)

क्रियाऽर्थायां क्रियायाम् उपपदे भविष्यत्यर्थे धातोरेतौ स्तः। मान्तत्वादव्ययत्वम्। कृष्णं द्रष्टुं याति। कृष्णं दर्शको याति।

तुमुन्निति— क्रियार्थ क्रिया उपपद रहते भविष्यत् अर्थ में धातु से 'तुमुन्' तथा 'ण्वुल्' हों।

जिस क्रिया के लिए दूसरी क्रिया हो, वहाँ 'तुमुन्' होता है। तुमुन् मान्त होने से निष्पन्न शब्द 'कृन्मेजन्तः' से अव्यय है। तुमुन् के नकार तथा मकारोत्तरवर्त्ती उकार इत्संज्ञक हैं। ण्वुल् कर्त्ता अर्थ में होता है। चुटू से ण् की तथा हलन्त्यम् से ल् की इत्संज्ञा है।

दृश् तुमुन् — दृ अम् श् तुम् (सृजिदृशोर्०) — द्रश् तुम् (यण्) — द्रष् तुम् (व्रश्चभ्रस्ज०) — द्रष् टुम् — (ष्टुना ष्टुः) द्रष्टुम्। कृष्णं द्रष्टुं याति।

यहाँ याति यह क्रियार्थ क्रिया उपपद हैं। 'कृष्णं' कर्म है। 'दृश्' क्रिया है।

ण्वुल् के पक्ष में 'दर्शकः' रूप बनेगा।

कृष्णं दर्शकः याति।

८४९. [७]**काल-समय-वेलासु तुमुन्**[१] (३/३/१६७)

कालार्थेषूपपदेषु तुमुन्। कालः समयो वेला वा भोक्तुम्।

कालेति— काल, समय और वेला के उपपद रहते धातु से तुमुन् हो।

कालः / समयः / वेला भोक्तुम्। भुज् तुमुन्- भुज् तुम्-भोज् तुम् (पुगन्तलघु०)। भोग् तुम् (चोः कुः)। भोक् तुम् (खरि च) सु, सुलोप।

८५०. [७]**भावे** (३/३/१८)

सिद्धाऽवस्थाऽऽपन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ्। पाकः।

भाव इति— भाव अर्थ में धातु से 'घञ्' हो। इसके घकार (लशक्वतद्धिते) तथा ञकार इत्संज्ञक हैं।

भाव दो प्रकार का होता है- साध्यावस्थापन्न तथा सिद्धावस्थापन्न। यहाँ द्वितीय प्रकार का भाव अभिप्रेत है। तिङन्त अवस्था में साध्यावस्था होती है।

सिद्धावस्था में भाव द्रव्य के समान होता है। द्रव्यवत् होने से लिङ्ग तथा वचन का योग हो जाता है।

पच् घञ् — पच् अ — पाच् अ (उपधावृद्धि) पाक् अ (चजोः कुः०) — पाक — पाकः।

पाकः

डुपचष्— भूवादयो धातवः। आदिर्ञिटुडवः। हलन्त्यम्। तस्य लोपः। धातोः। प्रत्ययः। परश्च। भावे।

पच् घञ्— धातु संज्ञा आदि कार्य होकर उपर्युक्त अधिकारों में भाव अर्थ में 'घञ्' हुआ।

पच् अ— लशक्वतद्धिते। हलन्त्यम्। अनुबन्धलोप हुआ। अंग संज्ञा।

पाच् अ— 'अत उपधायाः' से उपधा वृद्धि। अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा। वृद्धिरादैच्। स्थानेऽन्तरतमः।

पाक् अ— 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' से कवर्ग आदेश। 'स्थानेऽन्तरतमः' से ककार हुआ।

पाक सु— 'कृदतिङ्' से घञ् की 'कृत्' संज्ञा तथा सू० १२५ के अनुसार सुप् उत्पत्ति।

पाकः— प्रथमा एकव० में रूप सिद्ध हुआ।

८५१. **अकर्तरि[७] चॅ कारके[७] संज्ञायाम्[७]** (३/३/१९)

कर्तृ-भिन्ने कारके घञ् स्यात्।

अकर्तरीति— कर्त्ता से अतिरिक्त कारक अर्थ में संज्ञा में धातु से घञ् हो।

८५२. **[७]घञि चॅ भाव-करणयोः[७]** (६/४/२७)

रञ्जेर्नलोपः स्यात्। रागः। अनयोः किम्-रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः।

घञीति— भाव और करण कारक में विहित 'घञ्' परे रहते 'रञ्ज्' को न लोप हो।

रञ्जनं रागः। रज्यतेऽनेन रागः। रञ्ज् घञ्— रज् घञ् (नलोप) — राज् अ (अत उपधायाः) — राग् अ (चजोः कु घिण्ण्यतोः)— राग — रागः।

'रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः' — यहाँ अधिकरण में 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' के द्वारा 'घञ्' हुआ है। अन्यथा यहाँ पर भी नलोप हो जाता। अतः सूत्र में केवल 'भाव' तथा 'करण' कारक का उल्लेख है।

८५३. **[७]निवास-चिति-शरीरोपसमाधानेष्वादेश्चॅ कः[१]** (३/३/४१)

एषु चिनोतेर्घञ्, आदेश्च ककारः। उपसमाधानम्-राशीकरणम्। निकायः। कायः। गोमय-निकायः।

निवासेति— निवास, चिति, शरीर तथा उपसमाधान अर्थों में 'चिञ्' से घञ् हो तथा आदि वर्ण को ककार आदेश हो।

उपसमाधानम् का अर्थ है — ढेर लगाना।

नि चि घञ् — नि चै अ (अचो ञ्णिति)— नि चाय् अ — निकाय — निकायः (घर)

चि घञ् — कै अ — काय — कायः (शरीर)। चीयतेऽस्थ्यादिकमत्र इति।

इसी प्रकार — 'गोमयनिकायः।'

८५४. [५]**एरच्**[१] **(३/३/५६)**

इवर्णान्ताद् अच्। चयः, जयः।

एरिति— इवर्णान्त धातु से 'अच्' हो, पूर्वोक्त अर्थ में।

चि अच् — चे अ (सार्वधातुकार्ध०)— चय् अ — चयः।

इसी प्रकार — जि अच् — जयः।

८५५. [५]**ऋदोरप्**[१] **(३/३/५७)**

ऋदन्ताद् उवर्णान्ताद् अप् स्यात् करः। गरः। यवः। लवः। स्तवः। पवः।

(वा०) घञर्थे क-विधानम्। प्रस्थः। (विघ्नः।)

ऋ दिति— पूर्वोक्त अर्थ में ऋदन्त तथा उवर्णान्त से 'अप्' हो। ऋदन्त= जिसके अन्त में ह्रस्व ऋकार है।

कृ अप् — कर् अ (सार्वधातुकार्ध०)— करः। इसी प्रकार गरः, यवः इत्यादि।

(वा०) घञ् के अर्थ में 'क' हो।

प्रतिष्ठन्ति धान्यानि अस्मिन् इति प्रस्थः।

प्र स्था क — प्र स्थ् क (आतो लोप० से आकार लोप) — प्रस्थः।

विघ्नन्ति मनांसि यस्मिन् विघ्नः। वि हन् क — वि ह् न् क (गमहन० से उपधालोप) — विघ् न् अ ('हो हन्तेर् ञ्णिन्नेषु' से कुत्व) — विघ्नः।

८५६. [५]**ड्वितः क्त्रिः**[१] **(३/३/८८)**

ड्विति— 'ड्' जिसका इत् है, ऐसी धातु से 'क्त्रि' हो। इसका ककार इत्संज्ञक है।

८५७. [५]**क्त्रेर्मम्**[१] **नित्यम् (४/४/२०)**

क्त्रि-प्रत्ययान्तात् मम् निर्वृत्तेऽर्थे। पाकेन निर्वृत्तं-पक्त्रिमम्। डुवप्-उप्त्रिमम्।

क्त्रेरिति— 'क्त्रि' प्रत्ययान्त से 'मप्' हो, निर्वृत्त अर्थ में।

डु पचष् क्त्रि — पच् त्रि — पक् त्रि (चोः कुः से कुत्व आदेश) — पक् त्रि मप् — पक्त्रिम सु — पक्त्रिमम् (पाक से सिद्ध)।

डुवप् क्त्रि — वप् त्रि मप् — उप्त्रिमम्। सम्प्रसारण (वचिस्वपियजा०) व पूर्वरूप (सम्प्रसारणाच्च)।

८५८. [५]**ट्वितोऽथुच्**[१] **(३/३/८९)**

टुवेपृ कम्पने। वेपथुः।

ट्विति— 'टु' जिसका इत् है, ऐसे धातु से 'अथुच्' हो। इसका चकार इत्संज्ञक है।

टुवेपृ अथुच् — वेप् अथु — वेपथुः। इसी प्रकार श्वयथुः (सूजन), नन्दथुः (आनन्द), स्फुर्जथुः (वज्र का शब्द) रूप होंगे।

८५९. [5]यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ्[1] (३/३/९०)

यज्ञः। याच्ञा। यत्नः। विश्नः। प्रश्नः। रक्ष्णः।

यजेति— यज्, याच्, यत्, विच्छ्, प्रच्छ् तथा रक्ष् से पूर्वोक्त अर्थ में 'नङ्' हो। नङ् प्रत्ययान्त शब्द पुँल्लिङ्ग होते हैं।

यज् नङ् (स्तोः श्चुना श्चुः)— यज् ञ — यज्ञ सु— यज्ञः।

याच् नङ् -- याच्ञा (अजाद्यतष्टाप्)। यह शब्द स्त्रीलिङ्ग में होता है। इसी प्रकार 'यत्नः' इत्यादि बनेंगे।

८६०. [5]स्वपो नन्[1] (३/३/९२)

स्वप्नः।

स्वप इति— स्वप् से 'नन्' हो। स्वप् नन् — स्वप्नः।

८६१. [7]उपसर्गे घोः[5] किः[1] (३/३/९३)

प्रधिः। उपधिः।

उप० इति— उपसर्ग पूर्वक 'घु' संज्ञक धातुओं से 'कि' हो, भाव अर्थ में या संज्ञा-विषयक कर्तृभिन्न कारक में। इसका ककार इत्संज्ञक है।

प्र धा कि — प्र ध् इ (आतो लोप इटि च) — प्रधिः (नेमि)।

उप धा कि — उपधिः (दम्भ)।

८६२. [7]स्त्रियां क्तिन्[1] (३/३/९४)

स्त्रीलिङ्गे भावे क्तिन् स्यात्। घञोऽपवादः। कृतिः। स्तुतिः।

(वा०) ऋ-ल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद्वाच्यः। तेन नत्वम्-कीर्णिः। लूनिः। धूनिः। पूनिः।

(वा०) सम्पदादिभ्यः क्विप्। संपत्। विपत्। आपत्। क्तिन्नपीष्यते संपत्तिः। विपत्तिः। आपत्तिः।

स्त्रियामिति— स्त्रीलिङ्ग भाव में क्तिन् हो। क्तिन् के नकार तथा ककार इत्संज्ञक है।

कृ क्तिन् — कृतिः (= कार्य)   स्तु क्तिन् — स्तुतिः।

(वा०) ऋकारान्त तथा लू आदि धातुओं से पर क्तिन् निष्ठावत् हो।

कॄ क्तिन् — किर् ति (ॠत इद्धातोः) — की र् ति (हलि च) — कीर् नि (निष्ठावद् भाव)— कीर्णिः (रदाभ्यां निष्ठातो०)।

लूनिः, धूनिः, पूनिः — इनकी रूप सिद्धि सरल है।

(वा०) संपद् आदि से भाव में 'क्विप्' हो।

सम् पद् क्विप् — सम्पद्। सर्वापहार लोप।

इसी प्रकार विपद्, आपत्। इनसे क्तिन् भी होता है। क्तिन् पक्ष में 'सम्पत्तिः' आदि रूप बनेंगे।

८६३. [१]**ऊति-यूति-जूति-साति-हेति-कीर्तयश्च** [१] **(३/३/९७)**

एते निपात्यन्ते।

ऊतीति— क्तिन्नन्त 'ऊति' आदि का निपातन होता है।

'अव् क्तिन्' यहाँ 'ज्वर त्वर०' के द्वारा 'ऊठ्' हो गया। ऊति।

दीर्घत्व का निपातन होकर 'यु क्तिन्' तथा 'जु क्तिन्' में 'यूति' तथा 'जूति' रूप बनते हैं।

'षो क्तिन्' यहाँ 'द्यतिस्यति०' के द्वारा प्राप्त इकारादेश का निपातन के द्वारा अभाव हो गया। 'आदेच उपदेशे' के द्वारा आकार हुआ। साति।

'हन् क्तिन्' नलोप होकर निपातन के द्वारा एकार आदेश हुआ। हेति।

इसी प्रकार 'कीर्ति' रूप बनेगा।

८६४. [६]**ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवामुपधाया** [६] **श्च** [१] **(६/४/२०)**

एषामुपधा-वकारयोरूठ् अनुनासिके, क्वौ, झलादौ क्ङिति च। अतः क्विप्। जूः। तूः। स्रूः। ऊः। मूः।

ज्वरेति— ज्वर्, त्वर्, स्रिव्, अव् और मव् के उपधा और वकार को 'ऊठ्' हो अनुनासिक, क्वि तथा झलादि कित् ङित् परे रहते। ऊठ् आदेश विधान से सूचित होता है कि इनसे क्विप् हो।

ज्वर् क्विप् — ज् ऊठ् र् — जूर् — जूः।

इसी प्रकार तूः, स्रूः, ऊः, तथा मूः। त्वर् क्विप्-त् ऊठ् र्—सर्वापहार लोप। तूर् सु— हल्ङ्याब्०। विसर्जनीय०। स्रिव् क्विप्—स् र् ऊठ्— प्रत्यय का सर्वापहार लोप। ऊठ्। सु। विसर्जनीय। अव् क्विप्— ऊठ् पूर्ववत्। प्रत्यय का सर्वापहार लोप, सु। मव् क्विप्—म् ऊठ् सु- पूर्ववत्।

८६५. [१]**इच्छा (३/३/१०१)**

इषेर्निपातोऽयम्।

इच्छेति— 'इच्छा' शब्द निपातन सिद्ध है।

इष् श — 'कर्तरि शप्' से शप् हुआ। इष् शप् श — इष् अ अ पररूप (अतो गुणे)। — इच्छ् अ (इषुगमियमां०, छे च, स्तोः श्चुना श्चुः)— स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्'। इच्छ टाप् सु— इच्छा।

८६६. [१]**अ प्रत्ययात्** [५] **(३/३/१०२)**

प्रत्ययान्तेभ्यो धातुभ्यः स्त्रियामकारः प्रत्ययः स्यात्। चिकीर्षा। पुत्रकाम्या।

एति— स्त्रीलिङ्ग में प्रत्ययान्त धातु से 'अ' हो।

चिकीर्ष अ — चिकीर्षा। ('चिकीर्ष' सन् प्रत्ययान्त है) आर्धधातुकं शेषः। अतो लोपः से सन् के अकार का लोप, टाप्, सु, सुलोप।

पुत्रकाम्य अ — पुत्रकाम्या। ('पुत्रकाम्य' काम्यच्प्रत्ययान्त है)

८६७. [५]**गुरोश्च हलः**[५] **(३/३/१०३)**

गुरुमतो हलन्तात् स्त्रियाम् 'अ' प्रत्ययः स्यात्। ईहा।

गुरोरिति— गुरुमान् हलन्त धातु से स्त्रीलिङ्ग में 'अ' हो।

ईह् अ — ईह टाप् — ईहा (दीर्घश्च से गुरुसंज्ञा)।

८६८. **ण्यास-श्रन्थो**[५] **युच्**[१] **(३/३/१०७)**

अकारस्यापवादः। कारणा। हारणा।

णीति— ण्यन्त, आस् और श्रन्थ् से 'युच्' हो। यह 'अ' प्रत्यय का अपवाद है।

कृ णिच् — वृद्धि आदेश हो गया। कारि युच् — 'युवोरनाकौ' से 'अन' आदेश हो गया। कार् अन — कारन — 'अट्कुप्वाङ्०' से णत्व। कारण + टाप् — कारणा।

हृ यु च्— हारणा। आस् सुच्— आसना। श्रन्थना।

८६९. [७]**नपुंसके** [७]**भावे क्तः**[१] **(३/३/११४)**

नपुं० इति— नपुँसक भाव में धातु से 'क्त' हो।

८७०. [१]**ल्युट् चँ (३/३/११५)**

हसितम्। हसनम्।

पूर्वोक्त अर्थ में 'ल्युट्' भी हो।

हस् क्त — हसितम्। हस् ल्युट् — हस् अन — हसनम्।

८७१. [७]**पुंसि** [७]**संज्ञायां** [१]**घः प्रायेण**[३] **(३/३/११८)**

पुंसीति— पुँल्लिङ्ग में संज्ञा में प्रायः 'घ' हो, करण व अधिकरण में। 'लशक्वत०' से घकार की इत्संज्ञा होती है।

८७२. [६]**छाऽऽदेर्घेऽ**[७]**द्व्युपसर्गस्य**[६] **(६/४/९६)**

द्वि-प्रभृत्युपसर्ग-हीनस्य छाऽऽदेर्ह्रस्वो घे परे। दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेनेति दन्तच्छदः। आकुर्वन्त्यस्मिन्निति-आकरः।

छेति- छाद् अङ्ग को ह्रस्व हो 'घ' परे रहते, यदि एक से अधिक उपसर्ग न हों।

दन्त छद् णिच् घ — दन्त छादि अ (अत उपधायाः) — दन्त छदि अ (प्रकृत सूत्र से ह्रस्व अकार) — दन्त छद् अ (णि लोप) — दन्तच्छदः। (छे च, तुगागम)। आ कुर्वन्ति अस्मिन्। आ कृ घ — आकरः (लशक्वतद्धिते, सार्वधातुकार्ध०, उरण् रपरः)।

८७३. [७]**अवे तॄ-स्त्रो**[६]**र्घञ्**[१] **(३/३/१२०)**

अवतारः कूपादेः। अवस्तारो जवनिका।

अव इति— अव पूर्वक तृ तथा स्तृ से 'घञ्' हो, करण व अधिकरण अर्थ में।

अव तृ घञ् — अव तार् अ — अवतारः। यहाँ 'ॠदोरप्' से अप् प्राप्त था। इसी प्रकार 'अवस्तारः' बना। यहाँ पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी हुई है।

८७४. [५]**हलश्च** (३/३/१२१)

हलन्ताद् घञ्। घाऽपवादः। रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति-रामः। अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादिरिति-अपामार्गः।

हल इति— हलन्त धातु से 'घञ्' हो। यह 'पुंसि संज्ञायां घः—' का अपवाद है।

रम् घञ् (अधिकरण में) — रामः (अत उपधायाः)।

अप मृज् घञ् (करण में) — अप मृग् अ (चजोः कु घिण्ण्यतोः)। अप मार्ग् अ (मृजेर्वृद्धिः से वृद्धि) — अपामार्गः। 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये' के द्वारा उपसर्ग के अन्त्य अकार को दीर्घ हो गया।

८७५. [७]**ईषद् दुस्सुषु कृच्छ्राऽकृच्छार्थेषु**[७] **खल्**[१] (३/३/१२६)

करणाऽधिकरणयोरिति निवृत्तम्। एषु दुःखसुखार्थेषूपपदेषु खल्। 'तयोरेव' इति भावे कर्मणि च। कृच्छ्रे-दुष्करः कटो भवता। अकृच्छ्रे-ईषत्करः। सुकरः।

ईषदिति— ईषत्, दुस् और सु — इन के उपपद रहते धातु से 'खल्' हो। यहाँ करण तथा अधिकरण की निवृत्ति हो गई है।

यह 'खल्' भाव और कर्म में होता है (तयोरेव कृत्यक्त०)

दुस् कृ खल्— दुस् कृ अ-दुस् कर् अ-दुष्करः कटो भवता।

ईषत् कृ खल्- ईषत् कृ अ-ईषत्करः।

सु कृ खल्- सुकर् अ-सुकरः।

८७६. [५]**आतो युच्**[१] (३/३/१२८)

खलोऽपवादः। ईषत्पानः सोमो भवता। दुष्पानः। सुपानः।

आत इति— आकारान्त धातु से युच् हो। यह खल् का अपवाद है। 'युवोरनाकौ' से 'यु' के स्थान पर 'अन' आदेश होता है।

ईषत्पानः सोमो भवता।

दुष्पानः। सुपानः। ईषत् पा युच्— खल् प्राप्त था। उसका बाध होकर यु च् हुआ। हलन्त्यम्, युवोरनाकौ। ईषत् पा अन— उपपदमतिङ् से समास। अकः सवर्णे दीर्घः। दुष्पानः में सकार को रुत्व, विसर्ग। इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य से षत्व।

८७७. [७]**अलं-खल्वोः प्रतिषेधयोः**[७] **प्राचां**[६] **क्त्वा**[१] (३/४/१८)

प्रतिषेधार्थयोरलं-खल्वोरुपपदयोः क्त्वा स्यात्। प्राचां ग्रहणं पूजार्थम्। 'अमैवाऽव्ययेन' इति नियमात् नोपपदसमासः। 'दो दद्घोः' अलं दत्त्वा। 'घु-मा-स्था-' इतीत्वम्-पीत्वा खलु। अलं-खल्वोः किम्-मा कार्षीत्। प्रतिषेधयोः किम्-अलङ्कारः।

अलमिति— प्रतिषेधार्थक अलं और खलु शब्दों के उपपद रहते धातु से क्त्वा हो प्राचीन आचार्यों के मत से। सम्मान के लिए 'प्राचाम्' का ग्रहण किया है। अव्यय के

साथ यदि समास हो तो 'अम्' के साथ ही हो' — इस के अनुसार उपपद समास नहीं होगा।

अलं दत्त्वा (मत दो)। पीत्वा खलु (मत पीयो)। 'अलं खल्वोः' — ऐसा इसलिए कहा है कि 'मा कार्षीत्' यहाँ 'क्त्वा' न हो। यहाँ प्रतिषेधार्थक 'मा' है।

८७८. [७]**समान-कर्तृकयोः पूर्वकाले**[७] **(३/४/२१)**

समान-कर्तृकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले विद्यमानाद् धातोः क्त्वा स्यात्। भुक्त्वा व्रजति। द्वित्वम् अतन्त्रम्-भुक्त्वा पीत्वा व्रजति।

समानेति— समान कर्तृक धात्वर्थों में पूर्वकाल में वर्तमान धातु से क्त्वा हो।

भुक्त्वा व्रजति। यहाँ भोजन करना और गमन दोनों का एक ही कर्त्ता है। भोजन क्रिया पहले हो रही है। अतः भुज् धातु से क्त्वा हुआ। सूत्र में 'द्वित्व' का पाठ न होने से पूर्व काल में अनेक क्रियाएँ भी हो सकती है। यथा — भुक्त्वा पीत्वा व्रजति।

८७९. **नँ क्त्वा**[१] **सेट्**[१] **(१/२/१८)**

सेट् क्त्वा कित् न स्यात्। शयित्वा। सेट् किम्-कृत्वा।

नेति— सेट् क्त्वा कित् न हो।

शी क्त्वा। वलादि इट् — शी इ त्वा। गुण — शे इत्वा।(सार्वधातुकार्ध०) शयित्वा।

'सेट् क्त्वा ही कित् न हो' ऐसा इसलिए कहा है कि 'कृत्वा' में कित् हो गया। यहाँ सेट् क्त्वा नहीं है।

८८०. [५]**रलो व्युपधाद्**[५] **हलाऽऽदेः**[५] **संश्च (१/२/२६)**

इवर्णोवर्णोपधाद् हलादे रलन्तात् परौ क्त्वा-सनौ सेटौ वा कितौ स्तः। द्युतित्वा, द्योतित्वा। लिखित्वा, लेखित्वा। व्युपधात् किम्-वर्तित्वा। रलः किम्-सेवित्वा। हलाऽऽदेः किम्-एषित्वा। सेट् किम्-भुक्त्वा।

रल इति— इवर्ण तथा उवर्ण उपधा वाली तथा हलादि व रलन्त धातु से पर सेट् क्त्वा तथा सन् विकल्प से कित् हो।

द्युत् क्त्वा। धातु के अन्त में त् है जो रल् वर्ण तथा हलादि है। धातु की उपधा में उ है। वलादि लक्षण इट्। द्युत् इ त्वा। प्रकृत सूत्र के द्वारा वैकल्पिक कित् हुआ। कित् पक्ष में गुण निषेध होकर 'द्युतित्वा' बना तथा अभाव पक्ष में 'द्योतित्वा' बना।

इसी प्रकार - लिखित्वा, लेखित्वा (पुगन्तलघूपध०)।

'उपधा में इकार तथा उकार हो' ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि 'वृत् इट् क्त्वा' यहाँ कित् न हो। वर्तित्वा।

'रलन्त हो' ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि 'सेव् इट् क्त्वा' में 'सेव्' धातु वकारान्त है तथा इसके अन्त में 'रल्' वर्ण नहीं है। अतः कित् न हो। सेवित्वा।

'हलादि हो' — ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि 'इष् इट् क्त्वा' में कित् न हो। एषित्वा। इष् धातु व्युपध है तथा रलन्त है परन्तु हलादि नहीं है।

८८१. उदितो[५] वा (७/२/५६)

उदितः परस्य क्त्व इड् वा। शमित्वा, शान्त्वा। देवित्वा। द्युत्वा। दधातेर्हिः - हित्वा।

उदित इति— उदित् धातु से पर क्त्वा को विकल्प से इट् हो।

शमु क्त्वा — शम् इट् त्वा — शमित्वा।

पक्ष में उपधा दीर्घ (अनुनासिकस्य क्विझलोः) होकर 'शान्त्वा' बना।

दिव् क्त्वा- न क्त्वा सेट् से कित्त्व का निषेध, पुगन्तलघू० से गुण- देवित्वा। इट् अभाव पक्ष में 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' से वकार को ऊठ् आदेश। दि ऊ क्त्वा— इको यणचि। द्युत्वा। धा क्त्वा — एकाच उपदेशेऽशिति से इट् का निषेध। दधातेर्हिः से 'हि' आदेश। हित्वा।

८८२. [६]जहातेश्च क्त्वि[७] (७/४/४३)

हित्वा। हाङस्तु-हात्वा।

जहातेरिति— हा (त्यागे) को 'हि' आदेश हो क्त्वा परे रहते।

हा क्त्वा — हित्वा। हाङ् क्त्वा — हात्वा।

८८३. [७]समासेऽनञ्[७]पूर्वे क्त्वो[६] ल्यप्[१] (७/१/३७)

अव्यय-पूर्वपदेऽनञ् समासे क्त्वो 'ल्यप्' आदेशः स्यात्। तुक्-प्रकृत्य अनञ् किम्- अकृत्वा।

समास इति— नञ् को छोड़कर अन्य अव्यय पूर्वपद समास में हो तो धातु से पर क्त्वा को ल्यप् आदेश हो। ल्यप् के लकार तथा पकार इत्संज्ञक हैं।

प्र कृ क्त्वा — प्र कृ ल्यप् — प्रकृत्य। तुगागम हुआ (ह्रस्वस्य पितिकृति तुक्)।

'नञ् में न हो' — ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि 'अकृत्वा' में ल्यप् न हो।

८८४. [७]आभीक्ष्ण्ये णमुल्[१] च (३/४/२२)

आभीक्ष्ण्ये द्योत्ये पूर्वविषये णमुल् स्यात् क्त्वा च।

आभीक्ष्ण्य इति— आभीक्ष्ण्य के अर्थ में क्त्वा के अर्थ में णमुल् तथा क्त्वा दोनों हों। णमुल् के लकार, उकार तथा णकार इत्संज्ञक हैं।

८८५. [७]नित्य-वीप्सयोः (८/१/४)

आभीक्ष्ण्ये वीप्सायां च द्योत्ये पदस्य द्वित्वं स्यात्।

आभीक्ष्ण्यं तिङन्तेष्वव्ययसंज्ञकेषु कृदन्तेषु। स्मारं स्मारं नमति शिवम्। स्मृत्वा स्मृत्वा। पायं पायम्। भोजं भोजम्। श्रावं श्रावम्।

नित्य इति— नित्यता और वीप्सा के अर्थ में पद को द्वित्व हो। 'आभीक्ष्ण्य' का अर्थ है — निरन्तरता। निरन्तरता तिङन्त या अव्यय संज्ञक कृदन्तों की क्रिया की बतायी जाती है।

स्मृ णमुल्— स्मृ अम्-स्मार् अम्-स्मारं स्मारं नमति शिवम्। पक्ष में स्मृत्वा स्मृत्वा।

इसी प्रकार - पायं पायम् (पी पी कर)। यहाँ 'आतो युक् चिण् कृतोः' के द्वारा 'युक्' हुआ।

भोजं भोजम् (खा खा कर)। श्रावं श्रावम् (सुन सुन कर)।

८८६. [७]अन्यथैवं-कथम्-इत्थंसु सिद्धाऽप्रयोग[१]श्चेत् (३/४/२७)

एषु कृञो णमुल् स्यात् सिद्धोऽप्रयोगोऽस्य एवंभूतश्चेत् कृञ्, व्यर्थत्वात्प्रयोगाऽनर्ह इत्यर्थः। अन्यथाकारम्, एवंकारम्, कथङ्कारम्, इत्थंकारं भुङ्क्ते। सिद्धेति किम्-शिरोऽन्यथाकृत्वा भुङ्क्ते। इत्युत्तरकृदन्तम्।

अन्यथेति— अन्यथा, एवम्, कथम् तथा इत्थम् अव्ययों के पूर्व रहते कृञ् से णमुल् हो। व्यर्थ होने कारण कृञ् का प्रयोग उचित न हो।

अन्यथा कृ णमुल् — अन्यथाकारम्।

'कृ' का प्रयोग व्यर्थ हो' — ऐसा क्यों कहा? इसलिये कि 'शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते' — यहाँ न हो।

। उत्तरकृदन्त समाप्त ।

॥ कृदन्त प्रकरण समाप्त ॥

अथ विभक्त्यर्थ-प्रकरणम्

८८७. ⁷प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचन-मात्रे प्रथमा[१] (२/३/४६)

नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकाऽर्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकाऽर्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये परिमाणमात्रे संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात्। प्रातिपदिकाऽर्थमात्रे-उच्चैः। नीचैः। कृष्णः। श्रीः। ज्ञानम्। लिङ्गमात्रे-तटः, तटी, तटम्। परिमात्रमात्रे-द्रोणो व्रीहिः। वचनं-संख्या। एकः। द्वौ। बहवः।

प्राति० इति— प्रातिपदिकार्थ (व्यक्ति, जाति) मात्र, लिङ्ग मात्र, परिमाण (वजन) मात्र और वचनमात्र में प्रथमा होती है।

यहाँ विभक्तियों के अर्थ बताये जायेंगे। ये दो प्रकार की होती हैं। १. कारक के अर्थ में आने वाली कारक विभक्ति तथा २. कारक से भिन्न या किसी पद के योग में आने वाली विभक्ति उपपदविभक्ति होती है।

प्रातिपदिक के उच्चारण करने पर जिस अर्थ की नियत उपस्थिति होती है, उसे प्रातिपदिकार्थ कहते हैं।

प्रातिपदिकार्थ पाँच होते हैं - स्वार्थ, द्रव्य, लिङ्ग, संख्या तथा कारक। यहाँ प्रथम दो का ग्रहण किया गया है। मात्र शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है। जाति और व्यक्ति अर्थ से अधिक यदि किसी की प्रतीति हो तो लिङ्गमात्र की। यथा-

प्रातिपदिकार्थ — उच्चैः, नीचैः, कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम्। यहाँ प्रथमा हुँई है।

अव्यय अलिङ्ग होते हैं। कृष्णा आदि नियतलिङ्ग है। लिङ्गमात्र - इसके उदाहरण अनियतलिङ्ग शब्द हैं। यथा— तटः, तटी, तटम्।

परिमाण मात्र- द्रोणो व्रीहिः। परिमाण अर्थ में द्रोण शब्द से प्रथमा हुई है।

वचन मात्र- वचन का अर्थ है - संख्या। एकः। द्वौ। बहवः।

'एक' शब्द से संख्या उक्त है। अतः वचनमात्र में प्रथमा हुई।

८८८. ⁷**सम्बोधने चँ (२/३/४७)**

प्रथमा स्यात्। हे राम!

सम्बो० इति— सम्बोधन अर्थ में प्रथमा हो। यथा— हे राम।

८८९. ⁶**कर्तुरीप्सित-तमं[१] कर्म[१] (१/४/४९)**

कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

कर्त्ता के क्रिया के द्वारा अत्यन्त इष्ट कारक की कर्म संज्ञा हो।

८९०. ⁷**कर्मणि द्वितीया[१] (२/३/२)**

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्। हरिं भजति। अभिहिते तु कर्मादौ प्रथमा-हरिः सेव्यते। लक्ष्म्या सेवितः।

कर्मणीति — अनुक्त कर्म में द्वितीया हो। हरिं भजति।

अभिहित कर्म में प्रथमा होती है। कर्मवाच्य में कर्म उक्त होता है।

हरिः सेव्यते (कर्मवाच्य)। लक्ष्म्या हरिः सेवितः (कर्म में क्त)

८९१. [१]अकथितं चँ (१/४/५१)

अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

दुह्-याच्-पच् दण्ड-रुधि-प्रच्छि-चि-ब्रू-शासु-जि-मथ्-मुषाम्।

कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यात् नी-हृ-कृष्-वहाम्॥ १॥

गां दोग्धि पयः। बलिं याचते वसुधाम्। तण्डुलानोदनं पचति। गर्गान् शतं दण्डयति। व्रजम् अवरुणद्धि गाम्। माणवकं पन्थानं पृच्छति। वृक्षम् अवचिनोति फलानि। माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा। शतं जयति देवदत्तम्। सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति। देवदत्तं शतं मुष्णाति। ग्रामम् अजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा।

अर्थ-निबन्धनेयं संज्ञा-बलिं भिक्षते वसुधाम्। माणवकं धर्मं भाषते अभिधत्ते वक्तीत्यादि।

अकथितमिति— जब अपादान आदि कारक विशेष रूप से अविवक्षित हो तब वह कर्मसंज्ञक होता है।

कर्मसंज्ञक होने पर द्वितीया आती है। लेकिन यह विधान सर्वत्र नहीं हो सकता। यह निम्नलिखित सोलह धातुओं तथा उनकी समानार्थक धातुओं में ही सम्भव है।

दुह्-याच् इति — १. दुह् (दुहना), २. याच् (मांगना), ३. पच् (पकाना), ४. दण्ड् (सजा देना), ५. रुध् (रोकना), ६. प्रच्छ (पूछना), ७. चि (चुनना), ८. ब्रू (कहना), ९. शास् (शासन करना), १०. जि (जीतना), ११. मथ् (मथना), १२. मुष् (चुराना), १३. नी (पहुँचाना), १४. हृ (ले जाना), १५. कृष् (खींचना) और १६. वह् (ले जाना) —

'कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म' से जिसकी कर्मसंज्ञा कही है, उसे प्रधान कर्म कहते हैं तथा 'अकथितं च' से जिसकी कर्मसंज्ञा कही है, उसे अकथित कर्म या गौण कर्म कहते हैं।

१. गां दोग्धि पयः (गौ से दूध दुहता है) - यहाँ 'गाय' अपादान कारक है, परन्तु उस की विवक्षा न होने पर प्रकृत सूत्र से कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई। यहाँ 'गाम्' गौण तथा 'पयः' प्रधान कर्म है।

२. बलिं याचते वसुधाम् (बलि से पृथ्वी मांगता है) - यहाँ बलि अपादान है, इसकी अविवक्षा करने पर कर्मसंज्ञा होकर द्वितीया विभक्ति हुई।

३. तण्डुलान् ओदनं पचति (चावलों से भात पकाता है) - यहाँ तण्डुल करण है। अविवक्षा होने पर कर्मसंज्ञा हुई।

४. गर्गान् शतं दण्डयति (गर्गों को सौ रुपये जुर्माना करता है) - यहाँ 'गर्ग' अपादान कारक है, अविवक्षा होने पर इस की कर्मसंज्ञा हुई।

५. व्रजम् अवरुणद्धि गाम् (व्रज में गौ को रोकता है) - यहाँ 'व्रज' अधिकरण है,

अविवक्षा होने पर कर्मसंज्ञा हुई।

६. माणवकं पन्थानं पृच्छति (लड़के से मार्ग पूछता है) - यहाँ 'माणवक' अपादान है, अविवक्षा कर देने पर कर्मसंज्ञा हुई।

७. वृक्षम् अवचिनोति फलानि (वृक्ष से फलों को चुनता है) - यहाँ 'वृक्ष' अपादान की अविवक्षा करने पर कर्मसंज्ञा हुई।

८, ९. माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा (लड़के के लिये धर्म कहता है या शासन करता है) - यहाँ 'माणवक' सम्प्रदान है, अविवक्षा करने पर कर्मसंज्ञा हुई।

१०. शतं जयति देवदत्तम् (देवदत्त से सौ रुपये जीतता है) - यहाँ 'देवदत्त' अपादान है। अविवक्षा होने पर कर्मसंज्ञा हुई।

११. सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति (समुद्र को अमृत के लिये मथता है) - यहाँ 'सुधा' सम्प्रदान है, अविवक्षा करने पर कर्मसंज्ञा हुई।

१२. देवदत्तं शतं मुष्णाति (देवदत्त से सौ रुपये चुराता है) - यहाँ 'देवदत्त' अपादान है, अविवक्षा करने पर कर्मसंज्ञा हुई।

ग्रामम् अजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा (गांव में बकरी को ले जाता है, खींचता हैं, पहुँचाता है) — यहाँ ग्राम अधिकरण है, उसकी अविवक्षा करने पर कर्मसंज्ञा हुई।

'अकथितं च' के द्वारा 'दुह्' आदि के अपादन आदि कारकों की जो कर्मसंज्ञा होती है, वह अर्थाश्रित है। इस प्रकार इन धातुओं के अर्थ वाले अन्य धातुओं के योग में भी अपादानादि की अविवक्षा करने पर कर्मसंज्ञा होगी।

'बलिं भिक्षते वसुधाम्' — यहाँ 'याच्' के अर्थ वाली 'भिक्ष्' धातु का प्रयोग हुआ है। अतः अपादान की अविवक्षा होने पर कर्मसंज्ञा हुई।

इसी प्रकार 'ब्रू' धातु की समानार्थक भाष्, वच्, आदि धातु हैं। अतः इन धातुओं के अनुक्त कारक की कर्मसंज्ञा होगी। माणवकं धर्मं भाषते।

८९२. [१]**स्वतन्त्रः कर्ता**[१] **(१/४/५४)**

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात्।

स्वतन्त्र इति— क्रिया में जिसे स्वतन्त्र कहा जाये उसे कर्त्ता कहते हैं।

८९३. [१]**साधकतमं करणम्**[१] **(१/४/४२)**

क्रिया-सिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात्।

साध० इति— क्रिया की सिद्धि में सब से प्रकृष्ट उपकारक (सहायक) कारक की करण संज्ञा हो।

८९४. [७]**कर्तृ-करणयो**[७]**स्तृतीया**[१] **(२/३/१८)**

अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात्। रामेण बाणेन हतो वाली।

कर्त्रीति— अनुक्त कर्त्ता और करण में तृतीया हो।

'रामेण बाणेन हतो बाली' — यहाँ बाण करण है। अतः तृतीया हुई। कर्म वाच्य में

क्रिया होने के कारण कर्त्ता अनुक्त हो गया। अतः 'रामेण' यहाँ तृतीया हुई।

८९५. [३]कर्मणा [२]यम् अभिप्रैति स[१] सम्प्रदानम्[१] (१/४/३२)

दानस्य कर्मणा यम् अभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात्।

कर्मणेति— दान कर्म के द्वारा कर्त्ता जिसे चाहता है, वह सम्प्रदान-संज्ञक हो।

८९६. [१]चतुर्थी संप्रदाने[७] (२/३/१३)

विप्राय गां ददाति।

चतुर्थीति— सम्प्रदान में चतुर्थी होती है।

'विप्राय गां ददाति' — यहाँ दान क्रिया का कर्म गौ है। इसके द्वारा विप्र के साथ सम्बन्ध करना चाहता है। अतः चतुर्थी हुई।

८९७. [५]नमः-स्वस्ति-स्वाहा-स्वधा-ऽलं-वषड्योगाच्च (२/३/१६)

एभिर्योगे चतुर्थी। हरये नमः। प्रजाभ्यः स्वस्ति। अग्नये स्वाहा। पितृभ्यः स्वधा। अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्, तेन-दैत्येभ्यो हरिरलं, प्रभुः, समर्थः शक्त इत्यादि।

नम इति— नमस् स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् (समर्थ) तथा वषट् के योग में चतुर्थी होती है।

हरये नमः। प्रजाभ्यः स्वस्ति। अग्नये स्वाहा। पितृभ्यः स्वधा।

इन वाक्यों में चतुर्थी हुई है। यहाँ 'अलम्' का समर्थ अर्थ में ग्रहण किया गया है। इसलिए 'दैत्येभ्यो हरिः अलम्' यहाँ चतुर्थी हुई है।

८९८. [१]ध्रुवम् [७]अपायेऽपादानम्[१] (१/४/२४)

अपायो विश्लेषः, तस्मिन् साध्ये यद् ध्रुवम्, अवधिभूतं कारकं तद् अपादानं स्यात्।

ध्रुवमिति— अपाय का अर्थ है — विश्लेष। विश्लेष होने पर जो स्थिर (अवधि रूप कारक) हो, वह अपादान संज्ञक होता है।

८९९. [७]अपादाने पञ्चमी[१] (२/३/२८)

ग्रामाद् आयाति। धावतोऽश्वात् पतति-इत्यादि।

अपा० इति— अपादन में पञ्चमी हो।

'ग्रामाद् आयाति' — यहाँ गाँव से अलग होना सिद्ध हो रहा है। गाँव स्थिर है। अतः ग्राम शब्द की अपादान संज्ञा होकर इस में पञ्चमी हुई।

इसी प्रकार 'धावतोऽश्वात् पतति'।

९००. [१]षष्ठी शेषे[७] (२/३/५०)

कारक-प्रातिपदिकाऽर्थ-व्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावाऽदिः संबन्धः शेषः, तत्र षष्ठी। राज्ञः पुरुषः। कर्मादीनाम् अपि संबन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव। सतां गतम्। सर्पिषो जानीते। मातुः स्मरति। एधोदकस्योपस्कुरुते। भजे शम्भोश्चरणयोः।

षष्ठीति— कारक (प्रातिपदिकार्थ) से भिन्न स्वस्वामिभाव आदि सम्बन्ध शेष कहलाता है। वहाँ षष्ठी हो।

सम्बन्ध चार प्रकार का होता है।

'राज्ञः पुरुषः' — यहाँ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। अतः षष्ठी हुई।

कर्म आदि कारकों की भी सम्बन्धमात्र में षष्ठी होती है।

सतां गतम्। सर्पिषो जानीते। 'मातुः स्मरति' - मातासम्बन्धी स्मरण करता है।

'एधोदकस्योपस्कुरुते' - लकड़ी जल सम्बन्धी रङ्ग ढालती है। यहाँ 'उदक' कर्म की अविवक्षा हुई है।

'भजे शम्भोश्चरणयोः' - यहाँ 'चरण' कर्म की अविवक्षा हुई है।

९०१. [१]आधारोऽधिकरणम्[१] (१/४/४५)

कर्तृ-कर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकम् अधिकरणं स्यात्।

आधार इति— कर्त्ता और कर्म द्वारा तन्निष्ठ क्रिया के आधार की अधिकरण संज्ञा हो।

अधिकरण साक्षात् क्रिया का आधार नहीं होता, अपितु कर्त्ता व कर्म का होता है।

९०२. [१]**सप्तम्यधिकरणे**[७] **च** (२/३/३६)

अधिकरणे सप्तमी स्यात्, चकाराद् दूराऽन्तिकाऽर्थेभ्यः। औपश्लेषिकः, वैषयिकः, अभिव्यापकश्च इति आधारस्त्रिधा। कटे आस्ते। स्थाल्यां पचति। मोक्षे इच्छास्ति। सर्वस्मिन्नात्माऽस्ति। वनस्य दूरे अन्तिके वा।

इति विभक्त्यर्थ-प्रकरणम्।

सप्तमीति— अधिकरण में सप्तमी हो और दूर तथा अन्तिक (निकट) अर्थ वाचक शब्दों से भी (सप्तमी) हो।

आधार तीन प्रकार का होता है —

१. औपश्लेषिक - जहाँ आधार का कर्त्ता आदि से संयोग आदि सम्बन्ध होता है, वहाँ औपश्लेषिक आधार होता है। यथा - कटे आस्ते।

२. वैषयिक - जहाँ आधार विषय को लेकर होता है, वहाँ वैषयिक कहलाता है। यथा - मोक्षे इच्छा अस्ति।

३. अभिव्यापक - जहाँ सम्पूर्ण अवयवों में व्याप्ति हो, उसे अभिव्यापक आधार कहते हैं। यथा - तिलेषु तैलम् अस्ति।

अन्य उदाहरण -

स्थाल्यां पचति (औपश्लेषिक)। सर्वस्मिन्नात्माऽस्ति (अभिव्यापक)।

वनस्य दूरे।

॥ विभक्त्यर्थ प्रकरण समाप्त ॥

अथ समासप्रकरणम्

केवलसमासः

समासः पञ्चधा। तत्र समसनं समासः। स च विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः केवलसमासः प्रथमः। प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो द्वितीयः। प्रायेणोत्तर-पदार्थप्रधान-स्तत्पुरुषस्तृतीयः। तत्पुरुषभेदः कर्मधारयः। कर्मधारयः। कर्मधारयभेदो द्विगु। प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिश्चतुर्थः। प्रायेणोभयपदार्थ-प्रधानो द्वन्द्वः पञ्चमः।

समास पाँच प्रकार के हैं। समसन अर्थात् संक्षेप को समास कहते हैं। अनेक पदों का एक पद बन जाना समास है।

सेति— विशेष नाम से रहित केवल-समास नामक (प्रथम) समास है। यथा— भूतपूर्वः।

जिसमें प्रायः पूर्वपद का अर्थ प्रधान हो, वह अव्ययीभाव (द्वितीय) समास है। यथा— अधिहरि।

जिसमें प्रायः उत्तरपद का अर्थ प्रधान हो, वह तत्पुरुष (तृतीय) समास है। यथा - राजपुरुषः।

तत्पुरुष का भेद कर्मधारय है। यथा - नीलोत्पलम्। कर्मधारय का भेद द्विगु है। यथा - सप्तर्षिः।

जिसमें प्रायः अन्य पद का अर्थ प्रधान हो, वह बहुव्रीहि होता है। यह चौथा समास है। यथा - प्राप्तोदकः ग्रामः।

जिसमें उभय (दोनों) पदों का अर्थ प्रधान हो, उसे द्वन्द्व (पाँचवा) समास कहते हैं। यथा - रामलक्ष्मणौ।

९०३. [१]**समर्थः पदविधिः**[१] **(२/१/१)**

पदसम्बन्धी यो विधिः, स समर्थाऽऽश्रितो बोध्यः।

समर्थ इति— पद सम्बन्धी जो विधि है, वह समर्थ पदों की ही हो अर्थात् सामर्थ्य होने पर ही पदविधि हो। पद का अर्थ है - सुबन्त। समास आदि पदविधियाँ है क्योंकि ये पदों को उद्देश्य करके ही होती है।

सामर्थ्य दो प्रकार का होता है -

१. व्यपेक्षा - आकांक्षा आदि के कारण पदों का जो परस्पर सम्बन्ध होता है, उसे व्यपेक्षा कहते हैं। 'राज्ञः पुरुषः' यहाँ दोनों पदों का परस्पर सम्बन्ध है। अतः व्यपेक्षा रूप सामर्थ्य है।

२. एकार्थीभाव - जहाँ पदार्थों की एक साथ उपस्थिति होती है, वह एकार्थीभाव सामर्थ्य है। यह वृत्ति (अर्थात् समास आदि) में ही होती है।

९०४. **प्राक् कडारात्**[५] **समासः**[१] (२/१/३)

'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्राक् 'समासः' इत्यधिक्रियते।

प्रागिति— 'कडाराः कर्मधारये' (पा. २.२.३८) तक 'समास' इसका अधिकार है।

९०५. **सह सुपा**[३] (२/१/४)

सुप् सुपा सह वा समस्यते समासत्वात् प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुक्। परार्थाऽभिधानं वृत्तिः। कृत्-तद्धित-समासैकशेष-सनाऽऽद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः। वृत्त्यर्थाऽववोधकं वाक्यं विग्रहः। स च लौकिकोऽलौकिकश्चेति द्विधा-तत्र 'पूर्वं भूतः' इति लौकिकः। 'पूर्व अम् भूत सु' इत्यलौकिकः। भूतपूर्वः। 'भूत-पूर्वे चरड्' इति निर्देशात् भूतशब्दस्य पूर्व-निपातः।

(वा०) इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च। वागर्थौ इव-वागर्थाविव।

इति केवलसमासः प्रथमः।

सहेति— सुबन्त का सुबन्त के साथ समास होता है।

सूत्र में पठित 'सुपा' का अर्थ 'सुप् प्रत्यय से'— ऐसा नहीं है, अपितु 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' के बल पर इस का अर्थ है - सुबन्त से।

समास होने से 'कृत्तद्धितसमासाश्च' के द्वारा प्रातिपदिक संज्ञा हुई। तब 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' के द्वारा सुप्लोप होगा।

पदार्थ का ज्ञान कराने का नाम वृत्ति है। वह पाँच प्रकार की होती है। १. कृत् २. तद्धित, ३. समास, ४. एकशेष, ५. सनाद्यन्त धातु।

वृत्ति के अर्थ का ज्ञान कराने वाले वाक्य को विग्रह कहते हैं। यथा -

राजपुरुषः - समासवृत्ति है। राज्ञः पुरुषः - विग्रह है।

विग्रह दो प्रकार का होता है।

१. लौकिक - जिसका लोक में प्रयोग होता है। यथा - पूर्वं भूतः।

२. अलौकिक - जिसका लोक में प्रयोग नहीं होता है। यथा - पूर्व अम् भूत सु। यह विग्रह मात्र शास्त्र-प्रक्रिया के लिए है।

पूर्वं भूतः - (लौकिक)

पूर्व अम् भूत सु - (अलौकिक)

'भूतपूर्वे चरट्' इस निर्देश के कारण 'भूत' शब्द का पूर्वनिपात किया गया है।

(वा०) 'इव' के साथ सुबन्त का समास होता है तथा विभक्ति का लोप भी नहीं होता है।

'वागर्थौ' का समास 'इव' के साथ हुआ है। तब प्राप्त सुप् लोप का निषेध होकर 'आव्' आदेश हो गया। वागर्थाविव।

॥ केवल समास समाप्त ॥

समास प्रकरण में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखना चाहिए।

१. सर्वदा समर्थ पदों में समास होता है।

२. सर्वप्रथम समासविधायक सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

३. समास संज्ञा के पश्चात् समस्त समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से होती है।

४. पूर्वोक्त प्रातिपदिक संज्ञक समुदाय के अवयवस्वरूप सुप् का लुक् 'सुपो धातुप्राति० से' होता है।

५. अब पूर्व निपात का निर्णय करना चाहिए।

६. तत्पश्चात् पूर्वोक्त समस्तपद से सुप् की उत्पत्ति करनी चाहिए।

अथ अव्ययीभावः

९०६. [१]**अव्ययीभावः (२/१/५)**

अधिकारोऽयं प्राक् तत्पुरुषात्।

अव्य० इति— 'तत्पुरुषः' (पा. २.१.२२) तक 'अव्ययीभाव' इस का अधिकार चलेगा। अर्थात् 'तत्पुरुषः' इस अधिकार से पहले जिस जिसका विधान किया गया है उस उस की अव्ययीभाव संज्ञा होती है। इन सभी की अव्ययीभावसंज्ञा हो।

९०७. [१]**अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्थाऽभावाऽत्ययासम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्-यथाऽऽनुपूर्व्य-यौगपद्य-सादृश्य-सम्पत्ति-साकल्याऽन्त-वचनेषु[७](२/१/६)**

विभक्त्यर्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन सह नित्यं समस्यते। सोऽव्ययीभावः। प्रायेणाऽविग्रहो नित्यसमासः, प्रायेणाऽस्वपदविग्रहो वा। विभक्तौ – 'हरि ङि अधि' इति स्थिते।

अव्ययमिति— विभक्ति आदि अर्थ में वर्तमान अव्यय का सुबन्त के साथ नित्य समास होता है। जो इस प्रकार हैं —

१. विभक्ति, २. समीप, ३. समृद्धि, ४. समृद्धि का नाश, ५. अभाव, ६. नाश, ७. अनुचित, ८. शब्द की अभिव्यक्ति, ९. पश्चात्, १०. यथा, ११. क्रमशः, १२. एक दम, १३. समानता, १४. संपत्ति, १५. सम्पूर्णता, १६. अन्त।

प्रायः जिस समास का विग्रह न हो उसे नित्य समास कहते हैं। अथवा जिसका अपने पदों से विग्रह नहीं होता, वह नित्य समास होता है। १. सर्वप्रथम विभक्ति अर्थ से समास का विधान किया जाता है।

हरौ इति — (लौकिक)। हरि ङि अधि — (अलौकिक)।

९०८. [१]**प्रथमा-निर्दिष्टं समास[७] उपसर्जनम्[१] (१/२/४३)**

समास-शास्त्रे प्रथमा-निर्दिष्टम् उपसर्जनसंज्ञं स्यात्।

प्रथमेति— समास-शास्त्र में जो पद प्रथमान्त हो, उस के द्वारा बोध्य शब्द

उपसर्जन-संज्ञक हो। भाव यह है कि समास विधान करने वाले सूत्रों में प्रथमा विभक्ति के द्वारा जिस पद का निर्देश किया जाता है उस पद की अथवा उस पद के द्वारा बोध्य पद की उपसर्जन संज्ञा होती है।

९०९. [१]**उपसर्जनं पूर्वम्**[१] (२/२/४३)

समासे उपसर्जनं प्राक् प्रयोज्यम्। इति 'अधेः' प्राक् प्रयोगः, सुपो लुक्, एकदेश-विकृतस्याऽनन्यत्वात् प्रातिपदिक-संज्ञायां स्वाद्युत्पत्तिः, अव्ययीभावश्च इत्यव्ययत्वात् सुपो लुक-अधिहरि।

उप० इति— समास में उपसर्जन का प्रयोग पहले होता है।

'हरि ङि अधि' - ऐसा होने पर — 'अव्ययं विभक्ति —' इस सूत्र में 'अव्ययं' पद प्रथमान्त है। इस के द्वारा 'अधि' पद का बोध होता है। अतः 'अधि' पद पूर्वसूत्र के द्वारा उपसर्जनसंज्ञक हुआ। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा पूर्व निपात अर्थात् पहले प्रयोग हुआ।

'अधि हरि ङि' - यहाँ प्रातिपदिक संज्ञा होकर सुप् लोप हो गया। अधि हरि।

एक देश (अङ्ग) के विकृत होने पर भी अन्य नहीं होता। यहाँ 'अधि हरि ङि' इसकी प्रातिपदिक संज्ञा हुई। सुप् लोप (एक देश विकृत्ति) होने पर भी इसकी प्रातिपदिक संज्ञा हुई। सुप् की उत्पत्ति हुई। 'अधि हरि' से 'सु' आया। इसकी 'अव्ययीभावश्च' (पा. १.१.४१) के द्वारा अव्यय संज्ञा हुई। तब 'अव्यायादाप् सुपः' के द्वारा सुलोप हो गया। इस प्रकार 'अधिहरि' रूप बना।

अधिहरि

हरौ इति— इस लौकिक विग्रह के अनुसार 'हरि ङि अधि' अलौकिक विग्रह हुआ। तब 'अव्ययं विभक्ति' सूत्र से हरिशब्द का विभक्ति के अर्थ में 'अधि' अव्यय के साथ समास हुआ।

हरि ङि अधि— 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा तथा 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से प्रातिपदिक के अवयव स्वरूप सुप् (ङि) का लोप।

हरि अधि— 'प्रथमानिर्दिष्टं०' से 'अधि' की उपसर्जन संज्ञा।

अधि हरि— 'उपसर्जनं पूर्वम्' से 'अधि' का पूर्व निपात।

अधिहरि सु— सू० १२५ के अनुसार सुप् की उत्पत्ति।

अधिहरि— 'अव्ययीभावश्च' से 'अधिहरि' की अव्यय संज्ञा तथा 'अव्ययाद् आप् सुपः' से सुप् का लोप।

इस सम्पूर्ण समास प्रकरण में रूपसिद्धि के उपरिनिर्दिष्ट प्रकार का अनुसरण करना चाहिए।

९१०. **अव्ययीभाव[१]श्च** (२/४/१८)

अयं नपुंसकं स्यात्। गाः पातीति गोपाः तस्मिन्नित्यधिगोपम्।

अव्य० इति— अव्ययीभाव नपुँसकलिङ्ग होता है।

९११. **नॉऽव्यव्यीभावाद्[5] अतो[5]ऽम्[1] त्वपञ्चम्याः[5] (२/४/८३)**

अदन्ताद्अव्ययीभावात्सुपो न लुक् तस्य पञ्चमी विना 'अम्' आदेशः स्यात्। गाः पातीति गोपास्तस्मिन्निति – अधिगोपम्।

नेति— अदन्त अव्ययीभाव से सुप् लोप न हो। पञ्चमी से अन्यत्र सुप् को 'अम्' आदेश हो।

'गोपा ङि अधि' - यहाँ 'अव्ययं विभक्ति' - सूत्र के द्वारा समास हुआ। सुप् लोप हुआ। अधि गोपा ङि — 'अव्ययीभावश्च' अधि गोपा। 'उपसर्जनं पूर्वम्' के द्वारा 'अधि' पद का पूर्व निपात हो गया। सूत्र के द्वारा नपुँसकलिङ्ग हुआ। तब 'ह्रस्वो नपुंसके०' — के द्वारा ह्रस्व होकर प्रथमा एकवचन में 'अधिगोपम्' रूप हुआ।

९१२. **[6]तृतीया-सप्तम्योर्बहुलम्[1] (२/४/८४)**

अदन्ताद अव्ययीभावात् तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् 'अम्' भावः स्यात्। कृष्णास्य समीपम् उपकृष्णाम्, उपकृष्णेन। मद्राणां समृद्धिः, सुमद्रम्। यवनानां व्यृद्धिः- दुर्यवनम्। मक्षिकाणाम् अभावः-निर्मक्षिकम्। हिमस्याऽत्ययः-अति-हिमम्। निद्रा संप्रति न युज्यत इति-अतिनिद्रम्। हरिशब्दस्य प्रकाशः-इतिहरि। विष्णोः पश्चाद्- अनुविष्णु। योग्यता-वीप्सा-पदार्थाऽनतिवृत्ति-सादृश्यानि यथार्थाः-रूपस्य योग्यमनुरूपम्, अर्थमर्थं प्रतिप्रत्यर्थम्, शक्तिमनतिक्रम्य-यथाशक्ति।

तृतीयेति— अदन्त अव्ययीभाव से पर तृतीया तथा सप्तमी को बहुलता से 'अम्' हो।

२. 'कृष्णस्य समीपम्' या 'कृष्ण ङस् उप'। समीप अर्थ में 'उप' अव्यय से समास होकर 'उपकृष्ण' प्रातिपदिक बना। तृतीया में विकल्प से 'अम्' आदेश होकर 'उपकृष्णम्' तथा 'उपकृष्णेन' दो रूप बनेंगे।

३. 'मद्राणां समृद्धिः' — यहाँ समृद्धि अर्थ में 'सु' से समास होकर 'सुमद्रम्' बना।

४. इसी प्रकार— यवनानां व्यृद्धिः दुर्यवनम्।

५. मक्षिकाणाम्— अभावः निर्मक्षिकम्। यहाँ 'निर्मक्षिका' को नपुँसक होने से ह्रस्व होकर रूप बना है।

६. हिमस्यात्ययः— अतिहिमम्। यहाँ 'नाश' अर्थ में 'अति' अव्यय का समास हुआ है।

७. निद्रा सम्प्रति न युज्यते— अतिनिद्रम्। यहाँ असम्प्रति (अनुचित) अर्थ में 'अति' अव्यय से समास हुआ है। 'अतिनिद्रा' को ह्रस्व होकर प्रथमान्त रूप 'अतिनिद्रम्' बना।

८. हरिशब्दस्य प्रकाशः— इतिहरि। यहाँ शब्द प्रादुर्भाव (प्रकाश) अर्थ में समास हुआ।

९. विष्णोः पश्चात्— अनुविष्णु।

क. योग्यता, ख. वीप्सा (बार-बार होना), ग. अतिक्रमण न होना, घ. सादृश्य - ये चार अर्थ 'यथा' के हैं। इन चारों अर्थों में समास होता है।

क. रूपस्य योग्यम् - अनुरूपम्।

ख. अर्थम् अर्थं प्रति - प्रत्यर्थम्।

ग. शक्तिम् अनतिक्रम्य - यथाशक्ति।

९१३. [७]**अव्ययीभावे चॉऽकाले**[७] (६/३/८१)

सहस्य सः स्याद् अव्ययीभावे, न तु काले। हरेः सादृश्यम्-सहरि। ज्येष्ठस्याऽऽनुपूर्व्येणइति-अनुज्येष्ठम्। चक्रेण युगपत्-सचक्रम्। सदृशः सख्या-स-सखि। क्षत्त्राणां संपत्तिः- सक्षत्त्रम्। तृणमप्यपरित्यज्य-सतृणम् अत्ति। अग्निग्रन्थपर्यन्तम् अधीते-साऽग्नि।

अव्य० इति— यदि कालवाचक उत्तरपद परे न हो तो अव्यययीभाव में 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश होता है।

घ. 'यथा' के चतुर्थ अर्थ 'सादृश्य' का उदाहरण - हरेः सादृश्यम् — सहरि। यहाँ 'सह' अव्यय का समास हुआ है। तब 'स' आदेश हुआ।

११. ज्येष्ठस्याऽऽनुपूर्व्येण इति— अनुज्येष्ठम्। यहाँ 'आनुपूर्व्य' अर्थ में 'अनु' के साथ समास हुआ।

१२. चक्रेण युगपत्सचक्रम्। यहाँ 'सह' को 'स' आदेश हो गया।

१३. सदृशः सख्या — ससखि।

१४. क्षत्राणां सम्पत्तिः — सक्षत्त्रम्। सम्पत्ति अर्थ में 'सह' अव्यय का समास हुआ।

१५. तृणमप्यपरित्यज्य— सतृणम्। यहाँ साकल्य (सम्पूर्णता) अर्थ में समास हुआ।

१६. अग्निग्रन्थ पर्यन्तम् अधीते— साग्नि — यहाँ अन्त अर्थ में 'सह' का समास हुआ है। सह को 'स' आदेश हुआ है।

९१४. [३]**नदीभिश्च** (२/१/२०)

नदीभिः सह संख्या समस्यते।

(वा०) समाहारे चाऽयमिष्यते। पञ्चगङ्गम्। द्वियमुनम्।

नदीभिरिति— नदीविशेष के वाचक के साथ संख्यावाचक का समास होता है।

(वा०) यह समाहार में होता है।

'पञ्चन् आम् गङ्गा आम् समाहारः' — यहाँ 'पञ्चन्' का 'गङ्गा' के साथ समास हुआ। 'पञ्चन्' शब्द का पूर्वनिपात हुआ। सुप् लोप हो गया। 'न लोपः प्रातिपदिक०' के द्वारा नलोप हुआ। नपुंसक होने से ह्रस्व हुआ। पञ्चगङ्ग। सुप् को अम् होकर प्रथमा एकवचन में 'पञ्चगङ्गम्' बना।

इसी प्रकार — द्वयोः यमुनयोः समाहारः— द्वियमुनम्।

९१५. [१]**तद्धिताः (४/१/७६)**

आ पञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम्।

तद्धिता इति— पाँचवे अध्याय की समाप्ति तक तद्धित का अधिकार है।

९१६. [७]**अव्ययीभावे शरत् प्रभृतिभ्यः**[५] (५/४/१०७)

शरदादिभ्यष्टच् स्यात् समासान्तोऽव्ययीभावे। शरदः समीपम् उपशरदम्। प्रतिविपाशम्।

(ग.सू.) जराया जरस्। उपजरसमित्यादि।

अव्य० इति— अव्ययीभाव में शरद् आदि से 'टच्' समासान्त प्रत्यय हो। टच् के टकार तथा चकार इत्संज्ञक है।

'शरदः समीपम्' - इस अवस्था में समास होकर 'उपशरद्' शब्द बना। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा 'टच्' हुआ। उपशरद् अ— उपशरद। 'टच्' की तद्धित संज्ञा होकर 'उपशरद' की प्रतिपादिक संज्ञा हुई। प्रथमा में 'उपशरदम्' बना।

'विपाशाया अभिमुखम्' - यहाँ 'लक्षणेनाभिप्रती अभिमुख्ये' के द्वारा आभिमुख्य अर्थ में 'प्रति' निपात का समास हुआ। 'प्रति' की उपसर्जन संज्ञा, उसका पूर्व निपात तथा सुप् लोप हुआ। समासान्त टच् होकर 'प्रतिविपाशम्' रूप बना।

(ग.) समास में 'जरा' शब्द को जरस् हो तथा समासान्त 'टच्' हो। चुटू से ट् की तथा हलन्त्यम् से च् की इत्संज्ञा होती है।

'जरायाः समीपम्' - इस अवस्था में 'जरा' शब्द से समीप अर्थ में 'उप' अव्यय का समास हुआ। 'उप' का पूर्वनिपात तथा सुब् लोप होकर 'उपजरा' शब्द बना। तब 'जरस्' आदेश तथा टच् प्रत्यय होकर 'उपजरसम्' प्रथमान्त रूप बना।

९१७. [५]**अनश्च** (५/४/१०८)

अन्नन्ताद् अव्ययीभावात् टच् स्यात्।

अन इति— अन्नन्त अव्ययीभाव से 'टच्' हो।

९१८. [६]**नस्तद्धिते**[७] (६/४/१४४)

नाऽन्तस्य भस्य टेर्लोपस्तद्धिते। उपराजम्। अध्यात्मम्।

न इति— नान्त भसंज्ञक टि का लोप हो तद्धित प्रत्यय परे रहते।

'राज्ञः समीपम्' - इस विग्रह के अनुसार समास होकर 'उपराजन्' शब्द बना। तब पूर्व सूत्र 'अनश्च' के द्वारा 'टच्' हुआ। उपराजन् टच्। 'नस्तद्धिते' के द्वारा टिलोप हो गया। उपराज् टच्। उपराज। तब प्रथमा एकवचन में 'उपराजम्' बना।

इसी प्रकार 'आत्मनि इति' (आत्मन् ङि अधि) यहाँ टच्, टिलोप होकर 'अध्यात्मम्' रूप बना।

९१९. ५नपुंसकाद् अन्यतरस्याम् (५/४/१०९)

अन्नन्तं यत् क्लीबम् तदन्ताद् अव्ययीभावात् टज् वा स्यात्। उपचर्मम्, उपचर्म।

नपुँ० इति— जिस अव्ययीभाव के अन्त में अन्नन्त व नपुँसकलिङ्ग शब्द हो उससे विकल्प से 'टच्' होता है।

'चर्मणः समीपम्' - यहाँ समास होकर 'उप चर्मन्' रूप बना। चर्मन् शब्द अन्नन्त है तथा नपुंसक भी है। अतः विकल्प से टच् हुआ। टच् के पक्ष में टिलोप होकर 'उपचर्मम्' तथा पक्ष में 'उपचर्म' बना।

९२०. ५झयः (५/४/१११)

झयन्ताद् अव्ययीभावात् टच् वा स्यात्। उपसमिधम् उपसमित्। इत्यव्ययीभावः।

झय इति— झयन्त अव्ययीभाव से विकल्प से 'टच्' हो।

समिधः समीपम्— उपसमिधम्। उपसमित् (झलां जशोऽन्ते, वाऽवसाने)।

॥ अव्ययीभाव समाप्त ॥

अथ तत्पुरुषः

९२१. १तत्पुरुषः (२/१/२२)

अधिकारोऽयम् प्राग् बहुव्रीहेः।

तत्पु० इति— 'शेषो बहुव्रीहिः' (पा. २.२.२३.) तक इसका अधिकार है अर्थात् 'तत्पुरुषः' सूत्र से लेकर 'शेषो बहुव्रीहिः' सूत्र तक जिसका विधान किया गया है उसकी तत्पुरुष संज्ञा हो।

९२२. १द्विगुश्च (२/१/२३)

द्विगुरपि तत्पुरुष-संज्ञकः स्यात्।

द्विगुरिति— द्विगु भी तत्पुरुष संज्ञक हो।

९२३. १द्वितीयाश्रिताऽतीत-पतित-गताऽत्यस्त-प्राप्ताऽऽपन्नैः ३ (२/१/२४)

द्वितीयान्तं श्रिताऽऽदि-प्रकृतिकैः सुबन्तैः सह समस्यते वा, स च तत्पुरुषः। कृष्णं श्रितः-कृष्णश्रित इत्यादि।

द्विती० इति— द्वितीयान्त पद का श्रितादि से सिद्ध सुबन्तों से विकल्प से समास होता है तथा वह तत्पुरुष संज्ञा होता है।

'कृष्णं श्रितः'- इस विग्रह के अनुसार प्रकृत सूत्र के द्वारा समास हुआ। चूँकि प्रकृत सूत्र में 'द्वितीया' पद प्रथमान्त है और विग्रह में 'कृष्णम्' पद द्वितीयान्त है। अतः 'प्रथमानिर्दिष्टं समासे०' से द्वितीयान्त शब्द 'कृष्णम्' उपसर्जन संज्ञक हुआ। अतः इसका पूर्व निपात हुआ। तब 'कृष्णश्रित' से प्रथमा एकवचन में 'कृष्णश्रितः' रूप बना। पक्ष में 'कृष्णं श्रितः' रूप रहेगा। इसी प्रकार —

अरण्यम् अतीतः - अरण्यातीतः (वन को पार किया हुआ)

कूपं पतितः - कूपपतितः (कूएँ में गिरा हुआ)

ग्रामं गतः - ग्रामगतः (गाँव गया हुआ)

कूपम् अत्यस्तः - कूपात्यस्तः (कूएँ में फैंका हुआ)

९२४. [१]तृतीया-तत्कृताऽर्थेन[३] गुण-वचनेन[३] (२/१/३०)

तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृतगुणवचनेनाऽर्थेन च सह वा प्राग्वत्। शङ्कुलया खण्डः-शङ्कुला-खण्डः। धान्येनार्थः-धान्याऽर्थः। तत्कृतेति किम् - अक्ष्णा काणः।

तृतीयेति— तृतीयान्त सुबन्त का उसके द्वारा किये गये गुणवाची प्रातिपदिक के सुबन्त और 'अर्थ' प्रातिपदिक के सुबन्त के साथ समास होता है।

'शङ्कुलया खण्डः' - यहाँ उत्तरपद गुणवाचक है, यह तृतीयान्तार्थ शङ्कुला से किया हुआ है। यहाँ समास होकर 'शङ्कुलाखण्डः' रूप बना।

इसी प्रकार— धान्येन अर्थः— धान्यार्थः। यदि तृतीयान्त का गुणवचन से समास हो तो तृतीयान्त कृत् से हो। इसके अनुसार 'अक्ष्णा काणः' - यहाँ समास नहीं होगा।

९२५. [७]कर्तृ-करणे कृता [३]बहुलम्[१] (२/१/३२)

कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुलं प्राग्वत्। हरिणा त्रातः-हरित्रातः। नखैर्भिन्नः-नखभिन्नः।

(प.) कृद्ग्रहणे गति-कारकपूर्वस्याऽपि ग्रहणम्। नख-निर्भिन्नः।

कर्त्रिति— कर्त्ता और करण अर्थ में तृतीयान्त सुबन्त का सुबन्त कृदन्त के साथ बहुलता से समास हो।

'हरिणा त्रातः' - यहाँ तृतीयान्त 'हरिणा' है। उत्तरपद कृदन्त है। अतः समास होकर 'हरित्रातः' बन गया।

इसी प्रकार 'नखैः भिन्न' - इस विग्रह के अनुसार 'नखभिन्नः' रूप बना।

कृद् ग्रहण के विषय में गति तथा कारकपूर्व का भी ग्रहण हो। यथा— नखैः निर्भिन्नः - नखनिर्भिन्नः।

९२६. [१]चतुर्थी तदर्थाऽर्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः[३] (२/१/३६)

चतुर्थ्यन्तार्थाय यत्, तद्वाचिना अर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत्। यूपाय दारु-यूपदारु। तदर्थेन प्रकृति विकृतिभाव एवेष्टः, तेनेह न रन्धनाय स्थाली।

(वा०) अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्।

द्विजार्थः-सूपः। द्विजार्था-यवागूः। द्विजार्थम्-पयः। भूत-बलिः गो-हितम्। गो-सुखम्। गो-रक्षितम्।

चतुर्थीति— चतुर्थ्यन्त सुबन्त का तदर्थवाचक, अर्थ, बलि, हित, सुख और रक्षित - इन के सुबन्त के साथ समास होता है।

'यूपाय दारु' - यहाँ 'दारु' चतुर्थ्यन्तार्थ यूप के लिए है। अतः समास होकर

'यूपदारु' शब्द बना।

'तदर्थ' शब्द का अर्थ है - प्रकृतिविकृतिभाव अर्थात् चतुर्थ्यन्त का अर्थ विकार तथा उत्तरपद का अर्थ प्रकृति होना चाहिए।

'रन्धनाय स्थाली' - यहाँ प्रकृतिविकृतिभाव नहीं है। अत: समास नहीं हुआ।

(वा०) अर्थ समास के साथ नित्य समास होता है। (समस्त पद का) लिङ्ग विशेष्य के अनुसार होगा।

'द्विजाय अयम्' के अनुसार समास होकर 'द्विजार्थ:' रूप बनेगा। विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होगा। यथा - द्विजार्थ: सूप:, द्विजार्थं पय:।

उदाहरण — भूतेभ्य: बलि: — भूतबलि:।

९२७. [१]**पञ्चमी भयेन**[३] (२/१/३७)

चोराद् भयम्-चोरभयम्।

पञ्चमीति— पञ्चम्यन्त का भयवाचक शब्द से समास होता है।

चोराद् भयम् - चोरभयम्।

९२८. **स्तोकाऽन्तिक-दूरार्थ-कृच्छ्राणि**[१] **क्तेन**[३] (२/१/३९)

स्तोकेति— स्तोक, अन्तिक तथा दूर के वाचक और कृच्छ्र - इन सुबन्तों का क्त प्रत्ययान्त सुबन्त के साथ समास होता है।

९२९. **पञ्चम्या:**[६] **स्तोकाऽदिभ्य:**[५] (६/३/२)

अलुग् उत्तरपदे। स्तोकान्मुक्त:। अन्तिकादागत:। अभ्याशादागत:। दूरादागत:। कृच्छ्रादागत:।

पञ्चम्या इति— स्तोक आदि शब्दों से पर पञ्चमी का लुक् न हो, उत्तर पद परे रहते।

'स्तोकात् मुक्त:' — यहाँ पूर्वसूत्र के द्वारा समास हुआ। तब प्रातिपदिक संज्ञा होकर सुप् का लोप प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा लुक् नहीं हुआ। 'यरोऽनुनासिके—' के द्वारा नकार होकर 'स्तोकान्मुक्त:' रूप बना।

इसी प्रकार — अन्तिकात् आगत: — अन्तिकादागत:। अभ्याशात् आगत: — अभ्याशादागत:। दूरात् आगत: — दूरादागत:। कृच्छ्रात् आगत: — कृच्छ्रादागत:।

९३०. [१]**षष्ठी** (२/२/८)

सुबन्तेन प्राग्वत्। (राज्ञ: पुरुष:) राज-पुरुष:।

षष्ठीति— षष्ठ्यन्त का सुबन्त के साथ समास हो।

'राज्ञ: पुरुष:' — इस विग्रह के अनुसार समास हुआ। सुप् का लुक्, राजन् की पद संज्ञा, 'न लोप: प्राति०' से नकारलोप, सु। राजपुरुष:

९३१. [१]**पूर्वाऽपराऽधरोत्तरम् एकदेशिनैकाऽधिकरणे**[७] (२/२/१)

अवयविना सह पूर्वाऽऽदय: समस्यन्ते, एकत्वविशिष्टश्चेद्-अवयवी।

षष्ठीसमासाऽपवादः। पूर्वं कायस्य-पूर्वकायः। अपरकायः। एकाऽधिकरणे किम्-पूर्वश्छात्राणाम्।

पूर्वेति— पूर्व, अपर, अधर और उत्तर — इन अवयव वाचक का अवयविवाचक के साथ समास हो, यदि अवयवी एकवचनान्त हो।

'पूर्वं कायस्य' — यहाँ समास हुआ। 'काय' शब्द अवयवी है तथा एकवचनान्त है। तब 'पूर्वकायः' रूप बना। इसी प्रकार 'अपरकायः' बनेगा।

९३२. [१]**अर्धं नपुंसकम्**[१] (२/२/१)

समांशवाची-अर्धशब्दो नित्यं क्लीबे, स प्राग्वत्। अर्धं पिप्पल्याः-अर्ध-पिप्पली।

अर्धमिति— सम अंशवाची नित्य नपुंसक अर्ध शब्द का सुबन्त से समास होता है।

'अर्धं पिपल्याः' — इस विग्रह के अनुसार समास हुआ। तब 'अर्धपिप्पली' शब्द बना।

९३३. [१]**सप्तमी शौण्डैः**[३] (२/१/४०)

सप्तम्यन्तं शौण्डाऽऽदिभिः प्राग्वत्। अक्षेषु शौण्डः–अक्षशौण्डः। इत्यादि।

'द्वितीया'-'तृतीया' इत्यादियोगविभागाद् अन्यत्राऽपि द्वितीयाऽऽदिविभक्तीनां प्रयोगवशात् समासो ज्ञेयः।

सप्तमीति— सप्तम्यन्त का शौण्ड आदि सुबन्तों से समास हो।

अक्षेषु शौण्डः — अक्षशौण्डः।

द्वितीया, तृतीया आदि का योग विभाग करने से अन्यत्र भी द्वितीयादि विभक्तियों का प्रयोगवश समास समझना चाहिए।

९३४. [१]**दिक्संख्ये संज्ञायाम्**[७] (२/१/५०)

'संज्ञायाम् एव' इति नियमाऽर्थं सूत्रम्। पूर्वेषुकामशमी। सप्तर्षयः। तेनेह न-उत्तरा वृक्षाः, पञ्च ब्राह्मणाः।

दिगिति— दिशावाचक और संख्यावाचक सुबन्तों का समर्थ सुबन्त से संज्ञा में समास होता है।

'पूर्वः इषुकामशमी' — यहाँ समास होकर 'पूर्वेषुकामशमी' रूप बन गया। यह प्राचीन समय के किसी गाँव का नाम है।

'सप्त च ते ऋषयः' — यहाँ संख्यावाचक का 'ऋषि' के साथ समास। सप्तन् ऋषि- पदसंज्ञा, नलोपः प्रातिपदि०। सप्त ऋषि- सप्तर्षि (आद्गुणः, उरण् रपरः) जस्।

९३५. **तद्धिताऽर्थोत्तरपद-समाहारे**[७] **च**[०] (२/१/५१)

तद्धितार्थे विषये, उत्तरपदे च परत, समाहारे च वाच्ये, दिक्-संख्ये प्राग्वत्। पूर्वस्यां शालायां भवः-पूर्वशालः, इति समासे जाते।

(वा०) सर्वनाम्नो वृत्ति-मात्रे पुंवद्भावः।

तद्धितेति— तद्धितार्थ के विषय में उत्तरपद परे रहते और समाहार वाच्य होने पर दिशावाचक और संख्यावाचक सुबन्त का समानाधिकरण वाले सुबन्त से समास हो।

इस प्रकार छह उदाहरण बनेंगे।

१. दिशावाचक —

(क) तद्धितार्थ में — पूर्वस्यां शालायां भवः— पौर्वशालः।

(ख) उत्तरपद परे रहते — पूर्वशालाप्रियः।

(ग) समाहार वाच्य होने पर — कोई प्रयोग प्राप्त नहीं।

२. संख्यावाचक —

(क) तद्धितार्थ में — पाञ्चनापितिः।

(ख) उत्तरपद में — पञ्चगवधनः।

(ग) समाहार में — पञ्चगवम्।

(वा०) सर्वनाम को वृत्तिमात्र में पुंवद्भाव हो।

९३६. [५]**दिक्-पूर्वपदाद् अ-संज्ञा**[७]**यां ञः**[१] **(४/२/१०७)**

अस्माद् भवार्थे ञः स्याद् असंज्ञायाम्।

दिगिति— जिसके पूर्व में दिशा वाचक शब्द हो उससे भव अर्थ में 'ञ' हो, संज्ञा को छोड़ कर।

'पूर्वशाला' में 'पूर्व' शब्द दिशावाचक है। अतः प्रकृत सूत्र से 'ञ' प्रत्यय हुआ। 'ञ' का ञकार इत् है।

९३७. [७]**तद्धितेष्वचाम्**[६] **आदेः**[६] **(७/२/११७)**

ञिति णिति च तद्धितेष्वचाम्-आदेरचो वृद्धिः स्यात्। यस्येति च-पौर्वशालः। पञ्च गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ।

(वा०) द्वन्द्व-तत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्।

तद्धितेष्विति— आदि अच् को वृद्धि हो ञित् और णित् तद्धित परे रहते।

'पूर्वशाला अ' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र के द्वारा आदिवृद्धि हो गई। पौर्वशाला अ। तब 'यस्येति च' के द्वारा अन्त्य आकार का लोप हो गया। पौर्वशाल् अ। सुप् उत्पत्ति होकर प्रथमा एकवचन में 'पौर्वशालः' रूप बना।

'पञ्च गावो धनं यस्य' — इस विग्रह के अनुसार बहुव्रीहि के अन्तर्वर्ती तत्पुरुष विकल्प से हुआ। जिसका वार्तिक के द्वारा निषेध हो गया।

(वा०) द्वन्द्व तथा तत्पुरुष समास को नित्य समास कहते हैं, उत्तरपद परे रहते।

पूर्वोक्त स्थिति में 'तद्धितार्थ......' सूत्र के द्वारा 'पञ्चन्' तथा 'गौ' का उत्तरपद धन परे रहते समास होगा। सुप् का लोप हो गया।

९३८. [५]**गोरतद्धित-लुकि**[७] **(५/४/९२)**

गोऽन्तात् तत्पुरुषात् टच् स्यात् समासाऽन्तो, न तु तद्धित-लुकि। पञ्च-गव-धनः।

गोरिति— 'गो' शब्द अन्त वाले तत्पुरुष से टच् हो, परन्तु तद्धित प्रत्यय का लोप होने की अवस्था में न हो।

'पञ्चन् गो' — इस तत्पुरुष से टच् हुआ (नलोपः प्राति०)। अवादेश होकर प्रथमा में 'पञ्चगवधनः' रूप बना।

९३९. [१]**तत्पुरुषः समानाऽधिकरणः**[१] **कर्मधारयः**[१] **(२/१/४२)**

तत्पु० इति— समानाधिकरण तत्पुरुष को कर्मधारय कहते हैं। समानाधिकरण का अर्थ है — समान विभक्ति वाला। कर्मधारय से अतिरिक्त तत्पुरुष व्यधिकरण तत्पुरुष कहलाता है।

९४०. [१]**संख्या-पूर्वो** [१]**द्विगुः (२/१/५२)**

'तद्धितार्थ' – इत्यत्रोक्तः त्रिविधः संख्यापूर्वो द्विगुसंज्ञः स्यात्।

संख्येति— 'तद्धितार्थ......' सूत्र में कथित तीन प्रकार का संख्या पूर्व समास 'द्विगु' संज्ञक हो। संख्या पूर्व समास का अर्थ है— संख्या है पूर्व में जिसके ऐसा समास।

९४१. [१]**द्विगुरेकवचनम्**[१] **(२/४/१)**

द्विग्वर्थः समाहार एकवत् स्यात्।

द्विगुरिति— द्विगु का अर्थ समाहार एकवचन हो।

९४२. [१]**स नपुंसकम्**[१] **(२/४/१७)**

समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात्। पञ्चानां गवां समाहारः-पञ्चगवम्।

सेति— समाहार में द्विगु और द्वन्द्व नपुँसकलिङ्ग हों।

पञ्चगवम्— पञ्चानां गवां समाहारः।

पञ्चन् आम् गो आम् — समाहार अर्थ में 'तद्धितार्थोत्तरपद—' से समास हुआ। 'संख्यापूर्वो द्विगुः' से द्विगुसंज्ञा। पञ्चन् आम् गो आम् — इस स्थिति में 'दिक्संख्ये' पद की अनुवृत्ति होने से तद्बोधक 'पञ्चन् आम्' की 'प्रथमा निर्दिष्टम्०' सूत्र से उपसर्जन संज्ञा तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' से पूर्वनिपात हुआ। सुप् लोप होकर। 'पञ्चन् गो' — की 'कृत्तद्धितसमासाश्च' से प्रातिपदिक संज्ञा, 'सुपो धातु.—' से सुब्लोप' प्रत्यय लक्षण के द्वारा पदत्व, 'न लोपः.......' से नकार लोप, 'गोरतद्धितलुकि' से समासान्त 'टच्'। पञ्च गो टच्। अनुबन्ध लोप पञ्च गव् अ — 'एचोयवायावः' से 'अव्', अब 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय से प्रातिपदिक संज्ञा के निर्बाध रहने से सुप् की उत्पत्ति हुई। 'द्विगुरेकवचनम्' से एकवचन, 'स नपुंसकम्' से नपुँसकलिङ्ग होकर रूप बना। पञ्चगवम्

९४३. [१]**विशेषणं विशेष्येण**[३] **बहुलम्**[१] **(२/१/५७)**

भेदकं भेद्येन समानाऽधिकरणेन बहुलं प्राग्वत्। नीलम् उत्पलम्-नीलोत्पलम्। बहुलग्रहणात् क्वचिद् नित्यम्-कृष्ण-सर्पः, क्वचिद् न-रामो जामदग्न्यः।

विशे० इति— विशेषण का विशेष्य के साथ बहुलता से समास हो। विशेषण को भेदक तथा विशेष्य को भेद्य कहते हैं।

नीलम् उत्पलम् — नीलोत्पलम्। बहुल ग्रहण के द्वारा यह समास—

(क) कहीं नित्य होता है — कृष्णः सर्पः — कृष्णसर्पः।

(ख) कहीं नहीं होता है — 'रामः जामदग्न्यः' — यहाँ नहीं हुआ।

९४४. [१]**उपमानानि सामान्य-वचनैः**[३] **(२/१/५५)**

घन इव श्यामः-घनश्यामः।

(वा०) शाक-पार्थिवाऽऽदीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्। शाक-प्रियः पार्थिवः-शाकपार्थिवः। देव-पूजको ब्राह्मणः-देवब्राह्मणः।

उप० इति— उपमान वाचक सुबन्त का समानधर्मवाचक सुबन्त के साथ समास होता है। — 'घन इव श्यामः' — यहाँ उपमान (घन) का साधारण धर्मवाचक (श्याम) के साथ समास हुआ। सुप् लोप होकर 'घनश्यामः' बना।

(वा०) 'शाकपार्थिव' आदि समस्त पदों की सिद्धि के लिए उत्तरपद का लोप हो।

'शाकप्रियः पार्थिवः' — यहाँ 'शाक' तथा 'पार्थिव' का समास हुआ तथा उत्तरपद 'प्रिय' का लोप हो गया। इसी प्रकार 'देवपूजकः ब्राह्मणः' — यहाँ उत्तरपद का लोप होकर 'देवब्राह्मणः' बन गया।

९४५. **नञ्**[१] **(२/२/६)**

नञ् सुपा सह समस्यते।

नञिति— नञ् का सुबन्त के साथ समास हो।

९४६. [१]**न-लोपो नञः**[६] **(६/३/७)**

नञो नस्य लोप उत्तरपदे। न ब्राह्मणः-अब्राह्मणः।

नेति— नञ् के नकार का लोप हो उत्तरपद परे रहते।

न ब्राह्मणः (लौकिक)। नञ् ब्राह्मण सु (अलौकिक)।

प्रकृत सूत्र के द्वारा नलोप हुआ। सुप् लोप हुआ। 'अब्राह्मण' शब्द बना। तब प्रथमा में 'अब्राह्मणः' बना।

९४७. [५]**तस्माद् नुड्**[१] **अचि**[७] **(६/३/७४)**

लुप्त-नकाराद् नञ उत्तरपदस्याजादेः 'नुट्' आगमः स्यात्। अनश्वः। 'नैकधा' इत्यादौ तु न-शब्देन सह '९०९ सुप् सुपा (२/१/४)' समासः।

तस्मादिति— जिस नञ् के नकार का लोप हो गया हो, उससे पर अजादि उत्तरपद को नुट् आगम हो।

'न अश्वः' — यहाँ नञ् का समास होकर नञ् के नकार का तथा सुप् का लोप हुआ। अ अश्व— इस स्थिति में प्रकृत सूत्र के द्वारा 'नुट्' आगम हुआ। अ नुट् अश्व।

प्रातिपदिक संज्ञा होकर प्रथमा एकवचन में अ न् अश्व सु — अनश्वः रूप बना।

'नैकधा' — यहाँ नञ् का समास नहीं हुआ है, अन्यथा 'अनेकधा' रूप होता। यहाँ 'सह सुपा' के द्वारा 'न' शब्द के साथ समास हुआ है।

९४८. कुगतिप्राऽऽदयः[१] (२/२/१८)

एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते। कुत्सितः पुरुषः-कुपुरुषः।

कुगति— कु, गति संज्ञक और प्र आदि का सुबन्त के साथ नित्य समास हो।

'कुत्सितः पुरुषः' — यहाँ 'कु' अव्यय का समास हुआ। कुपुरुषः।

९४९. [१]ऊर्यादि-च्विडाचश्च (१/४/६१)

ऊर्यादयः, च्व्यन्ता, डाजन्ताश्च क्रियायोगे गति-संज्ञाः स्युः। ऊरीकृत्य शुक्लीकृत्य। पटपटाकृत्य। सु-पुरुषः।

(वा०) प्राऽऽदयो गताद्यर्थे प्रथमया। प्रगत आचार्यः-प्राऽऽचार्यः।

(वा०) अत्यादयः क्रान्ताऽऽद्यर्थे द्वितीयया। अतिक्रान्तो मालामिति विग्रहे।

ऊर्यिति— ऊरी आदि, च्वि प्रत्ययान्त और डाच् प्रत्ययान्त शब्द क्रिया के योग में गतिसंज्ञक हों।

'ऊरी कृ क्त्वा' — यहाँ 'ऊरी' की गति संज्ञा। 'कुगतिप्रादयः' के द्वारा समास। क्त्वा को ल्यप् आदेश (समासेऽनञ्पूर्वे०) तथा तुक् आगम (ह्रस्वस्य पिति०) होकर 'ऊरीकृत्य' रूप बना।

'अशुक्लं शुक्लं कृत्वा'— यहाँ 'अभूततद्भावे इति वक्तव्यम्' तथा ' कृभ्वस्तियोगे—' के द्वारा 'च्वि' हुआ। चुटू से च् की, उपदेशेऽजनु०, से इ की इत्संज्ञा। 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' तथा 'वेरपृक्तस्य' से व् का लोप। 'शुक्ल' के अकार को ईकार हो गया (अस्य च्वौ)। तब 'शुक्ली' इस शब्द की 'ऊर्यादिच्विडाच०' से गति संज्ञा हुई। 'कुगतिप्रादयः' के द्वारा समास होकर 'शुक्लीकृत्य' रूप बना।

'पटत् पटत् इति कृत्वा' — यहाँ 'पटत्' से डाच् हुआ तब डाजन्त 'पटपटा' शब्द की गति संज्ञा होकर समास हुआ। क्त्वा को ल्यप् तथा तुक् होकर 'पटपटाकृत्य' रूप बना।

'शोभनः पुरुषः' — यहाँ 'सु' प्र-आदि है। क्रिया के योग में 'सु' की गति संज्ञा होती है (गतिश्च)। यहाँ पर क्रिया का योग न होने से मात्र प्र आदि कहा जायेगा। तब समास होकर 'सुपुरुषः' बना।

(वा०) गत इत्यादि अर्थ में 'प्र' आदि का प्रथमान्त के साथ समास हो।

प्रगतः आचार्यः — प्राचार्यः।

(वा०) अति आदि का द्वितीयान्त से समास हो, क्रान्त आदि अर्थ में।

'अतिक्रान्तो मालाम्' — यहाँ द्वितीयान्त 'मालाम्' शब्द से क्रान्त अर्थ में 'अति'

का समास हुआ। सुप् लोप इत्यादि होकर 'अतिमाला' बना।

९५०. **एक-विभक्ति चाऽपूर्व-निपाते** (१/२/४४)

विग्रहे यद् नियतविभक्तिकं तद् उपसर्जनसंज्ञं स्याद् न तु तस्य पूर्वनिपातः।

एकेति— विग्रह में जो नियतविभक्ति हो, वह उपसर्जन संज्ञक हो तथा उसका पूर्व निपात (प्रयोग) न हो।

९५१. **गो-स्त्रियोरुपसर्जनस्य** (१/२/४८)

उपसर्जनं यो गोशब्दः, स्त्रीप्रययान्तं च, तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः स्यात्। अतिमालः।

(वा०) अवाऽऽदयः क्रुष्टाऽऽद्यर्थे तृतीयया। अवक्रुष्टः कोकिलया–अवकोकिलः।

(वा०) पर्यादयो ग्लानाऽऽद्यर्थे चतुर्थ्या। परिग्लानोऽध्ययनाय–पर्यध्ययनः।

(वा०) निरादयः क्रान्ताऽऽद्यर्थे पञ्चम्या। निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः–निष्कौशाम्बिः।

गविति— उपसर्जन स्वरूप गो तथा स्त्रीप्रत्ययान्त को ह्रस्व हो।

'अतिमाला' इस स्थिति में पूर्वसूत्र के द्वारा माला शब्द की उपसर्जन संज्ञा हुई तथा प्रकृत सूत्र के द्वारा उसे ह्रस्व हुआ। तब 'अतिमालः' रूप बना।

(वा०) क्रुष्ट आदि अर्थ में अव आदि का तृतीयान्त से समास हो।

'अवक्रुष्टः कोकिलया' — यहाँ 'अव' का समास होकर 'अवकोकिला' रूप बना। तब उपसर्जन संज्ञक 'कोकिला' को ह्रस्व होकर 'अवकोकिलः' रूप बना।

(वा०) ग्लानि आदि अर्थ में परि का चतुर्थ्यन्त से समास हो। परिग्लानोऽध्ययनाय— पर्यध्ययनः।

(वा०) निष्क्रान्त आदि अर्थों में पञ्चम्यन्त से निर् आदि का समास हो।

'निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः' — यहाँ समास होकर 'निष्कौशाम्बी' शब्द बना। तब उपसर्जन संज्ञक 'कौशाम्बी' शब्द को ह्रस्व होकर 'निष्कौशाम्बिः' रूप बना।

इस प्रकरण में गति समास तथा प्रादि समास बताये गये हैं।

९५२. **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (३/१/९२)

सप्तम्यन्ते पदे 'कर्मणि' इत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं यत् कुम्भाऽऽदि, तद्-वाचकं पदम् उपपदसंज्ञं स्यात्।

तत्रेति— सप्तम्यन्त पद 'कर्मणि' इत्यादि में स्थित 'कुम्भ' आदि शब्द के वाचक की उपपद संज्ञा हो।

'कर्मण्यण्' में 'कर्मणि' सप्तम्यन्त पद है। इसमें 'कुम्भ' आदि शब्द वाच्यरूप में स्थित हैं। अतः इसकी उपपद संज्ञा हुई।

९५३. **उपपदम् अतिङ्** (२/२/१९)

उपपदं सुबन्तं समर्थेन नित्यं समस्यते, अतिङन्तश्चायं समासः। कुम्भं करोतीति-

कुम्भकारः। अतिङ् किम्-मा भवान् भूत्, 'माङि लुङ्' इति सप्तमीनिर्देशान् माङ् उपपदम्।

(वा०) गति-कारकोपपदानां कृद्भिः सह समास-वचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः। व्याघ्री, अश्व-क्रीती, कच्छ-पीइत्यादि।

उप० इति— उपपद का समर्थ से नित्य समास होता है। यह तिङन्त के साथ नहीं होता।

'कुम्भं करोति इति' — यहाँ 'कुम्भ' उपपद है। 'कृ' से 'कर्मण्यण्' के द्वारा 'अण्' हुआ। तब धातु को वृद्धि हो गई। कुम्भकार् अ। यहाँ समास हुआ। तब सुप् लोप होकर प्रथमा एकवचन में 'कुम्भकारः' रूप बना।

'मा भवान् भूत्' — यहाँ समास नहीं होगा। क्योंकि 'भूत्' तिङन्त है। अतः सूत्र में कहा गया है कि 'तिङन्त' से समास न हो।

(वा०) गति, कारक तथा उपपद का कृदन्त पदों से समास हो सुप् आने से पूर्व।

गति समास — 'वि आ घ्रा' से 'आतश्चोपसर्गे' के द्वारा 'क' प्रत्यय हुआ। 'व्याघ्र क' से सुप् आने से पूर्व समास हुआ। तब स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् होकर 'व्याघ्री' शब्द बना।

यदि सुबन्त के साथ समास किया जाये तो 'व्याघ्र' यहाँ पहले सुप् आयेगा। उससे पूर्व लिङ्ग बोधक प्रत्यय आयेगा क्योंकि सुप् की अपेक्षा लिङ्ग अन्तरङ्ग (बलवान्) है। (द्र० स्वार्थद्रव्यलिङ्गसंख्याकारकाणि पञ्चकं प्रातिपदिकार्थः)। इस अवस्था में 'घ्र' के जातिवाचक न होने से सामान्य 'टाप्' आयेगा। तब समास होकर 'व्याघ्रा' ऐसा अनिष्ट रूप बन जायेगा। अतः वार्तिक में कहा गया है कि सुप् से पूर्व समास हो। तब 'व्या' का 'घ्र' के साथ समास होकर 'व्याघ्र' जातिवाचक शब्द बना। 'ङीष्' तथा सुप् होकर 'व्याघ्री' रूप बना।

अश्वेन क्रीता— अश्वक्रीती — यह कारक का उदाहरण है।

कच्छेन पिबति कच्छपी — यह उपपद समास का उदाहरण है।

९५४. [६]तत्पुरुषस्याऽङ्गुलेः[६] संख्याऽव्ययाऽऽदेः[६] (५/४/८६)

संख्याऽव्ययाऽऽदेरङ्गुल्यन्तस्य समासान्तोऽच् स्यात्। द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य-द्व्यङ्गुलम्। निर्गतमङ्गुलिभ्यः-निरङ्गुलम्।

तत्पु० इति— संख्यावाचक तथा अव्यय जिसके आदि में है तथा अङ्गुलि शब्द अन्त में हो तो तत्पुरुष को (समासान्त) अच् हो।

'द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य' — यहाँ तद्धितार्थ प्रमाण में समास हुआ। 'मात्र च्' प्रत्यय हुआ। 'द्विगोर्लुम् अनपत्ये' के द्वारा प्रत्यय का लोप हो गया। द्वि औ अङ्गुलि औ। सुप् लोप हुआ। द्वि अङ्गुलि। तब 'अच्' हुआ। द्वि अङ्गुलि अच्। 'यस्येति च' के द्वारा अन्त्य

इकार लोप हुआ। यण् होकर 'द्व्यङ्गुल' शब्द बना। प्रथमा एकवचन में 'द्व्यङ्गुलम्' रूप बना।

'निर्गतम् अङ्गुलिभ्यः' — यहाँ 'निरादयः क्रान्ता' के द्वारा निर्गत अर्थ में निर् अव्यय का प्रादि समास हुआ। पूर्ववत् क्रिया होकर 'निरङ्गुलम्' रूप बना।

९५५. [५]**अहः-सर्वैकदेश-संख्यात-पुण्याच्च रात्रेः**[६] **(५/४/८७)**

एभ्यो रात्रेरच् स्यात्। चात् संख्याऽव्ययादेः। अहर्ग्रहणं द्वन्द्वाऽर्थम्।

अहरिति— अहः, सर्व, एकदेश, संख्यात और पुण्य शब्दों से संख्या और अव्यय से पर रात्रि शब्द से तत्पुरुष में 'अच्' हो।

'अहन्' का ग्रहण द्वन्द्व समास के लिए है।

९५६. [१]**रात्राऽह्नाऽहाः पुंसि**[७] **(२/४/२९)**

एतदन्तौ द्वन्द्व-तत्पुरुषौ पुंस्येव। अहश्च रात्रिश्च-अहोरात्रः। सर्व-रात्रः। संख्यात-रात्रः।

(वा०) संख्या-पूर्वं रात्रं क्लीबम्। द्विरात्रम्। त्रिरात्रम्।

रात्रेति— रात्र, अह्न तथा अह अन्त वाले शब्द पुँल्लिङ्ग होते हैं द्वन्द्व तथा तत्पुरुष में।

'अहश्च रात्रिश्च तयोः समाहारः' — यहाँ 'जातिप्राणिनाम्' के द्वारा एकवद्भाव हुआ। 'स नपुंसकम्' से नपुंसक प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा पुँल्लिङ्ग हुआ। समासान्त अच् हुआ। अहन् रात्रि अच्। 'यस्येति च' से इकार लोप हुआ तथा से 'अहन्' के नकार को उकार होकर गुण हो गया। अहो रात्र् अ। अहोरात्र। प्रथमा एकव० में रूप बना। अहोरात्रः।

'सर्वाः रात्र्यः' — यहाँ समास होकर 'पूर्व कालैक सर्व.....' से सर्वा पद को पुंवद्भाव हुआ। (पुंवद् कर्मधारय जातीय....)। 'अहस्सर्वैकदेश०' सूत्र से अच् हुआ। 'सर्व रात्रः' रूप बन गया।

इसी प्रकार— सख्याताः रात्रयः— संख्यातरात्रः। पूर्वः रात्रेः— पूर्वरात्रः।

(वा०) संख्या से पर रात्र शब्द नपुंसक होता है।

'द्वयोः रात्र्योः समाहारः' — यहाँ 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' के द्वारा समास हुआ। सुप् लोप, अच् प्रत्यय, अन्त्यलोप होकर 'द्विरात्र' शब्द बना। वार्तिक के द्वारा नपुंसक होकर 'द्विरात्रम्' शब्द बना।

इसी प्रकार — तिसृणां रात्रीणां समाहारः — त्रिरात्रम्।

९५७. [५]**राजाऽहः-सखिभ्य**[५]**ष्टच्**[१] **(५/४/९१)**

एतदन्तात् तत्पुरुषात् टच् स्यात्। परम-राजः।

राजेति— तत्पुरुष में समासान्त टच् हो यदि अन्त में राजन्, अहन् तथा सखि शब्द हो।

'परमश्चासौ राजा च' — यहाँ समास होकर 'टच्' प्रत्यय हुआ। 'नस्तद्धिते' से टि लोप हुआ। परम राजन् टच् — परमराज् अ — परमराजः।

९५८. आ[१]महतः[६] समानाऽधिकरण-जातीययोः[७] (६/३/४६)

महत आकारोऽन्तादेशः स्यात् समानाऽधिकरणे उत्तरपदेः, जातीये च परे। महाराजः। प्रकारवचने जातीयर्, महाप्रकारो-महाजातीयः।

एति— समानाधिकरण उत्तरपद तथा जातीय प्रत्यय परे रहते महत् शब्द को आकार आदेश हो।

'महांश्चासौ राजा च' — यहाँ दोनों का समानाधिकरण समास हुआ। प्रकृत सूत्र से आकार आदेश हुआ। महत् राजन्। मह आ राजन्। महाराजन्। टच् प्रत्यय, टि लोप होकर 'महाराजन् टच्- महाराज् अ' बना। तब सुप् की उत्पत्ति 'महाराजः' शब्द बना।

प्रकार अर्थ में 'जातीयर्' होता है।

'महाप्रकारः' — यहाँ 'प्रकारवचने जातीयर्' के द्वारा 'जातीयर्' हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा महत् शब्द को आकार अन्तादेश हुआ। महाजातीयः।

९५९. द्व्यष्टनः[६] संख्यायाम्[७] अबहुव्रीह्यशीत्योः[७] (६/३/४७)

आत् स्यात्। द्वौ च दश च द्वादश। अष्टा-विंशतिः।

द्वीति— संख्या अर्थ में द्वि तथा अष्टन् शब्द को आकार आदेश हो, परन्तु बहुव्रीहि समास में तथा 'अशीति' शब्द परे रहते नहीं होता।

'द्वौ च दश च' — यहाँ द्वन्द्व समास हुआ। 'सिद्धं तु अधिकान्ता....' वार्तिक के द्वारा अधिक शब्द का लोप हो गया। द्व्यधिका दश — द्वि दश। आकार अन्तादेश होकर 'द्वादश' रूप बना।

'अष्टौ च विंशतिश्च' अथवा 'अष्टाधिका विंशतिश्च' — के अनुसार समास हुआ। आकार आदेश होकर 'अष्टाविंशति' रूप बना।

९६०. परवल्[१] लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः[७] (२/४/२६)

एतयोः परपदस्येव लिङ्गं स्यात्। कुक्कुट-मयूर्याविमे। मयूरी-कुक्कुटाविमौ। अर्ध-पिप्पली।

(वा०) द्विगु-प्राप्ताऽपन्नाऽलंपूर्व-गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः-पञ्चकपालःपुरोडाशः।

परेति— द्वन्द्व और तत्पुरुष में पर शब्द के अनुसार लिङ्ग हो।

इस सूत्र के अनुसार उत्तरपद के लिङ्ग के समान समस्तपद में लिङ्ग होता है।

'कुक्कुटश्च मयूरी च' — यहाँ द्वन्द्व समास होकर 'कुक्कुट मयूरी' शब्द बना। चूँकि उत्तरपद स्त्रीलिंग है, अतः समस्तपद में स्त्रीलिङ्ग होकर 'कुक्कुटमयूर्यौ' रूप बनेगा। 'इमे' पद का प्रयोग लिङ्ग के स्पष्ट प्रतिपादन के लिए है। पुँल्लिङ्ग में भी इसी प्रकार का

रूप बनता। मयूरी च कुक्कुटश्च — मयूरीकुक्कुटौ।

'अर्धं पिप्पल्याः' — यहाँ 'अर्धं नपुंसकम्' से समास होकर प्रकृत सूत्र के द्वारा स्त्रीलिङ्ग हो गया। अर्धपिप्पली।

(वा०) द्विगु, प्राप्त, आपन्न तथा अलं पूर्वक समास, गति समास में पर के समान लिङ्ग न हो।

'पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः' — यहाँ तद्धितार्थ में द्विगु हुआ। तब सुप् लोप होकर 'पञ्च कपाल' शब्द बना। प्रकृत सूत्र के द्वारा परवत् लिङ्ग (नपुंसक) की प्राप्ति हुई। प्रकृत वार्तिक के द्वारा निषेध होकर 'पञ्चकपालः' बन गया।

९६१. [1]**प्राप्ताऽऽपन्ने चँ द्वितीयया**[3] (२/२/४)

समस्येते, अकारश्चानयोरन्तादेशः। प्राप्तो जीविकां प्राप्तजीविकः। आपन्नजीविकः। अलं कुमार्यै-अलंकुमारिः, अत एव ज्ञापकात् समासः। निष्कौशाम्बिः।

प्राप्तेति— प्राप्त तथा आपन्न सुबन्तों का द्वितीयान्त से समास हो।

प्राप्तः जीविकाम् प्राप्तजीविकः। यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा समास हुआ। तब 'प्राप्त' शब्द की उपसर्जन संज्ञा होकर पूर्व निपात हो गया। 'गोस्त्रियो०' के द्वारा 'जीविका' शब्द को ह्रस्व हुआ। परवल्लिङ्ग की प्राप्ति हुई जिसका वार्तिक के द्वारा निषेध हो गया।

पक्ष में 'द्वितीया श्रितातीतपतित.....' के अनुसार समास होकर द्वितीयान्त 'जीविकाम्' पद की उपसर्जन हुई। तब इसका पूर्व निपात होकर 'जीविकाप्राप्तः' रूप बनेगा। इसी प्रकार — आपन्नजीविकः।

'अलं कुमार्यै' — यहाँ समास होकर 'अलं कुमारी' शब्द बना। 'गोस्त्रियोरुपसर्ज०' से ह्रस्व हुआ। परवल्लिङ्ग का 'द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्व०' वार्तिक के द्वारा निषेध हो गया। विशेष्य के अनुसार लिङ्ग हुआ। अलंकुमारिः।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि 'अलं कुमार्यै' इस स्थिति में समास कैसे होगा? समाधान यह है कि 'द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्व०' वार्तिक के द्वारा 'अलम्' का निषेध किया गया है। यह निषेध तभी सम्भव है जब कि 'अलम्' के साथ समास होता हो। अतः अलं पूर्वक समास में परवल्लिङ्ग का निषेध करने से ज्ञापित होता है कि अलं का समास होता है।

'निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः' — यहाँ प्रादि समास हुआ है। परवल्लिङ्ग का निषेध हो गया। निष्कौशाम्बिः।

९६२. [1]**अर्धर्चाः पुंसि**[7] **चँ** (२/४/३१)

अर्धर्चाऽऽदयः शब्दाः पुंसि क्लीबे च स्युः। अर्धर्चः, अर्धर्चम्। एवं ध्वज-तीर्थ-शरीर-मण्डप-यूप देहाऽङ्कुश-पात्र-सूत्रादयः। सामान्ये नपुंसकम्-मृदु पचति, प्रातः कमनीयम्।

इति तत्पुरुषः।

अर्धेति— 'अर्धर्च' आदि शब्द पुँल्लिङ्ग और नपुँसकलिङ्ग दोनों में हो। सूत्र में बहुवचन का ग्रहण गण को प्रकट करता है।

अर्धम् ऋचः अर्धर्चः/अर्धर्चम्।

इसी प्रकार ध्वज, तीर्थ, शरीर, मण्डप, यूप, देह, अङ्कुश, पात्र तथा सूत्र इत्यादि शब्द दोनों लिङ्गों में होते हैं।

॥ तत्पुरुष समास समाप्त ॥

अथ बहुव्रीहिः

९६३. [१]**शेषो बहुव्रीहिः**[१] **(२/२/२३)**

अधिकारोऽयं प्राग् द्वन्द्वात्।

शेष इति— शेष को बहुव्रीहि कहते है। '**चार्थे द्वन्द्वः**' (पा. २.२.२९.) तक इसका अधिकार है।

९६४. [१]**अनेकम् अन्यपदाऽर्थे**[७] **(२/२/२४)**

अनेकं प्रथमान्तम् अन्यस्य पदस्याऽर्थे वर्तमानं वा समस्यते, स बहुव्रीहिः।

अनेकमिति— अनेक प्रथमान्त का अन्य पद के अर्थ में विकल्प से समास होता है और वह बहुव्रीहि होता है।

९६५. [१]**सप्तमी-विशेषणे बहुव्रीहौ**[७] **(२/२/३५)**

सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात्। अत एव ज्ञापकाद् व्यधिकरण-पदो बहुव्रीहिः।

सप्तमीति— सप्तम्यन्त और विशेषण शब्दों का बहुव्रीहि में पहले प्रयोग हो।

'अनेकमन्यपदार्थे' सूत्र के द्वारा कहा गया है कि समस्यमान पद प्रथमान्त होते हैं। तब सभी की उपसर्जन संज्ञा होकर उनका पूर्व निपात प्राप्त होता है। अतः नियमार्थ कहा गया है कि सप्तम्यन्त का पूर्व निपात हो। यहाँ ज्ञापित होता है कि व्यधिकरण पदों का भी बहुव्रीहि समास होता है।

९६६. [५]**हलदन्तात्सप्तम्याः**[५] **संज्ञायाम्**[७] (६/३/९)

हलन्ताद् अदन्तात् सप्तम्या अलुक्। कण्ठे-कालः। प्राप्तमुदकं यं प्राप्तोदको ग्रामः। ऊढ-रथोऽनड्वान्। उपहृत-पशू रुद्रः। उद्धृतौदना स्थाली। पीताऽम्बरो हरिः। वीरपुरुषको ग्रामः।

(वा०) प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपद-लोपः। प्रपतितपर्णः - प्रपर्णः।

(वा०) नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो, वा चोत्तरपद-लोपः। अविद्यमानपुत्रः-अ-पुत्रः।

हलिति— संज्ञा में हलन्त तथा अदन्त शब्द से पर सप्तमी का अलुक् हो।

'कण्ठे कालो यस्य सः' — इस विग्रह में 'सप्तमी विशेषणे बहुव्रीहौ' के अनुसार व्यधिकरण पदों का समास हुआ। इसी सूत्र के द्वारा सप्तम्यन्त पद का पूर्व निपात हुआ। कण्ठ ङि काल सु। सुप् लोप की प्राप्ति होने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा अदन्त से पर सप्तमी का लुक् नहीं हुआ। तब 'कण्ठेकालः' रूप बना।

द्वितीयार्थ में — प्राप्तम् उदकं यम्। यहाँ 'अनेकमन्यपदार्थे' के द्वारा समास हुआ। प्राप्तोदकः ग्रामः।

तृतीयार्थ में — ऊढो रथो येन। ऊढरथः अनड्वान्।

चतुर्थ्यर्थ में — उपहृतः पशुः यस्मै— उपहृतपशुः।

पञ्चम्यर्थ में — उद्धृतः ओदनो यस्याः— उद्धृतौदना स्थाली।

षष्ठ्यर्थ में — पीतानि अम्बराणि यस्य— पीताम्बरः।

सप्तम्यर्थ में — वीराः पुरुषाः यस्मिन्— वीरपुरुषकः ग्रामः।

यहाँ 'शेषद् विभाषा' के द्वारा 'कप्' होता है।

(वा०) प्र आदि से पर धातुज पद का अन्यपद के साथ समास होता है तथा उत्तर पद का लोप होता है विकल्प से।

'प्रपतितानि पर्णानि यस्मात्' — यहाँ समास होकर उत्तरपद 'पतित' का लोप हो गया। प्रपर्णः।

(वा०) नञ् से पर विद्यमानता अर्थ के वाचक जो पद हों, तदन्त का अन्य पद के साथ समास होता है तथा उत्तरपद का लोप होता है।

'अविद्यमानः पुत्रो यस्य' — यहाँ समास होकर उत्तरपद का लोप हो गया। अपुत्रः।

९६७. [६]**स्त्रियाः पुंवद्**[१] **भाषितपुंस्काद्-अनूङ्**[१] **समानाऽधिकरणे**[७] **स्त्रियाम्**[७] **अ-पूरणी-प्रियाऽऽदिषु**[७] **(६/३/३४)**

उक्तपुंस्काद् अनूङ्-ऊङोऽभावोऽस्याम् इति बहुव्रीहिः, निपातनात् पञ्चम्या अलुक्, षष्ठ्याश्च लुक्। तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यदुक्तपुंस्कं तस्मात् पर ऊङोऽभावो यत्र तथाभूतस्य स्त्रीवाचकशब्दस्य पुंवाचकस्येव रूपं स्यात्, समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्ग उत्तरपदे न तु पूरण्यां प्रियाऽऽदौ च परतः। गोस्त्रियो.- इति ह्रस्वः। चित्रगुः। रूपवद्-भार्यः। अनूङ् किम्-वामोरूभार्याः।

स्त्रिया इति— प्रवृत्तिनिमित्त समान होते हुए उक्त पुंस्क शब्द, ऐसे स्त्रीवाचक शब्द का पुंवाचक के समान रूप होता है, समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद परे रहते यदि पूरणी संख्या व प्रिया आदि शब्द परे न हो। उक्तपुंस्क से पर ऊङ् प्रत्यय न हो। प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय आदि क्रमवाचक विशेषणों को 'पूरणी' कहा जाता है। 'प्रियादि' एक गण है। सूत्र का भावार्थ है कि पूरणी और प्रियादि शब्दों को छोड़कर अन्य समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद परे होने पर 'ऊङ्' प्रत्ययान्तभिन्न स्त्रीवाचक

भाषितपुंस्क पद के रूप पुँल्लिङ्ग के समान बनते हैं।

'चित्रा गावो यस्य' — यहाँ 'चित्रा' तथा 'गो' शब्दों का समास हुआ (अनेकमन्यपदार्थे)। यहाँ 'चित्रा' पद स्त्रीवाचक भाषितपुँस्क है और उसके अन्त में 'ऊङ्' प्रत्यय भी नहीं है। तब सुप् लोप हुआ। समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद 'गो' परे होने के कारण प्रकृत सूत्र से स्त्रीवाचक 'चित्रा' को पुंवद्भाव हो गया। चित्रगो। 'गो' शब्द की उपसर्जन संज्ञा होकर ह्रस्व आदेश हुआ चित्रगु। चित्रगुः।

इसी प्रकार 'रूपवती भार्या यस्य' — यहाँ समास होकर पुंवद्भाव तथा उत्तरपद को ह्रस्व होकर 'रूपवद्भार्यः' रूप बना।

'भाषितपुंस्क से पर ऊङ् न हो'— ऐसा क्यों कहा गया? इसलिए कि 'वामोरूभार्यः' यहाँ पुंवद्भाव न हो। 'वामोरूः भार्या यस्य' यहाँ समास होकर केवल उपसर्जन संज्ञक 'भार्या' शब्द को ह्रस्व हो गया।

९६८. अप् [१]पूरणी-प्रमाण्योः[७] (५/४/११६)

पूरणार्थप्रत्ययान्तं यत् स्त्रीलिङ्गम्, तदन्तात् प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेः अप्स्यात्।

कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणाम्, ताः-कल्याणी-पञ्चमा रात्रयः। स्त्री प्रमाणी यस्य स स्त्री-प्रमाणः। अ-प्रियाऽऽदिषु किम्-कल्याणीप्रियः, इत्यादि।

अबिति— पूरणार्थ प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द तथा प्रमाणी शब्द अन्त वाले बहुव्रीहि से अप् समासान्त प्रत्यय होता है।

'कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणाम्' — यहाँ उत्तरपद पूरणीप्रत्ययान्त है। अतः पुंवद्भाव नहीं हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'अप्' हुआ। अन्त्य लोप होकर 'कल्याणी पञ्चम' शब्द बना। स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् होकर 'कल्याणी पञ्चमा' रूप बना। कल्याणीपञ्चमा रात्रयः। इसी प्रकार 'स्त्री प्रमाणी यस्य सः' यहाँ पूर्ववत् कार्य होकर 'स्त्रीप्रमाणः' बन गया।

'प्रिया आदि परे रहते पुंवद्भाव न हो' — ऐसा इसलिए कहा है कि 'कल्याणीप्रियः' — यहाँ पुंवद्भाव न हो। केवल उत्तरपद को ह्रस्व हुआ है।

९६९. [७]बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः[७] स्वाङ्गात्[५] षच्[१] (५/४/११३)

स्वाङ्गवाचि-सक्थ्यक्ष्यन्ताद् बहुव्रीहेः षच् स्यात्। दीर्घसक्थः। जलजाऽक्षी। स्वाङ्गात् किम्-दीर्घसक्थिशकटम्, स्थूलाऽक्षा-वेणुयष्टिः 'अक्ष्णोऽदर्शनाद्' इति वक्ष्यमाणोऽच्।

बहु० इति— स्वाङ्गवाची सक्थि तथा अक्षि शब्द है अन्त में जिसके ऐसे बहुव्रीहि से षच् समासान्त प्रत्यय हो। इसके षकार तथा चकार इत्संज्ञक हैं।

'दीर्घे सक्थिनी यस्य' — यहाँ समास हुआ तथा षच् हुआ। अन्त्य लोप होकर 'दीर्घसक्थः' रूप बना। 'जलजे इव अक्षिणी यस्याः' — यहाँ षच् होकर 'जलजाक्ष'

शब्द बना। इससे स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् हो गया। जलजाक्षी।

९७०. [५]द्वि-त्रिभ्यां ष[१] मूर्ध्नः[५] (५/४/११५)

आभ्यां मूर्ध्नः षः स्याद् बहुव्रीहौ। द्वि-मूर्धः। त्रि-मूर्धः।

द्वीति— द्वि तथा त्रि शब्द से पर मूर्धन् शब्द को बहुव्रीहि समास में 'ष' प्रत्यय हो।

'द्वौ मूर्धानौ यस्य' — यहाँ 'नस्तद्धिते' के द्वारा टि लोप हो गया। सुप् लोप तथा 'ष' होकर 'द्विमूर्धः' शब्द बना। इसी प्रकार 'त्रिमूर्धः' बनेगा।

९७१. [५]अन्तर्-बहिर्भ्यां चॅ लोम्नः[५] (५/४/११७)

आभ्यां लोम्नोऽप् स्याद् बहुव्रीहौ। अन्तर्लोमः। बहिर्लोमः।

अन्तरिति— बहुव्रीहि समास में अन्तर् तथा बहिस् शब्दों से पर लोमन् शब्द को 'अप्' हो।

अन्तर् लोमानि यस्य — अन्तर्लोमः। यहाँ 'अप्' हुआ है। इसी प्रकार 'बहिर्लोमः'।

९७२. [६]पादस्य [१]लोपो-ऽहस्त्याऽऽदिभ्यः[५] (५/४/१३८)

हस्त्याऽऽदिवर्जिताद् उपमानात् परस्य पादशब्दस्य लोपः स्याद् बहुव्रीहौ। व्याघ्रस्येव पादावस्य-व्याघ्रपात्। अहस्त्याऽऽदिभ्यः किम्-हस्ति-पादः, कुसूल-पादः।

पादस्येति— हस्तिन् आदि से अतिरिक्त उपमान से पर पाद शब्द का लोप हो, बहुव्रीहि में।

यह लोप समासान्त है। अतः कप् नहीं होगा। 'व्याघ्रपादौ इव पादौ यस्य' — यहाँ समास होकर प्रकृत सूत्र के द्वारा अन्त्य अकार का लोप हो गया। व्याघ्रपाद्।

'हस्तिन् आदि से अतिरिक्त उपमान से हो' — ऐसा इसलिए कहा गया कि 'हस्तिपाद' तथा 'कुसूलपाद' में लोप न हो।

९७३. [६]संख्या-सु-पूर्वस्य (५/४/१४०)

(संख्यासुपूर्वस्य) पादस्य लोपः स्यात् समासान्तो बहुव्रीहौ। द्वि-पात्। सु-पात्।

संख्येति— संख्या और सु पूर्वक पाद शब्द का समासान्त लोप हो बहुव्रीहि में।

'द्वौ पादौ यस्य' — यहाँ उक्त समासान्त लोप होकर 'द्विपाद्' शब्द बना।

शोभनौ पादौ यस्य सः सुपात्।

९७४. [५]उद्-विभ्यां काकुदस्य[६] (५/४/१४८)

लोपः स्यात्। उत्-काकुत्। वि-काकुत्।

उदिति— उद् तथा वि से पर 'काकुद' शब्द का बहुव्रीहि में समासान्त लोप हो।

विगतं काकुदं यस्य — विकाकुद्। उन्नतं काकुदं यस्य — उत्काकुद्। दोनों की रूप सिद्धि सरल है।

९७५. [५]पूर्णाद् विभाषाँ (५/४/१४९)

पूर्ण-काकुत्, पूर्ण-काकुदः।

पूर्णादिति— बहुव्रीहि में पूर्ण शब्द से पर काकुद का समासान्त लोप विकल्प से हो।

'पूर्णं काकुदं यस्य' इस स्थिति में सुप् लोप हुआ। समासान्त लोप पाक्षिक हुआ। लोप पक्ष में रूप बनता है— 'पूर्णकाकुत्'। पक्ष में 'पूर्णकाकुदम्' रूप बनेगा।

९७६. [१]**सुहृद्-दुर्हृदौ मित्राऽमित्रयोः**[७] **(५/४/१५०)**

सु-दुर्भ्यां हृदयस्य 'हृद्'-भावो निपात्यते। सुहृद्-मित्रम्। दुर्हृद्-अमित्रः।

सुहृदिति— बहुव्रीहि समास में क्रमशः मित्र तथा अमित्र अर्थ में सु तथा दुर् से पर हृदय शब्द को 'हृद्' हो निपातन से।

शोभनं हृदयं यस्य सुहृद् — अर्थात् मित्र। इसी प्रकार — दुर्हृद् (शत्रु)।

९७७. [५]**उरः-प्रभृतिभ्यः** [१]**कप् (५/४/१५१)**

उरसिति— बहुव्रीहि में उरस् प्रभृति से समासान्त कप् हो।

९७८. [१]**सोऽपदादौ**[७] **(८/३/३८)**

पाशकल्पककाम्येषु विसर्गस्य सः।

स इति— पाश, कल्पक तथा काम्य शब्द परे रहते विसर्ग के स्थान पर सकार हो।

९७९. [७]**कस्कादिषु चॅ (८/३/४८)**

एषु इण उत्तरस्य विसर्गस्य षः, अन्यत्र तु सः। इति सः। व्यूढोरस्कः।

कस्० इति— कस्कादि गण में पठित शब्दों में इण् से उत्तरवर्ती विसर्ग को षकार हो, अन्य को सकार हो।

'व्यूढम् उरो यस्य' — यहाँ समासान्त कप् हुआ। सकार को विसर्ग खरवसानयोः से हो गया। व्यूढ उरः क। तब सकार होकर 'व्यूढोरस्कः' रूप बना।

प्रियं सर्पिः यस्य — प्रिय सर्पिष्कः। इण् से उत्तर होने के कारण षकार हो गया।

९८०. [१]**इणः षः (८/३/३९)**

इण उत्तरस्य विसर्गस्य पाशकल्पककाम्येषु परेषु। प्रियसर्पिष्कः।

इण इति— इण् से पर विसर्ग के स्थान पर षकार हो पाश, कल्पक तथा काम्य परे रहते।

९८१. [१]**निष्ठा (२/२/३६)**

अनुक्तसमासान्ताद् बहुव्रीहेः कप् वा। महायशस्कः, महायशाः। इति बहुव्रीहिः।

निष्ठेति— बहुव्रीहि में निष्ठान्त पद का पूर्व निपात हो।

युक्तो योगो यस्य — युक्तयोगः।

९८२. [५]**शेषाद् विभाषाँ (५/४/१५४)**

अनुक्त-समासान्ऽताद् बहुव्रीहेः कप् वा। महा-यशस्कः, महा-यशाः।

॥ इति बहुव्रीहिः ॥

शेषादिति— जिसे समासान्त नहीं कहा गया ऐसे बहुव्रीहि से समासान्त कप् विकल्प से हो।

महद् यशो यस्य सः— महायशस्कः। 'महद्' को आकार अन्तादेश 'आन्महतः'....से हो गया। 'कस्कादिषु च' सूत्र के द्वारा सकार आदेश हो गया। कप् पक्ष में 'महायशस्कः' तथा अभाव पक्ष में 'महायशाः' रूप बनेगा।

॥ बहुव्रीहि समास समाप्त ॥

अथ द्वन्द्वः

९८३. [७]**चाऽर्थे द्वन्द्वः**[१] (२/२/२९)

अनेकं सुबन्तं चाऽर्थे वर्तमानं वा समस्यते; स द्वन्द्वः। समुच्चयाऽन्वाचयेतरेतरयोग-समाहाराः चाऽर्थाः। तत्र 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व' इति परस्पर-निरपेक्षस्याऽनेकस्यैकस्मिन् अन्वयः-समुचयः। 'भिक्षाम् अट गां चाऽऽनय' इति अन्यतरस्याऽऽनुषङ्गिकत्वेनाऽन्वयः-अन्वाचयः। अनयोरसामर्थ्यात् समासो न। 'धव-खदिरौ छिन्धि' इति मिलितानाम् अन्वयः-इतरेतरयोगः। संज्ञा-परिभाषम् (इति) समूहः-समाहारः।

चेति— 'च' के अर्थ में अनेक सुबन्तों का समास होता है और वह द्वन्द्व होता है।

'च' निपात के चार अर्थ हैं —

१. समुच्चय — परस्पर निरपेक्ष अनेक पदार्थों का एक पदार्थ में अन्वय को समुच्चय कहते हैं। यथा - 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व' — यहाँ ईश्वर और गुरु पदार्थ निरपेक्ष हैं। दोनों का स्वतन्त्र रूप से भजन क्रिया में अन्वय होता है।

२. अन्वाचय — जिनका समुच्चय हो रहा हो, ऐसे पदार्थों में एक का गौण रूप से अन्वय हो, तब उसे अन्वाचय कहते हैं। यथा — 'भिक्षाम् अट गां चानय' — यहाँ प्रधान कार्य भिक्षा लाना है। गाय को लाना गौण है।

समुच्चय और अन्वाचय में सामर्थ्य न होने से समास नहीं होता। कारण कि समुच्चय में दोनों पदार्थ निरपेक्ष हैं तथा अन्वाचय में एक प्रधान तथा दूसरा गौण हैं। अतः यहाँ समर्थता नहीं हो पाती।

३. इतरेतर योग — जब दो या अधिक पदार्थ मिल कर आगे अन्वित होते हैं, तब इतरेतर योग कहलाता है। यथा — 'धवखदिरौ छिन्धि' -- यहाँ धव तथा खदिर मिलकर छेदन क्रिया में अन्वित हैं।

४. समाहार — समूह का नाम समाहार है। इतरेतरयोग की तरह इसमें पदार्थों का अन्य पदार्थ के साथ पृथक्-पृथक् अन्वय नहीं होता अपितु पदार्थों के समूह का अन्वय होता है। यथा - 'संज्ञापरिभाषम्'।

९८४. [७]**राजदन्ताऽऽदिषु परम्**[१] (२/२/३१)

एषु पूर्व-प्रयोगऽर्हं परं स्यात्। दन्तानां राजा-राजदन्तः।

(वा०) धर्माऽऽदिष्वनियमः। अर्थ-धर्मौ, धर्माऽर्थौ इत्यादि।

राजेति— 'राजदन्त' आदि शब्दों में जिस पद का पूर्व प्रयोग प्राप्त हो, उसे आगे रखा जाए।

'दन्तानां राजा' — यहाँ समास हुआ। तब 'दन्त' शब्द को पूर्व निपात प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा उसे आगे रखा गया। राजदन्तः।

(वा०) धर्म आदि के सम्बन्ध में इच्छानुसार पहले या पश्चात् रखा जा सकता है।

अर्थश्च धर्मश्च धर्मार्थौ/ अर्थधर्मौ।

९८५. [७]**द्वन्द्वे घि**[१] (२/२/३२)

द्वन्द्वे घि-संज्ञं पूर्वं स्यात्। हरिश्च हरश्च-हरिहरौ।

द्वन्द्व इति— द्वन्द्व में 'घि' संज्ञक का पहले प्रयोग हो।

हरिश्च हरश्च— हरिहरौ।

९८६. **अजाऽऽद्यदन्तम्**[१] (२/२/३३)

इदं द्वन्द्वे पूर्वं स्यात्। ईशकृष्णौ।

अजिति— अजादि तथा अदन्त पद का पहले प्रयोग हो द्वन्द्व में।

ईशश्च कृष्णश्च ईशकृष्णौ।

९८७. **अल्पाऽच्-तरम्**[१] (२/२/३४)

शिव-केशवौ।

अल्पेति— अपेक्षाकृत अल्प अच् वाले पद का पूर्व प्रयोग हो द्वन्द्व में।

शिवश्च केशवश्च शिवकेशवौ। 'शिव' पद में दो अच् हैं तथा 'केशव' में तीन हैं। अतः 'शिव' पद का पूर्वनिपात हुआ।

९८८. [१]**पिता मात्रा**[३] (१/२/७०)

मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते। माता च पिता च-पितरौ; मातापितरौ वा।

पितेति— माता के साथ उक्त पिता शब्द विकल्प से शेष रहता है।

माता च— पिता च पितरौ। पक्ष में 'मातापितरौ' भी होगा।

'पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते' इस वचन के अनुसार तथा 'अभ्यर्हितं च' इस वार्तिक के द्वारा 'मातृ' शब्द का पूर्वनिपात होकर। 'आनङ् ऋतो' — के द्वारा 'आनङ्' आदेश हो गया।

९८९. [१]**द्वन्द्वश्च प्राणि-तूर्य-सेनाऽङ्गानाम्**[६] (२/४/२)

एषां द्वन्द्व एक-वत्। पाणि-पादम्। मार्दङ्गिक-वैणविकम्। रथिकाऽश्वारोहम्।

द्वन्द्व इति— प्राणी, तूर्य और सेना शब्दों के अङ्गवाचक शब्दों का द्वन्द्व समास एकवचनान्त हो।

'स नपुंसकम्' के द्वारा वह नपुंसक होगा।

पाणी च पादौ च (एषां समाहारः) — पाणिपादम्।

मार्दङ्गिकश्च वैणविकश्च (अनयोः समाहारः) मार्दङ्गिकवैणविकम्

रथिकाश्च अश्वारोहाश्च (एषां समाहारः) — रथिकाऽश्वारोहम्।

९९०. [5]द्वन्द्वात् चु-द-ष-हाऽन्तात्[5] समाहारे[7] (५/४/१०६)

चवर्गान्ताद् द-ष-हाऽन्ताच्च द्वन्द्वात् टच् स्यात् समाहारे वाक् च् त्वक् च- वाक्त्वचम्। त्वक्-स्रजम्। शमी-दृषदम्। वाक्-त्विषम्। छत्रोपानहम्। समाहारे किम्- प्रावृट् शरदौ। इति द्वन्द्वः।

द्वन्द्वदिति— चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त तथा हकारान्त से समाहार द्वन्द्व में 'टच्' प्रत्यय हो।

वाक् च त्वक् च — वाच् त्वच् टच् (चोः कुः)— वाक्त्वचम्।

त्वक् च स्रक् च — त्वच् स्रज् टच् — (चोः कुः) त्वक्स्रजम्।

शमी च दृषद् च — शमी दृषद् टच्-शमीदृषदम्।

वाक् च त्विट् च — वाच् त्विष् टच्- वाक्त्विष-वाक्त्विषम्।

छत्रं च उपानत् च — छत्र उपानह् टच्-छत्रोपानह-छत्रोपानहम्।

'समाहार में हो' — ऐसा इसलिए कहा है कि 'प्रावृट्शरदौ' (प्रावृट् च शरत् च) यहाँ इतरेतरयोग में न हो।

॥ द्वन्द्व समास समाप्त ॥

अथ समासान्ताः।

९९१. [6]ऋक्-पूरब् धूः-पथाऽम् आऽनक्षे[7] (५/४/७४)

अ अनक्षे इति च्छेदः। ऋगाऽऽद्यन्तस्य समासस्य 'अ' प्रत्ययोऽन्तावयवः स्यात्। अक्षे या धूः, तदन्तस्य तु न। अर्धर्चः। विष्णुपुरम्। विमलाऽऽपं सरः। राजधुरा। अक्षे तु-अक्षधूः, दृढधूः अक्षः। सखिपथः। रम्यपथो देशः।

ऋजिति— ऋच्, पुर्, अप्, धुर् तथा पथिन् शब्द जिसके अन्त में हैं, ऐसे समास से 'अ' प्रत्यय हो, परन्तु 'अक्ष' अन्त वाले को न हो। सूत्र में 'अ अनक्षे' — ऐसा विच्छेद होगा।

अर्धम् ऋचः — अर्धर्च् अ — अर्धर्चः।

विष्णोः पूः — विष्णु पुर् — विष्णुपुर् अ — विष्णुपुरम्। नगर का वाचक होने से नपुंसक हुआ।

'विमला आपो यत्र' — यहाँ बहुव्रीहि होकर 'अ' प्रत्यय हुआ। विमलाप् अ — विमलाप। तब विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होकर 'विमलापं सरः' बना।

राज्ञो धूः (धुर् = भार) अ — राजधुर। स्त्रीत्व में टाप् होकर 'राजधुरा' बन गया।

'अक्षधूः' यहाँ 'अ' नहीं होगा।

सख्युः पन्थाः — सखिन् पथिन् अ। 'भस्य टेर्लोपः' के द्वारा टिलोप तथा 'अ' प्रत्यय होकर 'सखिपथः' बन गया।

९९२. [५]अक्ष्णोऽदर्शनात्[५] (५/४/७६)

अ-चक्षुःपर्यायाद् अक्ष्णोऽच् स्यात् समासान्तः। गवाम् अक्षीव गवाऽक्षः।

अक्ष्ण इति— नेत्र वाचक से अतिरिक्त 'अक्षि' शब्द को समासान्त अच् हो। यथा— गवाम् अक्षि इव — गो अक्षि अच् — गो अक्ष् अ (यस्येति च) — गवाक्षः।

९९३. [५]उपसर्गाद् अध्वनः[५] (५/४/८५)

प्रगतोऽध्वानं प्राऽध्वः रथः।

उप० इति— उपसर्ग से पर 'अध्वन्' शब्द को समासान्त 'अच्' हो।

प्रगतः अध्वानम् — प्र अध्वन् अच् — प्र अध्व् अ (नस्तद्धिते)— प्राध्व — प्राध्वः।

९९४. नँ पूजनात्[५] (५/४/६९)

पूजनाऽर्थात् परेभ्यः समासान्ता न स्युः।

(वा०) स्वतिभ्यामेव। सुराजा। अतिराजा। इति समासान्ताः।

इति समासप्रकरणम्।

नेति— प्रशंसार्थक शब्दों से पर को समासान्त न हो।

(वा०) सु तथा अति — इन प्रशंसार्थक शब्दों से पर शब्द को ही पूर्वोक्त (अर्थात् समासान्त) का निषेध हो।

शोभनो राजा — सु राजन् — सुराजा। अतिक्रान्तो राजानम्— अतिराजा।

यहाँ प्राप्त 'टच्' का निषेध हो गया।

॥ समासान्त प्रकरण समाप्त ॥

॥ समास प्रकरण समाप्त ॥

अथ तद्धितप्रकरणम्

साधारणप्रत्ययाः

'तेभ्यः प्रयोगेभ्यो हिताः इति तद्धिताः' — इस परिभाषा के अनुसार तद्धित-संज्ञा अन्वर्थक है। इस का अर्थ है — 'उन-उन प्रयोगों के लिए हितकर।'

९९५. **समर्थानां[६] प्रथमाद्[५] वा॑ (४/१/८२)**

इदं पद-त्रयम् अधिक्रियते। 'प्राग्दिशः-' इति यावत्।

सम० इति— 'समार्थानाम्', 'प्रथमात्' तथा 'वा' — ये तीनों पद अधिकार के लिए हैं। अगले सूत्रों में इनका अधिकार चलेगा। इनका अधिकार 'प्राग्दिशो विभक्तेः' (पा. ५.३.१.) तक चलेगा।

उपर्युक्त सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा — समर्थ प्रयोग के योग्य पदों में प्रथम उच्चरित पद से बोध्य शब्द से विकल्प से प्रत्यय हो। यथा — 'तस्यापत्यम्' (पा. ४.१.९२) यह तद्धित प्रत्यय विधायक सूत्र है। इसमें 'तस्य' पद प्रथम उच्चरित है। 'उपगोः अपत्यम्' में 'उपगु' शब्द का इसके द्वारा बोध होता है। अतः 'उपगु' से विहित प्रत्यय (अण्) होगा, अन्य से नहीं।

चूँकि तद्धित प्रत्यय विकल्प से होता है। अतः पक्ष में वाक्य का प्रयोग होगा।

९९६. **[५]अश्वपत्यादिभ्यश्च॑ (४/१/८४)**

एभ्योऽण् स्यात् प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु। अश्वपतेरपत्याऽऽदि आश्वपतम्। गाणपतम्।

अश्व० इति— 'अश्वपति' आदि शब्दों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'अण्' प्रत्यय हो।

'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्' (पा. ४.४.२.) सूत्र से पहले वाले सभी सूत्र प्राग्दीव्यतीय कहलायेंगे। इन सूत्रों से उक्त अर्थों में प्रकृत सूत्र के द्वारा 'अण्' प्रत्यय होता है।

'अश्वपतेर् अपत्यम्' — यह लौकिक विग्रह है तथा इसका अलौकिक विग्रह होगा — 'अश्वपति ङस् अपत्यम्'। तब तद्धित-वृत्ति होने से 'समर्थानां प्रथमाद्वा' के अधिकार में 'तस्यापत्यम्' आदि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में प्रकृत सूत्र के द्वारा 'अण्' प्रत्यय हुआ। यहाँ 'ङ्याप् प्रातिपदिकात्', 'प्रत्ययः' तथा 'परश्च' का भी अधिकार है। अश्वपति ङस् अण्। चूँकि तद्धित प्रत्यय सूत्र में उच्चरित प्रथम पद से बोध्य शब्द से होता है तथा उक्त प्रत्यय सूत्र में उच्चरित द्वितीय पद के स्थान पर होता है। अतः 'अपत्यम्' शब्द को हटा कर 'अण्' प्रत्यय हो गया। तब 'कृत्तद्धित-समासाश्च' के द्वारा प्रातिपदिक संज्ञा हो गई। 'सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः' के द्वारा प्रातिपदिक के अवयव-स्वरूप सुप् (ङस्) का लोप हो गया। अश्वपति अण्। 'तद्धितेष्वचामादेः' के द्वारा वृद्धि हुई। आश्वपति अ। तब 'यस्येति च' के द्वारा इकार का लोप हो गया। आश्वपत। 'अपत्यम्' शब्द नपुँसकलिङ्ग है। अतः सु की उत्पत्ति करने पर 'आश्वपतम्' ऐसा प्रयोग हुआ।

'गणपतेरपत्यम्' — यहाँ पूर्ववत् क्रिया होकर 'गाणपतम्' प्रयोग सिद्ध हुआ।

९९७. दित्यदित्यादित्य-पत्युत्तरपदाद्[५] ण्य:[१] (४/१/८५)

दित्यादिभ्य: पत्युत्तरपदात् च प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ण्य: स्यात्। अणोपवाद:। दितेरपत्यं दैत्य:। अदितेरादित्यस्य वा (अपत्यम्) –

दितीति— दिति, अदिति, आदित्य- इन शब्दों से और पति शब्द है उत्तरपद में जिसके, ऐसे षष्ठ्यन्त शब्दों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'ण्य' प्रत्यय होता है। इसका णकार इत्संज्ञक है। यह 'अण्' का अपवाद है।

'दितेरपत्यम्' — यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा 'ण्य' प्रत्यय होकर 'दिति ण्य' इस अवस्था में आदि अच् को वृद्धि आदेश तथा अन्त्य इकार का लोप होकर 'दैत्य' रूप बना।

९९८. [५]हलो यमां[६] यमि[७] लोप:[१] (८/४/६४)

इति यलोप:। आदित्य: प्राजापत्य:।

(वा०) देवाद् यञ्-अञौ। दैव्यम्। दैवम्।

(वा०) बहिषष्टि-लोपो यञ् च। बाह्य:।

(वा०) ईकक् च।

हल इति— यम् परे रहते हल् से पर यम् का लोप होता है।

'अदिति ङस् ण्य' — इस स्थिति में सुप् लोप, आदि वृद्धि तथा अन्त्य इकार का लोप होकर 'आदित्य' रूप बना। प्रथमा एकवचन में 'आदित्य:' बना।

'आदित्यस्य अपत्यम्'— इस दशा में 'ण्य' हुआ। 'आदित्य ङस् ण्य' — यहाँ सुप् लोप, अनुबन्धलोप तथा अन्त्य अकार का लोप होकर 'आदित्् य'— ऐसी स्थिति बनी। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा 'यम्' (यकार) का लोप हुआ। आदित्य:।

इसी प्रकार 'प्राजापत्य:' रूप सिद्ध हुआ।

(वा०) पूर्वोक्त अर्थों में 'देव' शब्द से 'यञ्' तथा 'अञ्' प्रत्यय होते हैं। दोनों प्रत्ययों का ञकार इत्संज्ञक है।

'देवस्य अपत्यादि' — यहाँ 'यञ्' पक्ष में आदि वृद्धि, अन्त्य अकार का लोप होकर 'दैव्यम्' बना। 'अञ्' पक्ष में 'दैवम्' बनेगा। दोनों रूप प्रथमा एकवचन में दिखाए गये हैं।

(वा०) पूर्वोक्त अर्थों में 'बहिस्' शब्द से 'टि' लोप तथा 'यञ्' प्रत्यय हो।

'बहिर्भव:' — यहाँ प्रकृत वार्तिक के द्वारा 'यञ्' प्रत्यय हुआ तथा 'टि' का लोप हुआ। बहिस् यञ्। बह् य। आदिवृद्धि होकर 'बाह्य:' रूप बना।

(वा०) पूर्वोक्त अर्थ में 'बहिस्' शब्द से 'ईकक्' प्रत्यय भी होता है। 'टि' का लोप पूर्ववत् होता है।

बहिस् ईकक् — बह् ईकक्। इस अवस्था में —

९९९. [७]किति च (७/२/११८)

किति तद्धिते चाऽचाम् आदेरचो वृद्धिः स्यात्। बाहीकः।

(वा०) सर्वत्र गोः (र्) अच् (ज्) आदि प्रसङ्गे यत्। गोरपत्यादि-गव्यम्।

कितीति— कित् तद्धित प्रत्यय परे रहते भी अचों में आदिवृद्धि होती है।

'बह् ईक' — इस अवस्था में प्रकृत सूत्र के द्वारा आदिवृद्धि होकर 'बाहीकः' बना।

(वा०) पूर्वोक्त अर्थों में 'गो' शब्द में 'अच्' आदि प्रत्ययों के प्रसङ्ग में 'यत्' होता है।

'गवि भवम्' तथा 'गोरिदम्' इत्यादि विग्रह की अवस्था में 'अण्' प्राप्त हुआ। 'अण्' को बाध कर वार्तिक के द्वारा 'यत्' हुआ। तब 'वान्तो यि प्रत्यये' के द्वारा 'अव्' आदेश होकर 'गव्यम्' बना।

१०००. [५]उत्साऽऽदिभ्योऽञ्[१] (४/१/८६)

औत्सः। इत्यपत्यादिविकारान्तार्थाः साधारणप्रत्ययाः।

उत्सेति— उत्स आदि शब्दों से अपत्यादि अर्थों में 'अञ्' प्रत्यय होता है।

'उत्स अञ्' — यहाँ आदि वृद्धि, अकार लोप होकर 'औत्सः' रूप बना।

अपत्यादि विकारान्त साधारण प्रत्यय समाप्त।

अथापत्याधिकारः

१००१. [५]स्त्री-पुंसाभ्यां नञ्-स्नञौ[१] भवनात्[५] (४/१/८७)

'धान्यानां भवने' इत्यतः प्रागर्थेषु स्त्री-पुंसाभ्यां क्रमात् नञ्स्नञौ स्तः। स्त्रैणः। पौंस्नः।

अपत्याधिकार प्रारम्भ।

स्त्रीति— 'धान्यानां भवने' (पा. ४.२.१.) इस सूत्र से पूर्ववर्ती अर्थों में 'स्त्री' तथा 'पुंस्' शब्दों से क्रमशः 'नञ्' तथा 'स्नञ्' प्रत्यय हों।

स्त्रिया अपत्यम् पुमान्। स्त्रीषु भवः। स्त्रीणां समूहः — इन तीन अर्थों में स्त्री शब्द से 'नञ्' प्रत्यय हुआ। अनुबन्ध लोप तथा आदि वृद्धि होकर नकार को णकार हुआ। स्त्रैणः।

पूर्वोक्त अर्थों में 'पुंस्' शब्द से 'स्नञ्' प्रत्यय हुआ। 'पुंस् स्न' - इस अवस्था में 'स्वादिष्वसर्व — के द्वारा पद संज्ञा, 'संयोगान्तस्य लोपः' के द्वारा पूर्व सकार का लोप हुआ। शेष क्रिया पूर्ववत् होकर 'पौं स्नः' रूप बना।

१००२. [६]तस्याऽपत्यम्[१] (४/१/९२)

षष्ठ्यन्तात् कृत-सन्धेः समर्थाद् अपत्येऽर्थे उक्ता वक्ष्यमाणाश्च प्रत्यया वा स्युः।

तस्येति— अपत्य अर्थ में पूर्वोक्त तथा वक्ष्यमाण (आगे कहे जाने वाले) प्रत्यय हों।

१००३. [६]ओर्गुणः[१] (६/४/१४५)

उवर्णान्तस्य भस्य गुणस्तद्धिते:। उपगोरपत्यम्-औपगव:। आश्वपत:। दैत्य:। औत्स:। स्त्रैण:। पौंस्न:।

ओरिति— तद्धित प्रत्यय परे रहते उवर्णान्त भसंज्ञक को गुण हो।

'उपगोरपत्यम्' — यहाँ 'तस्यापत्यम्' के द्वारा 'अण्' हुआ। उपगु अण्। प्रकृत सूत्र के द्वारा उकार को गुण, आदिवृद्धि तथा अव् आदेश होकर 'औपगव:' रूप बना।

'आश्वपत:' आदि की सिद्धि पीछे दर्शाई जा चुकी है।

१००४. [१]अपत्यं पौत्र-प्रभृति[१] गोत्रम्[१] (४/१/१६२)

अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्राऽऽदि गोत्र-संज्ञं स्यात्।

अपत्यमिति— पौत्र आदि तथा उससे आगे वाली पीढ़ी की अपत्य कथन की विवक्षा में गोत्र-संज्ञा होती है।

१००५. [१]एको गोत्रे[७] (४/१/९३)

गोत्रे एक एवाऽपत्य-प्रत्यय: स्यात्। उपगोर्गोत्राऽपत्यम्-औपगव:।

एक इति— गोत्र अर्थ में एक ही अपत्य प्रत्यय होता है।

यहाँ 'उपगो: गोत्रापत्यम्' अर्थात् उपगु का गोत्र अपत्य इस विवक्षा में 'अण्' होकर - 'औपगव' रूप बनेगा। ध्यान रहे कि 'अण्' प्रत्यय 'उपगु' शब्द से एकबार ही होगा चाहे तीसरी या चौथी पीढी कहनी हो। इसी प्रकार पचासवीं पीढ़ी को कहने के लिए 'अण्' प्रत्यय पचास बार नहीं होगा।

१००६. [५]गर्गाऽऽदिभ्यो यञ्[१] (४/१/१०५)

गोत्राऽपत्ये। गर्गस्य गोत्राऽपत्यम्-गार्ग्य:। वात्स्य:।

गर्गेति— गोत्रापत्य अर्थ में गर्ग आदि शब्दों से 'यञ्' होता है।

'गर्गस्य गोत्रापत्यम्' — यहाँ 'गार्ग्य:' रूप बना। इसी प्रकार 'वात्स्य:' रूप बना।

१००७. [६]यञ्-अञोश्च (२/४/६४)

गोत्रे यद् यञन्तम् अञन्तं च तदवयवयोरेतयोर्लुक् स्यात् तत्कृते बहुत्वे; न तु स्त्रियाम्। गर्गा:। वत्सा:।

यञिति— गोत्र अर्थ में जो यञन्त और अञन्त पद उनके अवयव 'यञ्' और 'अञ्' का स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर बहुत्व की विवक्षा में लोप होता है।

पूर्व सूत्र के द्वारा 'गर्ग' शब्द से 'यञ्' होकर 'गार्ग्य' रूप सिद्ध हुआ। इस शब्द से प्रथमा बहुवचन में 'गार्ग्य जस्' इस दशा में प्रकृत सूत्र के द्वारा 'यञ्' का लोप होकर तन्निमित्तक आदि वृद्धि आदि की निवृत्ति हो गई। तब 'गर्गा:' रूप बना।

इसी प्रकार 'वत्सा:' रूप बना।

१००८. [७]जीवति तु वंश्ये[७] युवा[१] (४/१/१६३)

वंश्ये पित्रादौ जीवति पौत्राऽऽदेर्यद् अपत्यं चतुर्थाऽऽदि तत् युवसंज्ञमेव स्यात्।

जीवतीति— वंश में हुए पिता, पितामह के जीवित रहते पौत्र आदि की अपत्य हो तो उसकी युव संज्ञा होती है अर्थात् पितामह आदि के जीवित रहते प्रपौत्र को 'युवापत्य' कहा जायेगा।

१००९. [५]**गोत्राद्** [७]**यूनि अ-स्त्रियाम्**[७] **(४/१/९४)**

यूनि-अपत्ये गोत्र-प्रत्ययाऽन्ताद् एव प्रत्ययः स्यात्, स्त्रियां न युवसंज्ञा।

गोत्रादिति— युवाऽपत्य अर्थ में (विहित) प्रत्यय गोत्रप्रत्ययान्त से हो, स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर।

१०१०. [५]**यञ् इञोश्च** **(४/१/१०१)**

गोत्रे यौ यञ्-इञौ, तदन्तात् फक् स्यात्।

गोत्र अर्थ में यञन्त इञन्त शब्द से 'फक्' हो। 'फक्' का ककार इत्संज्ञक है।

१०११. [१]**आयनेयीनीयियः फ-ढ-ख-छ-घां**[६] **प्रत्ययाऽदीनाम्**[६] **(७/१/२)**

प्रत्ययाऽदेः फस्य आयन्, ढस्य एय्, खस्य ईन्, छस्य ईय्, घस्य इय् स्युः। गर्गस्य युवाऽपत्यं-गार्ग्यायणः। दाक्षायणः।

आयनिति— प्रत्यय के आदि में स्थित फकार, ढकार, खकार, छकार तथा घकार को क्रमशः आयन्, एय्, ईन्, ईय् तथा इय् आदेश होते हैं।

'गर्गस्य युवापत्यम्' — यहाँ सर्वप्रथम अपत्यार्थक 'गर्गादिभ्यो यञ्' से 'यञ्' प्रत्यय हुआ। क्योंकि 'फक्' (गोत्राद् यून्यस्त्रियाम्) गोत्र प्रत्ययान्त से ही होता है। यञन्त 'गार्ग्य' शब्द से युवापत्य अर्थ में 'यञिञोश्च' से 'फक्' हुआ, तब 'गार्ग्य फक्' इस स्थिति में प्रकृत सूत्र के द्वारा 'फ' के स्थान पर 'आयन्' आदेश हुआ तब 'गार्ग्य आयन् अ' बना। 'यस्येति च' से अन्त्य अवर्ण का लोप आदिवृद्धि तथा णत्व होकर 'गार्ग्यायण' रूप बना। 'गार्ग्यायण' का अर्थ है — गर्ग की चौथी पीढ़ी का बालक, जिसके पितामह आदि जीवित हैं। 'दक्षस्य युवापत्यम् इति दाक्षायणः' — यहाँ पर पूर्ववत् क्रिया होगी।

ध्यान रहे, युवापत्य संज्ञा करने की अवस्था में पिता आदि चारों पीढ़ियों का जीवित रहना आवश्यक है। इनमें से एक के भी जीवित न रहने पर युवापत्य संज्ञा न होगी, केवल गोत्रापत्य संज्ञा होगी।

१०१२. [५]**अत इञ्**[१] **(४/१/९५)**

अपत्येऽर्थे। दाक्षिः।

अत इति— ह्रस्व अवर्णान्त शब्द से 'इञ्' होता है, अपत्य अर्थ में।

'दक्षस्य अपत्यं पुमान्' — यहाँ प्रकृत सूत्र के द्वारा 'इञ्' होकर 'दाक्षिः' रूप बना।

१०१३. [५]**बाह्वादिभ्यश्च** **(४/१/९६)**

बाहविः। औडुलोमिः।

(वा०) लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः। उडुलोमाः। आकृतिगणोऽयम्।

बाह्विति— अपत्य अर्थ में 'बाहु' आदि शब्दों से 'इञ्' होता है।

बाहु आदि प्राचीन व्यक्तियों के नाम हैं तथा व्यक्तिवाचक है। इनका भुजा आदि अर्थ नहीं लेना चाहिए। 'बाहोर् अपत्यं पुमान्' — यहाँ 'इञ्' प्रत्यय, पर्जन्यवल्लक्षण प्रवृत्ति न्याय से आदि वृद्धि, उकार को गुण (ओर्गुणः) तथा अव् आदेश होकर 'बाहविः' रूप बना। उडूनि नक्षत्राणि इव लोमानि यस्य सः उडुलोमा। उडुलोम्नः अपत्यम् इति औडुलोमिः। यहाँ इञ् प्रत्यय, हुआ। उडुलोमन् इञ्। 'नस्तद्धिते' से टि (अन्) का लोप हुआ। उडुलोम् इ। आदिवृद्धि तथा सुप् की उत्पत्ति आदि कार्य होकर 'औडुलोमिः' रूप सिद्ध हुआ।

(वा०) अपत्य अर्थ के बहुवचन में 'लोमन्' शब्द से 'अ' प्रत्यय हो।

'उडुलोम्नोऽपत्यानि' — इस विग्रह की स्थिति में पूर्व सूत्र के द्वारा 'इञ्' प्राप्त था, परन्तु प्रकृत वार्तिक के द्वारा 'अ' हुआ। टि का लोप होकर 'उडुलोम' शब्द बना। बहुवचन में 'उडुलोमाः' ऐसा बना। बाहु आदि गण आकृतिगण है।

१०१४. [५]**अनृष्यानन्तर्ये**[७] **विदाऽऽदिभ्यो**[५]**ऽञ्**[१] (४/१/१०४)

ये त्वत्राऽनृषयः, तेभ्योऽपत्ये, अन्यत्र तु गोत्रे। विदस्य गोत्रम्-वैदः, वैदौ, विदाः। पुत्रस्याऽपत्यम्-पौत्रः, पौत्रौ, पौत्राः। एवं दौहित्राऽऽदयः।

अनिति— विद आदि से गोत्र अर्थ में तथा इनमें जो ऋषि नहीं है, उससे अनन्तर (अर्थात् अपत्य) अर्थ में 'अञ्' होता है।

विदस्य गोत्रापत्यम् — वैदः। 'अञ्' प्रत्यय तथा आदि वृद्धि होकर रूप बना। बहुत्व की विवक्षा में 'यञञोश्च' से 'अञ्' का लोप होकर 'विदाः' ऐसा रूप बना। 'पुत्रस्य अपत्यम् इति पौत्रः' — यहाँ पुत्र शब्द ऋषि का नाम नहीं हैं। अतः प्रकृतसूत्र के द्वारा गोत्र अर्थ में न होकर अपत्य अर्थ में प्रत्यय हुआ। गोत्रापत्य में न होने से बहुत्व की विवक्षा में प्रत्यय का लोप नहीं होगा। पौत्राः। इसी प्रकार - दुहितुरपत्यम् इति— दौहित्रः।

१०१५. [५]**शिवाऽऽदिभ्योऽण्**[१] (४/१/११२)

अपत्ये-शैरः, गाङ्गः।

शिवेति— अपत्य अर्थ में शिव आदि गण से 'अण्' हो।

शिवस्यापत्यम् इति— शैवः। 'अण्' होकर रूप बना। गङ्गायाः अपत्यम् इति गाङ्गः। पूर्ववत्।

१०१६. [५]**ऋष्यन्धक-वृष्णि-कुरुभ्यश्च** (४/१/११४)

ऋषिभ्यः-वासिष्ठः, वैश्वामित्रः। अन्धकेभ्यः-श्वाफल्कः। वृष्णिभ्यः-वासुदेवः।

कुरुभ्य:-नाकुल:, साहदेव:।

ऋषीति— अपत्य अर्थ में ऋषि, अन्धक, वृष्णि तथा कुरु से 'अण्' हो।

अन्धक (यादव), वृष्णि (अहीर) तथा कुरु — ये वंश हैं। इनके व्यक्तियों के नामों से प्रत्यय होता है।

(क) ऋषि — वसिष्ठस्य ऋषे: अपत्यम् इति— वासिष्ठ:। विश्वामित्रस्य ऋषे: अपत्यम् इति— वैश्वामित्र:। (ख) अन्धक — श्वफल्कस्यापत्यम् इति— श्वाफल्क:। (ग) वृष्णि — वसुदेवस्यापत्यम् इति— वासुदेव:। (घ) कुरु — नकुलस्य/सहदेवस्य अपत्यम् इति— नाकुल:/साहदेव:। उपर्युक्त सभी रूपों में 'अण्' प्रत्यय हुआ है।

१०१७. [६]**मातुरुत्**[१] **संख्या-सं-भद्र-पूर्वाया:**[६] **(४/१/११५)**

संख्याऽऽदि-पूर्वस्य मातृशब्दस्य 'उद्' आदेश: स्यात्, 'अण्' प्रत्ययश्च। द्वैमातुर:। षाण्मातुर:। साम्मातुर:। भाद्रमातुर:।

मातुरिति— संख्या, सम्, भद्र शब्दों से पर 'मातृ' शब्द को अपत्य अर्थ में 'उत्' आदेश हो तथा 'अण्' प्रत्यय हो। 'उत्' आदेश 'उरण् रपर:' से रपर होता है।

द्वयोर्मात्रोरपत्यं पुमान् इति द्वैमातुर:। यहाँ 'मातृ' शब्द से पूर्व संख्या है। अत: 'अण्' प्रत्यय हुआ। 'उत्' आदेश हुआ। द्वि मातृ अण्। द्वै मातुर् अ। द्वैमातुर:। षण्णां मातॄणामपत्यं पुमान् इति षाण्मातुर:। इसकी सिद्धि पूर्ववत् है। सम्मातुरपत्यम् इति साम्मातुर:। भद्रमातुरपत्यम् इति भाद्रमातुर:।

१०१८. [५]**स्त्रीभ्यो ढक्**[१] **(४/१/१२०)**

स्त्रीप्रत्ययाऽन्तेभ्यो ढक्। वैनतेय:।

स्त्रीभ्य इति— स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दों से अपत्य अर्थ में 'ढक्' प्रत्यय हो। ककार इत्संज्ञक है।

विनताया: अपत्यम् इति वैनतेय:। विनता ढक्। 'ढ्' को 'आयनेयी०' से 'एय्' आदेश हुआ। विनता एय् अ। वैनता एय। आदि वृद्धि 'किति च' से तथा 'यस्येति च' से अन्त्य लोप होकर रूप बना।

१०१९. [६]**कन्याया: कनीन**[१] **च (४/१/११६)**

चाद् अण्। कानीन:-व्यास:, कर्णश्च।

कन्येति— अपत्य अर्थ में कन्या शब्द के स्थान पर 'कनीन' आदेश और उससे 'अण्' प्रत्यय हो।

'कन्याया: अपत्यं पुमान् इति— कानीन:' — यहाँ कन्या शब्द को 'कनीन' आदेश तथा 'अण्' प्रत्यय होकर 'कानीन:' शब्द बना। इसका अर्थ है — व्यास अथवा कर्ण।

१०२०. [५]**राज-श्वशुराद् यत्**[१] **(४/१/१३७)**

(वा०) राज्ञो जातावेव-इति वाच्यम्।

राजेति— अपत्य अर्थ में 'राजन्' तथा 'श्वशुर' शब्द से 'यत्' प्रत्यय होता है।

(वा०) 'राजन्' शब्द से जाति अर्थ में ही 'यत्' प्रत्यय हो।

१०२१. [७]ये चाऽभाव-कर्मणोः[७] (६/४/१६८)

यादौ तद्धिते परेऽन् प्रकृत्या स्यात्, न तु भावकर्मणोः। राजन्यः। श्वशुर्यः। जातावेव इति किम् –

य इति— यकारादि तद्धित प्रत्यय परे रहते 'अन्' को प्रकृतिभाव होता है, परन्तु भाव और कर्म में नहीं होता है।

'राजन्' से जाति अर्थ में 'यत्' हुआ। 'नस्तद्धिते' से टि का लोप प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा इसका बाध हुआ। तब 'राजन्यः' रूप (प्रथमा एकवचन) बना। 'श्वशुरस्यापत्यं पुमान्' अर्थात् साला। यहाँ 'यत्' होकर 'श्वशुर्यः' रूप बना।

'जाति' अर्थ में ही प्रत्यय हो, ऐसा क्यों कहा गया? जाति से भिन्न अर्थ में उक्त प्रत्यय न हो।

१०२२. [१]अन् (६/४/१६७)

अन् प्रकृत्या स्याद् अणि परे। राजनः।

अनिति— 'अण्' परे रहते 'अन्' को प्रकृति भाव हो।

'राज्ञोऽपत्यं पुमान्' अर्थात् शूद्रा (जाति भिन्न) आदि में उत्पन्न। अतः 'यत्' न होकर 'अण्' हुआ। तब टि का लोप 'नस्तद्धिते' से प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा प्रकृतिभाव होकर 'राजनः' रूप बना।

१०२३. [५]क्षत्राद् घः[१] (४/१/१३८)

क्षत्रियः। जातौ-इत्येव। क्षात्रिः-अन्यत्र।

क्षत्रादिति— 'क्षत्र' शब्द से 'घ' प्रत्यय होता है।

प्रकृत सूत्र के द्वारा 'क्षत्र' शब्द से जाति अर्थ में 'घ' (> इय्) प्रत्यय हुआ। तब 'क्षत्रियः' रूप बना।

जाति से भिन्न अर्थ में 'अत इञ्' के द्वारा 'इञ्' होकर 'क्षात्रि' रूप बनेगा।

१०२४. [५]रेवत्यादिभ्यष्ठक्[१] (४/१/१४६)

रेवतीति— रेवती आदि शब्दों से अपत्य अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है।

१०२५. [६]ठस्येकः[१] (७/३/५०)

अङ्गात् परस्य ठस्य 'इक' आदेशः स्यात्। रैवतिकः।

ठस्येति— अङ्ग से पर ठकार को 'इक' आदेश होता है।

'रेवती ठक्' इस अवस्था में 'इक' आदेश, आदिवृद्धि तथा लोप आदि कार्य होकर 'रैवतिकः' बना।

१०२६. [५]जनपद-शब्दात् क्षत्रियाद्[५] अञ्[१] (४/१/१६८)

जनपद-क्षत्रिय-वाचकात् शब्दाद् 'अञ्' स्याद् अपत्ये। पाञ्चालः।

(वा०) क्षत्रिय-समान-शब्दाद् जनपदात् तस्य राजनि अपत्यवत्। पञ्चालानां राजा-पाञ्चालः।

(वा०) पूरोरण् वक्तव्यः। पौरवः।

(वा०) पाण्डोर्ड्यण्। पाण्ड्यः।

जनेति– जनपद वाचक जो क्षत्रिय वाचक भी हो, से अपत्य अर्थ में 'अञ्' प्रत्यय होता है।

जनपद का अर्थ है — प्रान्त। 'पञ्चाल अञ्' — यहाँ आदिवृद्धि आदि कार्य होकर 'पाञ्चालः' शब्द बना। पञ्चाल जनपद विशेष का नाम है तथा एक क्षत्रिय जाति का भी नाम है।

(वा०) क्षत्रिय जाति वाचक शब्द के समान यदि जनपदवाचक शब्द भी हों तो उससे 'राजा' अर्थ में प्रत्यय होता है। पञ्चालानां राजा इति पाञ्चालः। यहाँ राजा अर्थ में 'अञ्' हुआ है।

(वा०) राजा अर्थ में 'पूरु' शब्द से 'अण्' हो।

'पूरुणां राजा' — यहाँ 'अण्' हुआ। तब आदिवृद्धि, उकार को गुण (ओर्गुणः) तथा अव् आदेश होकर 'पौरवः' रूप बना।

(वा०) राजा अर्थ में 'पाण्डु' शब्द से 'ड्यण्' प्रत्यय हो। इसके डकार तथा णकार इत्संज्ञक हैं।

'पाण्डु + ड्य' — यहाँ पाण्डु शब्द देश और क्षत्रिय का वाचक है। यहाँ इसका अर्थ न तो 'श्वेत' (गुणवाचक) है और न ही युधिष्ठिर का पिता (व्यक्तिवाचक) है। तब अन्त्य लोप होकर 'पाण्ड्यः' रूप बना।

१०२७. [५]**कुरु-नाऽऽदिभ्यो ण्यः**[१] **(४/१/१७०)**

कौरव्यः। नैषध्यः।

कुर्विति– राजा अर्थ में कुरु और नकारादि जनपद और उसके निवासी क्षत्रियों के वाचक शब्दों से 'ण्य' होता है।

'कुरूणां राजा' — यहाँ कुरु जनपद भी है और क्षत्रिय विशेष का नाम भी है। तब 'ण्य' प्रत्यय हुआ। आदिवृद्धि, गुण आदेश तथा 'अव्' आदेश होकर 'कौरव्यः' रूप बना। इसी प्रकार — निषधानां राजा नैषध्यः।

१०२८. [१]**ते तद्-राजाः**[१] **(४/१/१७२)**

अञ् आदयः 'तद्-राज' संज्ञाः स्युः।

त इति– 'अञ्' आदि प्रत्ययों की तद्राज संज्ञा होती है।

जनपदशब्दात्, (पा. ४.१.१६६) से लेकर जनपदवाची शब्दों से विहित प्रत्यय

पर्यन्त तद् राज संज्ञक हैं।

१०२९. [६]**तद्-राजस्य बहुषु**[७] **तेनैवा**[३]**ऽस्त्रियाम्**[७] **(२/४/६२)**

बहुष्वर्थेषु तद्-राजस्य लुक्; तदर्थकृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम्। इक्ष्वाकवः, पञ्चालाः, इत्यादि।

तदिति— तद् राज संज्ञक प्रत्यय का लोप हो बहुत्व की विवक्षा में। स्त्रीलिङ्ग में न हो।

इक्ष्वाकूणां राजानः इति इक्ष्वाकवः। यहाँ 'जनपदशब्दात्०' सूत्र के द्वारा 'अञ्' प्रत्यय हुआ। तब आदिवृद्धि आदि होकर 'ऐक्ष्वाकवः' शब्द बना। बहुत्व की विवक्षा में 'अञ्' का लोप होने से तन्निमित्तक आदिवृद्धि की निवृत्ति हो गई। यथा— इक्ष्वाकु अञ्-ऐक्ष्वाकु अ-ऐक्ष्वाको अ- ऐक्ष्वाकव-ऐक्ष्वाकव जस्-इक्ष्वाकु जस्। तब 'इक्ष्वाकु' शब्द के प्रथमा बहुवचन में 'इक्ष्वाकवः' रूप बना। इसी प्रकार — पञ्चालानां राजानः पञ्चालाः।

१०३०. [५]**कम्बोजात् लुक्**[१] **(४/१/१७४)**

अस्मात् तद्-राजस्य लुक्। कम्बोजः। कम्बोजौ।

(वा०) कम्बोजाऽऽदिभ्य इति वक्तव्यम्। चोलः, शकः, केरलः, यवनः।

॥ इत्यपत्याधिकारः ॥

कम्बो० इति— कम्बोज शब्द से तद्राज प्रत्यय का लोप हो।

'कम्बोजानां राजा' — यहाँ 'अञ्' प्रत्यय हुआ। तब उस का लोप होकर 'कम्बोजः' रूप बना।

(वा०) कम्बोज आदि से तद्राज संज्ञक का लोप हो।

चोलानां राजा चोलः। 'द्व्यञ्मगध' से 'अण्' हो गया। शकानां राजा शकः।

केरलानां राजा केरलः। यवनानां राजा यवनः। यहाँ 'जनपदशब्दात्—' से 'अञ्' हुआ तथा उसका लोप हो गया।

अथ रक्ताऽऽद्यर्थकाः

यह रक्ताद्यर्थक नामक प्रकरण है। यहाँ 'रक्त' आदि अर्थों में प्रत्यय कहे गए हैं।

१०३१. [३]**तेन** [१]**रक्तं रागात्**[५] **(४/२/१)**

अण् स्यात्। रज्यतेऽनेनेति-रागः। कषायेण रक्तं वस्त्रम्-काषायम्।

तेनेति— 'उससे रंगा गया' — इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ (वर्णवाचक) पद से 'अण्' होता है।

कषायेण रक्तं वस्त्रम् इति काषायम्। यहाँ तृतीयान्त पद 'कषाय' है। इससे 'अण्' होकर 'काषाय' शब्द बना। प्रथमा नपुँसकलिङ्ग एकवचन में 'काषायम्' रूप बना।

१०३२. [३]**नक्षत्रेण युक्तः**[१] **कालः**[१] **(४/२/३)**

अण् स्यात्।

(वा०) तिष्य-पुष्ययोर्नक्षत्राऽणि यलोप इति वाच्यम्। पुष्येण युक्तं-पौषम् अहः।

नक्ष० इति— नक्षत्र से युक्त सम्बद्ध काल अर्थ में प्रथमोच्चारित नक्षत्र वाचक शब्द से 'अण्' हो।

(वा०) नक्षत्र अण् (पूर्व सूत्र द्वारा विहित) परे रहते तिष्य तथा पुष्य शब्दों के यकार का लोप होता है।

'पुष्यनक्षत्रे युक्तं दिनम्' — यहाँ 'अण्' प्रत्यय हुआ। आदिवृद्धि तथा यकार लोप होकर 'पौषम्' बना। पौषम् अहः।

१०३३. [१]**लुब् अविशेषे**[७] (४/२/४)

पूर्वेण विहितस्य लुप् स्यात्, षष्टि-दण्डाऽऽत्मकस्य कालस्याऽवान्तरविशेषश्चेद् न गम्यते। अद्य पुष्यः।

लुबिति— यदि साठ घड़ी रूप काल का अवान्तर भेद का ज्ञान न हो तो पूर्व सूत्र के द्वारा विहित 'अण्' का लोप हो।

सूत्र में प्रयुक्त 'अविशेष' शब्द का अर्थ है — आभास न होना अर्थात् यह ज्ञान न हो कि साठ घड़ी का अवान्तर विशेष दिन या रात है। आज पुष्य नक्षत्र से युक्त काल है — अद्य पुष्यः। यहाँ 'पुष्य' से 'अण्' हुआ। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा उसका लोप हो जाता है।

१०३४. [१]**दृष्टं साम**[१] (४/२/७)

'तेन' इत्येव। वसिष्ठेन दृष्टम्-वासिष्ठमं साम।

दृष्टमिति— 'साम को देखा' — इस अर्थ में तृतीयान्त से 'अण्' प्रत्यय हो।

'वसिष्ठेन दृष्टं साम' — यहाँ 'अण्' हुआ। तब 'वासिष्ठम्' रूप प्रथमा एकवचन में बना।

१०३५. [५]**वामदेवाद् ड्यड्-ड्यौ**[१] (४/२/९)

वामदेवेन दृष्टं साम-वामदेव्यम्।

वाम० इति— 'साम को देखा' — इस अर्थ में 'वामदेव' शब्द से 'ड्यत्' तथा 'ड्य' प्रत्यय होते हैं। दोनों प्रत्ययों का डकार इत्संज्ञक हैं। 'ड्यत्' के तकार की भी इत्संज्ञा होती है।

'वामदेवेन दृष्टं साम' — यहाँ ड्यत् तथा ड्य प्रत्यय हुए। दोनों पक्षों में 'वामदेव्यम्' रूप बना।

१०३६. [१]**परिवृतो रथः**[१] (४/२/१०)

अस्मिन्नर्थेऽण्प्रत्ययो भवति। वस्त्रेण परिवृतः-वास्त्रो रथः।

परि० इति— 'उससे घिरा हुआ' — इस अर्थ में तृतीयान्त से 'अण्' हो।

वस्त्रेण परिवृतो रथः वास्त्रः। यहाँ 'अण्' होकर 'वास्त्रः' रूप बना।

१०३७. [९]तत्रोद्धृतम्[१] अमत्रेभ्यः[५] (४/२/१४)

शरावे उद्धृत:-शाराव ओदनः।

तत्रेति— 'उसमें निकालकर रखा हुआ' — इस अर्थ में सप्तम्यन्त अमत्र-वाचक से 'अण्' हो।

शरावे उद्धृतः ओदनः शारावः। यहाँ पात्र वाचक शराव शब्द से 'अण्' हुआ।

१०३८. [१]संस्कृतं भक्षाः[१] (४/२/१६)

सप्तम्यन्ताद् अण् स्यात् संस्कृतेऽर्थे, यत् संस्कृतं भक्षाश्चेत् स्युः। भ्राष्ट्रेषु संस्कृताः-भ्राष्ट्राः यवाः।

संस्कृतमिति— 'भाड़ इत्यादि में संस्कार किया गया' — इस अर्थ में सप्तम्यन्त से 'अण्' हो, यदि वह संस्कृत पदार्थ खाने योग्य हो।

'भ्राष्ट्रेषु संस्कृताः यवाः' — यहाँ सप्तम्यन्त भ्राष्ट्र शब्द से 'अण्' हुआ। तब पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्ति से आदिवृद्धि हुई। अन्त्य अकार का लोप होने से 'भ्राष्ट्र' रूप सिद्ध हुआ। प्रथमा बहुवचन में 'भ्राष्ट्राः' बनेगा।

१०३९. [१]साऽस्य[६] देवता[१] (४/२/२४)

इन्द्रो देवता अस्य-इति ऐन्द्रम्-हविः। पाशुपतम्। बार्हस्पतम्।

सेति— 'यह इसका है' — इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ देवता वाचक शब्द से 'अण्' हो।

इन्द्रो देवता अस्य ऐन्द्रः (तद्धितष्वचा०)। इसी प्रकार 'ऐन्द्रं हविः' होगा। इसी प्रकार — पशुपतिर्देवतास्य इति पाशुपतम्। बृहस्पतिर्देवताऽस्य बार्हस्पत्यम्।

१०४०. [५]शुक्राद् घन्[१] (४/२/२६)

शुक्रियम्।

शुक्रेति— 'साऽस्य देवता' इस अर्थ में 'शुक्र' शब्द से 'घन्' प्रत्यय होता है। 'घन्' के घकार को 'इय्' आदेश होगा। शुक्रो देवताऽस्य इति शुक्रियम्। शुक्र घन्-शुक्र इय् अ-शुक्र इय (यस्येति च)-शुक्रिय सु-शुक्रियम् (नपुं० में)

१०४१. [५]सोमात् ट्यण्[१] (४/२/३०)

सौम्यम्।

सोमादिति— पूर्वोक्त अर्थ में 'सोम' शब्द से 'ट्यण्' प्रत्यय हो। ट्यण् के टकार तथा णकार की इत्संज्ञा होती है।

सोमो देवताऽस्य सौम्यम्। यहाँ पूर्ववत् आदिवृद्धि तथा अन्त्य लोप होकर रूप सिद्ध हुआ।

१०४२. [५]वाय्वृतु-पित्रुषसो यत्[१] (४/२/३१)

वायव्यम्। ऋतव्यम्।

वाय्विति— 'साऽस्य देवता' — इस अर्थ में वायु, ऋतु, पितृ तथा उषस् शब्दों से 'यत्' प्रत्यय होता है।

वायुर्देवताऽस्य वायव्यम्। यहाँ 'वायु' शब्द से 'यत्' प्रत्यय होने पर उकार को 'ओर्गुणः' से गुण तथा 'वान्तो यि प्रत्यये' से अव् आदेश होकर रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'ऋतुर्देवताऽस्य ऋतव्यम्' — यहाँ यत् होकर पूर्ववत् कार्य हुआ।

१०४३. [१]रीङ् [६]ऋतः (७/४/२७)

अकृद् यकारे असार्वधातुके यकारे च्वौ च परे ऋदन्ताऽङ्गस्य 'रीङ्' आदेशः। यस्येति च। पित्र्यम्। उषस्यम्।

रीङिति— ह्रस्व ऋकारान्त अङ्ग को 'रीङ्' आदेश हो, कृद् भिन्न यकार तथा असार्वधातुक यकार तथा च्वि प्रत्यय परे रहते।

पितरः देवताऽस्य पित्र्यम्। यहाँ 'पितृ यत्' इस स्थिति में कृद् भिन्न यकार परे रहते 'रीङ्' आदेश हुआ। 'पित् रीङ् य' ऐसा बना। 'यस्येति च' के द्वारा अन्त्य ईकार लोप होकर रूप सिद्ध हुआ। पित् री य-पित् र्य-पित्र्य। उषाः देवताऽस्य उषस्यम्।

१०४४. **पितृव्य-मातुल-मातामह-पितामहाः**[१] (४/२/३६)

एते निपात्यन्ते। पितुर्भ्राता-पितृव्यः। मातुर्भ्राता-मातुलः। मातुः पिता-मातामहः। पितुः पिता-पितामहः।

पितृ० इति— पितृव्य, मातुल, मातामह तथा पितामह — ये शब्द निपातन के द्वारा सिद्ध हैं।

पितुर्भ्राता पितृव्यः। पितृ शब्द से भ्राता अर्थ में 'व्यत्' प्रत्यय हुआ है। मातुर्भ्राता मातुलः। मातृ शब्द से भ्राता अर्थ में 'डुलच्' प्रत्यय निपातन से हुआ। 'मातृ डुलच्'- इस अवस्था में डित् होने से टि (ऋकार) का लोप हो गया। मात् उल-मातुल। मातुः पिता मातामहः। पितुः पिता पितामहः।

यहाँ दोनों स्थानों पर पिता अर्थ में 'डामहच्' प्रत्यय का निपातन हुआ है। डित् होने से 'टि' का लोप हो जाता है।

१०४५. [६]**तस्य समूहः**[१] (४/२/३७)

काकानां समूहः-काकम्।

तस्येति— समूह अर्थ में षष्ठ्यन्त शब्द से 'अण्' प्रत्यय होता है।

काकानां समूहः काकम्।

१०४६. [५]**भिक्षाऽऽदिभ्योऽण्**[१] (४/२/३८)

भिक्षाणां समूहो भैक्षम्। गर्भिणीनां समूहः-गार्भिणम्। इह-

(वा०) भस्याऽढे तद्धिते। इति पुंवद्भावे कृते-

भिक्षेति— भिक्षा आदि से समूह अर्थ में 'अण्' प्रत्यय होता है।

भिक्षा शब्द से 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्' के द्वारा 'ठक्' प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र से इसका निषेध हुआ तथा 'अण्' हुआ। तब 'भिक्षाणां समूहो भैक्षम्' — यहाँ आदिवृद्धि आदि कार्य होकर रूप सिद्ध हुआ।

(वा०) 'ढ' से अतिरिक्त तद्धित प्रत्यय परे रहते भसंज्ञक अङ्ग को पुंवद्भाव होता है।

गर्भिणीनां समूहः गार्भिणम्। यहाँ पर आदिवृद्धि तथा प्रकृत वार्तिक के द्वारा पुंवद्भाव हुआ। तब 'गार्भिणम्' रूप बना।

१०४७. [१]इन् अण्य[७]नपत्ये[७] (६/४/१६४)

अनपत्यार्थेऽणि परे 'इन्' प्रकृत्या स्यात्। तेन 'नस्तद्धिते' इति टि लोपो न। युवतीनां समूहः-यौवनम्।

इन्निति— अपत्यार्थ से अतिरिक्त 'अण्' के परे रहते 'इन्' को प्रकृतिभाव होता है।

'गर्भिणी अण्' — इस अवस्था में 'भस्याऽढे तद्धिते' वार्तिक के द्वारा पुंवद्भाव हुआ। गर्भिन् अण्। (नस्तद्धिते) तब टि का लोप प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा उस लोप का निषेध होकर प्रकृतिभाव हुआ।

युवतीनां समूहः यौवनम्। युवति अण् — युवन् अण् — यौवनम्। प्रकृत सूत्र के द्वारा पूर्व प्राप्त टि लोप का निषेध होकर प्रकृतिभाव हो गया।

१०४८. [५]ग्राम-जन-बन्धुभ्यस्तल्[१] (४/२/४३)

(लि) तलन्तं स्त्रियाम्। ग्रामता, जनता, बन्धुता।

(वा०) गज सहायाभ्यां चेति वक्तव्यम्। गजता। सहायता।

(वा०) अह्नः खः क्रतौ। अहीनः।

ग्रामेति— समूह अर्थ में ग्राम, जन तथा बन्धु शब्दों से 'तल्' प्रत्यय होता है। तल् का लकार इत्संज्ञक है।

(लि.) तलन्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं।

ग्रामाणां समूहः ग्रामता। जनानां समूहः जनता। बन्धूनां समूहः बन्धुता।

(वा०) गज तथा सहाय शब्दों से भी उक्त अर्थ में 'तल्' हो।

गजानां समूहः गजता। सहायानां समूहः सहायता।

(वा०) अहन् शब्द से 'ख' हो 'यज्ञ' आदि वाच्य होने पर।

'अहन् ख'— इस स्थिति में 'ख' को 'ईन्' आदेश (आयनेयीनीयि०) हुआ। अहन् ईन् अ। टि (अन्) का लोप हो गया। अह् ईन–अहीन।

अह्नां समूहेन साध्यः क्रतु विशेषः। यहाँ 'ख' प्रत्यय हुआ। उसे 'ईन्' आदेश हुआ। 'टि' का लोप 'नस्तद्धिते' से होकर 'अहीनः' शब्द बना।

१०४९. [५]अचित्त-हस्ति-धेनोष्ठक्[१] (४/२/४७)

अचित्तेति— अचित्त (चित्त रहित) के वाचक, हस्तिन् तथा धेनु से समूह अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है।

१०५०. [५]इस्-उस्-उक्-ताऽन्तात् कः[१] (७/३/५१)

इस्-उस्-उक्-ताऽन्तात् परस्य ठस्य कः। साक्तुकम्, हास्तिकम्, धैनुकम्।

इसिति— इस्, उस्, उक् तथा तकार जिनके अन्त में हों उन से परे 'ठ' को 'क' आदेश होता है।

सक्तूनां समूहः साक्तुकम्। यहाँ पूर्व सूत्र के द्वारा 'ठक्' प्रत्यय हुआ। 'ठस्येकः' के द्वारा 'इक्' आदेश प्राप्त हुआ जिसे बाधकर 'क' आदेश हुआ। तब आदिवृद्धि होकर रूप सिद्ध हुआ।

हस्तिनां समूहः हास्तिकम्। धेनूनां समूहः धैनुकम्।

१०५१. [२]तद् अधीते [२]तद् वेद (४/२/५९)

तदिति— 'उसे पढ़ता है' उसे जानता हैं — इन अर्थों में द्वितीयान्त शब्द से 'अण्' होता है।

१०५२. नॅ य्-वाभ्यां[५] पदान्ताभ्यां[५] [१]पूर्वौ तुँ ताभ्याम्[५] ऐच्[१] (७/३/३)

पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्य न वृद्धिः, किं तु ताभ्यां पूर्वौ क्रमाद् ऐचावागमौ स्तः। व्याकरणम् अधीते वेद वा-वैयाकरणः।

नेति— ञित् णित् कित् तद्धित प्रत्यय परे रहते पदान्त यकार वकार से पर 'अच्' को वृद्धि न हो, परन्तु उनसे पूर्व 'ऐच्' आगम होता है।

इस प्रकार यकार से पूर्व 'ऐ' तथा वकार से पूर्व 'औ' का आगम होगा।

व्याकरणम् अधीते, वेत्ति वा वैयाकरणः। यहाँ प्राप्त वृद्धि का निषेध हुआ। यकार ('वि' उपसर्ग से प्राप्त) पदान्त है, उससे पर आकार को वृद्धि प्राप्त है तथा उससे पूर्व 'ऐ' का आगम हुआ।

१०५३. [५]क्रमादिभ्यो वुन्[१] (४/२/६१)

क्रमकः, पदकः, शिक्षकः, मीमांसकः।

॥ इति रक्ताऽऽद्यर्थकाः ॥

क्रमेति— 'क्रम' आदि शब्दों से 'पढ़ता है' या 'जानता है' — इस अर्थ में 'वुन्' प्रत्यय होता है। 'युवारनाकौ' के द्वारा 'वु' को 'अक' आदेश होगा।

क्रममधीते क्रमकः। शिक्षामधीते शिक्षकः।

अथ चातुरर्थिकाः

यहाँ से चातुर्थिक प्रकरण प्रारम्भ होता है। चार अर्थ ये हैं — १. इसमें है, २. उसने बताया, ३. उनका निवास, ४. जो उससे दूर नहीं है।

१०५४. [१]तद् अस्मिन्[७] अस्ति-इँति देशे[७] तन्नाम्नि[७] (४/२/६७)

उदुम्बरा: सन्त्यस्मिन् देशे-औदुम्बरो देश:।

तदिति— 'वह वस्तु यहाँ है' — इस अर्थ में वस्तुवाचक पद से 'अण्' होता है। प्रत्ययान्त शब्द यदि देश का नाम हो।

उदुम्बरा: सन्ति अस्मिन् देशे इति औदुम्बर: देश:। वस्तु वाचक उदुम्बर प्रथमान्त से 'अण्' हुआ। आदिवृद्धि (तद्धितेष्व०) होकर रूप सिद्ध हुआ।

१०५५. [३]**तेन निर्वृत्तम्**[१] **(४/२/६८)**

कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी कौशाम्बी।

तेनेति— 'उसके द्वारा बसाया गया' — इस अर्थ में तृतीयान्त शब्द से 'अण्' होता है।

कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी कौशाम्बी। कुशाम्ब शब्द से 'अण्' हुआ। आदिवृद्धि, अन्त्य लोप होकर 'कौशाम्ब' रूप सिद्ध हुआ। स्त्रीत्व विवक्षा में 'कौशाम्बी' (टिड्ढाणञ्०)।

१०५६. [६]**तस्य निवास:**[१] **(४/२/६९)**

शिबीनां निवासो देश:-शैब:।

तस्येति— 'उसका निवास है' — इस अर्थ में षष्ठ्यन्त पद से 'अण्' प्रत्यय होता है।

शिबीनां निवास: शैब: देश:। शिबि अण्। आदिवृद्धि तथा अन्त्य इकार का लोप होकर रूप बना।

१०५७. [१]**अदूर-भवश्च (४/२/७०)**

विदिशाया अदूरभवं नगरम्-वैदिशम्।

आदूरेति— 'अदूरभव अर्थात् जो दूर नहीं है' — इस अर्थ में पञ्चम्यन्त पद से 'अण्' होता है।

विदिशाया अदूरभवं नगरम् वैदिशम्। आदिवृद्धि होकर नपुँसकलिङ्ग में 'वैदिशम्' रूप बना।

१०५८. [७]**जनपदे लुप्**[१] **(४/२/८१)**

जनपदे वाच्ये चातुरर्थिकस्य लुप्।

जनेति— जनपद के अर्थ में चातुर्थिक प्रत्यय का लुप् हो यदि प्रत्यय जनपद के नाम से हो।

१०५९. [७]**लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने**[७] **(१/२/५१)**

लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्गवचने स्त:। पञ्चालानां निवासो जनपद:-पञ्चाला:। कुरव:। अङ्गा:। वङ्गा:। कलिङ्गा:।

लुपीति— प्रत्यय का लोप होने पर प्रकृति के समान ही लिङ्ग तथा वचन होते हैं। सूत्र में पठित 'युक्त' शब्द का अर्थ है — प्रकृति।

पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः। यहाँ 'तस्य निवासः' के द्वारा 'अण्' प्रत्यय हुआ। तब 'जनपदे लुप्' के द्वारा प्रत्यय का लोप हो गया। जनपद के सम्बन्ध से एकवचन प्राप्त था, परन्तु प्रकृत सूत्र के द्वारा प्रकृतिवत् लिङ्गादि की प्राप्ति हुई। क्षत्रियवाचक पञ्चाल शब्द से पुँल्लिङ्ग एवं बहुवचन होकर 'पञ्चालाः' रूप सिद्ध हुआ।

इसी प्रकार —

कुरूणां निवासो जनपदः कुरवः। अङ्गानां निवासो जनपदः अङ्गाः। बङ्गानां निवासो जनपदः बङ्गाः। कलिङ्गानां निवासो जनपदः कलिङ्गाः।

१०६०. [5]**वरणाऽऽदिभ्यश्च** (४/२/८२)

अजनपदार्थ:-आरम्भः। वरणानामदूरभवं नगरम्-वरणाः।

वरणेति— वरण आदि से पर चातुरर्थिक प्रत्यय का लोप होता है। यह लोप कार्य जनपद अर्थ से भिन्न अर्थ में होता है।

वरणानामदूरभवं नगरम् वरणाः। यहाँ 'अण्' हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा प्रत्यय का लोप हुआ। तब प्रकृतिवत् लिङ्ग एवं वचन होकर रूप सिद्ध हुआ।

१०६१. [5]**कुमुद-नड-वेतसेभ्यो ड्मतुप्**[1] (४/२/८७)

कुमुदेति— 'तद् अस्मिन् अस्ति' — इस सप्तम्यन्त अर्थ में 'ड्मतुप्' प्रत्यय होता है, यदि प्रत्ययान्त शब्द देश का वाचक हो।

'ड्मतुप्' के पकार (हलन्त्यम्), उकार (उपदेशेऽजनु०) तथा डकार (चुटू) की इत्संज्ञा होती है।

१०६२. [5]**झयः** (८/३/१०)

झयन्तान् मतोर्मस्य वः। कुमुद्वान्। नड्वान्।

झय इति— झयन्त से पर मतु (ड्मतुप्) के मकार को वकार आदेश होता है।

कुमुदाः सन्ति अस्मिन् देशे। यहाँ सप्तम्यन्त अर्थ में 'कुमुद' शब्द से 'ड्मतुप्' हुआ। टि का लोप हुआ। तब कुमुद् मत् — कुमुद्वत् रूप सिद्ध होता है। कुमुद्वान् (प्रथमा एकव०)। नडाः सन्ति अस्मिन् देशे इति नड्वान्।

१०६३. [5]**माद् उपधाया**[5]**श्च** [6]**मतोर्वोऽ** [1]**यवाऽऽदिभ्यः**[5] (८/२/९)

मवर्णाऽवर्णान्तान् मवर्णाऽवर्णोपधाच्च यवादिवर्जितात्परस्य मतोर्मस्य वः। वेतस्वान्।

मादिति— मवर्णान्त, अवर्णान्त, मकारोपध तथा अकारोपध से पर मतुप् के मकार को वकार हो तथा यवादि से पर (उक्त कार्य) न हो।

वेतसाः सन्ति अस्मिन् देशे। यहाँ 'ड्मतुप्' प्रत्यय हुआ। टि का लोप होकर 'वेतस मत्' ऐसी स्थिति बनी। चूँकि 'वेतस' शब्द के उपधा में अकार है अतः प्रकृत सूत्र के द्वारा वकार आदेश होकर 'वेतस्वान्' रूप सिद्ध हुआ।

इस सूत्र के उदाहरण ये हैं —

मवर्णान्त — किंवान्। 'किम् मतुप्' यहाँ 'किम्' शब्द मकारान्त है।

अवर्णान्त — ज्ञानवान्, विद्यावान्।

मवर्णोपध — लक्ष्मीवान्। 'लक्ष्मी' शब्द की उपधा में मकार है।

अवर्णोपध — वेतस्वान्, भास्वान्। 'वेतस्' तथा 'भास्' शब्दों की उपधा में क्रमशः अकार तथा आकार है।

१०६४. [५]**नड-शादाड् ड्वलच्**[१] (४/२/८८)

नड्-वलः। शाद्वलः।

नडेति— नड और शाद शब्द से सप्तम्यन्त के अर्थ में 'ड्वलच्' प्रत्यय होता है। ड्वलच् का 'वल' शेष रहता है।

नडाः सन्ति यस्मिन् देशे नड्वलः।

शादाः सन्ति यस्मिन् देशे शाद्वलः।

१०६५. [५]**शिखाया वलच्**[१] (४/२/८९)

शिखावलः।

॥ इति चातुरर्थिकाः ॥

शिखेति— 'तद् अस्मिन् अस्ति' — इस अर्थ में शिखा शब्द से 'वलच्' प्रत्यय हो। 'वलच्' के चकार की इत्संज्ञा होती है।

शिखाः सन्ति अस्मिन् देशे शिखावलः।

अथ शैषिकाः

१०६६. [७]**शेषे** (४/२/९२)

अपत्याऽऽदि-चतुरर्थ्यन्ताद्-अन्योऽर्थः शेषः। तत्राऽणादयः स्युः। चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषम्-रूपम्। श्रावणः-शब्दः। औपनिषदः-पुरुषः दृषदि पिष्टा दार्षदाः-सक्तवः। चतुर्भिरुह्यते चातुरम्-शकटम्। चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशम् रक्षः। 'तस्य विकारः' इत्यतः प्राक् शेषाधिकारः।

शेष इति— अपत्य अर्थ तथा चतुरर्थी से अतिरिक्त अर्थ शेष कहलाता है।

चक्षुषा गृह्यते इति चाक्षुषम्। यहाँ तृतीयान्त से शैषिक 'अण्' प्रत्यय हुआ।

श्रवणेन (कर्णेन) गृह्यते श्रावणः शब्दः।

उपनिषद्भिः प्रतिपादितः पुरुषः औपनिषदः।

दृषदि पिष्टाः सक्तवः दार्षदाः। सप्तम्यन्त पद से 'अण्' हुआ। आदिवृद्धि (तद्धितेष्व०, उरण् रपरः) होकर रूप सिद्ध हुआ।

चतुर्भिः उह्यते चातुरं शकटम्। यहाँ 'उह्यते' अर्थ में तृतीयान्त पद से 'अण्' हुआ।

चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः।

'तस्य विकारः' — इस से पूर्व तक शेषाधिकार है।

१०६७. [५]**राष्ट्राऽवारपाराद् घखौ**[१] (४/२/९३)

आभ्यां क्रमाद् घ-खौ स्तः शेषे। राष्ट्रेजातादि-राष्ट्रियः। अवारपारीणः।

(वा०) अवारपाराद् विगृहीतादपि विपरीतात् च-इति वक्तव्यम्। अवारीणः। पारीणः। पारावारीणः। इह प्रकृति-विशेषाद् घादयष्ट्युट्युलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते, तेषां जाताऽऽदयोऽर्थविशेषाः समर्थविभक्तयश्च वक्ष्यन्ते।

राष्ट्रेति— राष्ट्र तथा अवारपार शब्दों से क्रमशः 'घ' तथा 'ख' प्रत्यय होते हैं।

राष्ट्रे जातः भवो वा राष्ट्रियः। 'घ्' को 'इय्' आदेश हुआ (आयनेयीनीयि०)।

अवारपारं गतः अवारपारीणः। 'ख्' को 'ईन्' आदेश हुआ।

(वा०) अवारपार शब्द से पृथक् किये जाने पर तथा विपरीत से भी 'ख' प्रत्यय होता है।

अवारे जातः अवारीणः। अवार ख-अवार ईन-अवार् ईन-अवारीन-अवारीणः।

पारे जातः पारीणः। पार ख-पार ईन-पार् ईन-पारीन-पारीण।

पारावारे जातः पारावरीणः। पारावार ख-पारावार् ईन-पारावरीणः।

शैषिक प्रकरण में 'राष्ट्रावारपा—' इत्यादि सूत्रों के द्वारा राष्ट्र आदि विशेष प्रकृतियों से 'घ' आदि का विधान किया गया है। किन्हीं सूत्रों के द्वारा केवल अर्थ का विधान किया गया है। यथा — तत्र जातः। इन दोनों की एक वाक्यता होने से प्रकृति, प्रत्यय तथा अर्थ का योग हो जाता है। समर्थ विभक्ति का उल्लेख 'समर्थानां प्रथमाद्वा' में कर दिया गया है। अतः एतादृश शङ्का के लिए कोई अवकाश उपस्थित नहीं होता है कि कहीं प्रत्यय का विधान है तथा कहीं केवल अर्थ का विधान है।

१०६८. [५]**ग्रामाद् य-खञौ**[१] (४/२/९४)

ग्राम्यः। ग्रामीणः।

ग्रामादिति— सप्तम्यन्त ग्राम शब्द से 'जातः' अर्थ में 'य' तथा 'खञ्' हो।

ग्रामे जातः। ग्राम खञ् — ग्रामीणः। ग्रामे जातः। ग्राम य — ग्राम्यः।

१०६९. [५]**नद्यादिभ्यो ढक्**[१] (४/२/९८)

नादेयम्। माहेयम्। वाराणसेयम्।

नदीति— नदी आदि से 'ढक्' होता है, शैषिक अर्थों में।

नद्यां जातम् नादेयम्। नदी ढक्। ढकार को 'एय्' आदेश होता है।

मह्यां जातम् माहेयम्। वाराणस्यां जातम् वाराणसेयम्।

१०७०. [५]**दक्षिणा-पश्चात्-पुरसस्त्यक्**[१] (४/२/९७)

दाक्षिणात्यः। पाश्चात्त्यः। पौरस्त्यः।

दक्षिणेति— दक्षिणा, पश्चात् तथा पुरस् इन अव्यय पदों से 'जातः' और 'भवः' आदि शैषिक अर्थों में 'त्यक्' होता है। 'त्यक्' का ककार इत् है।

दक्षिणस्यां जातः इति दाक्षिणात्यः। 'त्यक्' प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुआ। पश्चात् त्यक्-पाश्चात् त्य-पाश्चाद् त्य-पाश्चात् त्य (खरि च)-पाश्चात्त्य-पाश्चात्त्यः (प्रथ० एक०)।

पुरस् त्यक् — पौरस् त्य — पौरः त्य (खरवसानयो०) — पौरस् त्य (विसर्जनीयस्य सः) — पौरस्त्य — पौरस्त्यः (प्रथमा एकव० में।

१०७१. [५]द्यु-प्राग्-अपाग्-उदक्-प्रतीचो यत्[१] (४/२/१०१)

दिव्यम्। प्राच्यम्। अपाच्यम्। उदीच्यम्। प्रतीच्यम्।

दिविति— दिव्, प्राच्, अपाच्, उदच् और प्रतीच् शब्दों से 'यत्' प्रत्यय होता है।

दिवि भवम् दिव्यम्। 'यत्' होकर रूप सिद्धि हुई।

प्राच्यां भवं प्राच्यम्। इसी प्रकार 'अपाच्यम्', 'उदीच्यम्' तथा 'प्रतीच्यम्' बनेंगे।

१०७२. [५]अव्ययात् त्यप्[१] (४/२/१०४)

(वा०) अमेह-क्व-तसि-त्रेभ्य एव। अमात्यः। इहत्यः। क्वत्यः। ततस्त्यः। तत्रत्यः।

(वा०) त्यप् नेर्ध्रुवे इति वक्तव्यम्। नित्यः।

अव्य० इति— अव्यय से भव आदि अर्थ में 'त्यप्' प्रत्यय होता है।

(वा०) अमा, इह, क्व, तसन्त (तसिल् प्रत्ययान्त, यथा— ततः, अतः) तथा त्रान्त (अत्र, तत्र, कुत्र) से ही 'त्यप्' हो। 'त्यप्' का पकार इत् है।

अमा (सह) भवः अमात्यः (जो मन्त्रणा के लिए राजा के साथ रहता है।)

इह भवः इहत्यः। क्व भवः क्वत्यः। ततः भवः ततस्त्यः। तत्र भवः तत्रत्यः।

(वा०) नि उपसर्ग से भी ध्रुव (स्थिर) अर्थ में 'त्यप्' हो।

नि भवः नित्यः।

१०७३. [१]वृद्धिर्यस्या[६]ऽचाम्[६] आदिः,[१] तद् वृद्धम्[१] (१/१/७३)

यस्य समुदायस्याऽचां मध्ये आदिर्वृद्धिः, तद् वृद्धसंज्ञं स्यात्।

वृद्धिरिति— जिस समुदाय के अचों में आदि अच् वृद्धिसंज्ञक हो, उस समुदाय की 'वृद्ध' संज्ञा हो।

१०७४. [१]त्यदाऽऽदीनि चँ (१/१/४७)

वृद्ध-संज्ञानि स्युः।

त्यदिति— त्यदादियों की भी 'वृद्ध' संज्ञा हो।

१०७५. [५]वृद्धात् छः[१] (४/२/११४)

शालीयः। मालीयः। तदीयः।

(वा०) वा नामधेयस्य वृद्ध-संज्ञा वक्तव्या। देवदत्तीयः, दैवदत्तः।

वृद्धादिति— वृद्ध संज्ञक शब्दों से 'छ' प्रत्यय हो।

शालायां भवः शालीयः। शाला शब्द का आदि अच् वृद्धि संज्ञक है। अतः शाला शब्द वृद्ध संज्ञक हो गया। तब 'छ' प्रत्यय हुआ तथा 'छ्' को 'ईय्' आदेश हो गया।

इसी प्रकार 'मालीयः' (आयनेयीनीयि०) बनेगा।

'तस्य अयम्' — यहाँ त्यदादि होने से वृद्धसंज्ञक हो गया। तदीयः।

इसी प्रकार — मदीयः, त्वदीयः, भवदीयः, अस्मदीयः, युष्मदीयः, एतदीयः, यदीयः — इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते है।

(वा०) व्यक्तिवाचक पद की वृद्ध-संज्ञा विकल्प से होती है।

देवदत्तस्य अयम्। यहाँ देवदत्त शब्द व्यक्तिवाचक है। प्रकृत वार्तिक के द्वारा इसकी विकल्प से वृद्ध संज्ञा हुई। 'वृद्धाच्छः' के द्वारा 'छ' होकर 'देवदत्तीयः' शब्द बना। पक्ष में 'अण्' होकर 'दैवदत्तः' बना।

१०७६. [५]**गहादिभ्यश्च** (४/२/१३८)

गहीयः।

गहेति— भव आदि अर्थों में 'गह' आदि शब्दों से 'छ' प्रत्यय हो।

गहे भवः गहीयः। 'गह' एक देवता विशेष का नाम है।

१०७७. [६]**युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्**[१] **च** (४/३/१)

चात्-छः, पक्षेऽण्। युवयोर्युष्माकं वाऽयम्-युष्मदीयः। अस्मदीयः।

युष्मदिति— युष्मद् तथा अस्मद् से विकल्प से 'खञ्' प्रत्यय हो।

चकार के द्वारा 'छ' की अनुवृत्ति आ रही है।

पक्ष में 'अण्' होगा। पञ्चम्यर्थ में षष्ठी हुई है।

युष्माकं युवयोः वा अयम्। यहाँ 'खञ्' हुआ। इसके अतिरिक्त 'छ' भी होगा। अभावपक्ष में 'अण्' हुआ। युष्मद् छ > ईय- 'छ' पक्ष में 'युष्मदीयः' बन गया।

इसी प्रकार 'अस्मदीयः' बन गया।

१०७८. **तस्मिन्**[७]**-अणि**[७] **च युष्माकाऽस्माकौ**[१] (४/३/६)

युष्मद्-अस्मदोरेतावादेशौ स्तः खञि अणि च। यौष्माकीणः। आस्माकीनः। यौष्माकः। आस्माकः।

तस्मिन्निति— खञ् तथा अण् परे रहते युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों को क्रमशः 'युष्माक' तथा 'अस्माक' आदेश होते हैं।

युष्माकम् अयम्। यहाँ 'खञ्' प्रत्यय हुआ। तब 'युष्माक ख > ईन' इस स्थिति में आदिवृद्धि होकर 'यौष्माकीणः' रूप बना।

इसी प्रकार 'आस्माकीनः' रूप बना।

'अण्' के पक्ष में 'यौष्माकः' तथा 'आस्माकः' रूप बनेंगे।

१०७९. [१]**तवक-ममकावेकवचने**[७] (४/३/३)

एकाऽर्थवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्तवक-ममकौ स्तः, खञि, अणि च। तावकीनः, तावकः। मामकीनः, मामकः। छे तु –

तवकेति— एकार्थवाचक युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों को 'तवक' तथा 'ममक' आदेश होते हैं, खञ् तथा अण् परे रहते।

तव अयम्। यहाँ एकत्व की विवक्षा में 'तवक' आदेश होकर 'तावकीनः' रूप बना। 'अण्' पक्ष में 'तावकः' बनेगा।

मम अयम्। इस अवस्था में 'खञ्' तथा 'अण्' होने पर क्रमशः 'मामकीनः' तथा 'मामकः' रूप बनेंगे।

१०८०. [७]**प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** (७/२/९८)

मपर्यन्तयोरेकार्थवाचिनोः 'त्व-मौ' स्तः प्रत्यये उत्तरपदे च परतः। त्वदीयः। मदीयः। त्वत्पुत्रः। मत्पुत्रः।

प्रत्ययेति— एकवचन में युष्मद् और अस्मद् के मर्पयन्त भाग को क्रमशः 'त्व' तथा 'म' आदेश होते हैं, प्रत्यय तथा उत्तरपद परे रहते।

तव अयम्। 'त्यदादीनि च' के द्वारा वृद्ध संज्ञा हुई। 'वृद्धात् छः' के द्वारा 'छ' प्रत्यय हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'त्व' आदेश हुआ। 'छ' को 'इय्' आदेश होकर 'त्वदीयः' रूप बना। यथा— युष्मत् छ-युष्मत् ईय-त्व अत् ईय-त्वत् ईय-त्वद् ईय-त्वदीय-त्वदीय सु-त्वदीयः।

इसी प्रकार 'मम अयम् — मदीयः।

उत्तरपद के उदाहरण हैं — तव पुत्रः — त्वत्पुत्रः। मम पुत्रः — मत्पुत्रः।

१०८१. [५]**मध्यान् मः**[१] (४/३/८)

मध्यमः।

मध्यादिति— भव आदि अर्थ में 'मध्य' शब्द से 'म' प्रत्यय होता है।

मध्ये भवः मध्यमः।

१०८२. [५]**कालात् ठञ्**[१] (४/३/११)

कालवाचिभ्यः 'ठञ्' स्यात्। कालिकम्। मासिकम्। सांवत्सरिकम्।

(वा०) अव्ययानां भमात्रे टिलोपः। सायंप्रातिकः। पौनःपुनिकः।

कालादिति— सप्तम्यन्त काल शब्द से तथा कालविशेष के वाचक 'मास' आदि शब्दों से भव आदि अर्थों में 'ठञ्' प्रत्यय होता है।

काले भवम्। 'ठञ्' प्रत्यय हुआ। 'ठस्येकः' के द्वारा 'इक्' आदेश हुआ। आदिवृद्धि तथा अन्त्य लोप हुआ। कालिकः।

मासे भवम् मासिकम्। संवत्सरे भवम् सांवत्सरिकम्।

(वा०) भसंज्ञा होने पर अव्ययों की टि का लोप होता है।

सायंप्रातर्भवः। यहाँ टि (अर्) का लोप हो गया। सायंप्रातिकः।

पुनः पुनर्भवः पौनः पुनिकः।

१०८३. [५]**प्रावृष एण्यः**[१] (४/३/१७)

प्रावृषि भवः प्रावृषेण्यः।

प्रावृष इति— प्रावृष् (काल विशेष) शब्द से 'एण्य' होता है।

१०८४. [५]**सायं-चिरं-प्राह्णे-प्रगे-ऽव्ययेभ्यष्ट्यु-ट्युलौ**[१] **तुट्**[१] **चँ** (४/३/२३)

सायम्-इत्यादिभ्यश्चतुर्भ्योऽव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यः 'ट्यु-ट्युलौ', स्तः, तयोस्तुट् च। सायन्तनम्। चिरन्तनम्। 'प्राह्णे-प्रगे' अनयोरेदन्तत्वं निपात्यते-प्राह्णेतनम्, प्रगेतनम् प्रजातः-औत्स इत्यादि।

सायमिति— सायम्, चिरम्, प्राह्णे और प्रगे तथा कालवचाक अव्यय पदों से भवार्थ में 'ट्यु' तथा 'ट्युल्' प्रत्यय होते हैं तथा उन्हें 'तुट्' आगम होता है।

'ट्यु' का टकार इत्संज्ञक है। 'टयुल्' के टकार और लकार इत्संज्ञक हैं। 'यु' 'युवोरनाकौ' से को 'अन' आदेश हो जाता है।

साये भवः। यहाँ निपातन से मान्त होता है। तब 'सायम्' के अव्यय होने पर प्रत्यय हुआ। सायन्तनम्।

इसी प्रकार — चिरे भवः चिरम् ट्यु — चिरम् यु — चिरम् तुट् अन — चिरंतन — चिरन्तनम्।

प्राह्णः सोढोऽस्य। यहाँ 'तदस्य सोढम्' के द्वारा इस अर्थ में प्रत्यय हुआ है। तब एदन्तता का निपातन हुआ। प्राह्णे तुट् यु — प्राह्णेतनम्।

जात अर्थ में 'घकाल तनेषु —' के द्वारा सप्तमी का अलुक् हो जायेगा। प्राह्णे जातः — प्राह्णेतनम्।

प्रगे (प्रातःकाले) भवः प्रगेतनम्। यहाँ एदन्तता निपातन से सिद्ध है।

दोषा भवम् दोषातनम्।

१०८५. **तत्रँ जातः**[१] (४/३/२५)

सप्तमी-समर्थात् 'जाते'इत्यर्थ 'अण्' आदयो 'घ' आदयश्च स्युः। स्रुघ्ने जातः-स्रौघ्नः। उत्से जातः-औत्सः। राष्ट्रे जातः-राष्ट्रियः। अवारपारे जातः-अवारपारीणः-इत्यादि।

तत्रेति— सप्तम्यन्त से 'जातः' इस अर्थ में 'अण्' (सामान्य) तथा 'घ' आदि (विशेष) प्रत्यय हों।

स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः। उत्से जातः औत्सः। राष्ट्रे जातः राष्ट्रियः।

इसी प्रकार 'अवारपारीणः' बनेगा।

१०८६. [५]**प्रावृषष्ठप्**[१] (४/३/२६)

एण्याऽपवादः। प्रावृषिकः।

प्रा० इति— 'जात' अर्थ में 'प्रावृष्' शब्द से 'ठप्' होता है।

प्रावृषि जातः प्रावृषिकः।

१०८७. **प्रायभवः**[१] (४/३/३९)

'तत्र' इत्येव। स्रुघ्ने प्रायेण-बाहुल्येन भवति-स्रौघ्नः।

प्रायेति— सप्तम्यन्त से 'प्रायभव' अर्थ में 'अण्' तथा 'घ' आदि प्रत्यय होते हैं।

स्रुघ्ने प्रायेण (बाहुल्येन) भवति इति स्रौघ्नः। यहाँ 'अण्' होकर आदिवृद्धि हुई है।

१०८८. [७]**संभूते** (४/३/४१)

स्रुघ्ने संभवति-स्रौघ्नः।

सम्भूत इति— संभूत (सम्भावना) अर्थ में सप्तम्यन्त से 'अण्' आदि प्रत्यय हों।

स्रुघ्ने संभवति स्रौघ्नः। 'अण्' होकर रूप सिद्ध हुआ है।

१०८९. **कोशाद्**[५] **ढञ्**[१] (४/३/४२)

कौशेयम्-वस्त्रम्।

कोशादिति— सम्भूत अर्थ में सप्तम्यन्त कोश शब्द से 'ढञ्' प्रत्यय होता है। ढकार को 'एय्' आदेश होता है।

कोशे सम्भवति कौशेयम्।

१०९०. **तॅत्र भवः**[१] (४/३/५३)

स्रुघ्ने भवः स्रौघ्नः। औत्सः। राष्ट्रियः।

तत्रेति— भव अर्थ में सप्तम्यन्त पद से 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं।

स्रुघ्ने भवति स्रौघ्नः।

१०९१. **दिगादिभ्यो**[५] **यत्**[१] (४/३/५४)

दिश्यम्। वर्ग्यम्।

दिगिति— भव अर्थ में 'दिश्' आदि सप्तम्यन्त पदों से 'यत्' प्रत्यय होता है।

दिशि भवम् इति दिश्यम्।

१०९२. **शरीरा.ऽवयवात्**[५] **चॅ** (४/३/५५)

दन्त्यम्। कण्ठ्यम्।

(वा०) अध्यात्माऽऽदेः 'ठञ्' इष्यते। अध्यात्मं भवम्-आध्यात्मिकम्।

शरीरेति— शरीर के अवयव वाचक शब्द से 'यत्' होता है।

दन्तेषुं भवं दन्त्यम्। कण्ठे भवं कण्ठ्यम्।

(वा०) भव अर्थ में अध्यात्म शब्द से 'ठञ्' होता है।

ठकार को 'इक्' आदेश होता है।

अध्यात्मं भवम् आध्यात्मिकम्। आदिवृद्धि तथा अन्त्य लोप होकर रूप सिद्ध हुआ

है।

१०९३. [६]अनुशतिकाऽऽदीनां चॅ (७/३/२०)

एषाम् उभयपद-वृद्धिर्ञिति णिति किति च। आधिदैविकम्। आधिभौतिकम्। ऐहलौकिकम्। पारलौकिकम्। आकृतिगणोऽयम्।

अनु० इति— ञित्, णित् तथा कित् प्रत्यय परे रहते 'अनुशतिक' आदि समस्त पदों के दोनों पदों की वृद्धि हो।

अधिभूते भवम् आधिभौतिकम्। यहाँ आदिवृद्धि दोनों पदों (अधि, भूत) में होती है।

अधिदेवे भवम् आधिदैविकम्। पूर्ववत्। इहलोके भवम् ऐहलौकिकम्।

परलोके भवं पारलौकिकम्। यह अनुशतिकादिगण आकृतिगण है।

१०९४. [५]**जिह्वामूलाऽङ्गुलेश्छः**[१] (४/३/६२)

जिह्वामूलीयम्। अङ्गुलीयम्।

जिह्वेति— जिह्वामूल तथा अङ्गुली शब्दों से भव अर्थ में 'छ' प्रत्यय होता है।

जिह्वामूले भवम्। यहाँ 'शरीरावयवात्' के द्वारा 'यत्' प्राप्त हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'यत्' का बाध होकर 'छ' प्रत्यय हुआ। जिह्वामूलीयम्।

अङ्गुल्यां भवम् अङ्गुलीयम्।

१०९५. [५]**वर्गाऽन्ताचॅ** (४/३/६३)

कवर्गीयम्।

वर्गेति— वर्ग शब्द है जिसके अन्त में, ऐसे सप्तम्यन्त पद से भव अर्थ में 'छ' प्रत्यय होता है।

कवर्गे भवम् कवर्गीयम्। कवर्ग छ > ईय।

१०९६. [५]**ततः आगतः**[१] (४/३/७४)

स्रुघ्नाद् आगतः-स्रौघ्नः।

तत इति— 'तत आगतः' अर्थ में पञ्चम्यन्त पद से 'अण्' प्रत्यय हो।

स्रुघ्नाद् आगतः स्रौघ्नः।

१०९७. [१]**ठग् आय-स्थानेभ्यः**[५] (४/३/७५)

शुल्क-शालाया आगतः-शौल्कशालिकः।

ठगिति— 'वहाँ से आया हुआ' — इस अर्थ में स्थान-वाचक पञ्चम्यन्त पद से 'ठक्' होता है।

शुल्कशालाया आगतः शौल्कशालिकः। 'ठक्' होकर आदिवृद्धि हुई।

१०९८. [५]**विद्या-योनि-संबन्धेभ्यो वुञ्**[१] (४/३/७७)

औपाध्यायकः। पैतामहकः।

विद्येति— 'आया हुआ' — इस अर्थ में विद्या और योनि-सम्बन्धवाचक पञ्चम्यन्त शब्द से 'वुञ्' प्रत्यय होता है। 'वुञ्' का ञकार इत्संज्ञक है। 'वु' को 'अक' आदेश होता है।

उपाध्यायाद् आगतः औपाध्यायकः। यहाँ उपाध्याय विद्या सम्बन्ध का वाचक है।

पितामहाद् आगतः पैतामहकः। यहाँ योनि-सम्बन्धवाचक पितामह शब्द से 'वुञ्' प्रत्यय होकर रूप सिद्ध होता है।

१०९९. [५]हेतु-मनुष्येभ्योऽन्यतरॅस्यां रूप्यः[१] (४/३/८१)

समाद् आगतम्-समरूप्यम्। (विषमरूप्यम्)। पक्षे-गहाऽऽदित्वात् छः-समीयम्, विषमीयम्। देवदत्त-रूप्यम्, दैवदत्तम्।

हेत्विति— 'आया हुआ' — इस अर्थ में हेतु (कारण) तथा मनुष्यवाचक पञ्चम्यन्त शब्द से 'रूप्य' प्रत्यय विकल्प से होता है।

समाद् आगतः समरूप्यम्। पक्ष में 'गहादिभ्यश्च' के द्वारा 'छ' होकर 'समीयम्' रूप बनेगा। विषमाद् आगतः विषमरूप्यम्। पक्ष में 'विषमीयम्' रूप बनेगा।

देवदत्ताद् आगतः देवदत्तरूप्यम्। पक्ष में 'वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वाच्या' के द्वारा वैकल्पिक वृद्धसंज्ञा होती है। वृद्धत्व पक्ष में 'छ' होकर 'देवदत्तीयम्' तथा अभाव पक्ष में 'अण्' होकर 'दैवदत्तम्' रूप बना।

११००. [१]मयट् चँ (४/३/८२)

सम-मयम्। देवदत्तमयम्।

मयडिति— पूर्वोक्त स्थलों पर 'मयट्' भी होता है। 'मयट्' का टकार इत्संज्ञक है। इस प्रकार पक्ष में 'सममयम्' तथा 'देवदत्तमयम्' रूप भी बनेंगे।

११०१. **प्रभवति** (४/३/८३)

हिमवतः प्रभवति-हैमवती, गङ्गा।

प्र० इति— 'निकलता है' — इस अर्थ में पञ्चम्यन्त शब्द से 'अण्' प्रत्यय होता है।

हिमवतः प्रभवति हैमवतः। स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ङीप्' हैमवती गङ्गा। (टिड्ढाणञ०)।

११०२. **तद्गच्छति पथि-दूतयोः**[७] (४/३/८५)

स्रुघ्नं गच्छति-स्रौघ्नः, पन्था दूतो वा।

तदिति— 'उस स्थान को जाता है' — इस अर्थ में द्वितीयान्त पद से 'अण्' हो यदि मार्ग और दूत वाच्य हो।

स्रुघ्नं गच्छति स्रौघ्नः पन्थाः। अथवा स्रौघ्नः दूतः।

११०३. **अभिनिष्क्रामति द्वारम्**[१] (४/३/८६)

स्रुघ्नम् अभिनिष्क्रामति-स्रौघ्नम्-कान्यकुब्ज-द्वारम्।

अभि० इति— 'उस ओर जाता है' — इस अर्थ में अभिनिष्क्रमण का कर्त्ता 'द्वार' होने पर द्वितीयान्त शब्द से 'अण्' होता है।

स्रुघ्नम् अभिनिष्क्रामति स्रौघ्नम्।

विशेष — प्राचीन काल में बड़े नगर प्राकार (चहार दीवारी) से घिरे होते थे और बाहर निकलने के द्वार बने होते थे। जो दरवाजा जिस ओर को निकलता था, उसका नाम उसी ओर के नाम से प्रसिद्ध हो जाता था। यथा — अजमेरी गेट। काशिका के अनुसार कान्यकुब्ज (कन्नौज) के एक द्वारविशेष का नाम 'स्रौघ्न' था।

११०४. **अधिकृत्य कृते[७] ग्रन्थे[७]** (४/३/८७)

शारीरकम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः-शारीरकीयः।

अधि० इति— 'अधिकृत करके बनाया हुआ ग्रन्थ' — इस अर्थ में द्वितीयान्त शब्द से 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं।

शारीरकम् (आत्मानम्) अधिकृत्य कृतः ग्रन्थः शारीरकीयः। यहाँ (वृद्धात् छः) 'छ' प्रत्यय हुआ है।

११०५. **[१]सोऽस्य[६] निवासः[१]** (४/३/८९)

स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रौघ्नः।

सेति— 'यह इसका निवास है' — इस अर्थ में स्थानवाचक प्रथमान्त पद से 'अण्' आदि प्रत्यय हों।

स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रौघ्नः।

११०६. **[३]तेन प्रोक्तम्[१]** (४/३/१०१)

पाणिनिना प्रोक्तम्-पाणिनीयम्।

तेनेति— 'उसके द्वारा प्रवचन किया गया' — इस अर्थ में तृतीयान्त पद से 'अण्' आदि हों।

पाणिनिना प्रोक्तम् पाणिनीयम्। यहाँ (वृद्धात् छः) 'छ' प्रत्यय होकर रूप सिद्ध हुआ है।

११०७. **[६]तस्येदम्[१]** (४/३/१२०)

उपगोरिदम्-औपगवम्। इति शैषिकाः।

तस्येति— 'उसका यह है' — इस अर्थ में षष्ठ्यन्त शब्द से 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं। उपगोरिदम् औपगवम्। यहाँ 'अण्' होकर रूप सिद्ध हुआ।

१. इस शैषिक प्रकरण में कुछ सूत्रों से प्रत्यय का ही विधान किया गया है, अर्थ का निर्देश उनमें नहीं और कुछ सूत्रों में अर्थ का ही निर्देश किया गया है, प्रत्यय का नहीं। दोनों प्रकार के सूत्रों की परस्पर एकवाक्यता करने से समन्वय हो जाता है।

जैसे— 'वृद्धात् छः' सूत्र 'छ' प्रत्यय का विधान करता है। अर्थ का उसमें निर्देश

नहीं और 'तेन प्रोक्तम्' सूत्र समर्थ विभक्त्यन्त का और अर्थ का निर्देश करता है—प्रत्यय का नहीं। दोनों सूत्रों की एकवाक्यता होने पर अर्थ होगा— 'वृद्धसंज्ञक पाणिनि शब्द से 'प्रोक्त' अर्थ में 'छ' होता है।'

इसी प्रकार 'चन्द्रेण प्रोक्तं चान्द्रम्' — यहाँ 'शेषे' इस सामान्य सूत्र के द्वारा 'अण्' प्रत्यय तथा 'तेन प्रोक्तम्' से अर्थ का निर्देश हुआ है।

२. अनेक अर्थों में एक प्रत्यय भी होता है। ऐसी अवस्था में रूप समान ही होता है तथा अर्थ में अन्तर होता है।

जैसे — स्रौघ्नः - यह पद 'अण्' प्रत्यय के द्वारा कई अर्थों में सिद्ध हुआ। यथा—

१. '१०८७ तत्र जातः ४/३/२५' २. '१०८९ प्राय-भवः ४/३/३९'

३. '१०९० सम्भूते ४/३/४१' ४. '१०९२ तत्र भवः ४/३/५३'

५. '१०९८ तत आगतः ४/३/७४' ६. '११०४ तद् गच्छति पथि दूतयोः ४/३/८५'

७. '११०५ अभिनिष्क्रामति द्वारम् ४/३/८६' ८. '११०७ सोऽस्य निवासः ४/३/८९'

अथ प्राग्दीव्यतीयाः

११०८. [६]**तस्य विकारः**[१] **(४/३/१३२)**

(वा०) अश्मनो विकारे टि-लोपो वक्तव्यः। अश्मनो विकारः-आश्मः। भास्मनः। मार्तिकः।

अब विकार आदि अर्थों में प्रत्यय कहे जाते हैं। ये 'तेन दीव्यति' — (४.४.२.) तक कहे गये हैं। अतः इन्हें प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय कहा जाता है।

तस्येति— विकार अर्थ में षष्ठ्यन्त शब्द से 'अण्' आदि प्रत्यय होते हैं।

(वा०) विकारार्थक प्रत्यय परे रहते 'अश्मन्' शब्द के टि का लोप होता है।

अश्मनः विकारः। यहाँ 'अण्' प्रत्यय होने पर आदिवृद्धि, टिलोप होकर 'आश्मः' रूप बना। इसका अर्थ है — सीमेन्ट या शिलाजीत। अश्मन् अण्। अश्म् अण्।

इसी प्रकार भस्मनो विकारः भास्मनः। 'नस्तद्धिते' के द्वारा प्राप्त टिलोप का 'अन्' के द्वारा निषेध हो गया। मृत्तिकायाः विकारः मार्त्तिकः (तद्धितेष्वचा० उरण् रपरः)।

११०९. [७]**अवयवे च प्राण्योषधि-वृक्षेभ्यः**[५] **(४/३/१३४)**

चाद्विकारे। मयूरस्याऽवयवो विकारो वा मायूरः। मौर्वं काण्डं भस्मवा। पैप्पलम्।

अव० इति— अवयव अर्थ में भी प्राणिवाचक, ओषधिवाचक तथा वृक्षवाचक षष्ठ्यन्त शब्दों से 'अण्' आदि होते हैं। चकार कहने से 'विकार' अर्थ में भी होता है।

मयूरस्य अवयवः मायूरः। अथवा मयूरस्य विकारः मायूरः। इसी प्रकार मूर्वायाः अवयवः मौर्वः। 'मौर्व' का अर्थ है — काण्ड। विकार अर्थ में इस का अर्थ होगा—

ओषधिविशेष (मूर्वा) की भस्म।

पिप्पलस्य अवयव:/विकार: पैप्पलम्।

१११०. [१]**मयड्** ˘**वैतयो**[७]**र्भाषायामभक्ष्याऽऽच्छादनयो:**[७] (४/३/१४३)

प्रकृतिमात्रात् मयड् वा स्यात् विकाराऽवयवयो:। अश्ममयम्, आश्मनम्। 'अभक्ष्येत्यादि किम्-मौद्‌ग: सूप:। कार्पासम् आच्छादनम्।

मयडिति— भक्ष्यभिन्न और आच्छादन भिन्न विकार तथा अवयव अर्थ में भाषा में (लौकिक संस्कृत में) षष्ठ्यन्त शब्द से विकल्प से 'मयट्' प्रत्यय होता है। पक्ष में 'अण्' होता है।

अश्मनो अवयव:/विकार: अश्ममयम्। पक्ष में 'आश्मन:' रूप बनेगा।

मुद्‌गस्य विकार: मौद्‌ग: सूप:। यहाँ विकार सूप भक्ष्य पदार्थ है। अत: नित्य 'अण्' हुआ।

इसी प्रकार — कार्पासस्य विकार: कार्पासम्। यहाँ कार्पास आच्छादन है। अत: 'अण्' हुआ।

११११. ˘**नित्यं वृद्ध-शराऽऽदिभ्य:**[५] (४/३/१४२)

आम्रमयम्। (शर-मयम्।)

नित्यमिति— वृद्धसंज्ञक और शर आदि षष्ठ्यन्त शब्दों से अवयव और विकार अर्थों में 'मयट्' हो।

आम्रस्य अवयव:/विकार: आम्रमयम्। शराणामवयव:/विकार: शरमयम्।

१११२. [५]**गोश्च पुरीषे**[७] (४/३/१४३)

गो: पुरीषं गोमयम्।

गोरिति— पुरीष अर्थ में षष्ठ्यन्त गो शब्द से 'मयट्' प्रत्यय हो।

गो: पुरीषम् गोमयम्।

१११३. [५]**गो-पयसोर्यत्**[१] (४/३/१५८)

गव्यम्। पयस्यम्।

इति प्राग्दीव्यतीया:।

गविति— षष्ठ्यन्त गो तथा पयस् शब्द से 'यत्' होता है, अवयव तथा विकार अर्थ में।

गोरवयव:/विकार: गव्यम्। यहाँ 'यत्' प्रत्यय हुआ। तब 'वान्तो यि प्रत्यये' के द्वारा 'अव्' आदेश होकर रूप बना।

पयसो विकार: पयस्यम्।

॥ प्राग्दीव्यतीय समाप्त ॥

अथ ठगधिकारः ।

१११४. प्राग् वहतेष्ठक्[1] (४/४/१)

तद्वहति-इत्यतः प्राक् 'ठक्' अधिक्रियते।

प्रागिति— 'तद् वहति रथयुग —' (पा. ४.४.७६.) तक 'ठक्' का अधिकार चलता है।

१११५. तेन दीव्यति खनति जयति जितम् (४/४/२)

अक्षैर्दीव्यति खनति जयति जितं वा-आक्षिकः।

खेलना, खोदना, जीतना तथा जीत लिया — इन अर्थों में तृतीयान्त शब्दों से 'ठक्' प्रत्यय होता है।

अक्षैः दीव्यति आक्षिकः (ठस्येकः, किति च)।

अभ्रया (कुद्दालेन) खनति आभ्रिकः।

१११६. **संस्कृतम्** (४/४/३)

दध्ना संस्कृतम्-दाधिकम्। मारीचिकम्।

संस्कृत इति— 'संस्कार किया हुआ' इस अर्थ में तृतीयान्त शब्द से 'ठक्' होता है।

दध्ना संस्कृतम् दाधिकम्। मरीचिकाभिः संस्कृतं मारीचिकम्।

१११७. **तरति** (४/४/५)

तेनेत्येव। उडुपेन तरति औडुपिकः।

तरतीति— तरण कर्त्ता अर्थ में करण से 'ठक्' होता है।

उडुपेन तरति औडुपिकः। उडुप का अर्थ है — छोटी नाव।

१११८. **चरति** (४/४/८)

तृतीयान्ताद् गच्छति भक्षयति वा इत्यर्थयोष्ठक् स्यात्। हस्तिना चरति-हास्तिकः। दध्ना चरति-दाधिकः।

चरतीति— चलना या खाना अर्थ में करणवाची से 'ठक्' होता है।

हस्तिना चरति हास्तिकः। दध्ना चरति (भक्षयति) दाधिकः।

१११९. **संसृष्टे** (४/४/२२)

दध्ना संसृष्टम्-दाधिकम्।

संसृष्ट इति— 'मिला हुआ' अर्थ में करणवाची से 'ठक्' होता है।

दध्ना संसृष्टम् दाधिकम्।

यथा — दाधिकानि बटकानि अर्थात् दही मिले हुए बड़े।

११२०. **उञ्छति** (४/४/३२)

बदारण्युञ्छति इति बादरिकः।

उच्छतीति— 'चुनता है' — इस अर्थ में द्वितीयान्त पद से 'ठक्' होता है।

'उञ्छ्' का अर्थ है — भूमि में पड़े हुए धान आदि का कण-कण करके चुनना।

बदराणि उञ्छति— बादरिकः।

१९२१. रक्षति (४/४/३३)

समाजं रक्षति-सामाजिकः।

रक्षतीति— 'रक्षा करता है' — इस अर्थ में द्वितीयान्त शब्द से 'ठक्' होता है।

समाजं रक्षति सामाजिकः (किति च)।

११२२. [२]**शब्द-दुर्दुरं करोति (४/४/३४)**

शब्दं करोति-शाब्दिकः। दर्दुरं करोति – दार्दुरिकः।

शब्देति— शब्द को और दर्दुर को करता है — इस अर्थ में द्वितीयान्त शब्द से 'ठक्' होता है।

शब्दं करोति— शाब्दिकः। दर्दुरं करोति— दार्दुरिकः।

११२३. **धर्मं[२] चरति (४/४/४१)**

धर्मं चरति-धार्मिकः।

(वा०) 'अ-धर्मात् च' इति वक्तव्यम्। आधर्मिकः।

धर्ममिति— धर्म से आचरण करता है — इस अर्थ में 'ठक्' हो।

धर्मं चरति इति धार्मिकः।

(वा०) द्वितीयान्त अधर्म शब्द से 'आचरण करने वाला' अर्थ में 'ठक्' होता है।

अधर्मं चरति आधर्मिकः।

११२४. **शिल्पम्[१] (४/४/५५)**

मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य-मार्दङ्गिकः।

शिल्पमिति— 'यह शिल्प कला है जिसका' — इस अर्थ में प्रथमान्त पद से 'ठक्' होता है। मृदङ्ग वादनं शिल्पमस्य— मार्दङ्गिकः।

११२५. [१]**प्रहरणम् (४/४/५७)**

'तत् अस्य' इत्येव। असिः प्रहरणम् अस्य-आसिकः। धानुष्कः।

प्रह० इति— प्रहरण (अर्थात् अस्त्र शस्त्र) वाचक प्रथमान्त शब्द से 'वह इस का है' इस अर्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है।

असिः प्रहरणम् अस्य इति आसिकः। धनुः प्रहरणमस्येति धानुष्कः। यहाँ 'ठक्' को 'क' आदेश हो गया (इसु सुक् — पा. ७.३.५१.) से।

११२६. [१]**शीलम् (४/४/६१)**

अपूप-भक्षणं शीलम् अस्य-आपूपिकः।

शीलामिति— 'यह इसका स्वभाव है' — इस अर्थ में स्वभाव-वाचक प्रथमान्त पद से 'ठक्' होता है।

अपूपभक्षणं शीलमस्य— आपूपिकः। अपूप शब्द अपूपभक्षण में लाक्षणिक है।

११२७. [७]**निकटे वसति (४/४/७३)**

नैकटिको भिक्षुः।

॥ इति ठगधिकारः ॥

निकट इति— निकट शब्द से 'बसने वाला' अर्थ में 'ठक्' होता है।

निकटे वसति नैकटिकः— भिक्षुः।

॥ ठक् प्रत्यय का अधिकार समाप्त ॥

अथ यदधिकारः

११२८. **प्राग् घिताद्[५] यत्[१] (४/४/७५)**

'तस्मै हितम् इत्यतः प्राग् 'यत्' अधिक्रियते।

प्रागिति— 'तस्मै हितम्' (पा. ५.१.५.) से पहले तक 'यत्' का अधिकार है।

११२९. [२]**तद् वहति रथ-युग-प्रासङ्गम्[२] (४/४/७६)**

रथं वहति-रथ्यः, युग्यः, प्रासङ्ग्यः।

तदिति— रथ, युग और प्रासङ्ग — ये जब वहन क्रिया के कर्म हों, तब इन द्वितीयान्त शब्दों से वहन अर्थ में 'यत्' हो।

रथं वहति इति— रथ्यः। रथ्यः अश्वः। युगं वहति इति— युग्यः। युग (=जूआ) प्रासङ्गं वहति इति— प्रासङ्ग्यः।

११३०. [५]**धुरो यड्-ढकौ[१] (४/४/७७)**

'हलि च' इति दीर्घे प्राप्ते।

धुर इति— वहन क्रिया के क्रम स्वरूप द्वितीयान्त 'धुर्' शब्द से वहन करने अर्थ में 'यत्' तथा 'ढक्' प्रत्यय होते हैं।

धुरं वहति। यहाँ 'यत्' प्रत्यय हुआ। तब 'हलि च' के द्वारा रेफ के उपधाभूत उकार को दीर्घ प्राप्त हुआ।

११३१. **नँ भ-कुर्छुराम्[६] (८/२/७९)**

भस्य कुर्छुरोश्चोपधाया दीर्घो न स्यात्। धुर्यः। धौरेयः।

नेति— भसंज्ञक, कुर् तथा छुर् की उपधा को दीर्घ न हो।

'धुर् य' — इस स्थिति में उपधा को दीर्घत्व की प्राप्ति होने पर प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध होकर 'धुर्यः' रूप बना।

'ढक्' होने पर 'धौरेयः' रूप बनेगा (किति च; आयनेयीनीयि०)।

११३२. [५]**नौ-वयो-धर्म-विष-मूल-मूल-सीता-तुलाभ्यः तार्य-तुल्य-प्राप्य-वध्याऽऽनाम्य-सम-समित-संमितेषु[७] (४/४/९१)**

नावा तार्यम्– नाव्यम्। जलम्। वयसा तुल्यः-वयस्यः। धर्मेण प्राप्यम्-धर्म्यम्।

विषेण वध्य:-विष्य:। मूलेन आनाम्यम्-मूल्यम्। मूलेन सम:-मूल्य:। सीतया सम्मितम्-सीत्यम्, क्षेत्रम्। तुलया संमितम्-तुल्यम्।

नावि— तृतीयान्त नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल, मूल, सीता और तुला शब्दों से क्रमश: तार्य, तुल्य, प्राप्य, वध्य, आनाम्य, सम, समित तथा सम्मित अर्थों में 'यत्' प्रत्यय होता है (यथासंख्यमनु०)।

नावा तार्यम्— नाव्यम्। 'वान्तो यि प्रत्यये' के द्वारा 'आव्' आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ है। प्रयोग — नद्यां नाव्यं जलं वर्तते। तैरने योग्य जल है।

वयसा तुल्य:— वयस्य:। धर्मेण प्राप्यम्— धर्म्यम्। विषेण वध्य:— विष्यम्। मूलेन आनाम्यम्— मूल्यम्। इन सभी की सिद्धि सरल है।

मूलेन सम:— मूल्य:। सीतया समितम्— सीत्यं (क्षेत्रम्)। तुलया सम्मितं तुल्यम्। यह शब्द योगरूढ है। इसके दो अर्थ हैं — १. तराजू से तोला हुआ २. सदृश।

११३३. **तत्र साधु:**[१] (४/४/९८)

अग्रे साधु:-अग्र्य:। सामसु साधु:-सामन्य:, ये चाऽभावकर्मणो:' इति प्रकृतिभाव:। कर्मण्य:। शरण्य:।

तत्रेति— साधु (प्रवीण) अर्थ में सप्तम्यन्त पद से 'यत्' हो।

अग्रे साधु: अग्र्य: अग्र यत्। अग्र् य सु।

इसी प्रकार — सामसु साधु:— सामन्य:। कर्मणि साधु:— कर्मण्य: (येचाऽभावकर्म०) से प्रकृतिभाव।

शरणे साधु:— शरण्य:।

११३४. [५]**सभाया य:**[१] (४/४/१०५)

सभ्य:।

॥ इति यतोऽवधि: ॥

सभाया इति— सप्तम्यन्त सभा शब्द से साधु अर्थ में 'य' होता है।

सभायां साधु:— सभ्य:।

॥ 'यत्' का अधिकार समाप्त ॥

अथ छ-यतोरधिकार:

अब 'छ' तथा 'यत्' का अधिकार प्रारम्भ होता है।

११३५. **प्राक् क्रीतात्**[५] **छ:**[१] (५/१/१)

'तेन क्रीतम्' इत्यत: प्राक् छोऽधिक्रियते।

प्रागिति— 'तेन क्रीतम्' (पा. ५.१.३७.) इससे पूर्व तक 'छ' का अधिकार चलता है।

११३६. [५]उ-गवादिभ्यो यत्[१] (५/१/२)

प्राक् क्रीताद्-इत्येव। उवर्णान्ताद् गवादिभ्यश्च यत् स्यात्। छस्यापवादः शङ्कवे हितम्-शङ्कव्यम्, दारु। गव्यम्।

(गणसूत्र) नाभि नभं च। नभ्यः अक्षः। नभ्यम् अञ्जनम्।

विति— 'तेन क्रीतम्' इस सूत्र से पूर्व तक के अर्थों में उकारान्त तथा गो आदि शब्दों से 'यत्' होता है। यह 'छ' का बाधक है।

शङ्कवे हितम्— शंकव्यं दारु अर्थात् कीले के लिए उपयुक्त काष्ठ। यहाँ 'यत्' हुआ, 'ओर्गुणः' के द्वारा गुण हुआ।

गोभ्यो हितम्— गव्यम् (तृणम्) गो यत्। वान्तो यि प्रत्यये।

(वा०) हितकर अर्थ में नाभि शब्द को नभ आदेश तथा 'यत्' प्रत्यय हो।

नाभये (रथ की नाभि) हितः— नभ्यः (अक्षः)। इसी प्रकार नभ्यम् (अञ्जनम्)।

११३७. [४]तस्मै हितम्[१] (५/१/५)

वत्सेभ्यो हितः वत्सीयः, गोधुक्।

तस्मा इति— हित अर्थ में चतुर्थ्यन्त से 'छ' प्रत्यय हो।

वत्सेभ्यो हितः वत्सीयः, गोधुक्। 'छ' प्रत्यय। 'ईय्' आदेश (आयनेयीनीयि०)।

११३८. [५]शरीराऽवयवात् यत्[१] (५/१/६)

दन्त्यम्। कण्ठ्यम्। नस्यम्।

शरी० इति— चतुर्थ्यन्त शरीर के अवयव-वाचक शब्द से पूर्वोक्त अर्थ में 'यत्' हो।

दन्तेभ्यो हितम्— दन्त्यम्। कण्ठाय हितम्— कण्ठ्यम्। नासिकायै हितम्— नस्यम्।

११३९. [५]आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात् खः[१] (५/१/९)

आत्मान्निति— हित अर्थ में आत्मन्, विश्वजन तथा भोगोत्तर चतुर्थ्यन्त शब्दों से 'ख' प्रत्यय होता है।

११४०. [१]आत्माऽध्वानौ खे[७] (६/४/१६९)

एतौ खे प्रकृत्या स्तः। आत्मने हितम् - आत्मनीनम्। विश्वजनीनम्। मातृभोगीणः।

आत्मेति— 'ख' प्रत्यय परे होने पर 'आत्मन्' तथा 'अध्वन्' को प्रकृति भाव होता है।

आत्मने हितम्— आत्मनीनम्। यहाँ 'ख' प्रत्यय हुआ। 'ख' को 'ईन्' आदेश हुआ। 'नस्तद्धिते' के द्वारा प्राप्त टिलोप का प्रकृत सूत्र के द्वारा निषेध हो जाता है।

विश्वस्मै जनाय हितम्— विश्वजनीनम्।

मातृभोगाय (मातृशरीराय) हितं— मातृभोगीणः।

॥ छ, यत् का अधिकार समाप्त ॥

अथ ठञधिकारः

१९४१. **प्रॉग्वतेष्ठ[५]ञ्[१] (५/१/१८)**

'तेन तुल्यम्' इति वतिं वक्ष्यति, ततः प्राक् 'ठञ्' अधिक्रियते।

प्रागिति— 'तेन तुल्यं क्रिया' — पा. ५.१.१५५. के पूर्व तक 'ठञ्' का अधिकार है। अब 'ठञ्' का अधिकार चलता है।

११४२. **तेन[५] क्रीतम्[१] (५/१/३७)**

सप्तत्या क्रीतम् – साप्ततिकम्। प्रास्थिकम्।

तेनेति— 'खरीदा हुआ' के कर्म के अर्थ में तृतीयान्त शब्द से 'ठञ्' हो।

सप्तत्या क्रीतम् साप्ततिकम्। सप्तति पद तृतीयान्त है। यह कर्म में है। अतः 'ठञ्' हुआ (तद्धितेष्व०)। प्रस्थेन क्रीतम्— प्रास्थिकम्।

११४३. **[६]तस्येश्वरः[१] (५/१/४२)**

सर्वभूमि-पृथिवीभ्याम् अण्-अञौ स्तः।

तस्येति— स्वामी अर्थ में षष्ठ्यन्त सर्वभूमि तथा पृथिवी शब्दों से क्रमशः अण् तथा अञ् होते हैं।

११४४. **अनुशतिकाऽऽदीनां[६] चॅ (७/३/२०)**

एषाम् उभयपद-वृद्धिर्ञिति णिति किति च तद्धिते। सर्वभूमेरीश्वरः-सार्वभौमः। पार्थिवः।

अनु० इति— अनुशतिकादिगण में पठित शब्दों के उभयपद को वृद्धि होती है, ञित्, णित्, कित् प्रत्यय परे रहते।

सर्वभूमेः ईश्वरः। यहाँ अण् हुआ। तब 'सर्व' तथा 'भूमि' इन उभयपदों को वृद्धि होकर 'सार्वभौमः' रूप बना।

इसी प्रकार — पृथिव्याः ईश्वरः— पार्थिवः (तद्धितेष्व०; उरण् रपरः)।

११४५. **[१]पङ्क्ति-विंशति-त्रिंशत्-चत्वारिंशत्-पञ्चाशत्-षष्टि-सप्तत्य-शीति-नवति-शतम् (५/१/५९)**

एते रूढि-शब्दा निपात्यन्ते।

पङ्क्तीति— 'तद् अस्य परिमाणम्' इस अर्थ में — पङ्क्ति (पाँच पादवाले छन्द का नाम), विंशति (बीस), त्रिंशत् (तीस), चत्वारिंशत् (चालीस), पञ्चाशत् (पचास), षष्टि (साठ), सप्तति (सत्तर), अशीति (अस्सी), नवति (नब्बे) और शत (सौ) — इनकी सिद्धि निपातन से होती है।

पञ्च पादाः परिमाणम् अस्य इति— पङ्क्तिः। यहाँ पञ्चन् शब्द से 'ति' प्रत्यय, टि का लोप, कुत्व, अनुस्वार तथा परसवर्ण हुआ है। यथा— पञ्चन् ति पञ्च् ति-पञ्क्ति-पंक्ति-पङ्क्ति। द्वौ दशतौ परिमाणम् अस्य इति— विंशतिः। यहां 'द्विदशत्' को 'विन्'

आदेश तथा 'शतिच्' प्रत्यय हुआ है। त्रयो दशतः परिमाणमस्य संघस्य इति त्रिंशत्। यहाँ 'शत्' प्रत्यय तथा प्रकृति को 'त्रिन्' आदेश हुआ है।

चत्वारो दशतः परिमाणमस्य संघस्य इति चत्वारिंशत्। यहाँ प्रकृति को 'चत्वारिन्' आदेश तथा 'शत्' प्रत्यय हुआ है। पञ्चदशतः परिमाणमस्य संघस्य इति— पञ्चाशत्। यहाँ प्रकृति को 'पञ्चा' आदेश हुआ है। षड् दशतः परिमाणमस्य संघस्य इति— षष्टिः। यहाँ 'ति' प्रत्यय हुआ है। अब जश्त्व प्राप्त होता है परन्तु जश्त्व का अभाव निपातन से हुआ है। सप्त दशतः परिमाणमस्य संघस्य इति— सप्ततिः। यहाँ 'सप्त' आदेश तथा 'ति' प्रत्यय हुआ है। अष्ट दशतः परिमाणमस्य संघस्य इति— अशीतिः। प्रकृति को 'अशी' आदेश तथा 'ति' प्रत्यय हुआ है। नव दशतः परिमाणमस्य संघस्येति— नवतिः। 'नव' आदेश तथा 'ति' प्रत्यय हुआ है। दश दशतः परिमाणमस्य संघस्येति— शतम्। प्रकृति को 'श' आदेश तथा 'त' प्रत्यय हुआ है।

११४६. [१]तद् अर्हति (५/१/६३)

'लब्धुं योग्यो भवति' इत्यर्थे द्वितीयाऽन्तात् ठञ् आदयः स्युः। श्वेतच्छत्रम् अर्हति-श्वैतच्छत्रिकः।

तदिति— 'प्राप्त करने योग्य होता है' — इस अर्थ में द्वितीयान्त शब्द से 'ठञ्' आदि होते हैं।

श्वेतच्छत्रम् अर्हति इति— श्वैतच्छत्रिकः। (तद्धितेष्व०; ठस्येकः)

११४७. [५]दण्डाऽऽदिभ्यो यत्[१] (५/१/६६)

एभ्यो यत् स्यात्। दण्डम् अर्हति दण्ड्यः। अर्घ्यः वध्यः।

प्राप्त करने योग्य अर्थ में दण्ड आदि द्वितीयान्त शब्दों से 'यत्' होता है।

दण्डम् अर्हति इति— दण्ड्यः। अर्घम् अर्हति इति— अर्घ्यः। वधम् अर्हति इति— वध्यः।

११४८. [३]तेन निर्वृत्तम्[१] (५/१/७९)

अह्ना निर्वृत्तम्-आह्निकम्।

॥ इति ठञोऽवधिः ॥

तेनेति— 'निर्वृत्त' अर्थ में कालवाचक करण से 'ठञ्' होता है।

अह्ना निर्वृत्तम्— आह्निकम्। यहाँ आदिवृद्धि, इक् आदेश, अन् के अकार का लोप (अल्लोपोऽनः) आदि कार्य होंगे।

॥ 'ठञ्' का अधिकार समाप्त ॥

अथ भाव-कर्माऽर्थाः

११४९. [३]तेन [१]तुल्यं क्रिया[१] चेद् वतिः[१] (५/१/११५)

ब्राह्मणेन तुल्यम्-ब्राह्मणवत् अधीते। क्रिया चेद् इति किम्-गुणतुल्ये मा भूत्, पुत्रेण तुल्यः स्थूलः।

तेनेति— तुल्य अर्थ में तृतीयान्त से 'वति' प्रत्यय हो यदि तुल्य क्रिया हो।

वति का इकार इत्संज्ञक है। वतिप्रत्ययान्त शब्द क्रियाविशेषण तथा अव्यय होता है।

ब्राह्मणेन तुल्यम् अधीते— ब्राह्मणवत्। यदि गुण तुल्य हों तो उक्त प्रत्यय न हो। केवल क्रिया के तुल्य होने की अवस्था में ही यह प्रत्यय होता है। यथा — पुत्रेण तुल्यः स्थूलः। यहाँ 'वति' नहीं होगा।

११५०. तत्र [६]तस्येव (५/१/११६)

मथुरायामिव-मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः। चैत्रस्येव-चैत्रवन् मैत्रस्य गावः।

तत्रेति— 'इव' के अर्थ में सप्तम्यन्त तथा षष्ठ्यन्त से 'वति' हो।

मथुरायाम् इव— मथुरावत्।

चैत्रस्य इव— चैत्रवत्।

११५१. [६]तस्य भाव[१]स्त्व-तलौ[१] (५/१/११९)

प्रकृतिजन्य-बोधे प्रकारो भावः। गोर्भावः-गोत्वम्, गोता। (लि. सू.) त्वाऽन्तं क्लीबम्। (लि. सू.) तलन्तं स्त्रियाम्।

तस्येति— भाव अर्थ में षष्ठ्यन्त पद से 'त्व' तथा 'तल्' प्रत्यय हों।

प्रकृति से होने वाले ज्ञान में विशेषणीभूत पदार्थ को भाव कहते हैं।

गोर्भावः— गोत्वम्, गोता।

(लि. सू.) त्व प्रत्ययान्त शब्द नपुँसकलिङ्ग होते हैं।

(लि. सू.) तलन्त (सदा) स्त्रीलिङ्ग होते हैं।

११५२. आ च त्वात्[५] (५/१/१२०)

'ब्रह्मणस्त्व' – इत्यतः प्राक् 'त्व-तलौ' अधिक्रियेते। अपवादैः सह समाऽऽवेशाऽर्थमिदम्। चकारो नञ्-स्नञ्भ्याम् अपि समाऽऽवेशाऽर्थः। स्त्रियाः भावः-स्त्रैणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्रीता। पौंस्नम्, पुंस्त्वम्, पुंस्ता।

एति— 'ब्रह्मस्त्वः' (पा. ५.१.१३६.) तक 'त्व' तथा 'तल्' का अधिकार चलेगा। इमनिच् आदि अपवाद प्रत्ययों के साथ समावेश के लिए यह अधिकार सूत्र है। चकार से 'नञ्' तथा 'स्नञ्' का भी ग्रहण हो जायेगा।

इस प्रकार स्त्री शब्द से स्त्रैणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्रीता — ये रूप बनेंगे तथा 'पुंस्' से पौंस्नम्, पुंस्त्वम्, पुंस्ता — ये रूप बनेंगे।

११५३. [५]पृथ्वादिभ्य इमनिच्[१] वा (५/१/१२२)

वावचनम् 'अण्' आदि-समावेशाऽर्थम्।

पृ० इति— भाव अर्थ में पृथु आदि शब्दों से विकल्प से 'इमनिच्' प्रत्यय हो।

'इमनिच्' के नकारोत्तरवर्त्ती इकार, चकार इत्संज्ञक हैं। 'वा' कथन के द्वारा 'अण्' आदि का ग्रहण होता है।

११५४. [१]र ऋतो[६] हलादे[६]र्लघोः[६] (६/४/१६१)

हलादेर्लघोर्ऋकारस्य रः स्यात् इष्ठेमेयस्सु परतः।

र इति— इष्ठन्, इमनिच् तथा ईयसुन् प्रत्यय परे रहते हलादि लघु ऋकार को रेफ आदेश होता है।

११५५. टेः[६] (६/४/१५५)

भस्य टेर्लोप इष्ठेमेयस्सु।

(वा०) पृथु-मृदु-भृश-कृश-दृढ-परिवृढानाम् एव रत्वम्। पृथोर्भावः-प्रथिमा, पार्थवम्। म्रदिमा, मार्दवम्।

टेरिति— इष्ठन्, इमनिच्, ईयसुन् प्रत्यय परे रहते भसंज्ञक टि का लोप होता है।

(वा०) पृथु, मृदु, भृश, कृश, दृढ और परिवृढ शब्दों के ही हलादि लघु ऋकार को रेफ होता है।

पृथोर्भावः। यहाँ इमनिच् के पक्ष में रेफ होकर 'प्रथिमन्' रूप बना। पक्ष में अण् (इगन्ताच्च लघुपूर्वात्) होकर 'पार्थवम्' बना। मृदोर्भावः— म्रदिमा। मार्दवम्।

११५६. [५]वर्ण-दृढाऽऽदिभ्यः[१] ष्यञ् च (५/१/१२३)

चाद् इमनिच्। शौक्ल्यम्, शुक्लिमा। दार्ढ्यम्, द्रढिमा।

वर्णेति— भाव अर्थ में वर्णवाचक तथा दृढ आदि षष्ठ्यन्त पदों से ष्यञ् भी होता है। चकार कहने से इमनिच् भी होता है। ष्यञ् प्रत्यय नपुँसकलिङ्ग होता है। इसके षकार तथा ञकार इत्संज्ञक होते हैं।

शुक्लस्य भावः— शौक्ल्यम् (तद्धितेष्व०)। इमनिच् पक्ष में 'शुक्लिमा' रूप बनेगा।

दृढस्य भावः— दार्ढ्यम्। इमनिच् पक्ष में 'द्रढिमा' बनेगा।

११५७. गुणवचन-ब्राह्मणाऽऽदिभ्यः[५] कर्मणि[७] च (५/१/१२४)

चाद् भावे। जडस्य भावः कर्म वा-जाड्यम्। मूढस्य भावः कर्म वा-मौढ्यम्। ब्राह्मण्यम्। आकृतिगणोऽयम्।

गुणेति— कर्म और भाव अर्थ में षष्ठ्यन्त गुणवाचक तथा ब्राह्मण आदि शब्दों से 'ष्यञ्' होता है।

जडस्य भावः/ कर्म— जाड्यम् (तद्धितेष्व०)।

मूढस्य भावः/ कर्म— मौढ्यम् (तद्धितेष्व०)।

ब्राह्मणस्य भावः— ब्राह्मण्यम् (तद्धितेष्व०)।

यह आकृतिगण है।

११५८. **सख्यु[५]र्यः[१] (५/१/१२६)**

सख्युर्भाव: कर्म वा सख्यम्।

सख्युरिति— भाव तथा कर्म अर्थ में षष्ठ्यन्त सखि शब्द से 'य' प्रत्यय होता है।

सख्युः कर्म/ भावः सख्यम्।

११५९. **[५]कपिज्ञात्योर्ढक्[१] (५/१/१२७)**

कापेयम्। ज्ञातेयम्।

कपीति— कर्म तथा भाव अर्थ में षष्ठ्यन्त कपि तथा ज्ञाति शब्दों से 'ढक्' प्रत्यय हो। ढकार को 'एय्' हो जायेगा। आयनेयीनीयि०।

कपेः कर्म/भावः— कापेयम्। ज्ञातेर्भावः/ कर्म— ज्ञातेयम्।

११६०. **[५]पत्यन्त-पुरोहिताऽऽदिभ्यो यक्[१] (५/१/१२८)**

सैनापत्यम्। पौरोहित्यम्।

॥ इति भावकर्मार्थाः ॥

पतीति— भाव और कर्म अर्थ में षष्ठ्यन्त पत्यन्त (= जिसके अन्त में पति शब्द है) तथा पुरोहित आदि शब्दों से 'यक्' होता है।

सेनापते र्भावः कर्म वा— सैनापत्यम्। किति च।

पुरोहितस्य भावः कर्म वा— पौरोहित्यम्।

॥ भाव तथा कर्म में प्रत्यय समाप्त ॥

अथ भवनाऽऽद्यर्थकाः

११६१. **[६]धान्यानां [७]भवने क्षेत्रे[७] खञ्[१] (५/२/१)**

'भवति अस्मिन्' इति भवनम्। मुद्गानां भवनं क्षेत्रम्-मौद्गीनम्।

धान्यानामिति— 'भवनं क्षेत्रम्' — इस अर्थ में धान्यवाचक षष्ठ्यन्त पद से 'खञ्' होता है।

मुद्गानां भवनं क्षेत्रं— मौद्गीनम्। खकार को 'ईन्' आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ है। (तद्धितेष्व०, आयनेयीनीयि०)।

११६२. **[६]व्रीहि-शाल्योर्ढक्[१] (५/२/२)**

व्रैहेयम्। शालेयम्।

व्रीहीति— पूर्वोक्त अर्थ में षष्ठ्यन्त व्रीहि तथा शालि शब्दों से 'ढक्' होता है।

व्रीहीणां भवनं क्षेत्रम्— व्रैहेयम्। (तद्धितेष्व०, आयनेयीनीयि०)।

शालीनां भवनं क्षेत्रम्— शालेयम्।

दोनों की सिद्धि सरल है।

११६३. [1]हैयङ्गवीनं संज्ञायाम्[7] (५/२/२३)

ह्योगोदोह-शब्दस्य हियङ्गुरादेशः विकारेऽर्थे खञ् च निपात्यते। दुह्यत इति दोहः-क्षीरम्। ह्योगोदोहस्य विकारः-हैयङ्गवीनम् नवनीतम्।

है० इति— विकार अर्थ में ह्योगोदोह शब्द को निपातन से हियङ्गु आदेश तथा खञ् प्रत्यय होता है, संज्ञा में।

ह्योगोदोह का अर्थ है — एक दिन पूर्व का दुहा हुआ दूध।

ह्योगोदोहस्य विकारः— हैयङ्गवीनम् (अर्थात् घृत)।

११६४. [1]'तद् अस्य[6] संजातम्' तारकाऽऽदिभ्य[5] इतच्[1] (५/२/३६)

तारकाः संजाता अस्य तारकितम् नभः। पण्डितः। आकृतिगणोऽयम्।

तदिति— 'अस्य संजातम्' — इस अर्थ में प्रथमान्त तारक आदि शब्दों से 'इतच्' होता है। इतच् का चकार इत्संज्ञक है।

तारकाः संजाता अस्य— तारकितं (नभः)।

पण्डा (सदसद् विवेकिनी बुद्धिः) संजाता अस्य— पण्डितः।

यह आकृतिगण है।

११६५. **प्रमाणे[7] द्वयसज्दघ्नञ्-मात्रचः[1] (५/२/३७)**

'तद् अस्य' इत्यनुवर्तते। ऊरू प्रमाणम् अस्य-ऊरुद्वयसम्, ऊरुदघ्नम्, उरूमात्रम्।

प्र० इति— 'इसका यह प्रमाण है' — इस अर्थ में प्रथमान्त शब्द से द्वयसच्, दघ्नच् तथा मात्रच् होते हैं।

इन सभी का अन्त्य वर्ण इत्संज्ञक है।

ऊरु प्रमाणम् अस्य— ऊरुद्वयसम्, ऊरुदघ्नम्, ऊरुमात्रम् (अर्थात् जांघ तक जल)।

११६६. [5]यत्-तद्-एतेभ्यः परिमाणे[7] वतुप्[1] (५/२/३९)

यत् परिमाणम् अस्य-यावान्। तावान्। एतावान्।

यदिति— परिमाण अर्थ में प्रथमान्त यद्, तद् तथा एतद् शब्दों से 'वतुप्' होता है।

यत् परिमाणमस्य यावान्। यहाँ 'वत्' हुआ। तब आकार अन्तादेश (आ सर्वनाम्नः) होकर रूप सिद्ध हुआ।

तत् परिमाणमस्य— तावान्। पूर्ववत् सिद्धि।

११६७. **किम्-इदम्भ्यां[5] वो[6] घः[1] (५/२/४०)**

आभ्यां वतुष्, वकारस्य घश्च।

किमिति— परिमाण अर्थ में प्रथमान्त किम् तथा इदम् शब्दों से वतुप् प्रत्यय हो तथा इसके वकार को घकार आदेश होता है।

११६८. [६]इदम्-किमोरीश्[१]-की[१] (६/३/९०)

दृग्-दृश्-वतुषु इदम ईश्, किमः कीस्यात्। कियान्। इयान्।

इदमिति— दृग्, दृश् और वतुप् परे रहते 'इदम्' को 'इश्' तथा 'किम्' को 'की' आदेश होता है।

'इश्' आदेश शित् है तथा 'की' अनेकाल् है। अत: दोनों आदेश सम्पूर्ण स्थानी को होते हैं। (अनेकाल् शित्०) इदं परिमाणमस्य। यहाँ पूर्व सूत्र के द्वारा 'वतुप्' हुआ। तब प्रकृत सूत्र से 'इश्' आदेश तथा वकार को घकार हुआ। घकार को पुनः 'इय्' आदेश हुआ। इश् वतुप् — इश् घत् — इश् इयत् — इ इयत् — इयत् — इयान्। 'यस्येति च' के द्वारा अन्त्य लोप।

किं परिमाणमस्य— कियान्। पूर्ववत् सिद्धि।

११६९. [५]संख्याया अवयवे[७] तयप्[१] (५/२/४२)

पञ्च अवयवा अस्य-पञ्चतयम्।

सं० इति— समुदाय के अर्थ में प्रथमान्त संख्यावाचक शब्द से 'तयप्' होता है।

पञ्च अवयवा अस्य— पञ्चतयम्।

११७०. **द्वि-त्रिभ्यां[५] तयस्या[६]ऽयज्[१]वॉ (५/२/४३)**

द्वयम्, द्वितयम्। त्रयम्, त्रितयम्।

द्वीति— द्वि तथा त्रि शब्द से पर 'तयच्' को 'अयच्' आदेश विकल्प से होता है।

द्वौ अवयवौ अस्य— द्वयम्/ द्वितयम्। अयच् आदेश पक्ष में 'द्वयम्' रूप बना।

त्रयो अवयवा अस्य— त्रयम्/त्रितयम्। तयच् के पक्ष में 'त्रितयम्' तथा अयच् के पक्ष में 'त्रयम्' बनेगा।

११७१. [५]उभाद् उदात्तो[१] नित्यम्[१] (५/२/४४)

उभ-शब्दात् तयपोऽयच् स्यात्, स चाऽऽद्युदात्तः। उभयम्।

उभादिति— उभ शब्द से पर तयप् को अयच् आदेश होता है और वह उदात्त होता है।

उभौ अवयवौ अस्य— उभयम्। उभ तयप्-उभ अ यच्।

११७२. [६]तस्य पूरणे[७] डट्[१] (५/२/४८)

एकादशानां पूरणः-एकादशः।

तस्येति— पूरण अर्थ में षष्ठ्यन्त संख्या वाचक से 'डट्' हो। इसके डकार तथा टकार इत्संज्ञक हैं।

पूर्यते अनेन इति— पूरणः।

एकादशानां पूरणः— एकादशः। यहाँ 'डट्' हुआ। तब टि का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ। एकादशन् डट्। एकादशन् अ। एकादशन् अ सु।

११७३. [५]नाऽन्ताद् [५]असंख्याऽऽदेर्मट्[१] (५/२/४९)

डटो 'मड्' आगमः। पञ्चानां पूरणः-पञ्चमः। नाऽन्तात्किम् –

नेति— असंख्यादि (जिसके आदि में कोई संख्यावाची शब्द न हो) और नकारान्त संख्यावाचक शब्द के परे 'डट्' को 'मट्' आगम हो।

मट् का टकार तथा अकार इत्संज्ञक हैं। (मिदचोऽन्त्यात्परः) पञ्चानां पूरणः। यहाँ डट् को मट् आगम हुआ। नकार का लोप 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' से होकर 'पञ्च म् अ' रूप बन गया। पञ्चमः।

उक्त मट् आगम नकारान्त से ही होता है। अतः 'विंशति' को नहीं होगा।

११७४. [६]ति [६]विंशतेर्डिति[७] (६/४/१४२)

विंशतेर्भस्य ति-शब्दस्य लोपो डिति परे। विंशः। असंख्याऽदेः किम्-एकादशः।

तीति— डित् प्रत्यय परे रहते विंशति शब्द के भसंज्ञक 'ति' का लोप होता है।

विंशतेः पूरणः। यहाँ 'डट्' हुआ। 'ति' का लोप हुआ। तब 'विंशः' रूप बना।

'नान्तादसंख्यादेः०' सूत्र के द्वारा विहित 'मट्' आगम असंख्यादि को होता है। अतः 'एकादशानां पूरणः' यहाँ नहीं होगा। क्योंकि यहाँ आदि में संख्या है।

'ति' — यहाँ लुप्त षष्ठी है।

११७५. [६]षट्-कति-कतिपय-चतुरां थुक्[१] (५/२/५१)

एषां थुग् आगमः स्यात् डटि। षण्णां पूरणः-षष्ठः। कतिथः। कतिपय शब्दस्याऽसंख्यात्वेऽप्यत एव ज्ञापकात् डट्। कतिपयथः। चतुर्थः।

षडिति— कति, कतिपय, षष् तथा चतुर् शब्दों से पर 'डट्' को 'थुट्' आगम होता है। थुट् का टकार इत्संज्ञक है तथा उकार उच्चारणार्थ है।

षण्णां पूरणः। तब 'षष्ठः'। यथा— षष् डट्-षष् थुट् डट् अनुबन्ध लोप।

कतीनां पूरणः— कतिथः। कतिपयानां पूरणः— कतिपयथः।

चतुर्णां पूरणः— चतुर्थः।

११७६. [५]द्वेस्तीयः[१] (५/२/५४)

डटोऽपवादः। द्वयोः पूरणो-द्वितीयः।

द्वेरिति— पूरण अर्थ में षष्ठ्यन्त संख्यावचक द्वि शब्द से 'तीय' प्रत्यय हो। यह डट् का बाधक है। द्वयोः पूरणः— द्वितीयः।

११७७. त्रेः[६] सम्प्रसारणं[१] चँ (५/२/५५)

तृतीयः।

त्रेरिति— पूरण अर्थ में 'त्रि' शब्द को सम्प्रसारण तथा 'तीय' प्रत्यय होता है।

त्रयाणां पूरणः— तृतीयः। यथा— त्रि तीय-त् ऋ इ तीय-तृतीय।

११७८. [१]श्रोत्रियश्छन्दो[२]ऽधीते (५/२/८४)

श्रोत्रियः। 'वा' इत्यनुवृत्तेः 'छान्दसः'।

श्रो० इति— 'पढ़ने वाला' अर्थ में द्वितीयान्त छन्दस् शब्द से 'घन्' प्रत्यय और प्रकृति को श्रोत्र आदेश निपातन से होता है।

छन्दोऽधीते — इस अर्थ में 'श्रोत्रियः' रूप सिद्ध हुआ। पक्ष में 'छान्दसः' रूप बनेगा।

११७९. [५]**पूर्वाद् इनिः**[१] (५/२/८६)

पूर्वं कृतमनेन-पूर्वी।

पूर्वादिति— 'कृतम्' के क्रिया विशेषण द्वितीयान्त पूर्व शब्द से 'इनि' होता है।

पूर्वं कृतमनेन— पूर्वी। प्रथमा एकवचन में रूप सिद्ध हुआ है। पूर्व इनि

११८०. [५]**स-पूर्वाच्च** (५/२/८७)

कृत-पूर्वी।

सेति— 'अनेन' अर्थ में विद्यमान पूर्वक पूर्व शब्द से भी 'इनि' होता है।

कृतं पूर्वमनेन— कृतपूर्वी।

११८१. [५]**इष्टाऽऽदिभ्यश्च** (५/२/८८)

इष्टमनेन-इष्टी। अधीती।

॥ इति भवनाद्यर्थकाः ॥

इष्टेति— 'अनेन' — इस अर्थ में प्रथमान्त इष्ट आदि शब्दों से 'इनि' होता है।

इष्टमनेन— इष्टी। अधीतमनेन अधीती।

॥ भवनाद्यर्थक प्रत्यय समाप्त ॥

अथ मत्वर्थीयाः

११८२. [१]**तद्** [६]**अस्याऽस्त्यस्मिन्**[७] **इति मतुप्**[१] (५/२/९४)

गावः अस्य सन्ति-गोमान्।

तदिति— 'वह इसका है' अथवा 'वह इसमें है' इन अर्थों में प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'मतुप्' हो। 'मतुप्' के पकार तथा उकार इत्संज्ञक हैं।

प्रकृत सूत्र में 'मतुप्' के 'तदस्त्यस्य' तथा 'तदस्त्यस्मिन्' ये दो अर्थ बताये गये हैं। तथापि 'इति' ग्रहण के द्वारा उक्त अर्थों से अतिरिक्त अन्य भी अनिर्दिष्ट अर्थ हैं जिनका उल्लेख भाष्यकार ने निम्नलिखित श्लोक में किया है।

भूम-निन्दा-प्रशंसासु नित्य-योगोऽतिशायने।
संसर्गेऽस्ति-विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः।

१. भूम— बहुत्व, अधिकता। यथा— गोमान् — गाय वाला अर्थात् बहुत गाय वाला। बह्व्यो गावः सन्ति अस्य।

२. निन्दा — ककुदावर्तिनी कन्या — ककुदावर्त वाली कन्या। इससे कन्या की निन्दा प्रतीत होती है।

३. प्रशंसा — रूपवान् — (रूपवाला)। यहाँ रूप की प्रशंसा होती है। प्रशस्तं रूपमस्त्यस्य रूपवान्।

४. नित्ययोग — नित्य सम्बन्ध। जैसे — क्षीरिणो वृक्षाः (सदा दूधवाले वृक्ष)। यहाँ प्रत्यय से दूध का नित्य योग विवक्षित हैं। नित्यं क्षीरमस्त्येषाम्।

५. अतिशायन — अतिशय। उदरिणी कन्या (बड़े पेटवाली)। यहाँ मतुबर्थीय प्रत्यय से अतिशय अर्थ सूचित होता है। अति शयितम् उदरमस्त्यस्याः।

६. सम्बन्ध — दण्डी (दण्डवाला)। यहाँ मतुबर्थीय प्रत्यय से दण्ड का व्यक्ति से संयोग सम्बन्ध सूचित होता है। दण्डोऽस्त्यस्य।

गावो अस्य सन्ति गोमान्।

११८३. [१]तसौ मत्वर्थे[७] (१/४/१९)

ताऽन्त-साऽन्तौ भ-संज्ञौ स्तः, मत्वर्थे प्रत्यये परे। गरुत्मान्। 'वसाः संप्रसाणम्'-विदुष्मान्।

(वा०) गुण-वचनेभ्यो मतुपो लुग् इष्टः। शुक्लो गुणोऽस्याऽस्तीतिशुक्लः पटः। कृष्णः।

तसा इति— मत्वर्थ प्रत्यय परे रहते तकारान्त, सकारान्त शब्द भसंज्ञक होते हैं।

गरुतो अस्य सन्ति— गरुत्मान्। यहाँ भसंज्ञा हुई। अतः जश्त्व इत्यादि नहीं हुआ।

विद्वांसो अस्य सन्ति— विदुष्मान्। यहाँ भसंज्ञा हुई। 'वसोः सम्प्रसारणम्' के द्वारा सम्प्रसारण हुआ। तब रूप सिद्ध हुआ।

(वा०) गुणवाचक शब्दों से 'मतुप्' का लोप हो।

शुक्लः गुणः अस्य अस्ति शुक्लः पटः। यहाँ 'मतुप्' का लोप होकर रूप सिद्ध हुआ है।

११८४. प्राणिस्थाद्[५] आतो[५] लज्[१] अन्यतरॅस्याम् (५/२/९६)

चूडालः-चूडावान्। प्राणि-स्थात् किम्-शिखावान् दीपः।

(वा०) प्राण्यङ्गाद् एव। नेह-मेधावान्।

प्राणीति— मत्वर्थ में प्रथमान्त प्राणिस्थ अङ्गवाचक आकारान्त शब्द से विकल्प से 'लच्' प्रत्यय हो।

चूडा अस्य सन्ति— चूडालः। 'लच्' के अभाव पक्ष में 'मतुप्' होकर 'चूडावान्' बनेगा। मादुपधायाश्च०।

शिखा अस्य अस्ति इति— शिखावान्। यहाँ 'लच्' नहीं हुआ, क्योंकि सूत्र में कहा गया है कि प्राणिस्थ से ही हो, अन्य से नहीं।

क्योंकि वार्तिक में 'अङ्गवाची से हो' — ऐसा कहा गया है।

११८५. [५]**लोमाऽऽदि-पामाऽऽदि-पिच्छाऽऽदिभ्यः शनेलचः**[१] **(५/२/१००)**

लोमाऽऽदिभ्यः शः-लोमशः, लोमवान्। रोमशः रोमवान् पामादिभ्यो नः-पामनः।

(ग. सू.) अङ्गात् कल्याणे-अङ्गना। (ग. सू.) लक्ष्म्या अत् च लक्ष्मणः।

पिच्छाऽऽदिभ्य इलच्-पिच्छिलः-पिच्छवान्।

लोमेति— मत्वर्थ में लोमन् आदि से 'श', पामन् आदि से 'न' तथा पिच्छ आदि से 'इलच्' विकल्प से होता है।

लोमानि अस्य सन्ति— लोमशः। नकार का लोप हो गया (नलोपः प्रातिपदिक)। पक्ष में मतुप् होकर 'लोमवान्' बनेगा।

इसी प्रकार रोमशः, रोमवान् बनेंगे। 'पामन् न' इस दशा में नकार का लोप होकर 'पामनः' रूप बनता है। पक्ष में 'मतुप्' होकर 'पामवान्' बनेगा।

(वा०) कल्याण विशेषक प्रथमान्त अङ्ग शब्द से मत्वर्थ में 'न' होता है।

कल्याणानि सुन्दराणि अङ्गानि यस्याः— अङ्गना। स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' होकर रूप सिद्ध हुआ है।

(ग.) प्रथमान्त लक्ष्मी शब्द से मत्वर्थ में 'न' प्रत्यय तथा 'अत्' अन्तादेश होता है।

पिच्छम् अस्य अस्ति— पिच्छिलः, इलच्। पक्ष में 'पिच्छवान्' बनेगा।

११८६. [१]**दन्त उन्नत**[१] **उरच्**[१] **(५/२/१०६)**

उन्नता दन्ताः सन्ति अस्य-दन्तुरः।

दन्तेति— मत्वर्थ में प्रथमान्त 'दन्त' शब्द से 'उरच्' हो यदि दाँत ऊँचे हों तो।

उन्नता दन्ताः अस्य सन्ति— दन्तुरः।

११८७. [५]**केशाद्** [१]**वोऽन्यतरस्याम् (५/२/१०९)**

केशवः, केशी, केशिकः, केशवान्।

(वा०) अन्येभ्योऽपि दृश्यते। मणिवः।

(वा०) अर्णसो लोपश्च। अर्णवः।

केशादिति— मत्वर्थ में प्रथमान्त केश शब्द से विकल्प से 'व' प्रत्यय होता है।

केशा अस्य सन्ति— केशवः। पक्ष में इनि, ठन् तथा मतुप् होकर क्रमशः 'केशी', 'केशिकः' तथा 'केशवान्' रूप बनते हैं।

(वा०) अन्य (केश शब्द से अतिरिक्त) से भी उक्त प्रत्यय होता है।

मणिरस्यास्ति— मणिवः (नगविशेष)

(वा०) अर्णस् शब्द से 'व' होने पर अन्त्य सकार का लोप हो।

अर्णांसि जलानि अस्य सन्ति— अर्णवः।

११८८. [५]**अत इनि-ठनौ**[१] **(५/२/११५)**

दण्डी, दण्डिकः।

यहाँ 'अन्यतरस्याम्' पद अनुवृत्त है। अतः ये प्रत्यय पक्ष में होंगे।

दण्डोऽस्यास्ति— दण्डी। 'ठन्' के पक्ष में 'दण्डिकः' तथा मतुप् के पक्ष में 'दण्डवान्' बनेगा।

११८९. [५]**व्रीह्यादिभ्यश्च** **(५/२/११६)**

व्रीही, व्रीहिकः।

व्री० इति— मत्वर्थ में प्रथमान्त व्रीहि आदि शब्दों से इनि तथा ठन् होते हैं।

व्रीहयो अस्य सन्ति व्रीही, व्रीहिकः।

११९०. [५]**अस्-माया-मेधा-स्रजो विनिः**[१] **(५/२/१२१)**

यशस्वी, यशस्वान्। मायावी। मेधावी। स्रग्वी।

असिति— मत्वर्थ में असन्त, माया, मेधा तथा स्रज् शब्दों से 'विनि' होता है विकल्प से। नकारस्थ इकार की इत्संज्ञा है।

यशोऽस्य अस्ति— यशस्विन्। पक्ष में मतुप् होकर 'यशस्वान्' बनेगा।

इसी प्रकार — मायावी, मायावान्। स्रग् अस्य अस्ति— स्रग्वी, स्रग्वान्।

मेधावी, मेधावान्।

११९१. [५]**वाचो ग्मिनिः**[१] **(५/२/१२४)**

वाग्ग्मी।

वाच इति— मत्वर्थ में प्रथमान्त 'वाच्' शब्द से 'ग्मिन्' होता है।

वाचोऽस्य सन्ति। यहाँ 'ग्मिन्' हुआ। चकार का जश्त्व हुआ (चोः कुः)। तब 'वाग्ग्मी' रूप बना। इसका अर्थ है — अच्छा वक्ता।

११९२. [५]**अर्शआदिभ्योऽच्**[१] **(५/२/१२७)**

अर्शोऽस्य विद्यते-अर्शसः। आकृतिगणोऽयम्।

अर्शसिति— मत्वर्थ में प्रथमान्त अर्शस् आदि शब्दों से 'अच्' होता है।

अर्शांसि सन्ति अस्य— अर्शसः। यह आकृतिगण है।

११९३. [६]**अहं-शुभमोर्युस्**[१] **(५/२/१४०)**

अहंयुः-अहंकारवान्, शुभंयुः-शुभाऽन्वितः।

॥ इति मत्वर्थीयाः ॥

अहमिति— मत्वर्थ में अहम् तथा शुभम् से 'युस्' होता है। युस् का सकार इत्संज्ञक है।

अहमस्ति अस्य— अहंयुः। 'सिति च' के द्वारा पद संज्ञा होगी। तब (मोऽनुस्वारः)

अनुस्वार होकर रूप बनेगा।

शुभमस्यास्ति— शुभंयुः।

॥ मत्वर्थीय प्रकरण समाप्त ॥

अथ प्राग्दिशीयाः

११९४. **प्राग्दिशो**[५] **विभक्तिः**[१] (५/३/१)

दिक्-शब्देभ्य इत्यतः प्राग्वक्ष्यमाणा प्रत्यया विभक्ति-संज्ञाः स्युः।

अब प्राग्दिशीय प्रकरण प्रारम्भ होता है।

प्रागिति—'दिक् शब्देभ्यः' (पा. ५.३.२७.) से पूर्व तक कहे गये प्रत्यय विभक्ति संज्ञक होते हैं।

११९५. [५]**किं सर्वनाम-बहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः**[५] (५/३/२)

'किमः सर्वनाम्नो बहुशब्दात् च' इति प्राग्दिशोऽधिक्रियते।

किमिति— किम्, सर्वनाम और बहु — इन से तथा द्वि आदि भिन्न शब्दों का 'दिक् शब्देभ्यः' (पा० ५/३/२७) पर्यन्त अधिकार है।

सूत्र का भावार्थ यह है कि 'दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यः०' सूत्र से पूर्व तक जिन जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है, द्वि आदि को छोड़ कर वे शेष सर्वनाम, किम् तथा बहु शब्दों के पश्चात् होते हैं— ऐसा अधिकार है। 'द्वि आदि' का अभिप्राय है— द्वि, युष्मद्, अस्मद् और भवतु।

११९६. [५]**पञ्चम्यास्तसिल्**[१] (५/३/७)

पञ्चम्यन्तेभ्यः किम्-आदिभ्यस्तसिल् वा स्याद्।

पञ्च० इति— पञ्चम्यन्त किम् आदि शब्दों से विकल्प से तसिल् प्रत्यय होता है। तसिल् के इकार तथा लकार इत्संज्ञक हैं।

११९७. [१]**कु ति-होः**[७] (७/२/१०४)

किमः कुः स्यात् तादौ हाऽऽदौ च विभक्तौ परतः। कुतः-कस्मात्।

क्विति— तकारादि तथा हकारादि प्रत्यय परे रहते 'किम्' शब्द को 'कु' आदेश होता है।

'कस्मात्' इसके स्थान पर 'तसिल्' प्रत्यय हुआ। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'कु' आदेश होकर 'कुतः' रूप बना।

११९८. **इदम**[६] **इश्**[१] (५/३/३)

प्राग्दिशीये परे। इतः।

इदम इति— प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहते 'इदम्' को 'इश्' आदेश होता है।

अस्मात्— इतः। इदम् तसिल्— इश् तस्-इतस्-इतः सु।

१९९९. [१]अन् (५/३/५)

एतदः प्राग्दिशीये। अनेकाल्त्वात् सर्वाऽऽदेशः। अतः, अमुतः, यतः, ततः, बहुतः। द्व्यादेस्तु – द्वाभ्याम्।

अनिति— प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहते 'एतद्' को 'अन्' आदेश होता है। अनेकाल् होने से सम्पूर्ण स्थानी को होगा (अनेकाल्शित् सर्वस्य)।

एतस्मात् — अतः। यहाँ 'न लोपः प्राति—' के द्वारा नकार का लोप होकर रूप सिद्ध होता है। यथा— एतद् तसिल्-अन्तस्-अतस् सु।

'अमुष्मात्' इस स्थिति में 'अदस् ङसि तसिल्' ऐसा विग्रह हुआ। प्रातिपदिक संज्ञा (कृत् तद्धित—), सुप् लोप (सुपो धातु) आदि होकर 'अदस् तसिल्' — ऐसा स्वरूप हुआ। चूँकि तसिल् विभक्ति संज्ञक (प्राग्दिशः—) है, अतः सकार को अकार (त्यदादीनामः) हो गया। पररूप होकर, अदअतस्— अद त स् — बना। तब 'अदसोऽसेर्दाद्' के द्वारा अकार को उकार तथा दकार को मकार होकर 'अमुतः' रूप बना (अतो गुणे)।

यस्मात्— यतः। पूर्ववत् सिद्धि।

बहोः— बहुतः।

द्व्यादेरिति— द्वि आदि सर्वनाम शब्दों से प्राग्दिशीय प्रत्यय का निषेध होने से द्वि शब्द से भी निषेध हुआ। तब — द्वाभ्याम्— ऐसा ही रूप रहेगा।

१२००. [५]**पर्यभिभ्यां चँ (५/३/९)**

आभ्यां तसिल् स्यात्। परितः–सर्वत इत्यर्थः। अभित उभयतः इत्यर्थः।

परीति— परि और अभि से 'तसिल्' हो।

परितः। अभितः।

१२०१. [५]**सप्तम्यास्त्रल्**[१] (५/३/१०)

कुत्र। यत्र। तत्र। बहुत्र।

सप्त० इति— सप्तम्यन्त 'किम्' आदि से 'त्रल्' होता है।

कस्मिन् — कुत्र सु। यस्मिन् — यत्र। तस्मिन् — तत्र।

१२०२. [५]**इदमो हः**[१] (५/३/११)

त्रलोऽपवादः। इह।

इदम इति— सप्तम्यन्त 'इदम्' शब्द से 'ह' प्रत्यय होता है।

अस्मिन् — इह सु।

१२०३. [५]**किमोऽत्**[१] (५/३/१२)

वा-ग्रहणम् अपकृष्यते। सप्तम्यन्तात् किमः 'अत्' वा स्यात्, पक्षे त्रल्।

किम इति— सप्तम्यन्त 'किम्' शब्द से 'अत्' हो।

इस सूत्र में 'वा' की अनुवृत्ति है। अतः पक्ष में 'त्रल्' भी होता है।

१२०४. [१]**क्वाऽति**[७] (७/२/१०५)

किमः 'क्व' आदेशः स्याद् अति। क्व, कुत्र।

क्वेति— 'अत्' प्रत्यय परे रहते 'किम्' शब्द को 'क्व' आदेश होता है।

'कस्मिन्' के स्थान पर 'अत्' प्रत्यय तथा 'क्व' आदेश हुआ। 'अतो गुणे' से पर रूप होकर 'क्व' बनेगा। पक्ष में 'कुत्र' बना।

१२०५. [५]**इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते** (५/३/१४)

पञ्चमीसप्तमीतर-विभक्त्यन्ताद् अपि तसिलादयो दृश्यन्ते।

(वा०) दृशिग्रहणाद् भवद्आदियोग एव। स भवान्-ततो भवान्, तत्र भवान्। तम्भवन्तम्-ततोभवन्तम्, तत्रभवन्तम्। एवं दीर्घाऽऽयुः, देवानांप्रियः, आयुष्मान्।

इत० इति— इतर (पञ्चमी तथा सप्तमी से भिन्न) विभक्त्यन्त से परे भी तसिल् आदि होते हैं।

(वा०) दृशि ग्रहण करने से भवत् आदि के योग में ही इतर विभक्तियों से उक्त प्रत्यय हों।

सः भवान् — ततः भवान्। 'त्रल्' के पक्ष में— तत्रभवान्।

द्वितीया विभक्ति — तं भवन्तम् — ततो भवन्तम् या तत्र भवन्तम्।

इसी प्रकार तत्रदीर्घायुः, ततोदीर्घायुः।

१२०६. [५]**सर्वैकाऽन्य-किं-यत्-तदः काले**[६] **दा**[१] (५/३/१५)

सप्तम्यन्तेभ्यः कालाऽर्थेभ्यः स्वाऽर्थे दा स्यात्।

सर्वेति— सप्तम्यन्त कालवाचक सर्व, एक, अन्य, किम्, यद् और तद् शब्दों से स्वार्थ में 'दा' प्रत्यय हो।

१२०७. [६]**सर्वस्य** [१]**सोऽन्यतरस्यां दि**[६] (५/३/६)

दाऽदौ प्राग्दिशीये सर्वस्य 'सः' वा स्यात्। सर्वस्मिन् काले-सदा सर्वदा। एकदा। अन्यदा। कदा। यदा। तदा। काले किम्-सर्वत्र देशे।

सर्वस्येति— दकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहते 'सर्व' शब्द को 'स' आदेश विकल्प से हो।

सर्वस्मिन् काले — सदा। यहाँ स्वार्थ में 'दा' प्रत्यय हुआ है। तब 'स' आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ है। पक्ष में 'सर्वदा' बनता है।

एकस्मिन् काले— एकदा।

इसी प्रकार अन्यदा, तदा, कदा, यदा।

१२०८. [५]**इदमो र्हिल्**[१] (५/३/१६)

सप्तम्यन्तात्। काले इत्येव।

इदम इति— सप्तम्यन्त काल-अर्थवाचक 'इदम्' शब्द से स्वार्थ में 'र्हिल्' प्रत्यय होता है। इसका लकार इत्संज्ञक है।

१२०९. [१]**एतेतौ र-थोः**[७] **(५/३/४)**

इदमशब्दस्य एत इत् इत्यादेशौ स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये परे। अस्मिन्काले-एतर्हि। काले किम्-इह देशे।

एतेति— रेफादि तथा थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहते 'इदम्' शब्द को क्रमशः एत तथा इत् आदेश होते हैं। अर्थात् रेफ परे रहते 'एत' तथा थकारादि परे रहते 'इत्' होता है।

अस्मिन् काले— एतर्हि। यहाँ 'र्हिल्' हुआ है, इस अर्थ में 'अधुना' तथा 'इदानीम्' रूप भी बनते हैं।

यह प्रत्यय कालवाचक से ही होता है। 'इह देशे' यह देशवाचक है, अतः यह नहीं हुआ।

१२१०. [७]**अनद्यतने र्हिल्**[१] **अन्तरॅस्याम् (५/३/२१)**

कर्हि, कदा। यर्हि, यदा। तर्हि, तदा।

अन० इति— अनद्यतन कालवृत्ति किम् आदि सप्तम्यन्त शब्दों से विकल्प से 'र्हिल्' होता है। पक्ष में 'दा' होता है।

कस्मिन् काले -- कर्हि, कदा।

इसी प्रकार यर्हि, यदा, तर्हि, तदा आदि रूप बनेंगे।

१२११. [६]**एतदः (५/३/५)**

'एत' 'इत्' एतौ रेफाऽऽदौ थाऽऽदौ च प्राग्दिशीये। एतस्मिन्काले-एतर्हि।

इतद इति— प्राग्दिशीय रेफादि तथा थकारादि प्रत्यय परे रहते 'एतद्' शब्द को क्रमशः 'एत' तथा 'इत्' आदेश होते हैं।

एतस्मिन् काले— एतर्हि। यहाँ 'र्हिल्' प्रत्यय हुआ है। 'एत' आदेश होकर रूप सिद्ध हुआ।

१२१२. [७]**प्रकार-वचने थाल्**[१] **(५/३/२३)**

प्रकारवृत्तिभ्यः किमादिभ्यः 'थाल् स्यात् स्वार्थे। तेन प्रकारेण-तथा। यथा।

प्रका० इति— प्रकारवृत्ति किम् आदि शब्दों से स्वार्थ में 'थाल्' हो।

तेन प्रकारेण तथा। 'त्यदादीनामः' के द्वारा अकार आदेश होकर रूप बना है।

इसी प्रकार 'यथा' रूप सिद्ध होगा।

१२१३. [५]**इदमस्थमुः**[१] **(५/३/२४)**

थालोऽपवादः।

(वा०) एतदोऽपि वाच्यः। अनेन एतेन वा प्रकारेण-इत्थम्।

इदम इति— प्रकारवृत्ति एतद् शब्द से भी 'थमु' प्रत्यय स्वार्थ में हो। 'थमु' का उकार इत् है।

अनेन एतेन वा प्रकारेण इत्थम्। यहाँ 'थमु' प्रत्यय हुआ है। दोनों पक्षों में 'इत्' आदेश होकर रूप सिद्ध होगा।

१२१४. [५]**किमश्च** (५/३/३५)

केन प्रकारेण-कथम्।

॥ इति प्राग्दिशीयाः ॥

किम इति— किम् शब्द से भी प्रकार अर्थ में 'थमु' हो।

केन प्रकारेण— कथम्। 'किमः कः' के द्वारा 'क' आदेश हुआ है।

॥ प्राग्दिशीय प्रत्यय समाप्त ॥

अथ प्रागिवीयाः

१२१५. [५]**अतिशायने तमब्-इष्ठनौ**[१] (५/३/५५)

अतिशयविशिष्टाऽर्थवृत्तेः स्वाऽर्थे एतौ स्तः। अयम् एषाम् अतिशये-नाऽऽढ्यः आढ्यतमः। लघुतमः, लघिष्ठः।

अति० इति— अतिशय विशिष्ट अर्थ में प्रथमान्त शब्द से (स्वार्थ में) 'तमप्' तथा 'इष्ठन्' प्रत्यय होते हैं। 'तमप्' का पकार तथा 'इष्ठन्' का नकार इत्संज्ञक है।

अयम् एषाम् अतिशयेन आढ्यः— आढ्यतमः।

इसी प्रकार 'लघुतमः' तथा 'लघिष्ठ' रूप बनेंगे।

१२१६. [५]**तिङश्च** (५/३/५६)

तिङन्ताद् अतिशये द्योत्ये तमप् स्यात्।

तिङ इति— तिङन्त से भी अतिशय के लिए 'तमप्' हो।

१२१७. [१]**तरप्-तमपौ घः**[१] (१/१/२२)

एतौ घसंज्ञौ स्तः।

तरबिति— तरम् तथा तमप् की घ संज्ञा हो।

१२१८. [५]**किम्-एत्-तिङ्-अव्यय घाद् आमु**[१] **अद्रव्यप्रकर्षे**[७] (५/४/११)

किमः, एदन्तात्, तिङः, अव्ययात् च यो घः, तदन्ताद् आमु स्यात्, न तु द्रव्य-प्रकर्षे। किन्तमाम्। प्राह्णेतमाम्। पचतितमाम्। उच्चैस्तमाम्। द्रव्य-प्रकर्षे तु-उच्चैस्तमः, उच्चैस्तरः।

किमिति— किम्, एकारान्त, तिङ् और अव्यय से पर 'घ' से 'आमु' प्रत्यय होता है,

परन्तु द्रव्य प्रकर्ष में नहीं होता है।

किम् तमप् आमु — किं तम आम् — किन्तमाम्। यहाँ अनुस्वार तथा परसवर्ण हुआ है।

१२१९. [७]**द्विवचन-विभज्योपपदे तरबीयसुनौ**[१] (५/३/५७)

द्वयोरेकस्याऽतिशये, विभक्तव्ये चोपपदे सुप्तिङन्ताद् एतौ स्तः। पूर्वयोरपवादः। अयम् अनयोरतिशयेन लघुतरः लघीयान्। उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः, पटीयांसः।

द्वीति— द्वयर्थवाची और विभज्य (जिसका विभाग किया जाए) उपपद रहते प्रातिपदिक और तिङन्त से अतिशय अर्थ में तरप् और ईयसुन् प्रत्यय होते हैं।

यह पूर्वोक्त तमप् आदि का अपवाद है।

लघु ईयसुन्— ईयस् — लघीयस् — लघीयान्। टि का लोप होकर रूप बनता है। लघुतरः।

उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः/ पटीयांसः।

१२२०. [६]**प्रशस्यस्य श्रः**[१] (५/३/६०)

अस्य 'श्र' आदेशः स्याद् अजाऽऽद्योः परतः।

प्रश० इति— अजादि प्रत्यय परे रहते प्रशस्य के स्थान पर 'श्र' आदेश होता है।

१२२१. [३]**प्रकृत्यैकाच्**[१] (६/४/१६३)

इष्ठादिष्वेकाच् प्रकृत्या स्यात्। श्रेष्ठः, श्रेयान्।

प्रकृ० इति— इष्ठन् आदि प्रत्यय परे रहते एकाच् शब्द को प्रकृतिभाव होता है।

अयमेषाम् अतिशयेन प्रशस्यः। यहाँ इष्ठन् प्रत्यय हुआ। 'टेः' के द्वारा टिलोप प्राप्त हुआ जिस का प्रकृत सूत्र के द्वारा बाध होकर 'श्रेष्ठः' रूप बना।

१२२२. **ज्य चँ** (५/३/६१)

प्रशस्यस्य 'ज्य' आदेशः स्यात् इष्ठेयसोः। ज्येष्ठः।

ज्येति— इष्ठन् तथा ईयसुन् परे रहते प्रशस्य शब्द को 'ज्य' आदेश हो। 'ज्य' में लुप्त प्रथमा है।

प्रशस्य इष्ठन् — ज्य इष्ठ (आद् गुणः)— ज्येष्ठः।

१२२३. [५]**ज्याद्** [१]**आद् ईयसः**[६] (६/४/१६०)

आदेः परस्य। ज्यायान्।

ज्यादिति— 'ज्य' से परे ईयसुन् को आकार आदेश हो।

पञ्चम्यन्त (ज्यात्) का उच्चारण होने से 'आदेः परस्य' के बल पर (ईयसुन्) के आदि (ईकार) को आदेश होगा।

प्रशस्य ईयसुन् — ज्य ईयसुन् — ज्य आयस् (अकः सवर्णे दीर्घः)— ज्यायान्।

१२२४. [५]**बहोर्लोपो**[१] **भू चँ बहोः**[६] (६/४/१५८)

बहोः परयोरिमेयसोर्लोपः स्यात् बहोश्च भूरादेशः भूमा। भूयान्।

बहोरिति— बहु शब्द से पर इमनिच् व ईयसुन् का लोप हो तथा प्रकृति को 'भू' आदेश हो। 'भू' यहाँ लुप्त प्रथमा है।

'आदेः परस्य' के बल पर परवर्त्ती के आदि का लोप होगा।

बहोर्भावः। बहु इमनिच् — बहु मनिच् — भूमन् — भूमा।

इसी प्रकार— अयमनयोरतिशयेन बहुः— भूयान्। यहाँ ईयसुन् के ईकार का लोप हो गया।

१२२५. **इष्ठस्य[६] यिट्[१] चँ** (६/४/१५९)

बहोः परस्य इष्ठस्य लोपः स्याद् यिड् आगमश्च। भू-यिष्ठः।

इष्ठस्येति— बहु शब्द से पर इष्ठन् का लोप और 'यिट्' आगम होता है। बहु को 'भू' आदेश होता है। इष्ठन् के इकार का लोप होगा। आदेः परस्य।

अयमेषां बहुः। बहु इष्ठन् — भू ष्ठन् — भूयिट् ष्ठ — भूयिष्ठः।

१२२६. **[६]विन्मतोर्लुक्[१]** (५/३/६५)

विनो मतुपश्च लुक् स्याद् इष्ठेयसोः। अतिशयेन स्रग्वी-स्रजिष्ठः, स्रजीयान्। अतिशयेन त्वग्वान्-त्वचिष्ठः, त्वचीयान्।

विन्निति— इष्ठन् और ईयसुन् परे रहते विन् तथा मतुप् का लोप होता है।

अतिशयेन स्रग्वी। स्रग्विन् इष्ठन् — स्रज् इष्ठन् — स्रजिष्ठ — स्रजिष्ठः। इसी प्रकार 'स्रजीयान्' बनेगा।

अतिशयेन त्वग्वान्— त्वचिष्ठः। इसी प्रकार त्वचीयान्।

१२२७. **ईषद् असमाप्तौ[७] कल्पप्देश्य-देशीयरः[१]** (५/३/६७)

ईषदूनो विद्वान्-विद्वत्कल्पः। विद्वद्देश्यः। विद्वद्देशीयः। पचति-कल्पम्।

ईषदिति— ईषद् असमाप्ति अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक और तिङ् प्रत्ययान्त से कल्पप्, देश्य तथा देशीयर् — ये तीन प्रत्यय होते हैं।

ईषद् ऊनो विद्वान् (कुछ कम विद्वान्)— विद्वत्कल्पः।

इसी प्रकार — 'विद्वद्देश्यः' तथा 'विद्वद्देशीयः' रूप बनेंगे।

ईषद् असम्पूर्ण पचति-पचतिकल्पम्।

१२२८. **विभाषाँ सुपो[५] बहुच्[१] पुरस्तात्तुँ तुँ** (५/३/६८)

ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे सुबन्ताद् बहुच् वा स्यात्, स च प्रागेव, न तु परतः। ईषद् ऊनः पटुः-बहुपटुः, पटुकल्पः। सुपः किम्–यजति कल्पम्।

विभाषेति— ईषद् असमाप्ति अर्थ में सुबन्त से विकल्प से 'बहुच्' हो तथा वह प्रकृति से पूर्व हो।

ईषदूनः पटुः— बहुपटुः। पक्ष में 'कल्पप्' होकर 'पटुकल्पः' बनेगा।

'सुबन्त से हो' — ऐसा कहा गया है ताकि तिङ् में न हो।

'यजतिकल्पम्' — यहाँ 'बहुच्' न होकर केवल 'कल्पप्' हुआ है।

१२२९. प्रागॅ् इवात्[५] कः[१] (५/३/७०)

'इवे प्रतिकृतौ' इत्यतः प्राक् काऽधिकारः।

प्रागिति— 'इवे प्रतिकृतौ' (पा. ५.३.९६.) से पूर्व तक 'क' प्रत्यय का अधिकार चलेगा।

१२३०. अव्यय-सर्वनाम्नाम्[६] अकच्[१] प्राक्ँ टेः[५] (५/३/७१)

काऽपवादः। तिङश्चेत्यनुवर्तते।

(वा०) ओकार-सकार-भकाराऽऽदौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्राग्, अकच्, अन्यत्र तु सुबन्तस्य (टेः प्राग् अकच्।)

अव्ययेति— अव्यय, सर्वनाम और तिङन्त की 'टि' से पूर्व 'अकच्' हो। 'अकच्' का 'अक्' शेष रहता है। यह पूर्वोक्त 'क' प्रत्यय का अपवाद है।

यहाँ 'तिङश्च' पद की अनुवृत्ति है।

(वा०) ओकारादि, सकारादि और भकारादि सुप् परे रहते सर्वनाम की टि से पूर्व अकच् हो तथा अन्यत्र सुबन्त की टि से पूर्व हो।

१२३१. [७]अज्ञाते (५/३/७३)

कस्याऽयमश्वः–अश्वकः। उच्चकैः। नीचकैः। सर्वकैः। युवकयोः। आवकयोः। युष्मकासु। अस्मकासु। युष्मकाभिः। त्वयका, मयका।

अज्ञात इति— अज्ञात अर्थ में सुबन्त से 'क' प्रत्यय हो और अव्यय, सर्वनाम तथा तिङन्त की टि से पूर्व 'अकच्' हो।

अज्ञातः अश्वः–अश्वकः।

अज्ञातम् उच्चैः–उच्चकैः।

इसी प्रकार — नीचकैः। सर्वकैः।

अज्ञातयोः युवयोः–युवकयोः।

इसी प्रकार — आवकयोः। यहाँ 'युवय्' तथा 'आवय्' प्रातिपदिक की टि (अय्) से पूर्व 'अकच्' हुआ है। अब सकारादि तथा भकारादि के उदाहरण हैं

इसी प्रकार 'युष्मकासु', 'अस्मकासु', 'युष्मकाभिः' तथा 'अस्मकाभिः' रूप बनेंगे।

सुबन्त के उदाहरण —

अज्ञातेन त्वया–त्वयका। इसी प्रकार 'मयका'। तिङन्त का उदाहरण 'पचतकि:' है।

१२३२. कुत्सिते[७] (५/३/७४)

कुत्सितोऽश्वः–अश्वकः।

कु० इति— कुत्सित अर्थ में 'क' हो।

कुत्सितोऽश्वः-अश्वकः।

१२३३. [५]किं-यत्-तदोर्निर्धारणे[७] द्वयो[७]रेकस्य[६] डतरच्[१] (५/३/९२)

अनयोः कतरो वैष्णवः। यतरः। ततरः।

किमिति— दो में से एक के निर्धारण के विषय में किम्, यद् और तद् से 'डतरच्' होता है। 'डतरच्' के डकार और चकार इत्संज्ञक हैं।

अनयोः कः वैष्णवः-कतरः। 'किम्' का टिलोप होकर रूप सिद्ध होता है।

इसी प्रकार — यतरः, ततरः।

१२३४. वा बहूनां[६] जाति-परिप्रश्ने[७] डतमच्[१] (५/३/९३)

बहूनां मध्ये एकस्य निर्धारणे डतमज् वा स्यात्। 'जाति-परिप्रश्ने' इति प्रत्याख्यातम् आकरे। कतमो भवतां कठः। यतमः। ततमः। वाग्रहणम् अकजर्थम्-यकः। सकः।

॥ इति प्रागिवीयाः ॥

वेति— यदि बहुतों में से एक का निर्धारण करना हो तो जाति परिप्रश्न अर्थ में किम्, यद् तथा तद् से विकल्प से 'डतमच्' होता है।

कतमो भवतां कठः। यहाँ 'डतमच्' होकर रूप बना है।

इसी प्रकार — यतमः। ततमः।

वा ग्रहण के द्वारा पक्ष में 'अकच्' होकर 'यकः', 'सकः' रूप भी बनेंगे।

॥ प्रागिवीय प्रकरण समाप्त ॥

अथ स्वार्थिकाः

१२३५. [७]इवे [७]प्रतिकृतौ (५/३/९६)

कन् स्यात्। अश्व इव प्रतिकृतिः-अश्व कः।

(वा०) सर्व-प्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन्। अश्वकः।

स्वार्थिक प्रकरण प्रारम्भ होता है।

इव इति— प्रतिकृति (प्रतिमा) अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से 'इव' (सदृश) अर्थ में 'कन्' होता है।

यह उपमान से होता है और इस प्रत्यय के द्वारा उपमेय अर्थ प्रकट होता है।

अश्व इव प्रतिकृतिः— अश्वकः।

(वा०) सभी प्रातिपदिकों से स्वार्थ में 'कन्' हो।

१२३६. [७]तत्-प्रकृत-वचने मयट्[१] (५/४/२१)

प्राचुर्येण प्रस्तुतम्-प्रकृतम्, तस्य वचनम्-प्रतिपादनम्।

भावे अधिकरणे वा ल्युट्। आद्य-प्रकृतमन्नम्-अन्न-मयम्। अपूप-मयम्। द्वितीये तु-अन्न-मयो यज्ञः, अपूप-मयं पर्व।

तदिति— प्रकृत अर्थ में प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'मयट्' होता है।

प्रकृत का अर्थ है — प्रचुरता से प्रस्तुत।

भाव या अधिकरण में ल्युट् होकर 'वचन' शब्द सिद्ध होता है।

प्रकृतं प्रचुरम् अन्नम्— अन्नमयम्।

इसी प्रकार अपूपमयं पर्व।

१२३७. [५]**प्रज्ञाऽऽदिभ्यश्च** (५/४/३८)

अण् स्यात्। प्रज्ञ एव-प्राज्ञः। प्राज्ञी स्त्री। दैवतः। बान्धवः।

प्रज्ञेति— प्रज्ञ आदि शब्दों से स्वार्थ में 'अण्' होता है।

प्रज्ञ एव प्राज्ञः।

इसी प्रकार — प्राज्ञी, दैवतः, बान्धवः रूप बनेंगे।

१२३८. [५]**बह्वल्पाऽर्थात् शस्**[१] **कारकाद्**[५] **अन्यतरॅस्याम्** (५/४/४२)

बहूनि ददाति-बहु-शः। अल्प-शः।

(वा०) आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम्। आदौ-आदि-तः। मध्य-तः। अन्त-तः। पार्श्व-तः। आकृतिगणोऽयम्। स्वरेण-स्वर-तः। वर्ण-तः।

बह्विति— बह्वर्थक तथा अल्पार्थक कारक शब्द से स्वार्थ में 'शस्' हो।

बहूनि ददाति— बहुशः।

इसी प्रकार — अल्पशः।

(वा०) आदि प्रभृति शब्दों से सभी विभक्तियों के अर्थ में 'तसि' हो।

आदौ — आदितः। इसी प्रकार 'मध्यतः', 'अन्ततः' तथा 'पार्श्वतः' सिद्ध होते हैं।

१२३९. [७]**कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि**[७] **च्विः**[१] (५/४/५०)

(वा०) अभूत-तद्भाव इति वक्तव्यम्। विकाराऽऽत्मतां प्राप्नुवत्यां प्रकृतौ वर्तमानाद्विकारशब्दात् स्वार्थे च्विर्वा स्यात्करोत्यादिभिर्योगे।

कृभ्विति— अभूततद्भाव में सम्पाद्य कर्ता अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से कृ, भू तथा अस् के योग में 'च्वि' प्रत्यय हो।

(वा०) अभूततद्भाव कहना चाहिए। इसका अर्थ है कि जो पहले नहीं था, वैसा हो जाना।

'च्वि' का सर्वापहार लोप होता है।

१२४०. [६]**अस्य च्वौ**[७] (७/४/३२)

अवर्णस्य ईत् स्यात् च्वौ. वेर्लोपः। च्व्यन्तत्वाद् अव्ययत्वम्। अकृष्णः कृष्णः संपद्यते, तं करोति कृष्णीकरोति। ब्रह्मीभवति। गङ्गीस्यात्।

(वा०) अव्ययस्य च्वावीत्वं न-इतिवाच्यम्। दोषाभूतम् अह:। दिवाभूता रात्रि:।

अस्येति— च्वि परे रहते अवर्ण को ईकार हो।

च्वि-प्रत्ययान्त शब्द अव्यय होता है।

अकृष्णं कृष्णरूपेण सम्पद्यमान करोति। यहाँ 'च्वि' प्रत्यय हुआ। कृष्ण च्वि कृ — कृष्ण कृ — कृष्णई करोति— कृष्णीकरोति।

इसी प्रकार ब्रह्मीभवति, गङ्गीस्यात् रूप बनेंगे।

(वा०) अव्यय के अवर्ण को ईकार न हो च्वि परे रहते।

अदोषा दोषा सम्पद्यमानम् अभूत्। यहाँ 'च्वि' प्रत्यय तथा 'भू' का योग हुआ। प्रकृतवार्तिक के द्वारा ईकार आदेश का निषेध हो गया। तब 'दोषाभूतम् अह:' रूप बना।

इसी प्रकार — दिवाभूता रात्रि:।

१२४१. **विभाषॉ साति [७]कार्त्स्न्ये** (५/४/५२)

च्वि-विषये सातिर्वा स्यात् साकल्ये।

विभाषेति— च्वि के विषय में सम्पद्य कर्ता में और कृ, भू, अस् के योग में विकल्प से 'साति' प्रत्यय होता है, सम्पूर्णता अर्थ प्रकट करने के लिए।

साति का इकार उच्चारणार्थ है। लुप्तप्रथमा है।

१२४२. **सात् पदाऽऽद्यो:** [६] (६/३/११११)

सस्य षत्वं न स्यात्। दधि सिञ्चति। कृत्स्नं शस्त्रम्। अग्नि: संपद्यते-अग्नि-साद् भवति।

सादिति— सात् प्रत्यय के सकार और पद के आदि सकार को षकार नहीं होता है।

'दधि सिञ्चति' — यहाँ 'आदेशप्रत्यययो:' के द्वारा षत्व प्राप्त था। प्रकृत सूत्र के द्वारा इसका निषेध हो गया है।

कृत्स्नं शस्त्रं अग्निसाद् सम्पद्यते। यहाँ 'भू' धातु का योग हुआ। साति प्रत्यय हुआ। तब प्राप्त षकार का निषेध होकर 'अग्निसाद् भवति' रूप बना।

१२४३. **च्वौ[७] चॅ** (७/४/२६)

च्वौ च परे पूर्वस्य दीर्घ: स्यात्। अग्नीभवति।

च्वा इति— च्वि परे रहते पूर्व 'अण्' को दीर्घ होता है।

अनग्निरग्नि: सम्पद्यमानो भवति। यहाँ 'भू' धातु को प्रयोग तथा 'च्वि' प्रत्यय हुआ। तब दीर्घ होकर 'अग्नीभवति' रूप बना।

१२४४. [५]**अव्यक्ताऽनुकरणाद्** [५]**द्व्यजवरार्धादनितौ**[७] **डाच्**[१] (५/४/५७)

द्व्यज्एवाऽवरं न्यूनम्, न तु ततो न्यूनम्, अनेकाऽज् इति यावत्। तादृशम् अर्धं यस्य, तस्माद् डाच् स्यात् कृभ्वस्तिभियोगे।

(वा०) डाचि च द्वे बहुलम्। डाचि विवक्षिते द्वित्वम्।

(वा०) नित्यम् आम्रेडिते डाचि इति वक्तव्यम्।

डाच्परं यद् आम्रेडितं तस्मिन् परे पूर्व-परयोर्वर्णयोः पररूपं स्यात्। इति तकार-पकारयोः पकारः-पटपटाकरोति। अव्यक्ताऽनुकरणात् किम्-ईषत्करोति। द्व्यजवाराऽर्धात् किम्-श्रत्करोति। अवरेति किम्-खरट-खरटाकरोति। अनितौ किम्-पटिति करोतिं।

॥ इति स्वार्थिकाः ॥

॥ इति तद्धितप्रकरणम् ॥

अव्य० इति— 'इति' परे न होने पर अनेकाच् अर्ध भाग वाले अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण शब्द से कृ, भू, अस् के योग में 'डाच्' प्रत्यय हो।

'डाच्' का केवल 'आ' शेष रहता है।

(वा०) अच् प्रत्यय की विवक्षा में द्वित्व हो बहुलता से।

(वा०) डाच् परक आम्रेडित शब्द के परे रहते पूर्व और पर वर्णों के स्थान पर पररूप एकादेश होता है।

पटत् करोति— पटपटाकरोति। यहाँ द्वित्व होकर पररूप एकादेश हुआ है। पटत् पटत् डाच् कृ — पटत् पटा करोति। तब पररूप (तकार पकार के स्थान पर) पकार होकर 'पटपटाकरोति' रूप बना।

'ईषत् करोति' — यहाँ नहीं होगा। 'ईषत्' शब्द अव्यक्त ध्वनि नहीं है।

दो ही न्यून हों, उससे न्यून न हो। अन्यथा 'श्रत् करोति' यहाँ भी 'डाच्' हो जायेगा। यहाँ एकाच् है।

सूत्र में 'अवर' शब्द का पाठ किया गया है। इसलिये कि 'खरटखरटा करोति' — यहाँ 'डाच्' हो। यह अनेकाच् अर्ध भाग है।

'इति परे रहते न हो, ताकि 'पटिति करोति' — यहाँ डाच् न हो। यहाँ अव्यक्त ध्वनि तो है, पर इससे परे 'इति' है।

॥ स्वार्थिक प्रकरण समाप्त ॥

॥ तद्धित प्रकरण समाप्त ॥

अथ स्त्रीप्रत्ययाः

१२४५. [७]**स्त्रियाम् (४/१/३)**

अधिकारोऽयम् 'समर्थानाम्' – इति यावत्।

स्त्रियामिति— 'समर्थानां प्रथमाद् वा' (पा. ४.१.८२) तक यह अधिकार चलेगा अर्थात् पा. ४.१.८२. तक कहे गये प्रत्यय स्त्रीत्व बोधन के लिए हों।

१२४६. [५]**अजाऽऽद्यतष्टाप्**[१] **(४/१/४)**

अजाऽऽदीनाम्, अकारान्तस्य च वाच्यं यत् स्त्रीत्वम्, तत्र द्योत्ये टाप् स्यात्। अजा। एडका। अश्वा। चटका। मूषिका। वाला। वत्सा। होडा। मन्दा। विलाता-इत्यादिः अजादिगणः। मेधा। गङ्गा सर्वा।

स्त्रीत्व की विवक्षा में अदन्त (अकारान्त) तथा अज आदि गणपठित (प्रातिपदिक) से परे 'टाप्' हो। इसके टकार, पकार इत्संज्ञक हैं।

अजा

अज —	'अर्थवद —' से प्रातिपदिक संज्ञा, 'ङ् याप् प्रातिपदिकात्', 'स्त्रियाम्', 'प्रत्ययः', 'परश्च' के अधिकार में।
अजआ —	'अजाद्यष्टाप्' से टाप्, अनुबन्ध लोप।
अजा —	'अकः सवर्णे दीर्घः' से सवर्ण दीर्घ।

इस प्रकरण में सिद्धि क्रम इसी प्रकार रहेगा जो विस्तारभय से सर्वत्र नहीं दिखाया गया है। छात्रों को परीक्षा की दृष्टि से सम्पूर्ण रूपसिद्धि विस्तरेण एवम् क्रमपूर्वक कण्ठस्थ रखनी चाहिए।

इसी प्रकार 'एडका' आदि रूप बनेंगे।

१२४७. [५]**उगितश्च (४/१/६)**

उगिदन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् स्यात्। भवन्ती। पचन्ती। दीव्यन्ती।

उगिति— उगित् प्रत्ययान्त शब्द से स्त्रीत्व बोधन के लिए 'ङीप्' हो।

इसके ङकार तथा पकार इत्संज्ञक हैं। लशक्वत०, हलन्त्यम्।

कृदन्त प्रकरण में कथित 'शतृ' प्रत्यय का ऋकार (उक्) इत् है। अतः यह उगन्त हो गया।

तद्धित प्रकरण में कथित 'ईयसुन्' का उकार (उक्) इत् है। अतः यह भी उगन्त कहलायेगा।

'भवत्' शतृ प्रत्ययान्त है। अतः यह शब्द उगन्त है। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'ङीप्' हो गया। तब 'शप्श्यनोर्नित्यम्' के द्वारा नुम् आगम हुआ। भवत् ङीप्- भवन् त ई सु 'भवन्ती'।

इसी प्रकार 'पचन्ती' तथा 'दीव्यन्ती' रूप होंगे।

१२४८. [५]**टिड्-ढाऽण्-अञ्-द्वयसच्-दघ्नञ्-मात्रच्-तयप्-ठक्-ठञ्-कञ्क्वरपः (४/१/१५)**

अनुपसर्जनं यत् टिद्-आदि तदन्तं यद् अदन्तं प्रातिपदिकम्, ततः स्त्रियां ङीप् स्यात् कुरु-चरी। नदट्-नदी। देवट्-देवी। सौपर्णेयी। ऐन्द्री। औत्सी। ऊरुद्वयसी। ऊरुदघ्नी। ऊरुमात्री। पञ्चतयी। आक्षिकी। प्रास्थिकी। लावणिकी। यादृशी। इत्वरी।

(वा०) नञ्-स्नञ्-ईकक्-ख्युन्-तरुण-तलुनानाम् उपसंख्यानम्। स्त्रैणी पौंस्नी। शाक्तीकी। आढ्यङ्करणी। तरुणी। तलुनी।

टिदिति— अनुपसर्जन (जो गौण न हो) अकारान्त, टिदन्त, ढ, अण्, अञ्, द्वयसच्, दघ्नञ्, मात्रच्, तयप्, ठक्, ठञ्, कञ् और क्वरप् — प्रत्ययान्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् हो। लशक्वत०, हलन्त्यम्। ई शेष रहता है।

'कुरुषु चरति इति कुरुचरः' — यहाँ 'ट' प्रत्यय हुआ है जो टित् है। तब 'ङीप्' हुआ। 'यस्येति च' से अन्त्य अकार लोप होकर 'कुरुचरी' हुआ। कुरुचर ई सु।

'नदट् ङीप्' इस अवस्था में 'नदी' रूप बना।

इसी प्रकार 'देवी' शब्द बनता है।

'सौपर्णेय' ढक् प्रत्ययान्त है। 'ङीप्' होकर 'सौपर्णेयी' (आयनेयीनी०)।

'ऐन्द्र' शब्द अण् प्रत्ययान्त है। ङीप् होकर 'ऐन्द्री' बना।

औत्स (अञ् प्रत्ययान्त) से ङीप् हुआ। तब 'औत्सी' रूप बना।

ऊरुद्वयस (द्वयसच् प्रत्ययान्त) ङीप् — ऊरुद्वयसी।

ऊरुदघ्न ङीप् — ऊरुदघ्नी।

ऊरुमात्र ङीप् — ऊरुमात्री।

पञ्चतय (तयप्) ङीप् — पञ्चतयी।

आक्षिक (ठक्) ङीप् — आक्षिकी।

प्रास्थिक (ठञ्) ङीप् — प्रास्थिकी।

लावणिक (ठञ्) ङीप् — लावणिकी।

यादृश (कञ्) ङीप् — यादृशी।

इत्वर (क्वरप्) ङीप् — इत्वरी।

(वा०) नञ्, स्नञ्, ईकक् तथा ख्युन् प्रत्ययान्त, तरुण तथा तलुन शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' हो।

स्त्रैण (नञ् प्रत्ययान्त) ङीप् — स्त्रैणी।

पौंस्न (स्नञ् प्रत्ययान्त) ङीप् — पौंस्नी।

शाक्तीक (ईकक् प्रत्ययान्त) ङीप् — शाक्तीकी।

आढ्यङ्करणी (ख्युन् प्रत्ययान्त) ङीप् — आढ्यङ्करणी।

तरुण ङीप् — तरुणी।

तलुन ङीप् — तलुनी।

१२४९. [५]**यञश्च** (४/१/१६)

यञन्तात् स्त्रियां 'ङीप्' स्यात्। अकार-लोपे कृते –

यञ इति— यञन्त से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् हो।

'ङीप्' होने पर 'यस्येति च' के द्वारा अन्त्य अकार का लोप होता है।

१२५०. [५]**हलस्तद्धितस्य**[६] (६/४/१५०)

हलः परस्य तद्धित-यकारस्योपधाभूतस्य लोप ईकारे परे। गार्गी।

हल इति— ईकार परे रहते हल् परक तद्धित के उपधाभूत यकार का लोप होता है।

गार्ग्य ङीप् — गार्ग्य् ङीप् — गार्गी।

१२५१. [६]**प्राचां ष्फ**[१] **तद्धितः**[१] (४/१/१७)

यञन्तात् ष्फो वा स्यात्, स च तद्धितः।

प्राचामिति— पूर्व देश के आचार्यों के मत में यञ् प्रत्ययान्त से स्त्रीलिङ्ग में 'ष्फ' होता है और वह तद्धित होता है।

'ष्फ' का षकार इत्संज्ञक है। फकार को 'आयन्' आदेश होता है। यह प्रत्यय विकल्प से होता है।

१२५२. [५]**षिद्-गौराऽऽदिभ्यश्च** (४/१/४१)

षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च ङीष् स्यात्। गार्ग्यायणी। नर्तकी। गौरी।

(वा०) आम् अनडुहः स्त्रियां वा। अनड्वाही, अनडुही। आकृतिगणोऽयम्।

षिदिति— गौर आदि शब्दों से तथा षिद् प्रत्ययान्त से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' होता है।

यञन्त गार्ग्य शब्द से 'प्राचां ष्फः तद्धितः' सूत्र के द्वारा 'ष्फ' हुआ। तब 'गार्ग्यायण' बना। यह तद्धित है। अतः इसकी प्रातिपदिक संज्ञा हो गई। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'ङीष्' होकर 'गार्ग्यायणी' बना।

नर्तक (ष्वुन् प्रत्ययान्त) षिदन्त है। अतः 'ङीष्' होकर 'नर्तकी' बना।

गौर + ङीष् — गौरी।

(वा०) अनडुह् शब्द को स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से 'आम्' हो।

'अनडुह् ङीष्' — यहाँ प्रकृत वार्तिक के द्वारा 'आम्' हुआ। यणादेश होकर 'अनड्वाही' रूप बना।

अभाव पक्ष में 'अनडुही' बना। यह आकृतिगण है।

१२५३. [७]**वयसि** [७]**प्रथमे** (४/१/२०)

प्रथमवयो-वाचिनोऽदन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यात्। कुमारी।

वयसीति— प्रथम अवस्था के वाचक अदन्त शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीप्' हो।

कुमार ङीप् — कुमारी।

इस सूत्र पर वार्तिक है — 'वयसि अचरमे'। इसके अनुसार चरम (वृद्धावस्था) के वाचक शब्द को छोड़ कर शेष में 'ङीप्' होता है।

वधूट (यौवन) ङीप् — वधूटी।

चिरण्ट (यौवन) ङीप् — चिरण्टी।

१२५४. [५]**द्विगोः (४/१/२१)**

अदन्ताद् द्विगोः 'ङीप्' स्यात्। त्रिलोकी। अजाऽऽदित्वात्-त्रिफला, त्र्यनीका-सेना।

द्विगोरिति— अदन्त द्विगु से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् हो।

त्रिलोक ङीप् — त्रिलोकी।

'त्रिफल' शब्द अकारान्त द्विगु है। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'ङीप्' प्राप्त हुआ। अजादि गण में पाठ होने से 'टाप्' हुआ। त्रिफल + टाप् — त्रिफला।

इसी प्रकार — त्र्यनीका।

१२५५. [५]**वर्णाद् अनुदात्तात्**[५] **तोपधात्**[५], **तो**[६] **नः**[१] **(४/१/३९)**

वर्ण-वाची योऽनुदात्तान्तस्तोपधः, तदन्ताद् अनुपसर्जनात् प्रातिपदिकाद् वा ङीप्, तकारस्य नकाराऽऽदेशश्च। एनी, एता। रोहिणी, रोहिता।

वर्णादिति— अनुदात्तान्त और तकार उपधा वाले वर्णवाची शब्द से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से 'ङीप्' हो तथा तकार को नकार आदेश हो।

रोहित ङीप् — रोहिणी। उपधा को नकार, उसे णकार होकर रूप बना। पक्ष में सामान्य 'टाप्' होकर 'रोहिता' रूप बना।

एत ङीप् — एनी. पक्ष में 'एता'।

१२५६. **वोतो**[५] **गुण-वचनात्**[५] **(४/१/४४)**

उदन्ताद् गुण-वाचिनो वा ङीष् स्यात्। मृद्वी, मृदुः।

वेति— उकारान्त गुणवाचक शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' होता है विकल्प से।

मृदु ङीष् — मृद्वी। अभाव पक्ष में 'मृदुः' रूप बना।

१२५७. **बह्वादि**[५]**भ्यश्च (४/१/४५)**

एभ्यो वा ङीष् स्यात्। बह्वी, बहुः।

(ग. सू.) कृद् इकाराद् अक्तिनः। रात्रिः, रात्री।

(ग. सू.) सर्वतोऽक्तिन्नर्थाद् इति एके। शकटी शकटिः।

बह्विति— बहु आदि से विकल्प से 'ङीष्' हो।

बहु ङीष् — बह्वी। पक्ष में 'बहुः' होगा।

(ग.) कृत् प्रत्यय का इकार जिसके अन्त में है, उससे विकल्प से 'ङीष्' हो, परन्तु क्तिन् प्रत्ययान्त से न हो।

रात्रि (त्रिप् प्रत्ययान्त) ङीष् — रात्री। पक्ष में 'रात्रिः' ही होगा।

(ग.) क्तिन् प्रत्यय के अर्थ को छोड़ कर अन्य प्रत्ययान्त इकारान्त मात्र से कुछ आचार्यों के मत से 'ङीष्' हो।

शकटि ङीष् — शकटी। पक्ष में ज्यों का त्यों रहेगा। शकटिः।

१२५८. [५]पुंयोगाद् आख्यायाम्[७] (४/१/४८)

या पुमाख्या पुंयोगात् स्त्रियां वर्तते, ततो ङीष्। गोपस्य स्त्री-गोपी।

(वा०) पालकाऽन्तात् न। गोपालिका। अश्वपालिका।

पुं० इति— यदि पुरुषवाचक शब्द पुरुष सम्बन्ध के कारण स्त्रीलिङ्ग में प्रवृत्त होता है तो उससे 'ङीष् प्रत्यय होता है अर्थात् यदि पुरुषवाचक शब्द का प्रयोग पति-पत्नी भाव रूप सम्बन्ध के कारण स्त्री के लिए भी किया जाये तो उससे 'ङीष्' होता है।

गोपस्य पत्नी स्त्री-गोपी। यहाँ पति-पत्नी भाव रूप के द्वारा स्त्रीत्व कहा गया है।

(वा०) पालकान्त शब्द से पुंयोग में 'ङीष्' न हो।

गोपालकस्य पत्नी स्त्री— गोपालिका। यहाँ ङीष् न होकर टाप् हुआ है।

इसी प्रकार — अश्वपालिका।

१२५९. [५]प्रत्ययस्थात् कात्[५]पूर्वस्या[६]ऽत[६] 'इद्'[१] [७]आप्यसुपः[५] (७/३/४४)

प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्याऽकारस्येकारः स्याद् आपि, स आप् सुपः परो न चेत्। सर्विका। कारिका। अतः किम्-नौका। प्रत्यय-स्थात् किम्-शक्नोतीति शका। असुपः किम्-बहुपरिव्राजका नगरी।

(वा०) सूर्याद् देवतायां चाप् वाच्यः। सूर्यस्य स्त्री देवता-सूर्या। देवतायां किम्

(वा०) सूर्याऽगस्त्ययोश्छे च ङ्यां च। यलोपः। सूरी-कुन्ती, मानुषीयम्।

प्र० इति— प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्ववर्त्ती अकार को इकार आदेश हो 'आप्' (अर्थात् चाप्, डाप्, टाप्) परे रहते यदि वह प्रत्यय सुप् से परे न हो।

'गोपालक टाप्' — यहाँ ककार से पूर्वस्थित अकार को इकार हो गया। गोपालिका।

सर्वक टाप् — सर्विका।

इसी प्रकार — कारिका।

ककार से पूर्ववर्त्ती अकार को इकार हो — ऐसा कहा गया है। अन्यथा 'नौक टाप् — नौका' इस स्थिति में औकार को इकार हो जाता, जो इष्ट नहीं है।

प्रत्यय में स्थित ककार की अवस्था में उक्त आदेश होता है। ऐसा इसलिए कहा

गया कि 'शक टाप् — शका' — इस स्थिति में इकार आदेश न हो। यहाँ ककार प्रत्यय का न होकर धातु का अवयव है।

'आप् सुप् से परे न हो' — ऐसा इसलिए कहा गया ताकि 'बहुपरिव्राजक टाप् — बहुपरिव्राजका' यहाँ उक्त आदेश न हो। यहाँ प्रत्ययस्थ ककार है तथा उससे पूर्व अकार भी है, परन्तु 'आप्' से पूर्व 'सुप्' (जिसका लोप हो चुका है) स्थित है।

(वा०) देवता जाति की स्त्री रूप अर्थ में पुंयोग में वर्तमान सूर्य शब्द से 'चाप्' हो। 'चाप्' के चकार व पकार इत्संज्ञक हैं।

सूर्यस्य स्त्री देवता— सूर्या।

यदि स्त्री मनुष्य जाति की हो तो उक्त प्रत्यय नहीं होगा, केवल 'ङीष्' होगा। अत: 'देवता अर्थ में ही चाप् हो' — ऐसा कहा गया।

(वा०) सूर्य और अगस्त्य के यकार का लोप हो 'छ' तथा 'ङी' प्रत्यय परे रहते।

सूर्यस्य स्त्री-मानुषी। यहाँ 'ङीष्' हुआ। तब 'यस्येति च' के द्वारा अन्त्य वर्ण लोप तथा प्रकृत वार्तिक के द्वारा य लोप हो गया। सूर्य ङीष् — सूर्य् ई — सूर् ई -- सूरी।

१२६०. [६]**इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमाऽरण्य-यव-यवन-मातुलाऽऽचार्याणाम् आनुक्**[१] **(४/१/४९)**

एषाम् 'आनुक्' आगमः स्यात् ङीष् च। इन्द्रस्य स्त्री-इन्द्राणी। वरुणानी। भवानी। शर्वाणी। रुद्राणी। मृडानी।

(वा०) हिमाऽरण्ययोर्महत्त्वे। महद्हिमम्-हिमानी, महद् अरण्यम्-अरण्यानी।

(वा०) यवाद् दोषे। दुष्टो यवो-यवानी।

(वा०) यवनात् लिप्याम्। यवनानां लिपि:-यवनानी।

(वा०) मातुलोपाध्याययोः 'आनुक्' वा। मातुलानी, मातुली। उपाध्यायानी, उपाध्यायी।

(वा०) आचार्याद् अणत्वं च। आचार्यस्य स्त्री-आचार्यानी।

(वा०) अर्य-क्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे। अर्याणी, अर्या। क्षत्रियाणी, क्षत्रिया।

इन्द्रेति— इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल तथा आचार्य शब्दों से ङीष् प्रत्यय तथा आनुक् आगम हो।

इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र तथा मृड शब्दों से पुंयोग में प्रत्यय हुआ है। तब 'आनुक्' आगम होकर रूप सिद्ध होता हैं (देखिये मूल पाठ)।

(वा०) हिम तथा अरण्य शब्दों से महत्त्व अर्थ में उक्त प्रत्यय हो।

महद् हिमम्–हिमानी। यहाँ ङीष् प्रत्यय तथा आनुक् आगम हुआ है।

इसी प्रकार — महद् अरण्यम्–अरण्यानी।

(वा०) दोषयुक्त अर्थ में 'यव' से उक्त प्रत्यय हो।

दुष्टो यवः-यवानी।

(वा०) लिपि अर्थ में यवन शब्द से उक्त प्रत्यय हो।

यवनानां लिपिः-यवनानी।

यवनस्य स्त्री-यवनी। यहाँ पुंयोग में केवल 'ङीष्' प्रत्यय होकर रूप बना है।

(वा०) मातुल और उपाध्याय से आनुक् आगम विकल्प से हो।

मातुलस्य स्त्री-मातुलानी। मातुली। यहाँ पुंयोग में ङीष होकर आनुक् एवं आनुगभाव इन दो पक्षों में दो रूप बनेंगे।

इसी प्रकार उपाध्यायस्य स्त्री-उपाध्यायानी, उपाध्यायी।

(वा०) आचार्य शब्द से पुंयोग में ङीष् प्रत्यय, आनुक् आगम हो तथा णत्व का निषेध हो।

आचार्यस्य स्त्री-आचार्यानी।

जो स्वयं अध्यापन कार्य करती हो, उसे 'आचार्या' (टाप्) कहा जायेगा।

'या तु स्वयमेवाध्यापिका तत्र वा ङीष् वाच्यः' — इस वार्तिक के अनुसार विकल्प से ङीष् होगा। उपाध्याया, उपाध्यायी — इन दोनों का अर्थ है — अध्यापिका।

(वा०) अर्य और क्षत्रिय शब्दों से स्वार्थ में ङीष् तथा आनुक् विकल्प से हों। पक्ष में 'टाप्' होगा।

अर्य ङीष् — अर्याणी। पक्ष में अर्या। इसका अर्थ है — वैश्य कुल की स्त्री।

पुंयोग में आनुक् नहीं होगा — अर्यी।

इसी प्रकार क्षत्रियाणी, क्षत्रिया का अर्थ है — क्षत्रिय कुलोत्पन्न स्त्री। क्षत्रियी का अर्थ है — क्षत्रिय की पत्नी, भले ही वह शूद्रा हो।

१२६१. [५]**क्रीतात् करण-पूर्वात्**[५] (४/१/५०)

क्रीताऽन्ताद् अदन्तात् करणाऽऽदेः स्त्रियां ङीष् स्यात्। वस्त्रक्रीती। क्वचिन्न-धनक्रीता।

क्रीतादिति— करणकारक जिसके आदि में और क्रीत शब्द अन्त में हो — ऐसे अदन्त शब्द से 'ङीष्' हो।

वस्त्रक्रीत ङीष् — वस्त्रक्रीती।

कहीं-कहीं यह नहीं भी होता है। धनक्रीत टाप् — धनक्रीता।

१२६२. [५]**स्वाङ्गाच्**[७]**चोपसर्जनाद्**[५] **अ-संयोगोपधात्**[५] (४/१/५४)

असंयोगोपधम् उपसर्जनं यत् स्वाङ्गम् तदन्ताद् अदन्तात् ङीष् वा स्यात्। केशान् अतिक्रान्ता-अतिकेशी, अतिकेशा। चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा। असंयोगोपधात् किम्-सुगुल्फा। उपसर्जनात्-किम्-सुशिखा।

स्वाङ्गादिति— यदि असंयोगोपध (जिसकी उपधा में संयोग न हो) और उपसर्जन

(गौण) स्वाङ्गवाची शब्द अन्त में हो तो अकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ङीष्' विकल्प से होता है।

स्वाङ्ग शब्द का पारिभाषिक अर्थ है —

१. अद्रवं मूर्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थम् अविकारजम् — जो तरल न हो, मूर्तिमान् हो, प्राणी में वर्तमान हो और अविकारज हो उस को 'स्वाङ्ग' कहते हैं।

२. अतत्स्थं तत्र दृष्टं च — जो सम्प्रति प्राणी में स्थित न हो, किन्तु कभी प्राणी में देखा गया हो, उसे 'स्वाङ्ग' कहते हैं।

३. तेन चेत् तत् तथा युतम् — जिस प्रकार अङ्ग प्राणी में स्थित होता है, यदि उस प्रकार अप्राणी में भी स्थित हो, तो उस अप्राणिस्थ अङ्ग को 'स्वाङ्ग' कहते हैं। इसके अनुसार प्रतिमा आदि में स्थित अङ्गों को स्वाङ्ग कहा जायेगा।

अतिकेशी, अतिकेशा (केशान् अतिक्रान्ता) — यहाँ तत्पुरुष समास हो गया। यहाँ केश उपसर्जन हैं, प्राणी में स्थित और साकार होने के कारण यह स्वाङ्ग हैं। अतः तदन्त अकारान्त प्रातिपदिक 'अतिकेश' से वैकल्पिक ङीष् होकर पक्ष में 'अतिकेशी' हुआ। अभावपक्ष में — अदन्तलक्षण टाप् हुआ।

चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा (चन्द्र एव मुखं यस्याः) — यहाँ मुख शब्द उपसर्जन भी है तथा स्वाङ्गवाची भी है। ङीष् होकर रूप सिद्ध हुआ। पक्ष में टाप् होकर रूप बना।

उपधा में संयोग न हो — ऐसा इसलिए कहा गया कि 'शोभनौ गुल्फौ यस्याः सा सुगुल्फा' — यहाँ ङीष् न हो। यहाँ गुल्फ स्वाङ्गवाची है तथा उपसर्जन भी है, परन्तु उपधा में संयोग होने से ङीष् न होकर टाप् हो गया।

उपसर्जन इसलिए कहा गया कि 'सुशिखा' में 'ङीष्' न हो। शिखा स्वाङ्गवाची है, परन्तु उपसर्जन नहीं है। अतः ङीष् नहीं हुआ।

१२६३. नँ क्रोडाऽऽदि-बह्वचः[५] (४/१/५६)

क्रोडाऽऽदेः, बह्वचश्च स्वाङ्गाद् न ङीष्। कल्याण-क्रोडा। आकृति-गणोऽयम्। (सुजघना)।

नेति— क्रोड आदि से और बह्वच् स्वाङ्गवाचक प्रातिपदिक से ङीष् न हो।

कल्याणी क्रोडा यस्याः— कल्याणक्रोडा। यहाँ पूर्व सूत्र से ङीष् प्राप्त था जिसका निषेध होकर टाप् हुआ है। यह आकृतिगण है। इसी प्रकार 'सुजघना' रूप होगा।

१२६४. [५]नख-मुखात् संज्ञायाम्[७] (४/१/५८)

न ङीष्।

नखेति— नख और मुख स्वाङ्गवाची शब्दों से संज्ञा में 'ङीष्' न हो।

१२६५. [५]पूर्व-पदात् संज्ञायाम्[७] अ-गः[५] (८/४/३)

पूर्वपदस्थाद् निमित्तात् परस्य नस्य णः स्यात् संज्ञायाम्, न तु गकार-व्यवधाने।

शूर्पणखा। गौरमुखा। संज्ञायां-किम्-ताम्रमुखी कन्या।

पूर्वेति— यदि संज्ञा का विषय हो तो गकार वर्जित पूर्वपदस्थ रकार से पर नकार को णकार हो।

'शूर्पाणि इव नखानि यस्याः' — यहाँ पूर्वसूत्र के द्वारा ङीष् का निषेध होकर टाप् हुआ। तब प्रकृत सूत्र के द्वारा णकार होकर 'शूर्पणखा' शब्द बना। इसी प्रकार — गौरं मुखं यस्याः सा— गौरमुखा। संज्ञा में ही ङीष् का निषेध हो। अतः 'ताम्रमुखी' में ङीष् हो गया।

१२६६. **[5]जातेरस्त्रीविषयाद्[5] अ-योपधात्[5] (४/१/६३)**

जाति-वाचि, यद् न च स्त्रियां नियतम् अयोपधम्, ततः स्त्रियां ङीष् स्यात्। तटी। वृषली। कठी। बह्वृची। जातेः किम्-मुण्डा। अ-स्त्रीविषयात् किम्-बलाका। अ-योपधात् किम्-क्षत्रिया।

(वा०) योपध-प्रतिषेधे हय-गवय-मुकय-मनुष्य-मत्स्यानाम् अप्रतिषेधः। हयी। गवयी। मुकयी। 'हलस्तद्धितस्य' इति यलोपः-मनुषी।

(वा०) मत्स्यस्य ङ्याम्। यलोपः। मत्सी।

जातेरिति— जो शब्द जातिवाचक हो, नित्य स्त्रीलिङ्ग न हो और उसकी उपधा में यकार न हो, ऐसे अदन्त प्रातिपदिक से ङीष् हो।

जाति शब्द से चार अर्थ अभिप्रेत हैं:— १. जातिवाचक संज्ञा, २. ब्राह्मण आदि जाति, ३. अपत्य प्रत्ययान्त, ४. शाखा को पढ़ने वाला।

तट (जातिवाचक) ङीष् — तटी। वृषल (वृषल जाति की स्त्री) ङीष् — वृषली। कठ (कठ को पढ़ने वाला) ङीष् — कठी। औपगव (अपत्य प्रत्ययान्त) ङीष् — औपगवी।

जाति से हो, क्योंकि 'मुण्डा' यहाँ ङीष् न हो। स्त्रीविषय न हो, ताकि 'बलाका' (पक्षी) में ङीष् न हो।

यकार उपधा में न हो — ताकि 'क्षत्रिया' यहाँ ङीष् न हो।

(वा०) योपध के निषेध में हय, गवय, मुकय, मनुष्य और मत्स्य को वर्जित समझना चाहिए अर्थात् इनसे ङीष् हो।

हय ङीष् — हयी। गवय ङीष् — गवयी। मुकय ङीष् — मुकयी। मनुष्य ङीष् — मनुषी। यहाँ अन्त्य अकार होने पर 'हलस्तद्धितस्य' से यकार का लोप हो गया।

मानुष ङीष् — मानुषी। मत्स्य ङीष् — मत्सी।

१२६७. **[5]इतो मनुष्य-जातेः[5] (४/१/६५)**

ङीष्। दाक्षी।

इत इति— मनुष्य जातिवाचक इकारान्त प्रातिपदिक से 'ङीष्' हो।

दाक्षि ङीष् — दाक्षी।

१२६८. [१]ऊङ् उतः[५] (४/१/६६)

उदन्ताद् अयोपधात् मनुष्य-जाति-वाचिनः स्त्रियाम् ऊङ् स्यात्। कुरूः। अ-योपधात् किम्-अध्वर्युः-ब्राह्मणी।

ऊङिति— उकारान्त अयोपध मनुष्य जातिवाची प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' प्रत्यय हो।

कुरु ऊङ् — कुरूः। सवर्ण दीर्घ हुआ है।

'यकारोपध न हो' — ऐसा कहा है ताकि 'अध्वर्युः' यहाँ उक्त प्रत्यय न हो।

१२६९. [५]**पङ्गोश्च** (४/१/६८)

पङ्गूः।

(वा०) श्वशुरस्योकाराऽकार-लोपश्च। श्वश्रूः।

पङ्गोरिति— पङ्गु शब्द से स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' हो।

'पङ्गु' शब्द जातिवाचक नहीं है। अतः पूर्व सूत्र के द्वारा उक्त प्रत्यय प्राप्त नहीं था।

पङ्गु + ऊङ् — पङ्गूः।

(वा०) 'श्वशुर' से 'ऊङ्' हो तथा शकारोत्तरवर्ती उकार व रकारोत्तरवर्ती अकार का लोप होता है।

श्वशुर + ऊङ् — श्वश्र् ऊङ् — श्वश्रूः। यहाँ पुंयोग में स्त्रीलिङ्ग प्राप्त था।

१२७०. [५]**ऊरूत्तरपदाद् औपम्ये**[७] (४/१/६९)

उपमानवाचिपूर्वपदम् ऊरूत्तरपदं यत् प्रातिपदिकम् तस्माद् 'ऊङ्' स्यात्। करभोरूः।

ऊर्विति— उत्तरपद 'ऊरु' शब्द हो तथा पूर्वपद उपमानवाची हो तो उससे स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' हो।

करभोरु + ऊङ् — करभोरूः।

१२७१. [५]**संहित-शफ-लक्षण-वामाऽऽदेश्च** (४/१/७०)

अनौपम्याऽर्थं सूत्रम्। संहितोरूः। शफोरूः। (लक्ष्मणोरूः)। वामोरूः।

संहितेति— उत्तरपद में 'ऊरु' शब्द हो तथा पूर्वपद में संहित, शफ, लक्षण तथा वाम शब्द हों तो उससे स्त्रीलिङ्ग में 'ऊङ्' प्रत्यय हो।

संहितोरु ऊङ् — संहितोरूः। इसी प्रकार 'लक्षणोरूः', वामोरूः तथा 'शफोरूः' रूप बनेंगे।

१२७२. [५]**शार्ङ्गरवाऽऽद्यञो ङीन्**[१] (४/१/७३)

शार्ङ्गरवाऽऽदेः, अञो योऽकारः, तदन्ताच् जाति-वाचिनो ङीन् स्यात्। शार्ङ्गरवी। बैदी। ब्राह्मणी।

(ग. सू.) नृ-नरयोर्वृद्धिश्च। नारी।

शार्ङ्ग० इति— शार्ङ्गरव आदि तथा अञ् का जो अकार तदन्त जातिवाचक प्रातिपदिक से 'ङीन्' हो।

शार्ङ्गरव ङीन् — शार्ङ्गरवी। वैद (अञन्त) ङीन् — वैदी।

ब्राह्मण ङीन् — ब्राह्मणी। यहाँ जातिवाचक होने से ङीष् प्राप्त था।

(ग.) नृ तथा नर शब्द से ङीन् हो तथा वृद्धि भी हो।

'नृ ङीन्' — यहाँ 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' से ङीप् प्राप्त था। प्रकृत सूत्र के द्वारा 'ङीन्' हुआ। ऋकार को वृद्धि होकर 'नारी' रूप बना।

नर ङीन् — नारी। नकारोत्तरवर्त्ती अकार को वृद्धि हुआ।

१२७३. [५]**यूनस्तिः**[१] (४/१/७७)

युवन्' शब्दात् स्त्रियां 'ति' प्रत्ययः स्यात्। युवतिः।

॥ इति स्त्रीप्रत्ययाः ॥

(उपसंहारः)

शास्त्राऽन्तरे प्रविष्टानां बालानां चोपकारिका।
कृता वरदराजेन लघुसिद्धान्तकौमुदी।।१।।

इति श्रीविद्वद्वरवरदराजकृता लघुसिद्धान्तकौमुदी समाप्ता

यून इति— स्त्रीलिङ्ग में 'युवन्' शब्द से 'ति' प्रत्यय हो।

युवन् ति — युवतिः। प्रातिपदिकान्त नकार का लोप होकर रूप बना।

विशेष — १. 'यु' धातु से शतृ होकर 'युवत्' शब्द बना।

उगित् होने से ङीप् (उगितश्च) होकर 'युवती' शब्द बनता है।

२. 'युवत्' शब्द से 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थात्' इस बह्वादि गणसूत्र से वैकल्पिक 'ङीष्' होकर 'युवती' शब्द बनता है।

यह लघुसिद्धान्तकौमुदी की सोमलेखा टीका में स्त्रीप्रत्यय प्रकरण समाप्त हुआ।

शास्त्रान्तर (व्याकरण शास्त्र से इतर काव्य आदि) में प्रविष्ट बालबुद्धि (व्याकरणशास्त्र के विषय में पेलवधी) जनों के उपकार के लिए वरदराज ने लघुसिद्धान्तकौमुदी की रचना की है।

॥ श्री विद्वद्वर वरदराज कृत लघुसिद्धान्तकौमुदी समाप्त ॥

॥ यह लघुसिद्धान्तकौमुदी की सोमलेखा टीका में उत्तरार्द्ध समाप्त हुआ ॥

लघुकौमुदीस्थसूत्राणामकाराद्यनुक्रमणिका

अइउण् १, ऋलृक् २, एओङ् ३, ऐऔच् ४, हयवरट् ५, लण् ६, ञमङणनम् ७, झभञ् ८, घढधष् ९, जबगडदश् १०, खफछठथचटतव् ११, कपय् १२, शषसर् १३, हल् १४, इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि।

संस्कृत ग्रन्थागार
१०९, अग्रवाल प्लाजा,
डी.डी.ए. कम्यूनिटी सेंटर, प्लाट नं ३,
सैक्टर १४, रोहिणी, दिल्ली ११००८५